भाषा-विज्ञान

(संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण)

भोलानाथ तिवारी

भूमिका

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

किताब महल

इलाहाबाद

प्रथम संस्करण, १९५१
द्वितीय परिवर्द्धित और संशोधित संस्करण, १९५७

प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद।
मुद्रक—राम प्रिंटिंग प्रेस, प्रयाग।

श्रद्धेय गुरुवर

डॉ० रामकुमार वर्मा

को

सादर

परिचय

हिंदी में भाषा-विज्ञान सम्बन्धी साहित्य इतना कम है कि इस विषय पर लिखी गई प्रत्येक पुस्तक का हिंदी भाषा प्रेमी स्वागत करेंगे। जैसा कि भूमिका में स्पष्ट किया गया है, सुयोग्य लेखक की प्रस्तुत पुस्तक में विशेष मौलिकता का दावा तो नहीं है, किंतु इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने इस विषय सम्बन्धी सामग्री का संचय करने तथा उसे क्रमबद्ध रूप से सजाने में पूर्ण परिश्रम किया है। साथ ही भाषा-विज्ञान सम्बन्धी नवीन खोज तथा दृष्टिकोण का यथास्थान समावेश करने पर भी पूरा ध्यान दिया है।

लेखक ने इस विषय का अध्ययन नियमित रूप से विश्वविद्यालय में किया था। यह प्रसन्नता की बात है कि इस जटिल विषय के प्रति उनका अनुराग बना रहा और वे अपने अध्ययन को अधिक व्यापक तथा पूर्ण बनाने में निरंतर यत्नशील रहे। वर्तमान पुस्तक उनके इस दिशा में सतत् परिश्रम का परिणाम है। मेरा विश्वास है कि पुस्तक उच्च कक्षा के विद्यार्थियों और इस विषय के प्रति अनुराग तथा जिज्ञासा रखने वाले साधारण पाठकों, दोनों के लिये हितकर सिद्ध होगी।

हिंदी प्रेमियों को आशा करनी चाहिये कि हिंदी साहित्य के इस आवश्यक किंतु साथ ही जटिल अंग की पूर्ति में सुयोग्य लेखक हाथ बटाते रहेंगे और उनकी लेखनी द्वारा लिखा भाषा-विज्ञान सम्बन्धी अधिकाधिक प्रौढ़ साहित्य भविष्य में प्रकाश में आता रहेगा।

हिन्दी विभाग,
विश्वविद्यालय, प्रयाग।

धीरेन्द्र वर्मा
स्वतंत्रता दिवस, १६५१

प्रथम संस्करण की भूमिका

एम्० ए० के लिये भाषा-विज्ञान का अध्ययन करते हुए मैंने अनुभव किया था कि हिंदी या अंग्रेजी में इस विषय पर बहुत अच्छी-अच्छी और विद्वत्तापूर्ण पुस्तकों के होते हुए भी कोई एक पुस्तक ऐसी नहीं है जिसमें साधारण पाठकों तथा एम्० ए० आदि के विद्यार्थियों के लिए अपेक्षित सारी सामग्री एक स्थान पर सुलभ हो तथा जो विद्यार्थियों, विशेषतः हिन्दी के विद्यार्थियों की कठिनाइयों का पूर्णतः ध्यान देते हुए लिखी गई हो। इसी अनुभव ने इस पुस्तक को लिखने की प्रेरणा दी। किन्तु प्रेरणा-प्रेरणा ही रह जाती यदि प्रिय मित्र सत्येन्द्र 'शरत्' की कल्पना का प्रोत्साहन न मिलता।

निश्चित हो जाने पर कार्य प्रारंभ हुआ। देशी-विदेशी सभी तरह की ईंटें लाई गईं, कुछ थोड़ी अपनी भी थीं। धीरे-धीरे जोड़ाई आरम्भ हुई और परिस्थितियों से टक्कर लेते हुए किसी प्रकार यह मकान खड़ा हुआ। खड़ा होने पर ध्यान गया तो देखा कि चूना, गारा, चुनाई-जोड़ाई और काट-छाँट के अतिरिक्त यदि ईमानदारी और सच्चाई के साथ कहा जाय तो अपनी चीज बहुत कम है। उसी वक्त याद आया 'ऑल ओरिजिनैलिटी इज़ अनडिटेक्टेड थेफ्ट'। संतोष हुआ। मित्रों ने देखा। उपयोगी बतलाया। कुछ और संतोष हुआ। विद्यार्थियों ने देखा। उपयोग किया। विश्वास हुआ। श्रद्धेय गुरुवर डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने देखा। आशीर्वाद देने का आश्वासन दिया। संतोष, विश्वास और प्रसन्नता हुई।

और आज यह पुस्तक छप गई है। ईश्वर के आशीर्वाद से नहीं। अपने गुरुजनों के, मित्रों के, प्रकाशक के और अपने आशीर्वाद से।

पुस्तक लिखने में ग्रील, मैक्समूलर, ह्विटनी, बोवर, कार्लग्रेन, वेन्द्रिए, जेस्पर्सन, ब्लूमफील्ड, टक्कर, ग्रीयर्सन, टर्नर, बेलवेलकर, वुलनर, भंडारकर, ओझा, गुणे, चटर्जी, तारापूरवाला, श्यामसुन्दरदास, धीरेन्द्र वर्मा, बाबूराम सक्सेना, उदयनारायण तिवारी, मंगलदेव शास्त्री तथा नलिनी मोहन सान्याल आदि विद्वानों के ग्रंथों, लेखों या भाषणों से सहायता ली गई है, जिसके लिए इनका ऋणी हूँ। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, हिन्दी विश्वभारती, इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, हिंदुस्तानी तथा नागरी प्रचारिणी पत्रिका के भी कुछ लेखों से सहायता मिली है। उनके लेखकों का भी आभारी हूँ।

'परिचय' लिखकर गुरुवर डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने मेरी पुस्तक को जो महत्व प्रदान किया है उसके विषय में मेरा और मेरी पुस्तक का मौन ही कृतज्ञता प्रकाशन कर सकता है। अपनी कल्पना को इस प्रकार पुस्तकाकार होते देखकर सत्येन्द्र 'शरत्' को जो खुशी होगी, धन्यवाद सुनकर उसे समाप्त हो जाने की बहुत आशंका है, इसलिए इसकी कंजूसी ही अच्छी। उपयोगी सामग्री के चयन तथा उसके कुछ विवादास्पद विषयों के सम्बन्ध में पारसनाथ तिवारी, जयचंद राय, मातावदल जायसवाल, भोलानाथ 'भ्रमर' तथा लक्ष्मीनारायण लाल आदि अभिन्न मित्रों से लड़ने-झगड़ने से भी बड़ी सहायता मिली है, जिसके लिए जैसा कि उन लोगों का कहना है, वे मुझसे कम आभारी नहीं हैं।

पुस्तक के लेखन और प्रकाशन दोनों ही में श्री रामचन्द्र टन्डन तथा श्री विश्वंभर 'मानव' ने मेरी अमूल्य सहायता की है जिसके लिए मैं उन लोगों का अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। पुस्तक के प्रकाशक, किताब महल के अध्यक्ष श्री श्रीनिवास अग्रवाल का भी मैं कम कृतज्ञ नहीं हूँ जिनकी लगन एवं कृपा से कागज के इस संकट-काल में भी पुस्तक निकल सकी है, तथा जिन्होंने सत्तर से भी ऊपर ब्लाक देना स्वीकार कर पुस्तक की रोचकता एवं सुबोधता में वृद्धि की है। छपाई के लिए राम प्रेस के कर्मचारी धन्यवाद के पात्र हैं।

वर्तनी की दृष्टि से 'कर्ता' 'वर्तमान' 'पुलिंग' आदि को ही हिंदी के शुद्ध शब्द मानकर मैंने प्रयुक्त किए हैं। यदि 'कर्त्ता' 'वर्त्तमान' या 'पुल्लिंग' आदि शब्द मिलें तो वह प्रेस की उदारता मात्र है।

सम्मति और सुझावों के लिए अपने पाठकों का सदैव कृतज्ञ रहूँगा।

पुनर्जन्म दिवस, १२ अगस्त, १९५१
हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग

भोलानाथ तिवारी

यह संस्करण

इस पुस्तक के पहले संस्करण को हिन्दी संसार ने स्नेह के साथ अपनाया तथा गुरुजनों ने कृपापूर्वक उच्चतम कक्षाओं के पाठ्यक्रम में स्थान दिया, इन सब के लिए मैं हृदय से आभारी हूँ।

पत्र-पत्रिकाओं तथा रेडियो-स्टेशनों की समीक्षाओं, गुरुजनों और मित्रों के परामर्शों तथा इस बीच भाषा-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में प्रकाश में आई नई प्रवृत्तियों, खोजों तथा प्रकाशनों के प्रकाश में पुस्तक में पर्याप्त संशोधन, परिवर्तन और परिवर्द्धन कर दिए गए हैं। मुझे विश्वास है कि इस नए रूप में पुस्तक पहले संस्करण की अपेक्षा अधिक उपादेय सिद्ध होगी।

प्रूफ की कुछ भद्दी भूलें पुस्तक में रह गई हैं। जिसके कारण कहीं-कहीं भाषा कुछ खटकती भी है। आशा है, पाठक इसके लिए क्षमा करेंगे। शुद्धि-पत्र प्रायः व्यर्थ सिद्ध होता है, अतः नहीं दिया जा रहा है।

सुझावों और सम्मतियों के लिए कृतज्ञ हूँगा।

३ अक्टूबर १९५६
किरोड़ीमल कालेज, दिल्ली

भोलानाथ तिवारी

विषय-तालिका

१. प्रवेश १—१७

भाषा किसे कहते हैं ? १

भाषा-विज्ञान की परिभाषा २

भाषा-विज्ञान का नाम ३

भाषा-विज्ञान विज्ञान है या कला ? ४

भाषा-विज्ञान और व्याकरण में अन्तर ५

भाषा-विज्ञान के अध्ययन के विभाग ६

(क) प्रधान ६

(१) वाक्य-विज्ञान ६

(२) रूप-विज्ञान ७

(३) ध्वनि-विज्ञान ७

(४) अर्थ विज्ञान ८

(ख) गौण ८

(१) भाषा का आरंभ ८

(२) भाषाओं का वर्गीकरण ९

(३) व्युत्पत्तिशास्त्र ९

(४) शब्द-समूह ९

(५) भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज ९

(६) लिपि १०

(७) शेष १०

भाषा-विज्ञान के अध्ययन से लाभ १०

भाषा-विज्ञान से मनुष्य के अन्य ज्ञानों का सम्बन्ध ११

(क) व्याकरण ११

(ख) साहित्य ११

(ग) मनोविज्ञान १२

(घ) शरीर-विज्ञान १३

(ङ) भूगोल १३

(च) इतिहास १४

(छ) भौतिक शास्त्र १५

(ज) तर्क-शास्त्र १६

(झ) मानव विज्ञान १६

२. भाषा १८—५१

भाषा का आरंभ और उसका प्रारंभिक रूप १८

भाषा की उत्पत्ति १८

(क) प्रत्यक्ष मार्ग १८

(१) दैवी उत्पत्ति १८

(२) धातु-सिद्धान्त १९

(३) अनुकरणमूलकतावाद २०

(४) मनोभावाभिव्यक्तिवाद २०

(५) अनुरणनमूलकतावाद २१

(६) श्रम-परिहरणमूलकतावाद २१

(७) भाव-सकेतवाद २२
(८) निर्णय सिद्धांत २३
(९) विकासवाद २३
(१०) समन्वित रूप २३
(ख) **परोक्ष मार्ग** २५
(१) लड़कों की भाषा २५
(२) असभ्य जातियों की भाषा २६
(३) आधुनिक भाषाओं का इतिहास २७
प्रारम्भिक अवस्था में भाषा की प्रकृति २८
(क) ध्वनि २८
(ख) व्याकरण २८
(ग) शब्द समूह २९
(घ) वाक्य २९
(ग) विषय ३०
निष्कर्ष ३०
भाषा के आधार ३०
(क) मानसिक आधार ३१
(ख) भौतिक आधार ३१
भाषा की प्रकृति ३१
(क) भाषा पैत्रिक सम्पत्तिनहीं है। ३१
(ख) भाषा अर्जित सम्पत्ति है। ३२
(ग) भाषा आद्यन्त सामाजिक वस्तु है। ३२
(घ) भाषा का अर्जन अनुकरण द्वारा होता है। ३२
(ङ) भाषा परिवर्तनशील है। ३३
(च) भाषा का कोई अंतिम स्वरूप नहीं है। ३३
(छ) भाषा की धारा स्वभावतः कठिनता से सरलता की ओर जाती है। ३३
भाषा का विकास और उसके कारण ३४
विकास के कारणों के प्रधान वर्ग ३४
(त्त) आभ्यंतर वर्ग ३५
(१) प्रयोग से घिस जाना ३५
(२) बल ३५
(३) प्रयत्न लाघव ३५
(४) मानसिक स्तर ३६
(५) अनुकरण की अपूर्णता ३७
(त्र) **वाह्य वर्ग** ३८
(१) भौतिक वातावरण ३८
(२) सांस्कृतिक प्रभाव ३८
(३) समाज की व्यवस्था ४०
(ज्ञ) **सादृश्य** ४०
भाषा के विकास में व्याघात और उसके कारण ४१
(१) भौगोलिक परिस्थिति ४१
(२) खाद्यान्न की कमी ४१
(३) अभिव्यक्ति के लिये यथा-साध्य प्रचलित भाषा से न हटना। ४१
(४) समाज के हँसने का भय ४२
(५) व्याकरण ४२
भाषा के विविध रूप ४२
(१) मूल भाषा ४२
(२) बोली ४४
बोलियों के बनने का कारण ४४

बोलियों के महत्व पाने का कारण ४५
भाषा और बोली ४६
(३) आदर्श भाषा ४७
आदर्श भाषा के रूप ४८
(४) राष्ट्र भाषा ४८
(५) विशिष्ट भाषा ४९
(६) कृत्रिम भाषा ४९
(क) गुप्त भाषा ४९
(ख) सामान्य भाषा ५१

३. संसार की भाषाएँ और उनका वर्गीकरण ५२-२५२

(क) आकृतिमूलक वर्गीकरण का आधार ५४
आकृति-मूलक वर्गीकरण के भेद ५४
(१) अयोगात्मक भाषाएँ ५५
(२) योगात्मक भाषाएँ ५७
(अ) प्रश्लिष्ट-योगात्मक भाषाएँ ५८
(क) पूर्ण प्रश्लिष्ट ५८
(ख) आंशिक प्रश्लिष्ट ५८
(आ) अश्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ ५९
(क) पूर्व योगात्मक ६०
(ख) मध्य योगात्मक ६१
(ग) पूर्वान्त-योगात्मक ६१
(घ) अन्त योगात्मक ६२
(ङ) आंशिक-योगात्मक ६२
(इ) श्लिष्ट-योगात्मक भाषाएँ ६३
(क) अन्तर्मुखी श्लिष्ट ६३
(१) संयोगात्मक ६३
(२) वियोगात्मक ६४
(ख) बहिर्मुखी श्लिष्ट ६४
(१) संयोगात्मक ६४
(२) वियोगात्मक ६४
(ग) पारिवारिक वर्गीकरण का आधार। ६५
पारिवारिक वर्गीकरण ६५
भाषा-खंड ६६
(१) अफ्रीका खंड ६६
(क) बुशमैन ६६
बुशमैन परिवार की प्रमुख विशेषताएँ ६७
(ख) बन्टू परिवार ६७
बन्टू की प्रमुख विशेषताएँ ६७
विभाजन ६८
(ग) सूडान वर्ग ६८
सूडान वर्ग की प्रमुख विशेषताएँ ६८
विभाजन ६९
(घ) हैमिटिक परिवार ७०
हैमिटिक परिवार की प्रमुख विशेषताएँ ७०
विभाजन ७२
(ङ) सेमिटिक परिवार ७२
(२) यूरेशिया खंड ७२
(क) सेमिटिक परिवार ७३
सेमिटिक और हैमिटिक के मिलते-जुलते लक्षण ७३
सेमिटिक परिवार की प्रमुख विशेषताएँ ७४
विभाजन ७६
(ख) काकेशस परिवार ७६

प्रधान विशेषताएँ ७६
विभाजन ७७
(ग) यूराल-आल्टाइक परिवार ७७
यूराल और आल्टाइक के समान लक्षण ७८
विभाजन ७९
(घ) एकाक्षर परिवार ८०
एकाक्षर परिवार की प्रधान विशेषताएँ ८१
विभाजन ८३
(ङ) द्राविड़ परिवार ८६
द्राविड़ परिवार की प्रधान विशेषताएँ ८-
विभाजन ८८
द्राविड़ परिवार का भारत की आर्य भाषाओं पर प्रभाव ९०
(च) आग्नेय परिवार ९१
प्रमुख विशेषताए ९१
विभाजन ९१
मुंडा ९२
मुंडा की प्रधान विशेषताएँ ९३
विभाजन ९५
मुंडा भाषाओं का प्रभाव ९५
(छ) अनिश्चित् भाषाएँ ९६
(क) प्राचीन ९६
(१) एत्रुस्कन ९६
(२) सुमेरियन ९७
(३) मितानी ९७
(४) कोसी ९७
(५) वन्नी ९७
(६) एलामाइट ९७
(ख) वर्तमान ९८
(१) कोरियाई ९८
(२) एनू ९८
(३) बास्क ९८
बास्क की प्रधान विशेषताएँ ९८
विभाजन ९९
(४) हाइपर बोरी ९९
(५) जापानी ९९
प्रधान विशेषताएँ १००
(६) अंडमनी १०१
(७) केरेनी १०१
(८) बुरुशास्की १०१
(९) मानी १०१
(ज) भारोपीय परिवार १०१
नाम १०१
भारोपीय परिवार की प्रधान विशेषताएँ १०२
भारोपीय मूल भाषा १०४
भारोपीय मूल भाषा का ध्वनि-समूह १०४
स्वर १०५
व्यंजन १०५
भारोपीय मूल भाषा का व्याकरण १०६
भारोपीय परिवार का विभाजन १०७
(क) केन्टुम वर्ग १०८
(१) केल्टिक १०८

विभाजन १०६
(२) ट्यूटानिक ११०
विभाजन १११
(३) लैटिन ११४
विभाजन ११४
(४) हेलेनिक ११७
विभाजन ११७
(५) हिट्टाइट ११८
(६) तोखारी ११६
(ख) सतम् वर्ग ११६
(१) इलीरियन १२०
विभाजन १२०
(२) बाल्टिक १२१
विभाजन १२१
(३) स्लैवानिक १२१
विभाजन १२२
(४) आर्मेनिअन १२३
विभाजन १२४
(५) आर्य १२४
भारतीय और ईरानी में समानता १२५
भारतीय और ईरानी मे अंतर १२७
विभाजन १२७
(१) ईरानी १२८
विभाजन १२८
(२) दरद १३१
विभाजन १३२
(३) भारतीय १३३
(अ) प्राचीन आर्य-भाषा काल १३३
भाषा का स्वरूप १३४
(आ) मध्यकालीन आर्य भाषा काल १३५
(१) प्रथमकाल १३५
भाषा का स्वरूप १३६
(२) द्वितीय काल १३६
प्राकृतों के विभाजन या भेद १३७
भाषा का स्वरूप १३६
(३) तृतीय काल १३६
भाषा का स्वरूप १४०
(इ) आधुनिक आर्य भाषा काल १४१
सिन्धी १४१
लहँदा १४२
पूर्वी पंजाबी १४२
पहाड़ी १४२
भाली तथा सिंहली १४३
राजस्थानी तथा गुजराती १४३
भीली और खानदेशी १४३
पश्चिमी हिन्दी १४३
पूर्वी हिन्दी १४३
बिहारी १४३
बंगला १४४
आसामी १४४
उड़िया १४४
मराठी १४४
हब्ड़ी १४४
भाषा का स्वरूप १४५
(३) प्रशान्त महासागरीय खंड १४६

(क) इंडोनेशियन परिवार १४६
विभाजन १४७
(ख) मलेनेशियन परिवार १४८
विभाजन १४८
(ग) पालिनेशियन परिवार १४६
विभाजन १४६
(घ) पापुआ परिवार १४६
(ङ) आस्ट्रेलिया परिवार १५०
(४) अमरीका खंड १५०
विभाजन १५१

३. वाक्य विज्ञान १५३-१६२

लिखित और बोल-चाल के वाक्य १५४
वाक्य का विभाजन १५५
(क) अग्र और पश्च १५५
(ख) उद्देश्य और विधेय १५६
वाक्यों के प्रकार १५६
(१) अयोगात्मक १५७
(२) प्रश्लिष्ट योगात्मक १५७
(३) अश्लिष्ट योगात्मक १५८
(४) श्लिष्ट योगात्मक १५८
वाक्य के गठन में परिवर्तन के कारण १५६
(१) अन्य भाषा का प्रभाव १५६
(२) ध्वनि-विकास से विभक्तियों का घिस जाना १५६
(३) बल का प्रदर्शन १६०
(४) बोलने वालों की मानसिक स्थिति में परिवर्तन १६०
वाक्य में पद-क्रम १६०

४. रूप-विज्ञान १६३-१८०

शब्द १६४
पद १६५
सम्बन्ध-तत्व १६५
संबंध-तत्व के प्रकार १६६
(१) शब्द-स्थान १६६
(२) शब्दों को ज्यों का त्यों छोड़ देना १६७
(३) स्वतंत्र शब्द १६७
(४) स्वर-परिवर्तन १६८
(५) व्यंजन १६८
(६) ध्वनि गुण १७०
(७) स्वराघात का न होना १७०
संबंध-तत्व और अर्थ-तत्व का संबंध १७०
(१) पूर्ण संयोग १७०
(२) अपूर्ण संयोग १७१
(३) दोनों स्वतंत्र १७१
(४) संबंध तत्व का आधिक्य १७२
हिन्दी में संबंध-तत्व १७२
संबंध-तत्व के कार्य १७३
रूप-परिवर्तन १७६
रूप परिवर्तन और ध्वनि परिवर्तन में अंतर १७६
रूप परिवर्तन की दिशायें १७६
रूप परिवर्तन के कारण १७८
(१) सरलता १७८
(२) अज्ञान १७८
(३) नवीनता, स्पष्टता या

बल १७६
५. ध्वनि-विज्ञान १८१-२५१
ध्वनि-यंत्र का चित्र १८१
ध्वनि-अवयव १८२
हम ध्वनि कैसे उत्पन्न करते हैं ? १८८
ध्वनि निकलकर कान तक कैसे जाती है ? १८८
हम कैसे सुनते हैं ? १८६
ध्वनि, भाषा और ध्वनि-तत्व १८६
ध्वनियों का वर्गीकरण १६१
घोष और अघोष १६१
स्पर्श १६१
स्पर्शों का वर्गीकरण १६२
(१) कंठ्य १६२
(२) मूर्द्धन्य १६३
(३) तालव्य १६३
(४) दंत्य १६३
(५) ओष्ठ्य १६४
अल्पप्राण, महाप्राण और अनुनासिक १६४
पार्श्विक, लुंठित और संघर्षी १६५
अर्द्ध स्वर १६५
स्वर १६६
(१) जीभ का कौन सा भाग ऊपर उठता है ? १६७
(२) जीभ का ऊपर उठने वाला भाग कितना उठता है ? १६७
(३) ओष्ठों की बनावट कैसी है ? १६८
प्रधान स्वरों में ओठों का स्वरूप १६६
ध्वनियों के वर्गीकरण पर एक दृष्टि २००
क्लिक ध्वनियाँ २०१
क्लिक ध्वनियाँ क्या हैं ? २०१
भारोपीय भाषाओं में क्लिक ध्वनियाँ २०१
क्लिक ध्वनियों का वर्गीकरण २०२
संयुक्त ध्वनियाँ २०२
संयुक्त ध्वनियाँ और ध्वनि-संयोग २०२
व्यंजन और व्यंजन २०३
व्यंजन और स्वर २०४
स्वर और स्वर २०४
ध्वनियों के गुण २०५
(१) मात्राकाल २०५
मात्राकाल की माप २०५
व्यंजनों में मात्राकाल २०६
स्वरों में मात्रकाल २०६
मात्राकाल का अंकन २०६
(२) स्वराघात २०७
(क) संगीतात्मक स्वराघात २०७
(ख) बलात्मक स्वराघात २०६
(ग) रूपात्मक स्वराघात २१०
ध्वनि-परिवर्तन और उसके कारण २११
ध्वनि-परिवर्तन २११
ध्वनि-परिवर्तन के कारण २११
(१) वाक्यंत्र की विभिन्नता २१२
(२) श्रवणेन्द्रिय " २१३
(३) अनुकरण की अपूर्णता २१३
(४) अज्ञान २१४

(५) भ्रामक-व्युत्पत्ति २१४
(६) बोलने में शीघ्रता २१५
(७) मुख-सुख २१५
(८) भावुकता २१६
(९) बनकर बोलना २१६
(१०) विभाषा का प्रभाव २१७
(११) भौगोलिक प्रभाव २१७
(१२) सामाजिक प्रभाव २१७
(१३) लिखने के कारण २१८
(१४) शब्दों की असाधारण लंबाई २१८
(१५) बलहीन व्यंजन का आधिक्य २१९
(१६) स्वाभाविक विकास २१९
(१७) कविता में मात्रा या तुक २१९
(१८) सादृश्य २२०
(१९) स्वराघात २२०
(क) संगीतात्मक २२०
(ख) बलात्मक २२०
(२०) किसी विदेशी ध्वनि का अपनी भाषा में अभाव २२१
(२१) अंध-विश्वास २२२

परिवर्तन की दिशाएँ २२२

(१) **लोप** २२२
(क) आदि स्वरलोप २२२
(ख) मध्य " २२३
(ग) अंत " २२३
(क) आदि व्यंजन " २२३
(ख) मध्य व्यंजन स्वरलोप २२४
(ग) अंत " " २२४
(क) आदि अक्षर लोप २२५
(ख) मध्य " " २२५
(ग) अंत " " २२५
(घ) समाक्षर लोप २२५

(२) **आगम** २२६
(क) आदि स्वरागम २२६
(ख) मध्य " २२६
(ग) अंत " २२७
(घ) सम स्वरागम २२७
(क) आदि व्यंजनागम २२९
(ख) मध्य " २२९
(ग) अंत " २२९
(क) आदि अक्षरागम २३०
(ख) मध्य " २३०
(ग) अंत " २३०

(३) **विपर्यय** २३०
(क) पार्श्ववर्ती स्वर विपर्यय २३०
(ख) दूरवर्ती " " २३०
(क) पार्श्ववर्ती व्यंजन " २३०
(ख) दूरवर्ती व्यंजन विपर्यय २३१
(क) पार्श्ववर्ती अक्षर " २३१
(ख) दूरवर्ती " " २३१
(ई) एकांगी विपर्यय २३१
(उ) आद्य शब्दांश " २३१

(४) **समीकरण** २३२
(अ) व्यंजन विपर्यय २३२
(क) दूरवर्ती पुरोगामी समीकरण २३२
(ख) पार्श्ववर्ती " " २३२

(ग) दूरवर्ती पश्चगामी समीकरण २३३
(घ) पार्श्ववर्ती ” ” २३३
(अ) स्वर २३३
(क) दूरवर्ती पुरोगामी समीकरण २३३
(ख) पार्श्ववर्ती ” ” २३३
(ग) दूरवर्ती पश्चगामी ” २३४
(घ) पार्श्ववर्ती ” ” २३४
(इ) पारस्परिक व्यंजन समीकरण २३४
(५) विषमीकरण २३४
(अ) व्यंजन २३४
(क) पुरोगामी विषमीकरण
(ख) पश्चगामी २३५
(आ) स्वर २३५
(क) पुरोगामी विषमीकरण २३५
(ख) पश्चगामी २३५
(६) सन्धि २३५
(७) ऊष्मीकरण २३५
(८) अनुनासिकता २३६
(९) मात्राभेद २३६
(क) दीर्घ से ह्रस्व २३६
(ख) ह्रस्व से दीर्घ २३६
(१०) घोषीकरण २३७
(११) अघोषीकरण २३७
(१२) महाप्राणीकरण २३७
(१३) अल्पप्राणीकरण २३८
(१४) अभिश्रुति २३८
(१५) अपिश्रुति २३८
ध्वनि-नियम २३९
नियम की परिभाषा २३९
प्राकृतिक नियम और भाषा संबंधी नियम में अन्तर २३९
ध्वनि-नियम नाम की अशुद्धि २४०
ध्वनि-नियम और ध्वनि-प्रवृत्ति २४०
ध्वनि-नियम के अपवाद और उनके कारण २४०
ध्वनि-नियम की वैज्ञानिक परिभाषा २४१
कुछ प्रसिद्ध ध्वनि-नियम २४२
(क) ग्रिम नियम २४२
प्रथम वर्ण-परिवर्तन २४२
द्वितीय वर्ण-परिवर्तन २४३
आलोचना २४४
(ख) ग्रैसमैन नियम २४५
(ग) वर्नर नियम २४६
(घ) तालव्य नियम २४६
ध्वनि-श्रेणी-विज्ञान २४८
अर्थ-विज्ञान २५२-२८९
वस्तुओं के नामकरण का आधार २५४
अर्थ-विज्ञान और व्युत्पत्ति २५५
अर्थ परिवर्तन २५५
अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ २५६
(१) अर्थ-विस्तार २५६
(२) अर्थ-संकोच २५८
(३) अर्थादेश २५९
(४) अर्थापकर्ष २६०
(५) अर्थोत्कर्ष २६१
अर्थ-परिवर्तन के कारणों का आधार २६२
अर्थ-परिवर्तन के कारण २६२

(१) बल का अपसरण २६२
(२) पीढ़ी-परिवर्तन २६४
(३) विभाषा से शब्दों का उधार लेना २६५
(४) एक भाषा-भाषी लोगों का तितर-बितर होकर विकसित होना २६५
(५) वातावरण में परिवर्तन २६६
(६) नवीन वस्तुओं का निर्माण तथा प्रचलन २६८
(७) नम्रता-प्रदर्शन २६८
(८) अशोभन के लिए शोभन भाषा का प्रयोग २७०
(९) अधिक शब्दों के स्थान पर एक शब्द का प्रयोग २७२
(१०) सादृश्य २७३
(११) कलाकारों की निरंकुशता २७४
(१२) पुनरावृत्ति २७४
(१३) एक शब्द के दो रूपों का प्रचलन २७५
(१४) अज्ञान और शब्दों के प्रयोग में असावधानी २७६
(१५) शब्दों का अधिक प्रयोग २७७
(१६) किसी राष्ट्र-जाति या संप्रदाय के प्रति सामान्य मनोभाव २७७
(१७) एक वर्ग के एक शब्द में अर्थ-परिवर्तन २७८
(१८) अनजाने नवीन अर्थ का साहचर्य आदि के कारण प्रवेश २७९
(१९) किसी शब्द, वर्ग या वस्तु में एक विशेषता का प्राधान्य २८०
(२०) व्यंग्य २८०
(२१) भावावेश २८१
(२२) व्यक्तिगत योग्यता २८२
(२३) शब्दों में अर्थ का अनिश्चय २८३
(२४) वर्ग की एक वस्तु का नाम वर्ग को देना २८३
(२५) भावों को अधिक स्पष्ट करने के लिए अलंकार प्रयोग २८४

अर्थ परिवर्तन संबंधी कुछ विशेषताएँ २८६
(क) अनेकार्थता (Poly-semia) २८६
(ख) एकमूलीयभिन्नार्थक शब्द (Doublet) २८८
(ग) समध्वनीय भिन्नार्थक शब्द(Homonym) २८८

शब्दों के अर्थ के अध्ययन का महत्व २८९

७. शब्द-समूह २९०-३०१
(१) प्राचीन शब्दों का लोप २९१
(क) रीति या कर्मों का लोप २९१
(ख) रहन-सहन तथा खान-पान आदि में परिवर्तन २९२
(ग) अश्लीलता २९२
(घ) ध्वनि की दृष्टि से

शब्दों का घिस जाना २९२
(ङ) अंधविश्वास २९४
(च) पर्याय २९५
(२) **नवीन शब्दों का आगमन** २९५
(क) सभ्यता में विकास २९५
(ख) चेतना २९५
(ग) भिन्न भाषा-भाषी शब्दों या क्षेत्रों का संपर्क २९५
(घ) दृश्यात्मकता २९६
(ङ) ध्वन्यात्मकता २९६
(च) साम्य या नवीनता के लिये २९६
नवीन शब्दों का स्रोत २९७
(१) निर्माण २९७
(क) दो शब्दो के मेल से २९७
(ख) व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के आधार पर २९८
(ग) ध्वनियों के आधार पर २९८
(घ) दृश्य के आधार पर २९९
(च) व्याकरण के नियमों के आधार पर २९९
(छ) स्वतंत्र रूप से निर्मित शब्द ३००
(२) उधार ३००
(क) दूसरी भाषाओं से ३००
(ख) अपने प्राचीन साहित्य से ३००
(ग) ग्रामीण बोलियों से ३००
शब्द-समूह का वर्गीकरण ३०१
८. भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज ३०२-३०६
खोज प्रणाली ३०२
खोज में सहायक अन्य शास्त्र तथा विज्ञान ३०२
मूल भाषा के शब्दों का निर्णय करते समय कुछ स्मरणीय बातें ०
शब्दों से निष्कर्ष निकालते समय ध्यान देने योग्य बातें ३०४
खोज का कार्य ३०५
९. लिपि ३०७
लिपि की उत्पत्ति ३०७
लिपि का विकास ३०८
(१) चित्र लिपि ३०८
चित्र लिपि की कठिनाइयाँ ३१०
(२) सूत्र लिपि ३११
(३) भावाभिव्यक्ति की प्रतीकात्मक पद्धति या प्रतीकात्मक लिपि ३१३
(४) भाव-मूलक लिपि ३१४
(५) भाव-ध्वनि-मूलक लिपि ३१५
(६) ध्वनि-मूलक लिपि ३१६
(क) अक्षरात्मक लिपि ३१६
(ख) वर्णात्मक लिपि ३१६
लिपि के विकास-क्रम की विभिन्न अवस्थाएँ ३१७

संसार की प्रमुख लिपियों के दो प्रधान वर्ग ३१७
क्यूनीफार्म या तिकोनी लिपि ३१८
हीरोग्लाइफिक या चित्राक्षर लिपि ३२०
क्रीट की लिपियाँ ३२०
हिट्टाइट लिपि ३२१
चीनी लिपि ३२१
अरबी लिपि ३२६
भारतीय लिपियाँ ३२६
सिंधुघाटी की लिपि ३२६
भारत में लिपि ज्ञान की प्राचीनता ३३०
भारत की प्राचीन लिपियाँ ३३३
खरोष्ठी ३३४
ब्राह्मी ३३८
उत्तरी भारत की लिपियाँ ३५१
मध्य तथा दक्षिणी भारत की लिपियाँ ३६१
यूनानी लिपि ३६२
लैटिनलिपि ३६३
लिपि की उपयोगिता और उसकी शक्ति ३६५

१०. व्युत्पत्ति शास्त्र (Etymology) ३६७-३७३
व्युत्पत्ति-शास्त्र और रूप विज्ञान ३६८
व्युत्पत्ति और भ्रामक व्युत्पत्ति ३६६
अन्य बातें ३७०

११. भाषाविज्ञान का इतिहास ३७४-४३७
(क) भारतवर्ष ३७४
(ख) प्राचीन ३७४
(१) ब्राह्मण ग्रन्थ ३७५
(२) पदपाठ ३७५
(३) प्रातिशाख्य ३७५
प्रातिशाख्यों में किए गए कार्य ३७६
(४) निघन्टु ३७६
उपलब्ध निघन्टु और उसका स्वरूप ३७७
(५) यास्क ३७७
यास्क का निरुक्त ३७७
निरुक्त की प्रधान बातें ३७७
(६) आपिशलि तथा काशकृत्स्न ३७६
(७) ऐन्द्र सम्प्रदाय ३८०
(८) पाणिनि ३८०
पाणिनि की अष्टाध्यायी ३८१
अष्टाध्यायी की विशेषताएँ ३८१
पाणिनि के अन्य ग्रन्थ ३८२
पाणिनि का प्रभाव ३८३
(९) कात्यायन ३८३
कात्यायन का वार्तिक ३८३
वार्तिक का महत्व ३८४
(१०) पतंजलि ३८४
पतंजलि का महाभाष्य ३८४
महाभाष्य का महत्व ३८४

मुनित्रय	३८४
(११) पाणिनि शाखा और उसके वैयाकरण	३८५
(अ) टीकाकार	३८५
(क) जयादित्य तथा वामन	३८५
(ख) जिनेन्द्र बुद्धि	३८५
(ग) हरदत्त	३८६
(घ) भर्तृहरि	३८६
(ङ) कय्यट	३८६
(आ) कौमुदीकार	३८६
(क) विमल सरस्वती	३८७
(ख) रामचन्द्र	३८७
(ग) भट्टोजि दीक्षित	३८७
(घ) वरदराज	३८८
(१२) व्याकरण की पाणिनीतर शाखाएँ	३८८
(क) चान्द्र शाखा	३८८
(ख) जैनेन्द्र शाखा	३८९
(ग) शाकटायन शाखा	३८९
(घ) हेमचन्द्र शाखा	३९०
(ङ) कातंत्र शाखा	३९०
(च) सारस्वत शाखा	३९१
(छ) बोपदेव शाखा	३९२
(ज) शेष शाखाएँ	३९२
(१३) पाली	३९२
(क) कच्चायन	३९२
(ख) मोग्गल्लान	३९३
(ग) अग्गवंश	३९३
(१४) प्राकृत	३९३
प्रतीच्य शाखा	३९३
हेमचन्द्र	३९४
(ख) प्राच्य शाखा	३९४
वररुचि	३९४
(१५) वैयाकरणों के अतिरिक्त	३९४
(क) नैयायिक	३९५
(ख) साहित्यिक	३९५
(ग) आधुनिक	३९५
(१) काल्डवेल	३९६
(२) जान बीम्स	३९६
(३) ट्रम्प	३९६
(४) केलाग	३९६
(५) भंडारकर	३९६
(६) हार्नली	३९७
(७) ग्रियर्सन	३९७
(८) टर्नर	३९७
(९) ब्लाख	३९८
(१०) शेष विद्वान और उनके प्रधान विषय	३९८
(११) आधुनिक अध्ययन की प्रधान प्रवृत्तियाँ तथा आवश्यकताएँ	४०४
(ख) चीन	४०५
(ग) जापान	४०८
(घ) अरब	४०९
(ङ) यूरोप	४१०
(च) प्राचीन	४११
(१) सुकरात	४११
(२) प्लेटो	४११
(३) अरस्तू	४१२
(४) अरस्तू और थ्रैक्स के	

बीच का कार्य ४१३
(५) थ्रैक्स ४१३
(६) यूरोप में भाषा के प्राचीन अध्ययन का अंतिम युग ४१४
(त्र) आधुनिक ४१६
(क) प्रत्न युग ४१६
(१) विलियम जोंस ४१६
(२) कोलब्रूक ४१७
(३) श्लेगल् (छोटे) ४१७
(४) श्लेगल् (बड़े) ४१८
(५) हम्बोल्ड्ट ४१८
(६) रैस्क ४२०
(७) याकोब् ग्रिम ४२१
(८) बॉप ४२२
(९) पश्च पर एक दृष्टि ४२३
(१०) पॉट ४२४
(११) रैप ४२४
(१२) ब्रेड्स्डार्फ ४२५
(१३) राथ तथा बाटलिंक ४२५
(१४) श्लाइखर ४२६
(१५) कुर्टिउस ४२७
(१६) मैडविग ४२८
(१७) कुछ प्रसिद्ध विशेषज्ञ ४२८
(१८) मैक्समूलर ४२८
(१९) ह्विटनी ४३०
(ख) नवयुग ४३१
(१) स्टाइन्थाल ४३१
(२) ब्रुगमन ४३२
(३) ग्रैसमैन, वर्नर, अस्कोली ४३२
(४) आधुनिक अध्ययन की प्रवृत्तियाँ, क्षेत्र और प्रमुख कार्यकर्ता ४३२

परिशिष्ट ४३८-४५३

(क) **सादृश्य** (analogy) ४३८
मिथ्या सादृश्य ४३८
क्या सादृश्य एक कारण है ? ४३८
सादृश्य की गति ४३९
सादृश्य के कुछ प्रधान कारण ४३९
सादृश्य का आरम्भ ४४०
सादृश्य का प्रभाव ४४१
सादृश्य का क्षेत्र ४४१
(ख) **ध्रुवाभिमुख नियम** (Law of polarity) ४४१
कारण और उसका स्पष्टीकरण ४४२
प्रो० मेनहाफ द्वारा बनाया गया चित्र ४४३
(ग) **एसपिरैंतो** (Esperanto) ४४३
आरम्भ और प्रचार ४४३
एसपिरैंतो का साहित्य ४४४
कर्म ४४४
व्याकरण, लिपि और शब्द समूह ४४४
इडो (Ido) एक शाखा ४४५
(घ) **कायमोग्राफ** (Kymograph) ४४६
कायमोग्राफ का उपयोग ४४७

(ङ) एक्स' रे (X'Ray) ४४८
(च) लैरिंगोस्कोप (Laryngoscope) ४४८
यंत्र का इतिहास ४४८
इसके प्रयोग में अड़चन ४४९
(छ) एंडोस्कोप ४४९
(ज) कृत्रिम तालु (False palate) ४४९
प्रयोग ४४९
प्रयोग का उपयोग ४५०
(झ) ध्वनि अध्ययन में सहायक कुछ नवीन यंत्र ४५१
(ञ) आइसोग्लास (Isogloss) ४५१
(ट) आइसोफ़ोन (Isophone) ४५१
(ठ) ध्वन्यात्मक शब्द (Onomatopoeic) ४५२
(ड) प्रतिध्वन्यात्मक शब्द (Echo-word) ४५२
(ढ) मैलाप्रापिज्म (Malapropism) ४५२
(ण) आधार - सिद्धान्त (Substratum Theory) ४५३
आधार-सिद्धान्त का प्रभाव ४५३
पारिभाषिक शब्द-सूची ४५५-४७४
(क) हिन्दी-अंग्रेजी ४५५
(ख) अंग्रेजी-हिन्दी ४६५

अध्याय १

प्रवेश

भाषा किसे कहते हैं ?

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, अतः समाज में रहने के नाते उसे सर्वदा आपस में विचार-विनिमय करना पड़ता है। कभी हम स्फुट शब्दों या वाक्यों द्वारा अपने को प्रकट करते हैं तो कभी केवल सर हिलाने से हमारा काम चल जाता है। समाज के धनी-वर्ग में निमंत्रण देने के लिए पत्र लिखे या छपवाए जाते हैं तो गरीबों में हल्दी या सुपारी देना ही पर्याप्त होता है। स्काउट लोगों का विचार-विनिमय झंडियों द्वारा होता है, तो बिहारी के पात्र 'भरे भवन में करते हैं नयनन ही सों बात'। चोर लोग अँधेरे में एक-दूसरे का हाथ दबाकर ही अपने को प्रकट कर लिया करते हैं। इसी प्रकार करतल-ध्वनि, हाथ हिलाकर संकेत करना (पास बुलाने, दायें-बायें हटने या कहीं भेजने आदि के लिए), चुटकी बजाना, आँख घुमाना, आँख दबाना, खाँसना, मुँह बिचकाना या टेढ़ा करना, उँगली दिखाना तथा गहरी साँस लेना आदि अनेक प्रकार के साधनों द्वारा हमारे विचार-विनिमय का कार्य चलता है। इन साधनों को हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

(क) पहले वर्ग में वे साधन आते हैं जिनके द्वारा अभिव्यक्त विचारों का ग्रहण स्पर्श द्वारा होता है, जैसे चोरों का हाथ दबाना।

(ख) दूसरे वर्ग में वे साधन आते हैं, जिनके विचारों के समझने के लिए आँख की आवश्यकता होती है। हल्दी बाँटना, स्काउटों का झंडी दिखलाना या हाथ हिलाकर संकेत करना आदि इसी वर्ग के हैं।

(ग) तीसरे वर्ग में सर्वाधिक प्रचलित तथा महत्त्वपूर्ण साधन आते हैं, जिनके भावों का ग्रहण कान द्वारा होता है। इनका संबंध ध्वनि से होता है। करतल-ध्वनि, चुटकी बजाना, तार बाबू का टरा-टक्कू या गर-गट्ट करना, या **बोलना** आदि इस वर्ग के विचार-विनिमय के साधन हैं।

व्यापक रूप से विचार-विनिमय के उपर्युक्त तीनों ही साधनों को भाषा कहा जा सकता है, पर साधारणतया भाषा का इतना विस्तृत अर्थ नहीं लिया जाता। वह केवल साधनों के अंतिम या तीसरे वर्ग तक ही सीमित मानी जाती है। बल्कि उसका रूप और भी सीमित हो जाता है क्योंकि उसमें ध्वनि उत्पन्न करने वाले सभी साधनों

को स्थान न देकर केवल बोलने को स्थान दिया गया है। इस स्पष्टीकरण के बाद भाषा की परिभाषा दी जा सकती है :

भाषा निश्चित प्रयत्न के फलस्वरूप मनुष्य के मुख से निःसृत वह सार्थक ध्वनि-समष्टि है, जिसका विश्लेषण और अध्ययन हो सके।

भाषा की इस परिभाषा में तीन बातें हैं :

(क) भाषा को प्रयत्न के फलस्वरूप मनुष्य के मुख से निःसृत ध्वनि होना चाहिए।

(ख) उसे सार्थक* या विचाराभिव्यक्ति में समर्थ होना चाहिए।

(ग) उसे विश्लेषण एवं अध्ययन† के योग्य होना चाहिए।

भाषा-विज्ञान की परिभाषा

ऊपर हम लोग भाषा की परिभाषा पर विचार कर चुके हैं। भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को ही 'भाषा-विज्ञान' कहते हैं। वैज्ञानिक अध्ययन से हमारा तात्पर्य सम्यक् रूप से भाषा के बाहरी और भीतरी रूप एवं विकास के अध्ययन से है। यह अध्ययन दो पद्धतियों द्वारा किया जाता है :

१. **ऐतिहासिक पद्धति**—इस पद्धति के अनुसार किसी भाषा के अध्ययन में उसके इतिहास, विकास या जीवन का अध्ययन किया जाता है।

२. **तुलनात्मक पद्धति**—इस पद्धति के अनुसार भाषा के अध्ययन में दो या अधिक भाषाओं का विभिन्न दृष्टियों (ध्वनि, रूप, वाक्य तथा शब्द-समूह आदि) से तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।

इन दोनों अध्ययनों के आधार पर अंत में भाषा की आरंभिक अवस्था, विकास (वाह्य और आंतरिक) तथा गठन आदि के संबंध में सिद्धान्तो का निर्धारण होता है।

भाषा-विज्ञान के विभिन्न विभागों पर विचार करते समय विस्तार के साथ हम लोग इसके अंतर्गत किये जाने वाले अध्ययन पर प्रकाश डाल सकेंगे, यहाँ इस साधारण विश्लेषण के बाद भाषा-विज्ञान की परिभाषा देकर आगे बढ़ना ही यथेष्ट होगा।

जिस विज्ञान के अंतर्गत ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के सहारे भाषा (विशिष्ट नहीं, अपितु सामान्य) की उत्पत्ति, गठन, प्रकृति एवं

---

* निरर्थक ध्वनि या शब्द भाषा के अंतर्गत नहीं आते।

† कुछ लोग मनुष्य के मुख से निःसृत सार्थक ध्वनि को ही भाषा कहते हैं, पर इस आधार पर तो शोक में प्रकट की गई चू चू ध्वनि भी भाषा हो जावेगी क्योंकि

विकास आदि की सम्यक् व्याख्या करते हुए इन सभी के विषय में सिद्धान्तों का निर्धारण हो उसे 'भाषा-विज्ञान' कहते हैं।

भाषा-विज्ञान का नाम

यूरोप में इस विज्ञान के लिए सर्व प्रथम फिलालजी (Philology=भाषा से प्रेम या शब्द से प्रेम) नाम का प्रचलन हुआ। १६वीं सदी में इस क्षेत्र में तुलनात्मक (Comparative) अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया गया, अतः कम्परेटिव फिलालजी (Comparative philology) ने उसका स्थान ले लिया। कुछ दिनों के उपरान्त 'कम्परेटिव' शब्द छोड़ दिया गया क्योंकि शास्त्रीय अध्ययन सदैव तुलनात्मक होता है, अतः यह पूँछ व्यर्थ थी।

उस समय तक व्याकरण और भाषा-विज्ञान को लोग मूलतः अलग नहीं समझते थे, अतः तुलनात्मक व्याकरण (Comparative Grammar) का भी इसके लिए प्रयोग होने लगा। जर्मनी में Sprachwissenschaft नाम बहुत दिनों तक चलता रहा। फ्रांस वालों ने इसका नाम लिंग्विस्टिक (Linguistique) रखा। यह नाम लोगों को पसन्द आया और आज भी यूरोप में Linguistique या Linguistics नाम का ही विशेष प्रचलन है। कुछ लोग 'साइंस ऑव लैंग्वेज' (Science of Language) भी कहते हैं, पर यह नाम अपेक्षाकृत बड़ा है, अतः ठीक नहीं ज्ञात होता। अन्य विज्ञानों की भाँति इसके लिए भी एक शब्द का प्रयोग निश्चय ही अधिक सुविधाजनक होगा।

बीसवीं सदी के आरंभ में श्री० टी० जी० टकर ने भाषा-विज्ञान के लिए प्रचलित लगभग सभी शब्दों को आलोचनात्मक दृष्टि से अशुद्ध बतलाते हुए ग्लाटालोजी (Glottology=Science of Tongue या भाषा-विज्ञान) नाम लोगों के समक्ष रखा और इसे सभी दृष्टियों से उचित सिद्ध किया। यह एक रहस्य है कि विद्वान इस नाम को क्यों नहीं अपना सके।

आज लिंग्विस्टिक्स तथा फिलालजी* ये ही दो नाम प्रचलित हैं। भविष्य ही

सुनने वाला शोक का अर्थ उससे भी निकाल लेता है। पर सत्य यह है कि उसे भाषा का नाम नहीं दे सकते। भाषा कहलाने के लिए ध्वनि का अध्ययन और विश्लेषण के योग्य भी होना आवश्यक है।

* इसके 'फ़ाइलालोजी' 'फ़ाइलालजी' 'फ़िलालजी' तथा 'फ़िलालोजी' आदि कई उच्चारण प्रचलित हैं।

इसका निर्णय करेगा कि इन दोनों नामों में से कौन-सा नाम अधिक उपयुक्त तथा व्यवहार्य है।

हिन्दी में भी इस विज्ञान के लिए कई शब्द प्रचलन में आते रहे हैं, जिनमें भाषा-तत्व, भाषा-शास्त्र, भाषा-विचार, तुलनात्मक भाषा शास्त्र, तुलनामूलक भाषा-विज्ञान तथा भाषा-विज्ञान आदि प्रधान हैं। इधर 'भाषा-विज्ञान' नाम अधिक प्रयुक्त हो रहा है। यद्यपि, इस संबन्ध में पूर्ण निश्चय तो नहीं हुआ है पर यह नाम प्रत्येक दृष्टि से सुन्दर है, अतः यदि हम लोग इसे ही अपना लें तो कदाचित् अनुचित न होगा। हिन्दी के अतिरिक्त भारत की अन्य समुन्नत भाषाओं के लिये भी यह नाम अधिक उपयोगी एवं समीचीन है।*

भाषा-विज्ञान विज्ञान है या कला ?

नाम से तो यही ज्ञात होता है कि भाषा-विज्ञान अवश्य ही शुद्ध रूप में एक विज्ञान है, पर यथार्थतः यह बात नहीं है। यदि विज्ञान का अर्थ केवल विशुद्ध या सम्यक या विशेष ज्ञान ही है तो भाषा-विज्ञान विज्ञान कहा जा सकता है। पर विज्ञान में कुछ और भी बातें आवश्यक हैं। उसमें विकल्प के लिये कोई स्थान नहीं। उसके नियम सर्वत्र लागू होते हैं, और उनका फल भी एक होता है। 'सूखी लकड़ी जलाने पर जलती है, या हवा गर्म करने पर हलकी होती है'—विज्ञान के ये शाश्वत नियम हैं। परन्तु भाषा-विज्ञान में यह निश्चितता नहीं है। 'धर्म' और 'कर्म' एक से शब्द हैं; पर, एक का विकास आज 'धरम' के रूप में हुआ है दूसरे का 'काम' के रूप में। यदि 'धर्म' का आज 'धाम' रूप मिलता तो शायद भाषा-विज्ञान को शुद्ध विज्ञान कहा जा सकता। दूसरी ओर भाषा-विज्ञान पूर्णतः कला भी नहीं है। कला का प्रधान कार्य मनोरंजन और व्यावहारिक उपयोग है। सभी ललित-कलाएँ तथा उपयोगी कलाएँ इस संबंध में उदाहरणार्थ ली जा सकती हैं। पर क्या भाषा-विज्ञान भी हमारा इस प्रकार का मनोरंजन करता है या इसका कोई व्यावहारिक उपयोग भी है ? इस प्रश्न

---

* कुछ वर्ष पूर्व भाषा-विज्ञान विषय पर पं० सीताराम चतुर्वेदी की एक 'भाषालोचन' शीर्षक पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसमें लेखक ने 'भाषा-विज्ञान' नाम को त्रुटिपूर्ण बतलाते हुए 'भाषालोचन' [भाषा+लोचन (=भाषा परखने की आँख) या भाषा+आलोचन (भाषाओं की जाँच या आलोचना)] को उचित बतलाया है। पर, अब भाषा-विज्ञान नाम इतना प्रचलित हो गया है कि किसी अन्य नाम के उसके स्थान पर आने की संभावना कम ही है।

पर विचार करने से पता चलता है कि भाषा-विज्ञान प्रमुखतः केवल ज्ञान-पिपासा को शांत करता है।

इस प्रकार भाषा-विज्ञान का स्थान कला तथा विज्ञान दोनों के बीच में है। कुछ बातों में यह विज्ञान की श्रेणी में चला जाता है तो कुछ बातों में कला की श्रेणी में। इतना होते हुये भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि कला की अपेक्षा यह विज्ञान की ओर अधिक झुका हुआ है और इसीलिए इसका नाम 'भाषा-विज्ञान' है।

भाषा-विज्ञान और व्याकरण में अन्तर

भाषा-विज्ञान और व्याकरण दोनों ही का सम्बन्ध भाषा से है, पर इन दोनों का दृष्टिकोण एक नहीं है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। भाषा-विज्ञान विज्ञान की ओर अधिक झुका है, पर व्याकरण हमारे दैनिक काम की चीज़ होने के कारण कला के निकट है। भाषा के समझने, बोलने या लिखने में हम उसका उपयोग करते हैं।

किसी भाषा की साधुता-असाधुता की ओर व्याकरण का ध्यान रहता है, परन्तु भाषा-विज्ञान का किसी एक भाषा से सम्बन्ध नहीं। वह तो सामान्य रूप से भाषा का अध्ययन कर सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। यदि किसी भाषा पर विचार भी करता है तो प्रत्येक शब्द पर तर्क-वितर्क करते हुए। भाषा-विज्ञान सीधे यह नहीं कह देगा कि आज हिन्दी में 'जाना' धातु का सामान्य भूत 'गया' होगा जैसा कि व्याकरण कहता है। वह जाँच-पड़ताल आरम्भ करेगा। 'जाना' की उत्पत्ति कहाँ हुई? कैसे-कैसे ध्वनि परिवर्तन होता गया? अर्थ में भी कुछ परिवर्तन हुआ या नहीं? इत्यादि। यदि कोई संस्कृत में 'एकादश' न कहकर 'एकदश' कहे तो व्याकरण केवल असाधु प्रयोग कह कर मौन हो जायगा; किन्तु भाषा-विज्ञान इसे स्पष्ट करेगा कि 'एकदश' ही कभी शुद्ध रहा होगा पर बाद में 'द्वादश' के सादृश्य से उसे 'एकादश' हो जाना पड़ा। अतः आज प्रचलित या विकसित रूप 'एकादश' है। इस प्रकार व्याकरण के मूल का पूर्ण विवेचन भाषा-विज्ञान का कार्य है।

एक प्रकार से व्याकरण भाषा-विज्ञान का अनुगामी है। नए विकारों को भाषा-विज्ञान सकारण समझता जाता है और फिर उसे व्याकरण साधु मानता चलता है। इसी कारण फ्रांस आदि देशों में प्रति दसवें वर्ष व्याकरण में परिवर्तन कर दिया जाता है।

भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध भाषा के अधिक से अधिक जीवित रूप से होता है पर व्याकरण इतना प्रगतिवादी नहीं है। वह जीवित रूपों को प्रारम्भ में असाधु मानता है। हाँ कुछ दिन में उसे भाषा-विज्ञान के आगे झुकना अवश्य पड़ता है, और उस

असाधु को साधु स्वीकार करना पड़ता है। आज भाषा-विज्ञान के अंतर्गत ध्वनि विचार में हिन्दी के अधिकतर अकारांत शब्द व्यंजनांत माने जाने लगे हैं, क्योंकि आज का हमारा उच्चारण 'राम' न होकर 'राम्' है। पर यदि भाषा में आज 'राम्', 'धाम्', 'आम्' आदि लिखा जाय तो वैयाकरण लोग नाक-भौं सिकोड़ेंगे। हाँ कुछ दिनों बाद इसकी सत्यता स्वीकार कर लेने पर व्याकरण के लिए अवश्य ही नाक-भौं सिकोड़ने का कोई कारण नहीं रह जायेगा। इससे स्पष्ट है कि व्याकरण अप्रगतिवादी या पुरातनवादी है और इसकी तुलना में भाषा-विज्ञान प्रगतिवादी या नवीनतावादी। यह व्याकरण की प्राचीनवादिता का ही परिणाम है कि संस्कृत के विकास से उत्पन्न भाषाओं के 'प्राकृत' (= असंस्कृत) और 'अपभ्रंश' (= बिगड़ी हुई) जैसे नाम पड़े और दूसरी ओर यह भाषा-विज्ञान की प्रगतिवादिता का ही ज्वलन्त उदाहरण है कि यह 'धर्म' से 'धम्म' या 'धरम' हो जाने को 'अवनति' या 'विकार' न मानकर वह 'विकास' मानता है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान व्याकरण का भी व्याकरण और उसका अग्रणी है।

भाषा-विज्ञान के अध्ययन के विभाग

भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में भाषा सम्बन्धी लगभग सभी प्रश्नों पर विचार करना पड़ता है। इनमें से कुछ प्रश्न तो अपना अधिक महत्व रखते हैं और कुछ साधारण। यद्यपि यह महत्त्व इतना कम नहीं होता कि उनको छोड़ दिया जा सके। इस प्रकार इन प्रश्नों या विभागों के प्रधान और गौण दो वर्ग बनाए जा सकते हैं।

(क) प्रधान

(१) वाक्य-विज्ञान (Syntax)

हम ऊपर कह चुके हैं कि भाषा का प्रधान कार्य विचार-विनिमय है और विचार-विनिमय वाक्यों द्वारा किया जाता है; अतः वाक्य ही भाषा में सबसे अधिक स्वाभाविक और महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। भाषा-विज्ञान के जिस विभाग में इसका अध्ययन होता है उसे वाक्य-विज्ञान या वाक्य-विचार कहते हैं। इसके दो रूप हैं। (१) ऐतिहासिक वाक्य विज्ञान (Historical syntax) तथा (२) तुलनात्मक वाक्य-विज्ञान (Comparative syntax)।

वाक्य-विज्ञान के अध्ययन के ये दोनों ही रूप बहुत कठिन हैं। ऐतिहासिक वाक्य-विज्ञान में किसी भाषा के आरम्भ काल से वर्तमान काल तक के वाक्य बनाने के नियमों पर विचार करना पड़ता है। इसके सम्यक् अध्ययन के लिये उस भाषा के प्राचीन काल के बोलने वालों के मनोविज्ञान की जानकारी आवश्यक होती है। तुल-

नात्मक वाक्य-विज्ञान में दो भाषाओं के वाक्यों की गठन या वाक्य बनाने के नियमों का तुलनात्मक अध्ययन (जिसके लिए दोनों भाषाओं का पूर्ण ज्ञान अवश्य है) किया जाता है। इस प्रकार वाक्य-विचार का अध्ययन असाधारण प्रतिभा की अपेक्षा रखता है। यही कारण है कि इस पर अभी तक विशेष कार्य नहीं हो सका है।

(२) रूप-विज्ञान (Morphology)

वाक्य का निर्माण शब्दों से होता है, अतः वाक्य के बाद शब्द के रूप (या पद) का विचार आवश्यक हो जाता है। रूप-विज्ञान के अंतर्गत धातु, उपसर्ग, प्रत्यय तथा विभक्ति आदि उन सभी उपकरणों पर विचार करना पड़ता है, जिनसे शब्द बनते हैं। इसका अध्ययन लोगों ने वाक्य-विज्ञान की अपेक्षा अधिक किया है।

(३) ध्वनि-विज्ञान (Phonology)

शब्द ध्वनियों के संयोग से बनते हैं, अतः शब्दों पर विचार करने के उपरान्त ध्वनि-विज्ञान (या ध्वनि-विचार के) अंतर्गत ध्वनियों पर विचार किया जाता है। इसी के अंतर्गत फ़ोनेटिक्स (Phonetics) या ध्वनिशास्त्र का भी एक विभाग है, जिसमें ध्वनि से सम्बन्ध रखने वाले अवयवों (मुख-विवर, नासिका-विवर, स्वर-तन्त्री तथा ध्वनि-यंत्र), ध्वनि उत्पन्न होने की क्रिया तथा ध्वनि-लहर और उसके सुने जाने आदि का अध्ययन होता है।

ध्वनि-विज्ञान के अंतर्गत ध्वनि-परिवर्तन या ध्वनि-विकास पर, उसके कारणों और दिशाओं के विश्लेषण के साथ विचार होता है। ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन के दो रूप और हैं। एक तो तुलनात्मक है, जिसमें एक कुल की भाषाओं को लेकर ध्वनि-विकास पर विचार कर नियम-निर्धारण होता है। ग्रिम-नियम के प्रथम भाग का सम्बन्ध इसी से है। दूसरा रूप ऐतिहासिक है, जिसमें एक भाषा के इतिहास का ध्वनि की दृष्टि से अध्ययन किया जाता है। इससे यह पता चलता है कि भाषा में किस ध्वनि में कब और क्यों परिवर्तन हुआ।

इन दोनों दृष्टियों से अध्ययन करने के बाद भाषा के ध्वनि सम्बन्धी सामान्य नियम बनते हैं। आगे विचार करते समय हम इन सामान्य नियमों पर ही विचार कर सकेंगे क्योंकि यहाँ किन्हीं एक-दो भाषाओं को लेकर हमें नहीं चलना है।

ध्वनि-विज्ञान की अमेरिका में इधर एक और शाखा विकसित हो गई है, जिसे फ़ोनेमिक्स (Phonemics) कहते हैं। आगे 'ध्वनि-विज्ञान' शीर्षक अध्याय में इस पर विचार किया जा सकेगा।

(४) **अर्थ-विज्ञान** (Semantics)

भाषा का शरीर वाक्य से चलकर ध्वनि की एक इकाई पर समाप्त होता है। इसके बाद हमें उसकी आत्मा पर विचार करना पड़ता है। आत्मा से हमारा तात्पर्य 'अर्थ' से है। भाषा-विज्ञान का यह विभाग मनुष्य के मस्तिष्क से सम्बन्ध रखने के कारण बहुत ही आकर्षक पर सूक्ष्म है।

अर्थ-विज्ञान में प्रधानतः शब्दों के अर्थ-परिवर्तन तथा उसके कारणों पर विचार करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त इस वर्ग के अध्ययन का एक मनोरंजक विषय यह भी है कि किसी शब्द या ध्वनि का एक निश्चित् अर्थ कैसे हुआ। अर्थात् 'अश्व' का अर्थ 'घोड़ा' ही क्यों हुआ 'हाथी' क्यों नहीं हुआ? दूसरे शब्दों में इसी प्रश्न को हम यों कह सकते हैं कि ध्वनि और अर्थ का कोई सहजात सम्बन्ध है या नहीं। इस प्रश्न पर भारत में यास्क के समय से ही विचार होता आया है पर कोई निश्चित् उत्तर नहीं दिया जा सका। इसी प्रकार यूरोप में प्लेटो के समय से ही लोग इस पर व्यर्थ सर खपाते चले आ रहे हैं। आज भी यह प्रश्न एक पहेली है, अतः इस विषय पर हम लोग बहुत विस्तार के साथ विचार न कर सकेंगे*। इस सम्बन्ध में यहाँ इतना और जोड़ देना अनुचित न होगा कि कुछ शब्दों में (पत्ता, गड़गड़, भोंपू) तो ध्वनि का अर्थ से कुछ सम्बन्ध है पर शेष में यह सम्बन्ध केवल हमारा माना हुआ है।

(ख) गौण

(१) **भाषा का आरम्भ**

भाषा-विज्ञान का सबसे अधिक स्वाभाविक, आवश्यक पर विचित्र प्रश्न भाषा की उत्पत्ति का है। इस पर विद्वानों ने तरह-तरह से विचार कर, अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। वेन्द्रिए आदि कुछ विद्वान तो इस प्रश्न को भाषा-विज्ञान के अंतर्गत मानते ही नहीं; पर इसे उचित नहीं कहा जा सकता। जब भाषा का पूरा जीवन हमारे अध्ययन का विषय है तो उसके जन्म के प्रश्न को हम कैसे ठुकरा सकते हैं? हाँ, इसका अध्ययन कठिन अवश्य है और यही कारण है कि इसका कोई निश्चित् उत्तर हम नहीं पा सके हैं और न निकट भविष्य में ही इसकी कोई आशा है।

---

* आगे 'व्युत्पत्तिशास्त्र' तथा 'अर्थविज्ञान' के अंतर्गत इस सम्बन्ध में कुछ सामग्री दी गई है।

(२) भाषाओं का वर्गीकरण

ऊपर के प्रधान विभाग के अंतर्गत कहे गए चारो उपविभागों (वाक्य, रूप, ध्वनि तथा अर्थ-विज्ञान) के आधार पर प्रस्तुत शीर्षक के अंतर्गत हम संसार की भाषाओं का तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन कर उनका वर्गीकरण करते हैं। इसी आधार पर यह निश्चित किया जाता है कि कौन-कौन भाषाएँ एक कुल की हैं। साथ ही इससे अर्थ या ध्वनि संबंधी अनेक गुत्थियों पर भी प्रकाश पड़ता है। तत्त्वतः यह भाषा-विज्ञान का स्वतंत्र विभाग न होकर उपर्युक्त चारों विभागों के आधार पर अध्ययन का एक पृथक् कक्ष मात्र है।

(३) व्युत्पत्तिशास्त्र (Etymology)

भाषा विज्ञान का आरंभ प्रधानतः इसी से हुआ है। सच पूछा जाय तो यह भी स्वतंत्र विभाग नहीं, बल्कि ध्वनि, अर्थ और रूप का सम्मिलित प्रयोग मात्र है। इसके अंतर्गत किसी शब्द के पूरे जीवन तथा उसके आन्तरिक और वाह्य परिवर्तनों पर विचार किया जाता है। कभी-कभी तो इसका विवेचन ललित-कलाओं की भाँति आकर्षक और मनोरंजक हो जाता है।*

(४) शब्द-समूह (Vocabulary)

इस विषय में भाषा के शब्द-समूह पर कई दृष्टियों से विचार किया जाता है, जिनमें प्रधान निम्न हैं :—१. शब्द-समूह में परिवर्तन क्यों और कैसे होता है? २. नए शब्द कैसे बनते हैं? ३. उधार-शब्दों (विदेशी) को स्वीकार करना कहाँ तक ठीक है?

इस अध्ययन से भी बोलने वालों की विचार-धारा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। यह प्रश्न कम मनोरंजक नहीं है कि क्यों कभी का एक बहुत प्रचलित शब्द कुछ समय बाद ऐसा हो जाता है कि उसका उच्चारण करना भी लोग नहीं पसन्द करते। दूसरी ओर घृणित शब्द भी क्यों कभी-कभी अपना लिए जाते हैं।

(५) भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज (Linguistic palaeontology)

यह भाषा-विज्ञान का नवीनतम विभाग है। इसमें भाषा के आधार पर प्रागैतिहासिक काल की संस्कृति का अध्ययन किया जाता है। मनुष्य के पास उस काल के संबंध में कुछ जानने के लिये अभी तक कोई साधन नहीं था या था भी तो अपर्याप्त, पर भाषा-विज्ञान के इस विभाग ने अब एक नवीन आशा की किरण दे दी है। अभी

* देखिये प्रस्तुत लेखक की 'शब्दों का जीवन' शीर्षक पुस्तक—प्रकाशक।

तो इसकी शैशवावस्था है, पर संभव है कि इस आधार पर हम निकट भविष्य में प्रागैतिहासिक संस्कृतियों का विशेष परिचय पा सकें।

(६) लिपि

लिपि भाषा का अंग न होने के कारण प्रत्यक्षतः भाषा-विज्ञान के अंतर्गत न आने पर भी उससे असंबद्ध नहीं कही जा सकती, क्योंकि लिखित भाषा में हमें लिपि का ही सहारा लेना पड़ता है। इसी कारण भाषा-विज्ञान के अंतर्गत इसका भी अध्ययन किया जाता है। इसमें लिपि की उत्पत्ति, विकास, शक्ति तथा उपयोगिता आदि पर विचार करते हैं।

ध्वनि विज्ञान की सहायता से लिपि के सुधार आदि पर भी भाषा-विज्ञान के अंतर्गत विचार किया जाता है।

(७) शेष

उपर्युक्त प्रधान तथा गौण विभागों के अतिरिक्त भाषा-विज्ञान के अंतर्गत—

(१) भाषा तथा उसके विविध रूप (जैसे बोली, उपभाषा, राजभाषा, राष्ट्र भाषा, कृत्रिम भाषा, विशिष्ट भाषा तथा गुप्त भाषा आदि),

(२) उन रूपों के बनने के कारण,

(३) भाषा की प्रकृति,

(४) भाषा के विकास के कारण,

(५) उसके विकास में व्याघात उपस्थित करने वाले कारण,

(६) भाषा विज्ञान का इतिहास या भाषा के अध्ययन का इतिहास, तथा

(७) किसी जीवित भाषा के अध्ययन एवं अध्ययनार्थ सामग्री एकत्र करने की प्रणाली आदि का भी अध्ययन किया जाता है।

भाषा-विज्ञान के अध्ययन से लाभ

इस विषय पर ऊपर यत्र-तत्र हमने विचार किया है। यहाँ संक्षेप में उनको गिनाया जा सकता है।

(१) अपनी चिरपरिचिता भाषा के संबंध में जिज्ञासा की तृप्ति।

(२) ऐतिहासिक और विशेषतः प्रागैतिहासिक संस्कृति और सभ्यता पर प्रकाश।

(३) किसी जाति या संपूर्ण मानवता के मानसिक विकास की चिंताधारा का प्रत्यक्षीकरण।

(४) प्राचीन साहित्य की अर्थ, उच्चारण एवं प्रयोग संबंधी अनेक समस्याओं का समाधान।

(५) विश्व-बन्धुत्व की भावना की वृद्धि (कुछ राष्ट्रों तथा जातियों को मूलतः अपने कुल का पाकर या विश्व भर में विचारों की एकता देखकर)।

(६) भविष्य के लिए भाषा तथा लिपि, आदि के संबंध में पहले से अनुमान, या अनुकूल विकास एवं परिवर्तन करने में सहायता।

भाषा-विज्ञान से मनुष्य के अन्य ज्ञानों का सम्बन्ध

(क) व्याकरण

ऊपर भाषा विज्ञान तथा व्याकरण पर विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि व्याकरण केवल 'क्या' का उत्तर-देता है—अर्थात् सामग्री संकलित कर देता है और फिर भाषा-विज्ञान व्याख्या-प्रधान होने के कारण उस 'क्या' के सम्बन्ध में 'क्यों' 'कब' और 'कैसे' की जिज्ञासा शांत करता है। उदाहरणार्थ व्याकरण हमें बतलाता है कि अन्य पुरुष एक वचन के लिए 'वह' प्रयुक्त होता है और भाषा-विज्ञान उस बात की खोज करता है कि 'वह' क्यों, कब और कैसे प्रयोग में आया। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा-विज्ञान के लिए सामग्री व्याकरण प्रस्तुत करता है, पर साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिये कि व्याकरण को आगे बढ़ाने का कार्य भाषा-विज्ञान ही करता है, क्योंकि वह जीवित भाषा में आने वाले विकारों और परिवर्तनों को समझ लेता है, तत्पश्चात् उसे व्याकरण अपने यहाँ स्थान देता है। आज भाषा विज्ञान हिन्दी के सम्बन्ध में कह सकता है कि उत्तम पुरुष एक-वचन 'हम' है और बहुवचन है 'हम लोग'। परन्तु, व्याकरण अभी तक 'मैं' तथा 'हम' को ही शुद्ध मान रहा है। सम्भव है कुछ ही दिनों में भाषा-विज्ञान की यह बात बेचारे व्याकरण को स्वीकार करनी पड़े, क्योंकि प्रायः लोग 'मैं' के स्थान पर 'हम' तथा 'हम' के स्थान पर 'हम लोग' का प्रयोग बोलचाल की हिंदी में कर रहे हैं।

(ख) साहित्य

भाषा-विज्ञान भाषा के अध्ययन के लिए सारी सामग्री साहित्य से लेता है। यदि आज संस्कृत, अवेस्ता तथा ग्रीक साहित्य हमारे सामने न होता तो किस आधार पर भाषा-विज्ञान रह पाता या जान पाता कि ये तीनों भाषाएँ किसी एक मूल भाषा से निकली हैं। इसी प्रकार यदि आदि काल से आधुनिक काल तक हिंदी साहित्य हमारे सामने न होता तो भाषा-विज्ञान हिंदी भाषा के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन किस

प्रकार कर पाता। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा के तुलनात्मक और ऐतिहासिक दोनों ही अध्ययनों में भाषा-विज्ञान को साहित्य की सहायता लेनी पड़ती है। सत्य तो यह है कि केवल जीवित भाषाओं के अध्ययन को छोड़कर पुरानी या मृत भाषा का भाषा-विज्ञान चाहे जिस रूप में अध्ययन करना चाहे उसे पग-पग पर साहित्य की सहायता लेनी पड़ेगी और जीवित भाषा के सम्बन्ध में भी 'क्यों' 'कब' एवं 'कैसे' आदि के उत्तर के लिए उसे साहित्य की ही छान-बीन करनी पड़ेगी। जीवित भाषा यह तो बतला देगी कि भोजपुरी में 'बाटे' शब्द है पर यह कहाँ से आया इसके लिए भाषा-विज्ञान संस्कृत साहित्य को छानेगा और तब कह सकेगा कि इसका मूल संस्कृत शब्द 'वर्तते' है। या बुन्देलखण्ड की ओर नटखट लड़कों को

ओना मासी धम
बाप पढ़े ना हम

सुनकर जब भाषा-विज्ञान का कान खड़ा होगा कि यह 'ओना मासी धम्' क्या बला है तो प्राचीन साहित्य का अध्ययन ही उसे बतलावेगा कि शाकटायन के प्रथम सूत्र 'ॐ नमः सिद्धम्' का यह बिगड़ा रूप है।

दूसरी ओर साहित्य भी भाषा-विज्ञान से कम सहायता नहीं लेता। भाषा-विज्ञान उसके क्लिष्ट अर्थों एवं विचित्र प्रयोगों तथा उच्चारण सम्बन्धी समस्याओं पर प्रकाश डालता है। इस प्रकार दोनों ही एक दूसरे के सहायक हैं। डा० वासुदेव नारायण अग्रवाल ने भाषा विज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर जायसीकृत 'पदमावत' के बहुत से शब्दों को उनके मूल रूपों से जोड़कर उनके अर्थों को स्पष्ट किया है साथ ही शुद्ध पाठ के निर्धारण में भी इससे पर्याप्त सहायता ली है। इस प्रकार साहित्य और भाषा-विज्ञान, दोनों ही एक-दूसरे के सहायक हैं।

(ग) मनोविज्ञान

भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान का बहुत गहरा सम्बन्ध है। भाषा विचारों की वाहिनी है और विचारों का सीधा सम्बन्ध मस्तिष्क तथा मनोविज्ञान से है। इस प्रकार भाषा की आंतरिक गुत्थियों को सुलझाने में भाषा-विज्ञान मनोविज्ञान से बहुत अधिक सहायता लेता है। विशेषतः अर्थविज्ञान तो पूर्णतः मनोविज्ञान पर ही आधारित है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है वाक्य-विज्ञान के अध्ययन में भी मनोविज्ञान से पर्याप्त सहायता मिलती है। इसी प्रकार कभी-कभी ध्वनि-परिवर्तन के कारण जानने के लिए भी हमें मनोविज्ञान की शरण लेनी पड़ती है। दूसरी ओर मनोविज्ञान भी भाषा-विज्ञान

से कम सहायता नहीं लेता। पागलों के मनोवैज्ञानिक उपचार में उनके द्वारा कही गई ऊल-जलूल बातों के विश्लेषण—जिसमें भाषा-विज्ञान से पर्याप्त सहायता मिलती है—द्वारा ही उनकी मानसिक गुत्थियों एवं ग्रंथियों का पता लगाया जाता है। यों भी विचारों के विश्लेषण आदि में उसे भाषा-विज्ञान की कुछ सहायता अपेक्षित होती है।

(घ) शरीर-विज्ञान

भाषा मुख से निकली ध्वनि है, अतएव भाषा-विज्ञान को हवा भीतर से कैसे चलती है, स्वर-यंत्र, स्वर-तंत्री, नासिकविवर, कौवा, तालु, दाँत, जीभ, ओठ, कंठ, मूर्द्धा, तथा नाक के कारण उसमें क्या परिवर्तन होते हैं तथा कान द्वारा कैसे ध्वनि का ग्रहण होता है, इन सब का अध्ययन करना पड़ता है और इसमें शरीर-विज्ञान ही उसकी सहायता करता है। लिखित भाषा का ग्रहण आँख से होता है, अतएव इस प्रक्रिया का भी अध्ययन भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत ही है और इसके लिए भी उसे शरीर-विज्ञान का ऋणी होना पड़ता है।

(ङ) भूगोल

भाषा-विज्ञान से भूगोल का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्थानीय भौगोलिक परिस्थिति का भाषा पर बहुत प्रभाव पड़ता है। किसी स्थान में बोली जाने वाली भाषा में वहाँ के पेड़-पौधे, जानवर, पक्षी तथा अन्न आदि के लिए शब्द अवश्य मिलते हैं, पर यदि उनमें किसी की समाप्ति हो जाय तो उसके नाम का वहाँ की भाषा से भी लोप हो जाता है। 'सोमलता' शब्द का आज हमारी जीवित भाषा में न पाया जाना संभवतः भौगोलिक कारण से ही है।

किसी स्थान में एक भाषा का दूर तक प्रसार न होना, भाषा में कम विकास होना तथा किसी स्थान में बोलियों का अधिक होना भी भौगोलिक परिस्थिति पर ही निर्भर करता है। जहाँ दुर्गम पहाड़ एवं रेगिस्तान होंगे तथा गहरे समुद्र होंगे स्वभावतः इनके दोनों ओर के लोगों में सम्पर्क कम हो सकेगा, अतएव भाषा के प्रसार या उसमें परिवर्तन की सम्भावना कम होगी। पहाड़ तथा जंगली लोगों में आपस में कम मिलने के कारण प्रायः भिन्न-भिन्न बोलियों का विकास हो जाता है।

भूगोल देशों, नगरों, नदियों तथा प्रान्तों आदि के नामों के रूप में भाषा-विज्ञान को अध्ययन की बड़ी मनोरंजक सामग्री प्रदान करता है।*

* दे० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा लिखित 'विचारधारा' पुस्तक में 'अवध के ज़िलों के नाम' शीर्षक लेख।

अर्थ-विचार में भी भूगोल भाषा-विज्ञान की सहायता करता है। 'उष्ट्र' का अर्थ 'भैंसा' से 'ऊँट' कैसे हो गया तथा 'सैंधव' का अर्थ 'घोड़ा' और 'नमक' ही क्यों हुआ आदि समस्याओं पर विचार करने में भी भूगोल की सहायता अपेक्षित है।

प्रागैतिहासिक काल के भूगोल के अध्ययन में दूसरी ओर भाषा-विज्ञान भी पर्याप्त सहायता देता है।

(च) इतिहास

इतिहास का भी भाषा-विज्ञान से संबंध है। इतिहास के तीन रूपों को लेकर यहाँ भाषा-विज्ञान से उसका संबंध दिखलाया जा रहा है।

(१) **राजनीतिक इतिहास**—किसी देश में किसी अन्य देश का राज्य होना दोनों ही देशों की भाषाओं को प्रभावित करता है। भारतीय भाषाओं में कई हज़ार अंग्रेज़ी शब्दों का प्रवेश तथा दूसरी ओर अंग्रेजी में कई हज़ार भारतीय शब्दों का प्रवेश भारत की राजनीतिक परतंत्रता का ही परिणाम है। हिन्दी में अरबी, फ़ारसी, तुर्की तथा पुर्तगाली शब्दों के आने के कारण जानने के लिए भी हमें राजनीतिक इतिहास का ही सहारा लेना पड़ेगा। पूर्वी द्वीपसमूह की भाषा तथा वहाँ के नामों में संस्कृत शब्दों का आधिक्य, अन्य आधारों के बहुत न होने के बावजूद भी भारत से वहाँ के सांस्कृतिक तथा राजनीतिक संबंध की ओर स्पष्ट संकेत करता है। इस प्रकार राजनीतिक इतिहास तथा भाषा-विज्ञान दोनों एक-दूसरे के अध्ययन में सहायता पहुँचाते हैं।

(२) **धार्मिक इतिहास**—भारत में हिंदू-उर्दू समस्या धर्म या सांप्रदायिकता की ही देन है। धर्म के रूप के परिवर्तन का भी भाषा पर प्रभाव पड़ता है। यज्ञ का लोक-धर्म से उठ जाने का ही फल है, कि यज्ञ से संबंधित अनेक शब्द जो कभी जीवित भाषा में प्रचलित रहे होंगे, आज अज्ञात हैं। व्यक्तियों के नामों को भी धर्म प्रभावित करता है इस प्रकार धर्म से व्यक्तिवाचक नामों पर प्रकाश पड़ता है। धार्मिक इतिहास ही इस प्रश्न का उत्तर देता है कि क्यों बंगला तथा मराठी में ब्रज भाषा के शब्द आ गए हैं या एक ही गाँव के रहने वाले हिंदू की भाषा क्यों अपेक्षाकृत अधिक संस्कृत-मिश्रित है तो मुसलमान की भाषा अधिक अरबी-फारसी मिश्रित? इस प्रकार दोनों एक दूसरे से किसी सीमा तक संबद्ध हैं।

(३) **सामाजिक इतिहास**—सामाजिक व्यवस्था तथा परंपराओं का भी भाषा पर प्रभाव पड़ता है, और दूसरी ओर भाषा से भी सामाजिक इतिहास पर प्रकाश पड़ता

है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान तथा सामाजिक इतिहास भी एक दूसरे के सहायक हैं। प्राचीन साहित्य में पति-विहीन स्त्री के लिए 'विधवा' शब्द है पर पत्नी-विहीन पति के लिए कोई शब्द नहीं है। यह सामाजिक व्यवस्था का ही परिणाम है। पुरुष स्त्री के मरने पर फिर शादी कर लेता था अतः उसके लिए पत्नी-विहीन रूप में किसी नाम की आवश्यकता नहीं थी पर दूसरी ओर पति के मरने पर पत्नी को आजीवन उसी रूप में रहना पड़ता था, अतः उसके लिए एक नाम आवश्यक था। प्रागैतिहासिक काल के समाज के अध्ययन के लिए है तत्कालीन भाषा से पर्याप्त सहायता ली जाती है। भारोपीय परिवार की भाषाओं के अध्ययन के आधार पर मूल भारोपीय लोगों की सामाजिक दशा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। भाषा के आधार पर की गई प्रागैतिहासिक खोज भी इसी प्रकार का अध्ययन है।

भारतीय भाषाओं में माँ, बाप, बहिन, चाचा तथा भाई आदि के अतिरिक्त साला, बहनोई, मौसी, मौसा, फूफा, परदादा, मामा, ससुर तथा सास जैसे शब्द भी हैं, पर योरोपीय भाषाओं में इनके लिए अलग-अलग शब्द नहीं है, आवश्यकतानुसार उन्हें जोड़-जाड़कर बनाना पड़ता है। यह भी सामाजिक व्यवस्था का ही परिणाम है या दूसरे शब्दों से इस भाषा-वैज्ञानिक तथ्य से इन दोनों देशों के समाज पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। संस्कृत में मौसी और बूआ के लिए 'मातृ स्वसा' और 'पितृ स्वसा' शब्द है पर मौसा और फूफा के लिए नहीं। इससे तत्कालीन कौटुंबिक व्यवस्था पर यह प्रकाश पड़ता है कि परिवार में फूफा और मौसा के लिए कोई स्थान नहीं था। इसीलिए उनके लिए किसी नाम की आवश्यकता का अनुभव उस युग में हुआ ही नहीं। बाद में जब उनका स्थान हो गया तो 'मौसा' और 'फूफा' जैसे शब्द बना लिए गए।

(छ) भौतिकशास्त्र

मनुष्य जब कुछ कहता है तो ध्वनि उसके मुँह से निकलने के बाद और किसी के कान तक पहुँचने के पूर्व आकाश में लहरों के रूप में चलती है। इन लहरों का अध्ययन करने में भौतिकशास्त्र ही हमारी सहायता करता है। वह बतलाता है कि ये लहरें किस प्रकार की होती हैं तथा अन्य ध्वनियों एवं भाषा-ध्वनियों की लहरों में क्या अंतर होता है। प्रयोगात्मक ध्वनिशास्त्र (Experimental phonetics) के अध्येता भाषा-विज्ञान के इस क्षेत्र के अध्ययन में भौतिक शास्त्र से बहुत लाभ उठा रहे हैं।

(ज) तर्कशास्त्र

तर्कशास्त्र का भाषा-विज्ञान से कोई बहुत सीधा संबंध तो नहीं है पर भाषा-विज्ञान वर्णनात्मक विषय न होकर व्याख्या-प्रधान है और व्याख्या में बिना तर्क के काम नहीं चल सकता, अतएव उसे तर्क शास्त्र का ऋणी होना ही पड़ता है। यास्क मुनि ने अपने अर्थ-विज्ञान विषयक प्रसिद्ध ग्रंथ 'निरुक्त' में तर्क-शास्त्र से बहुत सहायता ली है। दूसरी ओर तर्क शास्त्र भी भाषा-विज्ञान का कम ऋणी नहीं है। तर्क भाषा के ही सहारे चलता है, अतएव उसे अपने अध्ययन में बड़ी सतर्कता से प्रतिक्षण अपने सामने आनेवाले शब्दों एवं वाक्यों पर वैज्ञानिक दृष्टि रखनी पड़ती है।

(झ) मानव-विज्ञान

मानव-विज्ञान में मानव के विकास का विविध दृष्टियों (मर्यादा, सामाजिक मनोविज्ञान, अंधविश्वास तथा पर्व आदि) से अध्ययन किया जाता है और भाषा स्वयं मानव के विकास का प्रतीक है अतएव दोनों ही एक-दूसरे से अपने अध्ययन के लिए सामग्री लेते हैं। उदाहरणार्थ मनुष्य में तरह-तरह के अंधविश्वास घर करते रहे हैं, जिनका लेखा-जोखा मानव-विज्ञान में मिलता है। इन अंधविश्वासों का भाषा पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। भारतवर्ष में जिनके दो-चार लड़के मर जाते हैं उनके लड़कों को जीवित रखने के लिये लोग अधिकतर रद्दी नामों से पुकारने लगते हैं जैसे जोखू (उसे तराजू में जोख या तौलकर), छेदी (उसकी नाक छेदकर), बेंचू (उसे दो-चार पैसे में किसी दूसरे के हाथ बेचकर), घुरहू (कूड़ा), कतवारु (कूड़ा), अलियार (कूड़ा) या लेंढ़ा (रद्दी) आदि। स्त्रियाँ अपने पति का नाम नहीं लेती और उसे घुमा-फिराकर किसी और रूप में पुकारती हैं। इसी प्रकार माँ-बाप अपने बड़े लड़के का नाम नहीं लेते। अंधविश्वास के ही कारण बिच्छू को 'टेढ़की', साँप को 'जेंवर' (रस्सी) या 'कीरा', लाश को 'मिट्टी' तथा चेचक को 'माता' कहते हैं। पाखाना के लिये जितने भी नाम हैं उसे घुमा-फिराकर कहने का प्रयास है। उदाहरणार्थ गू (गुह्य = छिपा), छिया (घृणित), पाखाना (पैर रखने की जगह), टट्टी (आड़ की जगह) तथा झाड़ा (झाड़ी में जो हो)। क्रिया रूप में भी इसके लिए घुमा-फिराकर ही प्रयोग मिलते हैं। जैसे बहरे जाना (औरतें पाखाना होने जाने के लिए इसे प्रयोग करती हैं। इसका अर्थ बाहर जाना है), दिसा जाना, जङ्गल जाना, नद्दी जाना, मैदान जाना, निपटने जाना तथा फराकत होने जाना आदि।

अंधविश्वास के अतिरिक्त और भी सामाजिक मनोविज्ञान से संबद्ध बहुत सी

गुत्थियाँ हैं, जिनके उदाहरण भाषा में मिलते हैं और उनके स्पष्टीकरण के लिये भाषा-विज्ञान को मानव-विज्ञान की शाखाओं-प्रशाखाओं का सहारा लेना पड़ता है। उदाहरणार्थ अशोक ने अपने शिललिखों में अपने लिये 'देवानां प्रियः' का प्रयोग किया है पर बाद में संस्कृत के ग्रंथकारों ने इसे मूर्ख का पर्याय बना दिया है। द्रविड़ भाषाओं में 'पिल्ले' या 'पिल्लई' अच्छे शब्द हैं और इनका प्रयोग नामों में किया जाता है पर हिंदी प्रदेश में 'पिल्ला' कुत्ते के बच्चे को कहते हैं। ऋग्वेद की पुरानी ऋचाओं में 'असुर' का अर्थ देवता है पर परवर्ती काल की ऋचाओं में 'राक्षस'। 'यक्ष' शब्द का पालि साहित्य में प्रयोग बुरे अर्थ में है पर संस्कृत में अच्छे अर्थ में। इन सभी के कारण जानने के लिए भाषा-विज्ञान को मानव-विज्ञान से सहायता लेनी पड़ती है।

अध्याय २

भाषा

भाषा का आरम्भ और उसका प्रारम्भिक रूप

भाषा की उत्पत्ति

जब हम भाषा पर विचार करने चलते हैं तो स्वभावतः पहला प्रश्न हमारे सामने यह आता है कि भाषा की उत्पत्ति हुई तो कहाँ से। इस प्रश्न पर अत्यंत प्राचीन काल से विचार होता आया है और लोगों ने कई वादों को इस प्रश्न के उत्तर-स्वरूप संसार के समक्ष रक्खा है। ये सभी वाद या सिद्धान्त सीधे यह बतलाते हैं कि अमुक प्रकार से भाषा की उत्पत्ति हुई। अर्थात् ये सीधे जन्म को पकड़ने का प्रयास करते हैं, इसी कारण इनको 'प्रत्यक्ष मार्ग' के अंतर्गत रक्खा जाता है। दूसरी ओर भाषा के आरम्भ तक पहुँचने का एक 'परोक्ष मार्ग' भी है। 'परोक्ष मार्ग' में जन्म पर दृष्टि न ले जाकर भाषाओं के वर्तमान रूप पर दृष्टि ले जाई जाती है और उनके ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन आदि के आधार पर धीरे-धीरे वर्तमान से भूत की ओर चला जाता है। इससे भाषा की उत्पत्ति पर तो प्रकाश नहीं पड़ता पर उसके आरंभिक रूप का कुछ अनुमान अवश्य लग जाता है। यहाँ दोनों मार्गों को संक्षेप में देखा जा सकता है।

(क) प्रत्यक्ष मार्ग

पहले प्रत्यक्ष मार्ग के अंतर्गत आने वाले सिद्धान्त लिये जा रहे हैं।

(१) दैवी उत्पत्ति

भाषाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह सबसे प्राचीन मत है। लोगों का विश्वास रहा है और कुछ अंशों में तो आज भी है कि संसार और उसकी अनेकानेक चीजों की भाँति ही भाषा को भी भगवान् ने ही बनाया। भारतीय पंडित वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि संस्कृत को ईश्वर ने बनाया और फिर उसी भाषा में वेदों की रचना की। संस्कृत को 'देवभाषा' कहने में भी उनके इसी विश्वास की ओर संकेत है। संस्कृत भाषा तथा उसके व्याकरण के मूलाधार पाणिनि के १४ सूत्र शिव के डमरू से निकले माने जाते हैं। यहाँ भी उसी ओर संकेत है। ईश्वर निर्मित होने के कारण ही इसे सनातनी पंडित संसार की सभी भाषाओं का मूल मानते हैं। बौद्ध लोग 'पालि' को भी इसी प्रकार मूल भाषा मानते हैं और उनका विश्वास है

कि यह भाषा आदि काल से चली आ रही है। जैन लोग तो संस्कृत पंडितों और बौद्धों से भी चार क़दम आगे हैं। उनके अनुसार तो अर्धमागधी केवल मनुष्यों की ही मूल भाषा नहीं है बल्कि सभी जीवों की मूल भाषा है और जब महावीर स्वामी इस भाषा में उपदेश देते थे तो क्या देव योनि के लोग और क्या पशु-पक्षी, सभी उस उपदेश का रसास्वादन करते थे। ईसाई और उनमें भी प्रमुखतः कैथोलिक लोग 'हिब्रू' (जिसमें उनका धर्म ग्रंथ Old Testament लिखा गया है) को संसार के सभी भाषाओं की जननी मानते हैं। इसके आधार पर हिब्रू के विद्वानों ने संसार की अनेक भाषाओं से उन शब्दों को इकट्ठा किया था जो हिब्रू शब्दों से कुछ मिलते-जुलते थे और उनसे यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि यथार्थतः हिब्रू सभी भाषाओं की जननी है। मुसलमान लोग 'कुरान' को खुदा का कलाम मानते हैं। मिस्र में भी वहाँ के प्राचीन लोगों का अपनी भाषा के सम्बन्ध में कुछ ऐसा ही विश्वास था।

इस सम्बन्ध में मिस्र के एक राजा सैमेटिकस ने तथा अपने यहाँ के बादशाह अकबर ने प्रयोग* करवाए थे, पर, उनसे परिणाम यही निकला कि बच्चा पेट में से कोई भाषा सीख कर नहीं आता। अर्थात् ईश्वर-प्रदत्त कोई भी भाषा नहीं है। इस प्रकार भाषा की दैवी उत्पत्ति अंधविश्वास-मात्र है।

(२) धातु सिद्धान्त

जर्मन के विद्वान प्रो० हेज़ के मत के आधार पर मैक्समूलर ने इस विचित्र सिद्धान्त को हमारे समक्ष रखा। इसके अनुसार सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य के अंदर एक ऐसी शक्ति थी जिससे वह चार या पाँच सौ धातुओं को जन्म दे सका। उसके बाद उसकी वह शक्ति नष्ट हो गई और उन धातुओं पर ही भाषा का भवन खड़ा हुआ।

इसके विरुद्ध भी बहुत सी बातें हैं। संस्कृत, ग्रीक तथा अरबी आदि कुछ भाषाओं

* मिस्र के राजा ने दो बच्चों को जन्म के बाद से अलग ऐसी जगह रखा था जहाँ किसी भाषा के संसर्ग में वे न आ सकें। उनके पास जाने वालों को कुछ बोलने का निषेध था। बड़े होने पर वे दोनों ही गूँगे निकले। वे केवल 'बेकोस' शब्द का उच्चारण जानते थे, जिसे अनजान में रोटी देने वाले नौकर ने कभी कह दिया था। ('बेकोस' फ्रीजियन भाषा का शब्द है जिसका अर्थ रोटी होता है।) अकबर ने और भी सफलता से यह प्रयोग करवाया और बच्चे पूरे गूँगे निकले।

में तो धातुओं का अस्तित्व है पर एकाक्षर आदि अनेक कुलों की भाषाओं में धातु नाम की कोई भी चीज नहीं है। अतः, सामान्य सिद्धांत के रूप में इसका नाम लेना ही हास्यास्पद है।

सत्य तो यह है कि धातु भाषा का स्वाभाविक अंश नहीं है, उसे हमने खोज निकाला है। और इस प्रकार वह भाषा के आदि की वस्तु न होकर अंत की है। पर यदि थोड़ी देर के लिये मैक्समूलर के सिद्धान्त को मान भी लें तो यह समझ में नहीं आता कि मनुष्य के मस्तिष्क से जब केवल धातुओं का स्फुरण हुआ तो फिर केवल उसी आधार पर भाषा कैसे बनी। बिना कुछ और जाने हुए धातु से भिन्न-भिन्न शब्द कैसे बने और उनका भिन्न अर्थों में प्रयोग कैसे आरम्भ हुआ ? इस प्रकार यह सिद्धान्त भी लगभग दैवी सिद्धान्त सा ही असंभव है।

(३) अनुकरणमूलकतावाद

इस वाद के अनुसार मनुष्य ने अपने आस-पास के पशु-पक्षी आदि से होने वाली ध्वनियों के अनुकरण पर अपने लिये शब्द बनाए और फिर उसी पर पूरी भाषा खड़ी हुई। चीनी शब्द 'मियाउ' अंग्रेज़ी 'कक्कू' हिंदी घुग्घू, में-में, मिमियाना (भेड़-बकरी) हिनहिनाना (घोड़ा) तथा गुर्राना (बिल्ली) आदि इसी प्रकार के हैं। बच्चे प्रायः मोटर को 'पों-पों' ध्वनि के अनुकरण के आधार पर ही कहते हैं।

इस वाद के विरुद्ध दो बातें प्रधान रूप से कही जा सकती हैं। एक तो यह कि इस प्रकार के शब्द भाषा में बहुत कम होते हैं। हज़ार में शायद एक हो शब्द इस प्रकार का मिले। तो भला हज़ार में केवल एक शब्द के निर्माण से भाषा का निर्माण कैसे हो सकता है ? साथ ही ऐसी भाषाएँ भी संसार में हैं जिनमें इस प्रकार के शब्द बिलकुल नहीं हैं। उत्तरी अमरीका की 'अथवस्कन' भाषा इसी प्रकार की है।

दूसरे यह बहुत युक्तिसंगत नहीं लगता कि विश्व का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य स्वयं कोई ध्वनि नहीं उत्पन्न कर सका और पशु-पक्षी आदि की ध्वनियों का उसे अपनी भाषा बनाने के लिए सहारा लेना पड़ा।

हाँ इतना अवश्य सत्य है कि 'कक्कू', 'घुग्घू' जैसे अनुकरणमूलक शब्दों के निर्माण में मनुष्य ने अनुकरणमूलकतावाद का सहारा लिया है।

(४) मनोभावाभिव्यक्तिवाद

इस सिद्धांत के अनुसार विभिन्न अवसरों पर मनुष्य में घृणा, क्रोध, शोक, प्रसन्नता आदि को व्यक्त करती हुई उत्तेजनाएँ उठी होंगी और अपने आप मुंह से शब्द निकल पड़े होंगे। विकासवाद के पिता डारविन ने भी कुछ (पूह, पिश,

फाई आदि) शब्दों की उत्पत्ति का कारण यही बतलाया है। हिन्दी के वाह, आह, ओह, छिः, धिक्, धत् तथा हुश आदि शब्द इसी श्रेणी के हैं।

इस सिद्धान्त के मान्य होने में कुछ कठिनाई है। कठिनाई यह है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं में ऐसे शब्द एक ही रूप में नहीं मिलते। यदि स्वभावतः आरम्भ में ये निःसृत हुए होते तो अवश्य ही सभी मनुष्यों में लगभग एक से होते। संसार भर के कुत्ते दुखी होने पर लगभग एक ही प्रकार भूँक कर रोते हैं, पर संसार भर के आदमी न तो दुखी होने पर एक प्रकार से 'हाय' करते हैं और न प्रसन्न होने पर एक प्रकार से 'वाह'। साथ ही इन शब्दों से पूरी भाषा पर प्रकाश नहीं पड़ता। ये शब्द भाषा के प्रधान अंग नहीं हैं। किसी भाषा में इनकी संख्या चालीस-पचास से अधिक नहीं होगी।

(५) अनुरणनमूलकतावाद

इस वाद के अनुसार निर्जीव पदार्थों के अनुरणन के आधार पर मनुष्यों ने शब्द बनाए होंगे। हिन्दी के कल-कल, छल-छल, झग-झग, निर्झर, पत्ता, भड़भड़, गड़गड़, खटपट, ठकठक, खड़खड़ तथा अंग्रेजी के Dazzle, Gazz, Thunder, Zigzag तथा jazz आदि शब्द इसी श्रेणी के हैं।

जहाँ तक इन शब्दों का संबंध है, अवश्य ही ये पदार्थों के अनुरणन के आधार पर बने होंगे, पर ऊपर के अन्य शब्दों की भाँति इनकी संख्या भी अत्यल्प है, अतः इनसे केवल कुछ शब्दों की उत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है पूरी भाषा की उत्पत्ति पर नहीं।

(६) श्रम-परिहरणमूलकतावाद

कठिन परिश्रम करते समय कुछ कहकर श्रमिक लोग श्रम-परिहार किया करते हैं। धोबी 'हियो' या 'छियो' कहते हैं। मल्लाह थकान मिटाने के लिए 'ओ हे हो' कहते हैं। क्रेन पर काम करने वाले मज़दूर भी कार्य करते समय 'हो हो' या कुछ इसी प्रकार के शब्द कहते हैं। इसी प्रकार सड़क कूटने वाले श्रमिक जब-जब दुर्मुस (सड़क कूटने का डंडा लगा हुआ लोहा या पत्थर) उठाते हैं तो 'हे' या 'हुं' कहते हैं। इस सिद्धांत का आधार यह है कि किसी क्रिया के साथ स्वभावतः होने वाली ध्वनि इस क्रिया की बोधिका होती है।

यह सिद्धान्त ऊपर के सभी सिद्धान्तों से गया-बीता ज्ञात होता है, क्योंकि इन शब्दों का भाषा में कोई भी स्थान नहीं है और न तो इन ध्वनियों से किसी विशिष्ट अर्थ का ही संबंध है।

(७) भाव-संकेतवाद

इस वाद के प्रवर्तक आइसलैंडिक भाषा के प्रसिद्ध विद्वान अलेक्जेंडर जान्सन हैं। श्री जान्सन ने पिछले दशक में आइसलैंडिक भाषा का एक व्युत्पत्तिमूलक कोष लिखा है। इसमें आइसलैंडिक भाषा के २०,००० शब्दों की व्युत्पत्ति दी गई है। व्युत्पत्ति देने के साथ-साथ विद्वान् लेखक ने भारोपीय भाषा से उनका संबंध समझने का भी प्रयास किया है। जान्सन ने धातुओं के तौलनिक तथा अर्थ की दृष्टि से अध्ययन के उपरांत यह निष्कर्ष निकाला है कि अधिकांश धातुओं में ध्वनि या क्रिया तथा अर्थ का सामंजस्य है।* इन निष्कर्षों से संबद्ध पुस्तक 'ऑन दि प्रिमिटिव लैंग्वेज ऑव् इण्डो-यूरोपियन' (भारोपीयों की मूल भाषा) में आपने दिखाया है कि दंत्यवर्णों से प्रारंभ होने वाली धातुओं का अर्थ स्पर्श, ग्रहण, नाश, या फैलना आदि है। इसी प्रकार ओष्ठ्यवर्णों से आरंभ होने वाली धातुओं का अर्थ बोलना, ग्रहण करना, दबाना तथा बाहर निकालना आदि है।† इस अध्ययन तथा विवेचन के फलस्वरूप श्री जान्सन ने भाषा की उत्पत्ति तथा उसके विकास में 'जेस्चर' (भाव-संकेत) के सिद्धांत को सर्वोपरि माना है।

इसके सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि इस प्रकार किसी भाषा के कुछ प्रतिशत शब्दों को समझा जा सकता है या दैनिक जीवन की कुछ सामान्य क्रियाओं के बनने के सम्बन्ध में समाधान किया जा सकता है पर विभिन्न वस्तुओं एवं भाँति-भाँति की भावना व्यक्त करने वाले सूक्ष्म शब्दों के लिए यह सिद्धांत उत्तर नहीं देता। एक बात और। संसार के सभी लोग दाँत और ओष्ठ का फैलाने, स्पर्श करने, बोलने, दबाने तथा ग्रहण करने में प्रायः एक ही प्रकार से प्रयोग करते हैं पर संसार की सभी भाषाओं में इन क्रियाओं के लिए मिलते-जुलते शब्द नहीं हैं। शायद भारोपीय परिवार की सब भाषाओं में भी यह समानता नहीं मिल सकती। ऐसी स्थिति में यह सिद्धांत भी पीछे के अन्य सिद्धांतों की भाँति पूर्ण रूप से मान्य नहीं कहा जा सकता।

* यूनान में व्युत्पत्तिशास्त्र-वेत्ताओं ने भी इन दोनों में सामंजस्य दिखाने का प्राचीन काल में प्रयास किया था पर वह मान्य न हो सका। प्लेटो ने इस सिद्धांत का मज़ाक भी उड़ाया था।

† उनका कहना है कि दाँत तथा ओंठ से ये कार्य किए जाते हैं अतएव इनसे उच्चरित होने वाली धातुओं के ये अर्थ हैं।

(८) निर्णय सिद्धान्त

इसे प्रतीकवाद, स्वीकारवाद तथा संकेतवाद आदि भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार आरंभ में मनुष्यों ने इकट्ठा होकर सभी वस्तुओं का प्रतीक या सांकेतिक नाम निश्चित करके स्वीकार किया और वहीं से भाषा का आरंभ हुआ। ध्यान देने पर पता चलता है कि यह सिद्धांत भी निरर्थक है। यदि कोई भाषा नहीं थी तो आरंभ में लोगों ने कैसे इकट्ठा होकर नामों का निर्णय किया? बिना विचार-विनिमय के न तो इकट्ठा होना संभव है, और न प्रतीक रूप में नामों का निर्णय ही। और यदि वे इकट्ठा होने के लिए या नाम निश्चित करने के लिए विचार-विनिमय कर ही सकते थे तो उसके बाद किसी अन्य भाषा की क्या आवश्यकता थी? वह तो स्वयं एक सफल या असफल भाषा थी। इस प्रकार इस वाद में निर्णय के पूर्व इकट्ठा होने तथा निर्णयार्थ विचार-विनिमय के लिए प्रयुक्त भाषा की उत्पत्ति का भी प्रश्न खड़ा हो जाता है, अतः इसके सहारे भी हमारी समस्या का हल नहीं मिलता।

(९) विकासवाद

आरंभ में मनुष्य पशुओं की भाँति कुछ निरर्थक ध्वनियों का उच्चारण करता रहा होगा। धीरे-धीरे जैसे-जैसे उसने अन्य क्षेत्रों में उन्नति की होगी, भाषा में भी विकास होता गया होगा।

पर, यहाँ भी हमारे मूल प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता कि किसी क्रिया या वस्तु का वही नाम क्यों पड़ा, या, ध्वनि और अर्थ में क्या संबंध है। कुछ लोगों का कहना है कि अकारण ही वस्तु या क्रिया को किसी ने कुछ कह दिया होगा और फिर सभी लोग उनका प्रयोग करने लगे होंगे। पर यह भी कोई संतोषजनक उत्तर नहीं है।

(१०) समन्वित रूप

यह कोई नया 'वाद' नहीं है, अपितु ऊपर के अनुकरण, अनुरणन, प्रतीक, आत्माभिव्यंजन और विकास आदि वादों का समन्वित रूप मात्र है। स्वीट आदि कुछ विद्वानों का कहना है कि उपर्युक्त सभी वादों के सहयोग से भाषा का जन्म संभव है। अर्थात् कुछ आधारों पर कुछ शब्द बने और कुछ आधारों पर कुछ। इनके अनुसार भाषा की प्रारंभिक शब्द शक्ति अत्यन्त सीमित थी और उसमें प्रमुखतया तीन प्रकार के शब्द थे।

पहले प्रकार के शब्द मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए थे और ये स्वभावतः निःसृत शब्द रहे होंगे। भावना की उत्तेजना के साथ श्वास कुछ विशिष्ट प्रकार से निकलता है और इस विशिष्ट श्वास से विशिष्ट प्रकार की ध्वनियों का निकलना

असंभव नहीं है। असह्य वेदना में 'सी' घृणा में 'छि' आदि शब्द उदाहरणार्थ लिए जा सकते हैं। जब सभी जानवर अपनी भावनाओं के अनुसार कुछ न कुछ ध्वनित करते हैं तो मनुष्य के संबंध में ऐसा न मानना उचित न होगा। निश्चय ही भावावेश में वह कोई न कोई ध्वनि उत्पन्न करता रहा होगा।

दूसरे प्रकार के शब्द अनुकरणमूलक रहे होंगे। मनुष्य आरंभ से ही अनुकरणप्रिय प्राणी है। उसने अवश्य ही जानवरों तथा वस्तुओं के आधार पर कुछ शब्दों को जन्म दिया होगा। बिल्ली के बोलने के लिए चीन, मिश्र और भारत तीन विभिन्न परिवार की भाषाओं में एक ही शब्द 'म्याँउ' का होना इस बात का अच्छा प्रमाण है। कोकिल, कुक्कुट, Cuckoo, Buzz या गड़गड़, भड़भड़ आदि शब्द ऐसे ही जीवों या निर्जीव पदार्थों के आधार पर बने होंगे। इस संबंध में एक बात और ध्यान देने योग्य है कि शब्दों को अनुकरणमूलक मानने का अर्थ यह नहीं है कि ध्वनियों के ठीक-ठीक अनुकरण पर ही ये शब्द बने हैं। शब्द ध्वनि से मिलता-जुलता रहता है और कभी-कभी तो केवल छाया मात्र ही होता है। पत्ता गिरने में पत् की ध्वनि हुई और उसे पत्र कहा गया। यहाँ अनुकरण अधूरा है पर यह शब्द है अवश्य अनुकरणमूलक।

इसी प्रकार धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा कर कुछ पीने में 'सिप', 'सप', 'प', या 'चप-चप' सी ध्वनि होती है। अंग्रेजी का Sip या Sup तथा संस्कृत के 'पिब्' आदि शब्द इसी प्रकार के हैं।

तीसरे प्रकार के शब्द प्रतीकात्मक रहे होंगे। इनकी उत्पत्ति कई प्रकार से हुई होगी। लड़का आरंभ में यों ही अपने ओठों को मिलाता और अलग करता रहता है। ऐसा करने से 'मा मा' की ध्वनि का होना स्वाभाविक है। आरंभ में इस ध्वनि से आकर्षित होकर माँ बच्चे के समीप आई होगी। दो-चार बार ऐसा होने से बच्चे को यह आभास मिला होगा कि ऐसी ध्वनि से माँ समीप आती है। फिर उसने जब चाहा होगा ऐसा करके माँ को बुलाया होगा और इस प्रकार 'माँ' या 'मामा' शब्द माता का प्रतीक हो गया होगा।

आरंभ में इन्हीं तीनों आधारों पर कुछ शब्द बन गए होंगे। धीरे-धीरे विकास में योग्यतमावशेष (सरवाइवल ऑव दि फिटेस्ट) के सिद्धान्त के कारण कुछ शब्द मरे होंगे और फिर कुछ नवीन बने होंगे। इसी प्रकार विकास के साथ परिवर्तन और परिवर्द्धन होता गया होगा और धीरे-धीरे भाषा का पूरा स्वरूप खड़ा हुआ होगा।

(ख) परोक्ष मार्ग

ऊपर हम लोगों ने सीधी शैली से 'भाषा की उत्पत्ति' के प्रश्न पर विचार किया और अंत में कुछ शब्दों के संबंध में ध्वनि और अर्थ के संबंध-स्थापन के पथ का स्पष्टीकरण भी किया। पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी शब्द मिलकर भाषा के शब्द-समूह का दसांश भी नहीं हो पाते। साथ ही इनमें अधिक शब्द व्यक्तिगत से हैं और उनसे स्वतंत्रता के साथ विचार-विनिमय संभव नहीं ज्ञात होता। अब हम दूसरे पथ 'उलटी शैली' या परोक्ष मार्ग का अनुसरण करेंगे। इससे मूल समस्या 'भाषा का उद्गम' या 'ध्वनि और अर्थ के संबंध' पर तो प्रकाश नहीं पड़ता; पर, प्रारंभिक भाषा का विविध दृष्टिकोणों से परिचय अवश्य मिल जाता है।

यह मार्ग तीन बातों पर आधारित किया जा सकता है—

(१) लड़कों की भाषा।

कुछ लोगों का विचार है कि व्यक्तिगत विकास की ही भाँति सामूहिक या जातीय विकास भी होता है। इसीलिए व्यक्तिगत विकास के अध्ययन से सामूहिक विकास पर प्रकाश पड़ सकता है। यहाँ इसका आशय यह है कि ऐसे लोगों के अनुसार मानवता ने भाषा उसी प्रकार सीखी होगी जैसे एक बच्चा सीखता है। कुछ लोगों ने इसी आधार पर भाषा के आरंभ पर प्रकाश भी डाला है; पर, सच पूछा जाय तो दोनों में कोई महत्त्वपूर्ण समानता नहीं है। लड़कों को एक बनी-बनाई भाषा सीखनी होती है पर दूसरी ओर भाषा के आरंभ के समय लोगों को भाषा का आविष्कार भी करना रहा होगा केवल सीखना ही नहीं। आज एक विद्यार्थी किसी टेक्निकल स्कूल में जाकर दो-एक वर्ष में किसी वस्तु का निर्माण करना सीख सकता है। उसके सीखने का रास्ता वैसा दुर्गम नहीं होगा जैसा कि उस वस्तु के आविष्कारक या प्रथम बनाने वाले का रहा होगा। भाषा के संबंध में भी ठीक यही बात है। लड़का भाषा सीखता है, वह आविष्कार नहीं करता, अतः उसके आधार पर भाषा के आरंभ के विषय में पता लगाने का प्रयास हास्यास्पद ही होगा। हाँ, एक बात अवश्य महत्वपूर्ण है। लड़का आरंभ के वर्षों में निरर्थक ध्वनियों का उच्चारण करता है और उसे दूसरों के अनुकरण का कुछ भी ध्यान नहीं रहता। उस समय उसके बोलने की दशा से भाषा की आरंभिक दशा का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। कभी-कभी लड़के उस समय पूर्णतः नवीन शब्द भी गढ़ डालते हैं, जो आज की भाषा की विकसित दशा में तो

ग्रहण नहीं किए जाते पर आरंभिक दशा में ऐसे शब्दों का लिया जाना असंभव नहीं कहा जा सकता।*

(२) असभ्य जातियों की भाषा

असभ्य तथा अत्यंत पिछड़े हुए लोगों की भाषा के विश्लेषण से भी भाषा के आरंभिक रूप पर प्रकाश पड़ सकता है; पर, बड़ी ही सतर्कता से इसके आधार पर निष्कर्ष निकालना चाहिये। सच तो यह है कि सभ्य भाषाओं से कुछ ही पीढ़ी पूर्व की ही ये भाषाएँ हो सकती हैं, अतः इनको बिल्कुल आरंभिक भाषा नहीं माना जा

---

* **एक नवीन प्रयोग**—मेरा अपना विचार यह है कि यदि एक प्रयोग किया जाय तो लड़कों के द्वारा प्रस्तुत विषय पर यथेष्ट प्रकाश पड़ सकता है। मैं नहीं कह सकता कि इस विषय में किसी ने कुछ लिखा या किया है अथवा नहीं। कम से कम मेरे देखने में यह चीज़ नहीं आई। प्रयोग निम्न प्रकार से हो सकता है—

अधिक से अधिक असभ्य और पिछड़ी जातियों के लगभग ५ लड़के और ५ लड़कियाँ (जो अवस्था में एक वर्ष से अधिक के न हों) लिये जायँ। एक बड़े से अहाते में वे रखे जायँ, जिसमें कुछ टीले हों, कुछ फल वाले पेड़ हों (जिनमें कुछ ऐसे हों जिसका फल खाया जाता हो और कुछ ऐसे हों जिसका फल न खाया जाता हो।), एक तालाब हो, तथा मछली, चिड़ियाँ और दो-एक कुत्ते आदि भी हों। उनकी सेवा किसी ऐसे होशियार आदमी से करवाई जाय जो वहाँ एक शब्द भी न बोले। पाँच-छः वर्ष की अवस्था से आगे चलने पर उनको आसानी से भोजन न दिया जाय। कभी पेड़ पर टाँग दिया जाय तो कभी टीले पर रखा जाय और कभी जब केवल एक अलग हो तो उसे भोजन काफी दिया जाय ताकि उसे औरों को बुलाने या देने का अवसर मिले। कुछ आदमी उनको चौबीसों घंटे आलोचनात्मक और अध्ययनपूर्ण दृष्टि से देखते रहें। कभी-कभी उनको कठिनाइयों का सामना करने का भी अवसर दिया जाय। कभी एक को औरों से अलग कर कष्ट भी दिया जाय। साथ ही ऐसी परिस्थितियाँ भी लाई जायँ जब उनमें एक दूसरे के सहयोग की भावना उत्पन्न हो। मेरा विश्वास है कि ३०-४० वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते उनमें कोई साधारण टूटी-फूटी भाषा अवश्य विकसित हो जावेगी। उनको सर्वदा देखने वाले अवश्य ही उस भाषा को समझेंगे और इस प्रकार भाषा के उद्गम की गुत्थी किसी सीमा तक सुलझ जावेगी। मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र आदि पर भी ऐसे प्रयोगों से प्रकाश पड़ने की संभावना है।

सकता। असभ्य से असभ्य जाति की भाषा भी जाने कितनी ही सदी पुरानी होगी। इनसे इतना ही लाभ हो सकता है कि सभ्य भाषाओं की तुलना में इनके अंतर देख कर इनकी तुलना में और पहले की भाषा की दशा का अनुमान लगाया जा सकता है।

(३) आधुनिक भाषाओं का इतिहास

भाषा की आरंभिक दशा के विषय में कुछ जानने का यह सबसे सीधा, सच्चा और महत्वपूर्ण पथ है। ऊपर हम लोगों ने देखा कि कुछ लोगों ने भाषा के आरंभ के विषय में कुछ सिद्धान्त दिये हैं, जिनके आधार पर आरंभ से चलकर हम अंत तक पहुँचते हैं। यहाँ हमारा रास्ता उसके ठीक उलटा है। हम अन्त से शुरू करके आरंभ तक पहुँचना चाहते हैं। इस पथ के सच्चा होने का निश्चय इसलिए है कि हमारा आरंभ अनुमान पर आधारित न होकर निश्चित दशा पर आधारित होगा जबकि उन सिद्धान्तों में कुछ अपवादों को छोड़कर शेष अनुमान ही अनुमान था।

आज की किसी भी भाषा को लें, उसका अध्ययन करें और फिर पीछे उसके इतिहास का वहाँ तक अध्ययन करते जायँ जहाँ तक सामग्री मिले। इस अध्ययन के आधार पर भाषा के विकास का सामान्य सिद्धान्त निकाल लें। उन सिद्धान्तों के प्रकाश में आज की भाषा की तुलना उसके प्राचीनतम उपलब्ध रूप से करें और देखें कि कौन सी बातें आज की भाषा में नहीं हैं पर प्राचीन में हैं। इसके बाद हम यह आसानी से कह सकते हैं कि वे विशेषताएँ यदि भाषा के प्राचीनतम उपलब्ध रूप में दस प्रतिशत हैं तो भाषा के बिल्कुल प्रारम्भ में सत्तर या अस्सी प्रतिशत रही होंगी।

उदाहरण के लिए हिन्दी (खड़ी बोली) को लें। इसके अध्ययन के उपरान्त पुरानी हिन्दी, अपभ्रंश, प्राकृत, पाली, संस्कृत, और वैदिक संस्कृत का अध्ययन करके विकास के सिद्धान्तों पर विचार करें। फिर खड़ी बोली की तुलना वैदिक संस्कृत से ध्वनि, व्याकरण के रूप, शब्द-समूह, वाक्य आदि के विचार से करके वैदिक संस्कृत की वे विशेषताएँ निश्चित करें जो या तो खड़ी बोली में बिल्कुल नहीं हैं, या हैं भी तो बहुत कम। प्राचीन भारतीय भाषा में निश्चय ही उन विशेषताओं का विशेष स्थान रहा होगा जो घटते-घटते वैदिक संस्कृत में कुछ शेष थीं और खड़ी बोली में प्रायः नहीं के बराबर हैं।

इसी प्रकार किए गए अध्ययन के आधार पर भाषाओं की प्रारम्भिक प्रकृति पर यहाँ अत्यन्त संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

प्रारंभिक अवस्था में भाषा की प्रकृति

(क) ध्वनि

किसी भाषा के इतिहास के अध्ययन से यह पता चलता है कि ध्वनियाँ धीरे-धीरे सरल होती जाती हैं। इस बात पर अधिक विस्तार से ध्वनि के अध्याय में विचार किया जायेगा। यहाँ इस सरल होने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आरंभिक भाषा में ध्वनियाँ बहुत कठिन रही होंगी। प्राचीन और पिछड़ी अफ्रीकी भाषाओं में 'क्लिक'* ध्वनियाँ हैं। अपने यहाँ भी इसके रूप हैं। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि आरंभ की भाषा में क्लिक ध्वनियाँ भी अधिक रही होंगी।

वैदिक संस्कृत और हिन्दी की तुलना से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि अपेक्षाकृत अब शब्द छोटे हो गये हैं। अन्य भाषाओं में भी यही बात मिलती है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि भाषा की आरंभिक अवस्था में शब्द बहुत बड़े रहे होंगे।

होमरिक ग्रीक तथा वैदिक संस्कृत में संगीतात्मक स्वराघात की उपस्थिति के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं। अफ्रीका की असंस्कृत भाषाओं में भी यह बात पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है, पर अब धीरे-धीरे उसका लोप हो रहा है। इससे स्पष्ट है कि आरंभिक अवस्था में लोग बोलने की अपेक्षा गाते ही अधिक रहे होंगे, अर्थात् आरंभिक भाषा में संगीतात्मक स्वराघात बहुत अधिक रहा होगा।

(ख) व्याकरण

प्रारंभिक भाषा में शब्दों के अपेक्षाकृत अधिक रूप रहे होंगे, जो बाद में सादृश्य या ध्वनि-परिवर्तन आदि के कारण आपस में मिल कर कम हो गए।

भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन में हम देखते हैं कि आधुनिक भाषाओं की तुलना में पुरानी भाषाओं में सहायक क्रिया या परसर्ग आदि जोड़ने की आवश्यकता कम या नहीं के बराबर होती है। इसका आशय यह है कि प्रारंभिक भाषा संश्लेषणात्मक रही होगी अर्थात् सहायक क्रिया या परसर्ग इत्यादि जोड़ने की उसमें बिल्कुल ही आवश्यकता न रही होगी। अपने में पूर्ण नियमों की उस समय कमी रही होगी और अपवादों का आधिक्य रहा होगा। उन लोगों का मस्तिष्क व्यवस्थित न रहा होगा अतः भाषा में भी व्यवस्था का अभाव रहा होगा। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि बिल्कुल आरंभ में व्याकरण या भाषा-नियम नाम की कोई चीज़ ही न रही होगी।

* ध्वनि के अध्याय में इसका विशेष विवरण है।

(ग) शब्द-समूह

भाषा का जितना ही विकास होता है उसकी अभिव्यंजना-शक्ति उतनी ही बढ़ती जाती है। साथ ही सामान्य और सूक्ष्म भावनाओं के प्रकट करने के लिए शब्द बन जाते हैं। इसका आशय यह है कि आरंभिक भाषा में अभिव्यंजना-शक्ति अत्यल्प रही होगी, और सूक्ष्म तथा सामान्य भावनाओं के लिए शब्दों का एकान्त अभाव रहा होगा। आज भी कुछ असंस्कृत भाषाएँ हैं जो लगभग इसी अवस्था में हैं। उत्तरी अमरीका की चेरोकी भाषा में सिर धोने के लिए, हाथ धोने के लिए, शरीर धोने के लिए अलग-अलग शब्द हैं, पर, 'धोने' के सामान्य अर्थ को प्रकट करने वाला एक भी शब्द नहीं है। टस्मानिया की मूल भाषा में भिन्न-भिन्न प्रकार के सभी पेड़ों के लिए अलग अलग शब्द हैं, पर 'पेड़' के लिए कोई शब्द नहीं है। उनके पास कड़ा, नरम, ठंढा और गरम आदि के लिए भी शब्द नहीं हैं। इसी प्रकार जुलू लोगों की भाषा में लाल गाय, काली गाय और सफेद गाय के लिए शब्द हैं पर गाय के लिए नहीं। इससे यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि आरंभ में शब्द केवल स्थूल और विशिष्ट के लिए ही रहे होंगे सामान्य और सूक्ष्म के लिए नहीं।

ऊपर की बातों से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि आरंभ के कुछ दिनों के बाद शब्दों का बाहुल्य हो गया होगा। कुछ वर्तमान असभ्य भाषाओं के आधार पर इस बाहुल्य का एक और कारण यह भी दिया जा सकता है कि वे लोग अंध-विश्वासी रहे होंगे अतः सभी शब्दों को सर्वदा प्रयोग में लाना अनुचित माना जाता रहा होगा। उन्हें भय रहा होगा कि देवता लोग रुष्ट और कुपित न हो जायँ। अतः एक ही वस्तु या कार्य के लिए भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न शब्द प्रयोग में आते रहे होंगे।

(घ) वाक्य

भाषा वाक्यों पर आधारित रहती है। वाक्य के शब्दों का विश्लेषण करके हमने उन्हें अलग-अलग कर लिया है और उनके नियमों का अध्ययन कर व्याकरण बनाया है। यह क्रिया भाषा और उसके साथ हमारे विचारों के बहुत विकसित होने पर की गई है। आरंभ में इन शब्दों का हमें पता न रहा होगा और वाक्य एक इकाई के रूप में रहे होंगे। शब्दों के रूप में उनका 'व्याकरण' या विश्लेषण नहीं हुआ रहा होगा। उत्तरी अमरीका की कुछ बहुत पिछड़ी भाषाओं में अब तक भी वाक्यों में अलग-अलग शब्दों की कल्पना तक नहीं की गई है।

(ङ) विषय

अपने विकास की आरंभिक अवस्था में लोग भावना प्रधान रहे होंगे। तर्क या विचार की वैज्ञानिक शृंखला से वे अपरिचित रहे होंगे। पद्यात्मकता की ही प्रधानता रही होगी। यही कारण है कि संसार की सभी भाषाओं में पद्य या काव्य बहुत प्राचीन मिलता है पर गद्य नहीं। इसी प्रकार संगीत आदि की भी प्रधानता रही होगी। गीतों में भी स्वाभाविक और जन्मजात भावना होने के कारण प्रेम, भय, जोश आदि के चित्र ही अधिक रहे होंगे।

निष्कर्ष

भाषा अपने प्रारंभिक रूप में संगीतात्मक थी। उसमें वाक्य शब्द की भाँति थे। अलग-अलग शब्दों में वाक्य के विश्लेषण की कल्पना नहीं की गई थी। स्पष्ट अभिव्यंजना का अभाव था। कठिन ध्वनियाँ अधिक थीं। स्थूल और विशिष्ट के लिए शब्द थे। सूक्ष्म और सामान्य का पता नहीं था। व्याकरण संबंधी नियम नहीं थे। केवल अपवाद ही अपवाद थे। इस प्रकार भाषा प्रत्येक दृष्टि से लँगड़ी और अपूर्ण थी।

भाषा की उत्पत्ति के संबंध में हमें अब तक कोई बहुत निश्चित उत्तर नहीं प्राप्त हो सका,* पर इस परोक्ष मार्ग के आधार पर उसकी आरंभिक अवस्था के विषय में उपर्युक्त बातें दृढ़ता के साथ कही जा सकती हैं।

भाषा के आधार

विश्लेषण एवं अध्ययन के योग्य मुखोद्गीर्ण व्यक्त ध्वनि द्वारा मानव-विचारों की अभिव्यक्ति ही भाषा है। इस परिभाषा का विश्लेषण करने पर भाषा के विषय में प्रधानतः दो बातें दिखाई पड़ती हैं—

१. भाषा से मानव अपने विचारों की अभिव्यंजना करता है।

२. भाषा विश्लेषण तथा अध्ययन के योग्य मुखोद्गीर्ण ध्वनि है।

भाषा के लिए ये दोनों ही बातें आवश्यक हैं। मस्तिष्क में पहले विचार उठते हैं फिर मुखोद्गीर्ण ध्वनि के सहारे विचारक उनको व्यक्त करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें से एक का संबंध विचारों से है अतः वह सूक्ष्म है और दूसरे का संबंध मुखावयव से है अतः वह स्थूल है। इन्हीं दोनों को क्रम से भाषा का मानसिक और भौतिक आधार कहा जाता है।

* कुछ सीमा तक 'समन्वित रूप' अवश्य मान्य हो सकता है।

(क) मानसिक आधार

मानसिक आधार भाषा का प्राण या आत्मा है। बिना उसके भाषा का अस्तित्व असंभव है। ग्रामोफोन के रेकार्ड से भी अर्थवान ध्वनि निकलती है, पर उसके पीछे मानसिक आधार नहीं है अतः उसे भाषा नहीं कह सकते।

पहले भाषा-विज्ञानी भाषा के मानसिक आधार की ओर आकृष्ट नहीं हुए थे और इसी कारण भाषा का सम्यक अध्ययन भी संभव नहीं था। इधर कुछ दशाब्दियों से 'अर्थ विचार' के रूप में इसका अध्ययन भी आरंभ हो गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भाषा के इस आधार का महत्व प्रत्येक दृष्टि से भौतिक आधार से कहीं अधिक है।

(ख) भौतिक आधार

मानसिक आधार भाषा का प्राण या आत्मा है तो भौतिक आधार भाषा का शरीर; विचार को पहुँचाने के लिए इस वाहन का सहारा मनुष्य को लेना पड़ता है। इसके अंतर्गत मुख और नासिका के वे सभी अंग आ जाते हैं जिनकी ध्वनि के उच्चारण में आवश्यकता पड़ती है।

यहाँ हमने वक्ता की दृष्टि से भाषा के दोनों आधारों पर विचार किया है। श्रोता की दृष्टि से भी भाषा के ये दोनों आधार हो सकते हैं। **भौतिक आधार** उसका कान है, जिसके सहारे वह ध्वनि को पकड़ता है और **मानसिक आधार** उसका मस्तिष्क और उसकी स्मरण शक्ति है, जिसके सहारे वह सुनी ध्वनि का अर्थ समझता है।

श्रोता और वक्ता दोनों की दृष्टि से आवश्यक भौतिक आधार का वर्णन ध्वनि विज्ञान के प्रकरण में किया जायेगा। मानसिक आधार का विवेचन मूलतः मनोविज्ञान का विषय है, अतः इस पुस्तक में प्रमुख रूप से उस पर कुछ भी नहीं कहा जा सकता। हाँ आनुषंगिक रूप से अर्थ-विचार के प्रकरण में कुछ बातें मिल सकती हैं।

भाषा की प्रकृति

भाषा की उत्पत्ति और उसके आधार पर विचार करने के उपरान्त हम भाषा की प्रकृति पर विचार करते हैं।

(क) भाषा पैत्रिक सम्पत्ति नहीं है।

कुछ लोगों का विश्वास है कि भाषा पैत्रिक सम्पत्ति है। पिता की भाषा पुत्र को पैत्रिक सम्पत्ति की भाँति अनायास ही प्राप्त होती है। पर यथार्थतः ऐसी बात नहीं है। यदि किसी भारतीय बच्चे को दो-तीन वर्ष की अवस्था से ही फ्रांस में पाला जाय

तो वह हिन्दी या हिंदुस्तानी आदि न समझ सकेगा और फ्रेंच ही उसकी मातृभाषा या अपनी भाषा होगी। यदि भाषा पैत्रिक सम्पत्ति रहती तो भारतीय लड़का भारत से बाहर कहीं भी रहकर बिना प्रयास के हिन्दी समझ और बोल लेता। कुछ ही दिन पूर्व लखनऊ के अस्पताल में लगभग १२ वर्ष का एक लड़का लाया गया था जो मनुष्य की तरह कुछ भी नहीं बोल पाता था। खोज करने पर पता चला कि उसे कोई भेड़िया बहुत पहले उठा ले गया था और तब से वह उसी भेड़िए के साथ रहा। उसमें सभी आदतें भेड़िए सी थीं। उसके मुँह से निःसृत ध्वनि भी कुछ भेड़िए से ही मिलती-जुलती थी। यदि भाषा पैत्रिक सम्पत्ति होती तो वह अवश्य मनुष्य की तरह बोलता क्योंकि वह गूँगा नहीं था।

(ख) भाषा अर्जित सम्पत्ति है।

ऊपर के दोनों उदाहरणों में हम देख चुके हैं कि अपने चारों ओर के समाज या वातावरण से मनुष्य भाषा सीखता है। भारतवर्ष में उत्पन्न शिशु फ्रांस में रहकर इसी लिए फ्रेंच बोलने लगता है कि उसके चारों ओर फ्रेंच का वातावरण रहता है। इसी प्रकार भेड़िए का साथी लड़का एक ओर वातावरण के अभाव से मनुष्य की कोई भाषा नहीं सीख सका और दूसरी ओर भेड़िये के साथ रहने से वह उसी की ध्वनि का कुछ रूपों में अर्जन कर सका। अतएव यह स्पष्ट है, कि, भाषा आस-पास के लोगों से अर्जित संपत्ति है।

(ग) भाषा आद्यन्त सामाजिक वस्तु है।

ऊपर हम भाषा को अर्जित सम्पत्ति कह चुके हैं। प्रश्न यह है कि व्यक्ति इस सम्पत्ति का अर्जन कहाँ से करता है। इसका एक मात्र उत्तर है 'समाज से'। इतना ही नहीं, भाषा पूर्णतः आदि से अंत तक समाज से संबंधित है। उसका विकास समाज में हुआ है, उसका अर्जन समाज से होता है और उसका प्रयोग भी समाज में ही होता है। यों अकेले में हम भाषा के सहारे सोचते हैं जहाँ समाज नहीं रहता और न तो वहां उसकी आवश्यकता ही होती है, पर वह सोचना स्वयं समाज-सापेक्ष है। इस प्रकार भाषा समाज की वस्तु है।

(घ) भाषा का अर्जन अनुकरण द्वारा होता है।

ऊपर की बातों में भाषा के अर्जित एवं समाज-सापेक्ष होने की बात हम कह चुके हैं। यहाँ 'अर्जन' की विधि के संबंध में इतना और कहना है कि भाषा को हम 'अनुकरण' द्वारा सीखते हैं। शिशु के समक्ष माँ दूध को 'दूध' कहती है। वह सुनता है और धीरे-धीरे उसे स्वयं कहने का प्रयास करता है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक

अरस्तू के शब्दों में अनुकरण मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है। वह भाषा के सीखने में भी उसी गुण का उपयोग करता है।

(ङ) भाषा परिवर्तनशील है।

यथार्थतः भाषा केवल मौखिक भाषा को कहना चाहिए। उसका लिखित रूप तो उसी मौखिक पर आधारित है और उसी के पीछे-पीछे चलता है। यह मौखिक भाषा स्वयं अनुकरण पर आधारित है अतः दो आदमियों की भाषा बिल्कुल एक-सी नहीं हो सकती। अनुकरण-प्रिय प्राणी होने पर भी मनुष्य अनुकरण की कला में पूर्ण नहीं है। चंद्रभूषण यदि श्रीनिवास से भाषा सीख रहा है तो वह अवश्य ही ठीक उसी प्रकार नहीं बोलेगा जिस प्रकार श्रीनिवास बोलता है। दोनों में कुछ न कुछ अंतर रहेगा।

अनुकरण का 'पूर्ण' या 'ठीक' न होना कई बातों पर आधारित है। ऊपर हम कह चुके हैं कि भाषा के दो आधार हैं। (१) शारीरिक (भौतिक) और (२) मानसिक। परिवर्तन में ये दोनों ही कार्य करते हैं। अनुकरण-कर्त्ता की शारीरिक और मानसिक परिस्थिति सर्वदा ठीक वैसी ही नहीं रहती है जैसी कि उसकी रहती है, जिसका अनुकरण किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक अनुकरण में कुछ न कुछ विभिन्नता का आ जाना उतना ही स्वाभाविक है जितना अनुकरण करना।

ये साधारण और छोटी-छोटी विभिन्नताएँ ही भाषा में परिवर्तन उपस्थित किया करती हैं। इस प्रकार प्रतिपल भाषा परिवर्तित होती रहती है।

(च) भाषा का कोई अंतिम स्वरूप नहीं है।

जो वस्तु बन-बनाकर पूर्ण हो जाती है, उसका अंतिम स्वरूप होता है, पर भाषा के विषय में यह बात नहीं है। वह कभी पूर्ण नहीं हो सकती। अर्थात् यह कभी नहीं कहा जा सकता कि अमुक भाषा का अमुक रूप अंतिम है। यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि भाषा से हमारा अर्थ जीवित भाषा से है। मृत भाषा का अंतिम रूप तो अवश्य ही अन्तिम होता है, पर जीवित भाषा में यह बात नहीं है। जैसा कि अन्य सभी के लिये सत्य है; भाषा के विषय में भी असत्य नहीं है कि परिवर्तन और अस्थैर्य ही उसके जीवन का द्योतक है। पूर्णता और स्थिरता मृत्यु है, या मृत्यु ही पूर्णता या स्थिरता है।

(छ) भाषा की धारा स्वभावतः कठिनता से सरलता की ओर जाती है।

सभी भाषाओं के इतिहास से भाषा के कठिनता से सरलता की ओर जाने की

बात स्पष्ट है। यों भी इसके लिये सीधा तर्क हमारे पास यह है, कि मनुष्य का यह जन्मजात स्वभाव है कि वह कम से कम प्रयास में अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहता है। इसी "कम प्रयास" के प्रयास में वह 'सत्येन्द्र' को 'सतेन्द्र' और फिर 'सतेन' कहने लगता है, और एक अवस्था ऐसी भी आ जाती है जब वह केवल 'सति' कहकर ही काम चलाना चाहता है। यह उदाहरण 'ध्वनि' से संबन्धित है, पर 'अर्थ' आदि के बारे में भी यही बात है। अलंकारों का स्वाभाविक प्रचार इसी का द्योतक है। 'आप बैल हैं' कह कर हम कितने थोड़े शब्दों में अपनी कितनी अधिक अभिव्यक्ति कर लेते हैं, कहने की आवश्यकता नहीं।

भाषा पानी की स्वाभाविक धारा है जो बिना प्रयास के ऊँचे पर कभी नहीं चढ़ सकती पर नीचे की ओर सरलता के साथ जायेगी और जाती है।

कहा जाता है कि आज की हिन्दी कठिनता की ओर जा रही है, पर सचमुच यह बात नहीं है। साहित्यिक भाषा कृत्रिम भाषा है, स्वाभाविक नहीं। और यदि वह जन-भाषा से दूर जाने लगे तब तो और भी अधिक कृत्रिम हो जाती है। कठिनता की ओर जाने वाली हिन्दी के विषय में भी यही बात है। जीवित भाषा हिन्दी कभी उस कठिन चढ़ाई पर नहीं जा सकती। कुछ विद्वान लोग भले ही सड़क को 'रथ्या' नहर को 'कुल्या' और स्टेशन को 'धूम्र-शकट-विश्रामस्थल' कह लें, पर हिन्दी की स्वाभाविक गति में तो ये शब्द भविष्य में अवश्य ही सरक (सड़क) नेर (नहर) और टीसन (स्टेशन) हो जायेंगे। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर इस द्राविड़ प्राणायाम का लादना कभी भी सफल नहीं हो सकता, और न तो विश्व के किसी भी देश में सफल हुआ है।

भाषा का विकास और उसके कारण

भाषा की प्रकृति पर विचार करते समय हम कह चुके हैं कि भाषा परिवर्तनशील है। सर्वदा परिवर्तन के चक्र में घूमते रहना ही उनका विकास है। विकास या परिवर्तनशीलता का प्रभाव भाषा के चारों ही रूपों [ध्वनि अर्थ, रूप और वाक्य] पर पड़ता है। 'यह परिवर्तन या विकास किस प्रकार का होता है', इस पर तो हम लोग चारों विषयों पर अलग-अलग विचार करते समय ही प्रकाश डाल सकेंगे, पर यहाँ विकास के कारणों पर सम्मिलित रूप से विचार किया जा सकता है, यद्यपि ध्वनि और अर्थ के प्रकरण में आवश्यकतानुसार इन कारणों को और भी विस्तार से देखने की आवश्यकता पड़ेगी।

भाषा के विकास के कारणों के प्रधान वर्ग

भाषा का विकास दो प्रकार से होता है—

(१) एक तो अपनी स्वाभाविक गति (या दूसरे शब्दों में भाषा के कठिन से सरल की ओर जाने की प्रवृत्ति) के कारण ।

और (२) दूसरे किसी अन्य उपकरण से प्रभावित होकर। इसे स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण लिया जा सकता है। जब एक भाषा भाषी दूसरे भाषा-भाषी के सम्पर्क में आते हैं तो स्वभावतः एक दूसरे से कुछ ग्रहण करते हैं और इस प्रकार दोनो ही की भाषाएँ कम या बेश प्रभावित होती हैं। मुसलमानों के संपर्क से हिन्दी भाषा में कई हज़ार नए शब्द, मुहावरे और क़, ख़, ग़, तथा ज़ आदि ध्वनियाँ आ गईं। इधर यूरोप के सम्पर्क में आने पर फिर हज़ारों शब्दों, मुहावरों तथा कुछ ध्वनियों जैसे 'ऑ' (डॉक्टर) का समावेश हुआ है।

इन दोनों में पहले प्रकार के कारण भीतरी, आंतरिक या आभ्यंतर कहे जा सकते हैं तथा उनका वर्ग 'आभ्यंतर वर्ग' कहा जा सकता है और दूसरे प्रकार के कारणों को 'बाहरी' या 'बाह्य' तथा उनके वर्ग को 'बाह्य वर्ग' की संज्ञा दी जा सकती है। यहाँ दोनो वर्गों तथा उनके अन्तर्गत आने वाले कारणों पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

(क) आभ्यंतर वर्ग

आभ्यंतर वर्ग के अन्तर्गत वे सभी कारण आते हैं जो बाहर से प्रभाव नहीं डालते। संक्षेप में प्रधान कारणों को यहाँ लिया जा सकता है।

(१) **प्रयोग से घिस जाना**—अधिक प्रयोग के कारण धीरे-धीरे अन्य सभी चीज़ों की भाँति भाषा में भी स्वाभाविक रूप से परिवर्तन होता है। ऐसे होने वाले ह्रास या परिवर्तन को 'स्वयंभू' कहते हैं।

(२) **बल**—जिस ध्वनि या अर्थ पर बल अधिक दिया जाता है वह अन्य ध्वनियों या अर्थों को या तो कमज़ोर बना देता है या समाप्त कर देता है। इस प्रकार इसके कारण भी भाषा में विकास या परिवर्तन हो जाता है। इस सम्बन्ध में ध्वनि और अर्थ के प्रकरण में विस्तार के साथ विचार किया जायेगा।

(३) **प्रयत्न-लाघव**—भाषा में विकास लाने वाले या परिवर्तन उपस्थित करने वाले कारणों में यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और भाषा में विकास या परिवर्तन का ६० प्रतिशत से भी अधिक दायित्व इसी पर है। इसे 'मुख-सुख' भी कहते हैं।

आदमी कम से कम प्रयास में अधिक से अधिक काम करना चाहते हैं।

बोये हुए खेतों में लोगों की यही प्रवृत्ति बीच से तिरछे रास्ता बना देती है। बोलने में भी इसी प्रकार कम से कम प्रयत्न से लोग शब्दों को उच्चरित करना चाहते हैं और इस कम से कम प्रयास या प्रयत्न-लाघव (प्रयत्न की लघुता) के प्रयास में ही शब्दों को सरल, या सरलता के लिए ही छोटा बना डालते हैं। कृष्ण का कन्हैया या कान्हा, भक्त का भगत, प्वाइंट्‌समैन का पेटमैन, स्टेशन का टेसन, धर्म का धरम, गोपेन्द्र का गोबिन, त्वया का तू, गृद्ध का गिद्ध, आलक्तक का आलता सरल करके बोलने के प्रयास के ही फल हैं। अँग्रेजी में क्नो (Know) का उच्चारण नो, क्नाइफ (Knife) का नाइफ़ तथा टाल्क (Talk) का टाल्क भी इसी का परिणाम है। सरलता या प्रयत्न-लाघव के लिए कुछ शब्द तो छोटे कर लिए जाते हैं जैसे उपाध्याय से झा, 'कब ही' से कभी, 'जब ही' से जभी, हास्तिन् मृग से हस्ती फिर हाथी, या बोलने में मास्टर साहब का मास्साब, 'पंडित जी' का पंडी जी, जै राम जी की का जैरम, मारडाला का माड्डाला; तथा कुछ शब्द सरल बनाने के लिए बड़े कर लिए जाते हैं, जैसे प्रसाद से परसाद, कृष्ण से कन्हैया, स्कूल से इस्कूल, स्नान से असनान, प्लेटो से अफ़लातून, ग्रहण से गरहन या गिरहन तथा उम्र से उमिर आदि। संक्षेप में डी० एम० (डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट) एन० टी० (नायब तहसीलदार) या सुदी (शुक्ल दिवस) आदि भी प्रयत्न लाघव की दृष्टि से ही कहा जाता है।

प्रयत्न-लाघव या मुखसुख कई प्रकार से लाया जाता है, जिनमें स्वरलोप (जैसे अनाज से नाज या एकादश से ग्यारह), व्यंजन-लोप (जैसे स्थान से थान), अक्षर लोप (शहतूत से तूत), स्वरागम (स्काउट से इस्काउट, कृपा से किरिपा), व्यंजनागम (अस्थि से हड्डी), विपर्यय (वाराणसी से बनारस या पहुँचना से चहुँपना), समीकरण (शर्करा से शक्कर या कलक्टर से कलट्टर), विषमीकरण (काक से काग) तथा अकारण अनुनासिकता (उष्ट्र से ऊँट, श्वास से साँस तथा राम से राँम) आदि प्रमुख हैं। प्रयत्न-लाघव के अन्तर्गत आने वाले इन प्रधान तथा अन्य और प्रकारों* का विस्तृत और सोदाहरण परिचय 'ध्वनि-विज्ञान' अध्याय के अन्तर्गत आगे दिया गया है।

(४) **मानसिक स्तर**—बोलने वालों के मानसिक स्तर में परिवर्तन होने से विचारों में परिवर्तन होता है; विचारों में परिवर्तन होने से अभिव्यंजना के ढंग में

* घोषीकरण, अघोषीकरण, अभिश्रुति, महाप्राणीकरण, अल्पप्राणीकरण, अपिश्रुति, मात्राभेद, ऊष्मीकरण तथा संधि आदि।

परिवर्तन होता है और इस प्रकार भाषा पर भी प्रभाव पड़ता है। इसका स्पष्ट परिणाम अर्थ-परिवर्तन होता है पर कभी-कभी ध्वनि पर भी असर देखा गया है।

(५) **अनुकरण की अपूर्णता**—यह इस वर्ग का अन्तिम कारण है। पीछे कहा जा चुका है कि भाषा अर्जित संपत्ति है और उसका अर्जन मनुष्य अनुकरण के सहारे समाज से करता है। अनुकरण यदि पूर्ण हो तब तो व्यक्ति किसी शब्द को ठीक उसी प्रकार कहेगा जैसे वह व्यक्ति कहता है, जिसका कि वह अनुकरण कर रहा है। पर, प्रायः ऐसा होता नहीं और अनुकरण अपूर्ण या बेठीक होता है, अतएव स्वभावतः अपूर्ण वा बेठीक अनुकरण के परिणामस्वरूप हर पीढ़ी में भाषा के रूप में थोड़ा-थोड़ा विकास या परिवर्तन होता जाता है। एक दो पीढ़ी में तो इसका स्पष्ट पता नहीं चलता पर जब दस पीढ़ी पीछे की भाषा का दस पीढ़ी बाद की भाषा से हम तुलना करते हैं तो दोनों के अन्तर का पता साफ चल जाता है और हमें यह मानने को बाध्य होना पड़ता है कि भाषा विकसित या परिवर्तन हो गई है।

अनुकरण की अपूर्णता के लिए भी कई कारण हैं जिनमें प्रधान निम्नलिखित हैं—

(क) **शारीरिक विभिन्नता**—ध्वनियों का उच्चारण ध्वनियन्त्र के सहारे करते हैं और सब के ध्वनि यन्त्र एक से नहीं होते, अतएव उनका अनुकरण बिल्कुल पूर्ण नहीं हो पाता। सामान्यतः इस विभिन्नता के प्रभाव का पता नहीं चलता पर कई पीढ़ी बाद जो परिवर्तन दिखाई पड़ता है उसमें निश्चय ही इसका भी हाथ रहता है।

(ख) **ध्यान की कमी**—इसके कारण भी अनुकरण अपूर्ण रह जाता है। इसका भी भाषा के विकास पर प्रभाव दस-बीस पीढ़ी के बाद ही स्पष्ट हो पाता है।

(ग) **अशिक्षा**—अशिक्षा तथा अज्ञान के कारण भी अनुकरण अपूर्ण रह जाता है। श का स (देश से देस), ष का स (तृष्णा का तिसना), ण का न (गुण का गुन या कर्ण का कान), क्ष का छ (शिक्षा का सिच्छा या क्षत्रिय का छत्री) तथा ॠ का रि (ॠण का रिन या ॠषि का रिसि) आदि मुख-सुख या प्रयत्न-लाघव के अतिरिक्त अज्ञान या अशिक्षा के कारण ही हो जाता है। विदेशी शब्द सामान्य जनता में अज्ञान या अशिक्षा के कारण ही क्या से क्या हो जाते हैं। उदाहरणार्थ रेविट का 'रिपीट', डाक्टर का 'डगडर', ज़माना का 'जमाना', एञ्जिन का 'इंजन' या 'अंजन', मोहताज का 'मुस्ताज', लाइब्रेरी का 'रायबरेली' या 'लाबरेली', रिपोर्ट का 'रपट', गार्ड का 'गारद', ड्रिल का 'दलेल, इन्स्पेक्टर का 'इसपट्टर', हू कम्स देयर' का 'हुकुमसदर', लार्ड का 'लाट', टाइम का 'टेम', सिगनल

का 'सिंगल', दर्ख्वास्त का 'दरखास', मास्टर का 'महटर' या 'महट्टर', कानूनगो का 'कनुनगोह', प्लाटून का 'पलटन', ज्वाइन का जैन, तथा 'काजीहाउस' का काजी-हौद आदि देखे जा सकते हैं।

(आ) वाह्य वर्ग

(१) **भौतिक वातावरण**—भाषा पर इसका सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। एक भाषा के अन्तर्गत अनेक बोलियाँ या एक परिवार में अनेक भाषाएँ मूलतः इसी कारण से बन जाती हैं। भौतिक वातावरण का प्रभाव कई प्रकार से पड़ सकता है—

(क) गर्मी और सर्दी के अधिक या कम होने से जीविका, स्वभाव, रहन-सहन, आचरण आदि पर प्रभाव पड़ता है और भाषा इन सभी पर आधारित है।

(ख) मैदान आदि में दूर तक लोग सम्पर्क रख पाते हैं, अतः भाषा में एकरूपता बनी रहती है पर पहाड़ी भागों में या अन्य ऐसे भागों जहाँ आने-जाने की सुविधा कम है, या है ही नहीं, लोग अलग-अलग रहने के आदी हो जाते हैं, फल यह होता है उनकी भाषा का अलग-अलग विकास होता है और कई भाषाएँ या अनेक बोलियों का विकास हो जाता है। इसी कारण पहाड़ों पर बोली थोड़ी-थोड़ी दूर पर थोड़ी-बहुत अवश्य बदल जाती है। बड़ी नदियों के दोनों किनारों की बोली में भी इसी कारण कुछ अन्तर दिखाई देता है। ग्रीस में कुछ ऐसे ही कारणों से नगर-जनपद की प्रथा चल पड़ी। फल यह हुआ कि वहाँ बोलियों की भरमार हो गई।

(ग) भूमि यदि उपजाऊ है तो खाद्य सामग्री की कमी न रहेगी और फल यह होगा कि लोगों को उन्नति करने का समय मिलेगा, अतः उन लोगों की भाषा में अनुपजाऊ भूमि रहने वालों की अपेक्षा संस्कार अधिक होगा। वे लोग गूढ़ विषयों पर सोचेंगे; अतः उसकी अभिव्यंजना के लिए उनकी भाषा गम्भीर होती जायगी जैसा कि भारत या यूनान आदि में हुआ है। इसके विरुद्ध पहाड़ी या जंगली लोगों की भाषा में इस प्रकार का विकास नहीं होता। इस तरह उपजाऊ भूमि के कारण भी भाषा के परिवर्तन एवं विकास को बल मिलता है।

(२) **सांस्कृतिक प्रभाव**—समाज का प्राण संस्कृति है, अतः उसका भी प्रभाव भाषा पर पड़ता है और उसके कारण भाषा में विकास होता है। इसके अन्तर्गत भी प्रभाव कई प्रकार का हो सकता है।

(क) सांस्कृतिक संस्थाएँ प्राचीन शब्दों को एक बार फिर ला देती हैं साथ ही विचार में भी परिवर्तन कर देती हैं, जिससे अभिव्यक्ति की शैली आदि प्रभावित होती है। १९वीं सदी के अन्त और बीसवीं के आदि की हिन्दी भाषा पर आर्यसमाज

के कारण संस्कृत शब्द कितने अधिक अपने तत्सम रूप में घुस आये हैं, कहने की आवश्यकता नहीं;

(ख) व्यक्ति—महान व्यक्तियों का भी भाषा पर प्रभाव पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदास ने उत्तरी भारत की भाषा, समाज तथा धर्म सभी को यथेष्ट प्रभावित किया है। कितने शब्दों को उन्होंने कविता में तुक आदि के लिए कुछ तोड़कर रखा और वे चल पड़े। उनके बाद की कविता की शैली भी उनसे प्रभावित हुई थी। इसी प्रकार गांधी जी के कारण हिन्दी की हिन्दुस्तानी शैली को काफ़ी बल मिला।

(ग) संस्कृतियों का सम्मिलन—व्यापार, राजनीति तथा धर्मप्रचार आदि के कारण कभी-कभी दो संस्कृतियों का सम्मिलन होता है। इसका भी भाषा के विकास या परिवर्तन पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए भारत ही को लें। यहाँ इस प्रकार का सम्मिलन कम से कम पाँच बार हुआ है—

(१) आस्ट्रिकों और द्राविड़ों का।

(२) द्राविड़ों और आर्यों का।

(३) आर्यों और यवनों का।

(४) भारतीयों और तुर्कों तथा मुसलमानों का।

(५) भारतीयों और यूरोप वालों का।

इन संस्कृतियों के सम्मिलन में भाषा पर दो प्रकार के प्रभाव सम्भव होते हैं—

(अ) प्रत्यक्ष—जैसे

(क) शब्दों की लेन-देन—आज हमारी भारतीय भाषाओं में उपर्युक्त सभी संस्कृतियों के शब्द है। हिन्दी में ही आस्ट्रिकों के गङ्गा आदि, द्राविड़ों के नीर, आलि, मीन आदि, यवनों (ग्रीकों) के होड़ा, दाम, सुरंग आदि, तुर्कों एवं मुसलमानों के पाजामा, बाजार, दूकान, कागज़, कलम, सन्दूक, किताब, तकिया तथा रज़ाई आदि तथा यूरोपियों के खेल, न्याय और फैशन आदि सम्बन्धी हाकी, टेनिस, कालर, टाई, पेंसिल, बटन, फ्रेम, डिग्री, साइकिल, मोटर, रेल, स्टेशन, निब, कोट, कलक्टर तथा पेन, आदि हज़ारों शब्द प्रचलित हैं। हिन्दी में इस प्रकार के शब्दों की ठीक से छानबीन की जाय तो इनकी संख्या आठ हज़ार से कम न होगी।

(ख) ध्वनि-विनिमय—मूल योरोपीय भाषा में टवर्गीय ध्वनि नहीं थी पर भारत में आने पर द्राविड़ों के प्रभाव से आर्य भाषा में यह ध्वनि आ गई और आज सभी ध्वनियों की भाँति इसका भी प्रयोग होता है। हिन्दी भाषा में भी मुसलमानों तथा अँग्रेज़ों के सम्पर्क से कई नवीन ध्वनियाँ आ गई हैं, जैसे क़, ज़, ग़ तथा ऑ आदि।

(आ) अप्रत्यक्ष—विचार-विनिमय के कारण एक दूसरे के साहित्य कला आदि पर भी प्रभाव पड़ता है और उससे भी भाषा अछूती नहीं रहती।

(३) **समाज की व्यवस्था**—सामाजिक व्यवस्था के कारण समाज में शान्ति या अशान्ति रहती है और उसका भी जीवन के प्रत्येक अंग पर प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव घूम-फिर कर भाषा पर भी पड़ता है। युद्ध या क्रांति में भाषा में विशेष रूप से ध्वनि-परिवर्तन होते हैं। लोगों के पास इतना समय नहीं रहता और न शान्ति ही रहती है कि उच्चारण पूर्णरूपेण करें। संकेत से अधिक काम लेना पड़ता है। नवीन युग में समय कम होने के कारण ही अनेक प्रचलित शब्दों के संक्षिप्त रूप बनाए गए हैं। हम कृ० पृ० उ० (P. T. O.) लिखकर 'कृपया पृष्ठ उलटिये' का काम चला लेते हैं। पूरा नाम न कह कर शर्मा, वर्मा और तिवारी ही कहा जाता है। सी० आई० डी०, वी० सी०, डी० एम० तथा यूनेस्को आदि भी इसी प्रकार के संक्षिप्त रूप हैं।

(ञ) सादृश्य*

कहते हैं खरबूज़े को देखकर खरबूज़ा रङ्ग बदलता है। इसी प्रकार भाषा में भी शब्द या वाक्य दूसरे शब्द या वाक्य की सदृशता पर उसी प्रकार के बन जाते हैं। इस प्रकार इसका भी भाषा के विकास या परिवर्तन में बहुत बड़ा हाथ है। इसे उपर्युक्त आभ्यन्तर और वाह्य किसी एक वर्ग में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि यह दोनों में आता है। आज की हिन्दी की वाक्य-रचना बहुत से लेखकों में अँग्रेजी के सादृश्य पर मिलती है। यह वाह्य है। दूसरी ओर 'पाश्चात्य' के सादृश्य पर 'पौर्वात्य' शब्द चल रहा है, 'एकदश' द्वादश के सादृश्य पर 'एकादश' हो गया है, या 'निर्गुण' के सादृश्य पर 'सगुण' सर्गुण या सर्गुन हो गया है; यह आभ्यंतर है। इसी प्रकार अनेक अन्य उदाहरण भी लिये जा सकते हैं।

---

* सादृश्य स्वयं स्वतन्त्र कारण नहीं कहा जा सकता पर सुविधा की दृष्टि से आए परिवर्तनों में इसका स्थान अलग है, क्योंकि इसके परिवर्तन का परिणाम किसी अन्य वाक्य या शब्द के अर्थ या ध्वनि पर आधारित रहता है। इसी कारण इसे यहाँ अलग माना गया है और आगे भी कई स्थानों पर इसे इसी अर्थ में कारण के रूप में अलग रखा गया है, पर उसका आशय यही समझना चाहिये। इसका स्पष्टीकरण विस्तार से 'सादृश्य' पर अलग विचार करते समय ध्वनि-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान, शब्द-समूह तथा परिशिष्ट शीर्षक अध्यायों में किया जायेगा।

भाषा के विकास के संबंध में अंतिम बात यह कह देनी आवश्यक है कि भाषा के विकास का आशय यह नहीं कि भाषा और अच्छी या ऊँची होती जाती है। विकास का अर्थ केवल आगे बढ़ना या परिवर्तन है। परिवर्तन से भाषा अभिव्यंजना-शक्ति, माधुरी तथा ओज आदि की दृष्टि से ऊँचे भी उठ सकती है और नीचे भी जा सकती है। इस संबंध में कोई निश्चित सिद्धांत नहीं दिया जा सकता है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह सरलता की ओर जाती है।

भाषा के विकास में व्याघात और उसके कारण

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि कुछ भाषाएँ बहुत कम समय में आश्चर्यजनक विकास कर लेती हैं और दूसरी ओर कुछ ऐसी भी भाषाएँ मिलती हैं, जो अधिक समय में भी बहुत कम विकास कर पाती हैं। ऐसे ही कुछ बोलियाँ उन्नति कर भाषा हो जाती हैं और उनमे उत्तम साहित्य की रचना होने लगती है, पर दूसरी ओर कुछ ज्यों की त्यों बोली ही बनी रहती हैं। उपर्युक्त दोनों कथनों में से दूसरे पर तो आगामी प्रकरण 'भाषा के विविध स्वरूप', में विचार किया जायगा पर प्रथम को यहीं लेना होगा।

भाषा के विकास पर हम पीछे विचार कर चुके हैं। बहुधा उन कारणों के उलटे कारण जब उपस्थित होते हैं तो भाषा के विकास में व्याघात उपस्थित होता है।

प्रधान कारण ये हैं—

(१) **भौगोलिक परिस्थिति**—यदि कोई देश अपनी भौगोलिक परिस्थितियों के कारण इस प्रकार घिरा हुआ हो कि सरलता से लोग वहाँ न पहुँच सकें तो वहाँ की भाषा में विकास बहुत धीमा होता है। इसका कारण यह होता है कि बाहरी लोगों से संपर्क नहीं हो पाता, अतः वाह्य प्रभाव बिल्कुल नहीं पड़ता। भारोपीय परिवार की 'आइसलैंडिक' भाषा इसी कारण अन्यों की अपेक्षा बहुत कम विकसित हुई है।

(२) **खाद्यान्न की कमी**—देश में यदि खाद्याभाव है तो स्वभावतः लोगो का अधिक समय भोजन के पीछे चला जाता है, अतः अन्य सूक्ष्म समस्याओं पर विचार करने का उन्हें समय नहीं रहता, न कला और साहित्य की ही उन्नति होती है। ऐसी अवस्था में भी भाषा का विकास नहीं होता या बहुत कम होता है। रेगिस्तानी और जंगली भाषाएँ इसी कारण प्रायः कम या बहुत धीरे-धीरे विकसित होती हैं।

(३) **अभिव्यक्ति के लिए यथासाध्य प्रचलित भाषा से न हटना**—भाषा का अपने विचारों को व्यक्त करने के लिये ही लोग प्रयोग करते हैं, अतः यह

आवश्यक होता है कि यथासाध्य प्रचलित भाषा से तनिक भी न हटें। हटने पर अस्पष्टता आने का भय रहता है। यह भावना सभी भाषाओं के विकास में बाधक सिद्ध होती है।

(४) **समाज के हँसने का भय**—समाज में भाषा का प्रयोग होता है। यदि लोग अशुद्ध बोलें तो समाज उन पर हँसता है। छोटे लड़के जब 'रुपया' को 'नुपया' या 'घड़ी' को 'घली' कहते हैं और सुनने वाले हँस देते हैं तो वे शीघ्रातिशीघ्र रुपया या घड़ी कहने का प्रयास करते हैं और सफल भी हो जाते हैं। इस प्रकार समाज के हँसने के भय से भी लोग यथासाध्य भाषा के प्रचलित रूप पर ही चलने का प्रयास करते हैं और इससे भी भाषा का विकास रुकता है।

(५) **व्याकरण**—व्याकरण की शिक्षा भी लोगों को आदर्श-प्रयोग पर चलने को प्रेरित करती है। जिन लोगों को व्याकरण का ज्ञान नहीं रहता वे अशुद्धियाँ अधिक करते हैं। इसी कारण भाषा में विकास लाने का श्रेय ग्रामीणों और अशिक्षितों को नागरिकों एवं शिक्षितो की अपेक्षा अधिक है। सत्य तो यह है कि भाषा का मूल विकास उन्हीं लोगों में होता है। इस प्रकार शिक्षा और प्रमुखतः व्याकरण की शिक्षा भी भाषा के विकास में बाधक या व्याघात सिद्ध होती है।

भाषा के विविध स्वरूप

भाषा के विविध रूप हैं, जिनमें प्रधान—

(१) मूल भाषा
(२) बोली
(३) आदर्श भाषा
(४) राष्ट्र भाषा
(५) विशिष्ट भाषा
(६) कृत्रिम भाषा

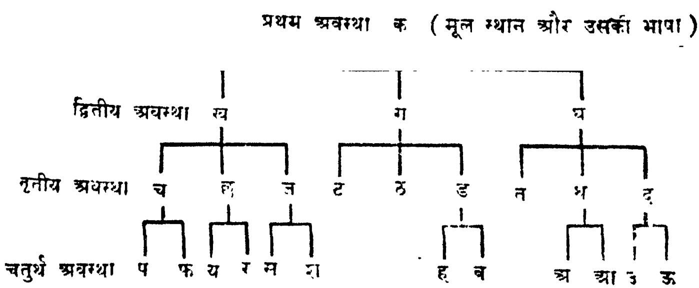
छः हैं। यहाँ इन सभी रूपों पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

(१) मूल भाषा

ऊपर हम लोग भाषा के जिस विकास पर विचार कर चुके हैं, वह प्रमुखतः ऐतिहासिक था और यहाँ भाषा के विविध स्वरूप के रूप में जिस विकास को लेने जा रहे हैं, वह प्रमुखतः भौगोलिक है।

भाषा की उत्पत्ति एवं उसका प्राथमिक विकास संघ रूप से एक साथ रहने वाले विभिन्न वर्गों में हुआ होगा। उदाहरण के लिए यदि मूल भारोपीय भाषा को लें तो

इसका प्रादुर्भाव एक साथ रहने वाले कुछ भारोपीयों में हुआ। भाषा के विकास एवं शाखाओं में बाँटने का कार्य वहीं से भौगोलिक परिस्थितियों ने करना आरंभ किया। मूल स्थान पर कुछ दिनों तक रहने के पश्चात् जब वहाँ की जनसंख्या अधिक हो गई और भोजन आदि की कमी पड़ने लगी तो कुछ लोग तो संभवतः वहीं रह गए और कुछ लोग कई शाखाओं में बँटकर अलग अलग दिशाओं में चल पड़े। चलने के समय उन भिन्न-भिन्न शाखाओं की भाषा अवश्य ही लगभग एक-सी रही होगी। थोड़ी दूर चलकर उन शाखाओं ने अपना-अपना अड्डा बनाया होगा। उन नवीन अड्डों पर वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों के कारण उनके जीवन में परिवर्तन आया होगा और तदनुसार उनकी भाषा में भी विकास हुआ होगा। दो-एक सदी या दस-बीस पीढ़ी के उपरांत अलग-अलग बसने वाली उन शाखाओं की भाषा में आपस में काफ़ी विभिन्नता आ गई होगी। कुछ दिन के बाद वे नवीन स्थान भी जनसंख्या आदि के बढ़ने से अपर्याप्त सिद्ध हुए होंगे और प्रति शाखा में कई प्रशाखाएँ फूटकर इधर-उधर चलकर नवीन स्थानों पर बसी होंगी। फिर वहाँ उनका नवीन विकास हुआ होगा और तदनुकूल उनकी भाषाएँ भी अलग रूपों में विकसित या परिवर्तित हुई होंगी*। इसे चित्र रूप में यों रखा जा सकता है—



***भाषा परिवार**

उपर्युक्त चित्र में हम देखते हैं 'क' से ही विकसित होकर दूसरी, तीसरी और चौथी अवस्था की भाषाएँ और बोलियाँ निकली हैं। ये ठीक उसी प्रकार हैं जैसे एक आदमी से दो-तीन पुश्त में बहुत से आदमी हो जाते हैं। वे सभी आदमी उस आदि पुरुष के जिस प्रकार परिवार कहे जायँगे, ये भिन्न-भिन्न भाषाएँ और बोलियाँ भी उसी प्रकार उस आदि भाषा (उपर्युक्त चित्र में 'क') के परिवार की कही जाती हैं। हिन्दी, बँगला, अँग्रेज़ी, फ्रेंच, ब्रज, अवधी या मगही आदि इसी अर्थ में भारोपीय

(२) **बोली** (Dialect)

बोली या उपभाषा उस सीमित क्षेत्र की भाषा को कहा जाता है, जिसके बोलने वालों का उच्चारण लगभग एक सा हो तथा जिसमें रूप-रचना, वाक्य-रचना, शब्द-समूह तथा अर्थ-संबंधी कोई स्पष्ट और महत्व-पूर्ण भिन्नता न दृष्टिगत हो।

एक भाषा के अंतर्गत जब कई अलग-अलग रूप विकसित हो जाते हैं तो वे प्रत्येक 'बोली' या 'उपभाषा' कहलाते हैं। सामान्यतः कोई बोली तभी तक 'बोली' कही जाती है जब तक उसे साहित्य, धर्म या राजनीति आदि के कारण महत्व न प्राप्त हो। महत्व प्राप्त होते ही बोली 'भाषा' कहलाने लगती है। अंग्रेज़ी, हिंदी, रूसी, संस्कृत, ग्रीक तथा अरबी आदि विश्व की सभी भाषाएँ अपने आरंभिक रूप में बोली रही होंगी और बाद में महत्व प्राप्त होने पर वे भाषा बन गईं। इसी प्रकार आज बोली कहलाने वाली भोजपुरी, अवधी, तथा राजस्थानी आदि बहुत सी उपभाषाएँ महत्व प्राप्त होने पर तथा भविष्य में समय आने पर भाषाएँ बन सकती हैं।

बोलियों के बनने का कारण

बोलियों के बनने का कारण प्रमुखतः भौगोलिक है। ऊपर के चित्र में प्रथम अवस्था में 'क' एक भाषा थी। उससे 'ख', 'ग' और 'घ' शाखाएँ फूट कर अलग-अलग चली गईं और एक दूसरे से इतनी दूर बसीं कि आपस में किसी प्रकार का संबंध संभव न था। एक शाखा के लोग दूसरी शाखा के लोगों से मिलकर बातचीत नहीं कर सकते थे। फल यह हुआ कि तीनों शाखाओं में कुछ विशेषताएँ विकसित हो गईं और इस प्रकार तीनों अलग-अलग बोलियाँ हो गईं। किसी भाषा की एक शाखा का अन्य से संबंध-विच्छेद या अलग होना ही बोली के बनने का प्रधान कारण है। भूकंप या जलप्लावन से भी ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती हैं और बोलियाँ बन जाती हैं। बहुधा यह देखा जाता है कि किसी बड़ी नदी के दोनों ओर की बस्तियाँ भाषा के संबंध में कुछ अंतर रखती हैं। यह भी उसी का द्योतक है।

कभी-कभी राजनैतिक या आर्थिक कारणों से कुछ लोग अपनी भाषा के क्षेत्र से बहुत दूर जाकर बस जाते हैं और वहाँ भी उनकी नई बोली विकसित हो जाती है। मध्य यूरोप में जर्मन भाषा का क्षेत्र था। वहाँ से लोग इंगलैण्ड में बस गए और अँग्रेज़ी उसकी एक अलग बोली बन गई। हिन्दी में अवधी, व्रज या भोजपुरी आदि

परिवार की कही जाती हैं। आगे हम लोग भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण इसी आधार पर करेंगे।

बोलियाँ इसी प्रकार हुई हैं। इधर भोजपुरी में ही दो बोलियाँ विकसित हो रही हैं। छपरा की ओर की भोजपुरी तथा गाज़ीपुर की भोजपुरी में पर्याप्त अंतर हो गया है। इसका एक मात्र कारण यही है कि इतनी दूर तक लोग एक दूसरे से मिल नहीं पाते।

बोलियों के महत्व पाने का कारण

जैसा कि ऊपर कहा गया है कुछ बोलियाँ तो मूल भाषा से अलग होने पर भी किसी भी कारण महत्व न पाने के कारण बोली ही बनी रहती हैं पर कुछ महत्वपूर्ण हो जाती हैं और धीरे-धीरे बोली से भाषा बन जाती हैं। बोलियों के महत्व पाकर 'भाषा' की संज्ञा पाने के प्रधान कारण निम्नांकित हैं—

(१) कुछ बोलियाँ जब अपनी अन्य बहनों से बिल्कुल अलग हो जाती हैं, या अपनी अन्य बहनों के मर जाने के कारण अकेली बच जाती है तो उन्हें भाषा की संज्ञा मिल जाती है। 'ब्राहुई' तथा 'मुंडा' इसी कारण भाषा कहलाती हैं।

(२) साहित्य की श्रेष्ठता के कारण भी कुछ बोलियाँ महत्वपूर्ण हो जाती हैं। प्राचीन काल में मध्यदेशीय बोली साहित्य के लिए प्रयुक्त होती थी, अतः उसका अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हो जाना स्वाभाविक था।

(३) धार्मिक श्रेष्ठता भी बोली का महत्व बढ़ा देती है। राम संबंधी प्रधान तीर्थ अयोध्या है तथा कृष्ण संबंधी मथुरा। फल यह हुआ कि दोनों जगह की बोलियों (अवधी और व्रज) को औरों की अपेक्षा अधिक महत्व मिला और कई सदियों तक वे साहित्य की भाषा बनी रहीं। 'व्रज' का तो नाम ही 'व्रज भाषा' हो गया, यद्यपि, अब वे दोनों बोलियाँ मात्र हैं।

(४) बोलने वालों का महत्वपूर्ण होना भी बोली को महत्वपूर्ण बना देता है। अँग्रेज़ी जो मूलतः एक बोली है, अँग्रेजों के आधुनिक युग में विश्व भर में अपना व्यापार फैला देने से तथा उनके महत्वपूर्ण होने से आज विश्व की व्यापारिक भाषा एवं अंतर्राष्ट्रीय भाषा बनी हुई है। चाहे जर्मनी हो चाहे जापान और चाहे चीन हो या फ्रांस सभी लोग अपनी बनाई वस्तुओं पर अंग्रेजी में ही 'मेड-इन' (Made in) लिखते हैं। इसी प्रकार विदेश जाने के लिए भी अँग्रेजी जानना आवश्यक माना जाता है, क्योंकि इसका प्रचार प्रायः सर्वत्र है, यद्यपि अब यह स्थिति कुछ समाप्त होती सी दीख रही है।

(५) बोली के प्रमुख एवं महत्वपूर्ण होने का सबसे बड़ा कारण है राजनीति। जहाँ राजनीति का केन्द्र होगा वहाँ की बोली अवश्य ही महत्वपूर्ण हो कर भाषा बन जायेगी। दिल्ली के समीप की खड़ी बोली आज हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों की प्रमुख

भाषा है और उसने मैथिली, अवधी और ब्रज जैसी प्राचीन एवं महत्वपूर्ण बोलियों को भी दबा कर भाषा ही नहीं राज एवं राष्ट्र भाषा के स्थान को अपना लिया है। इसी प्रकार पेरिस की फ्रेंच और लंदन की अँग्रेज़ी बोलियाँ अपनी अन्य बहनों से बहुत आगे निकल गई हैं। मराठी में कोंकड़ी, कारवाड़ी और बरारी आदि बोलियाँ, बोलियाँ ही रह गईं; पर पूना की बोली आज वहाँ की साहित्यिक भाषा है। चीन की मन्दारिन बोली की भी यही दशा है। इस प्रकार के उदाहरण सभी देशों में मिल सकते हैं।

भाषा और बोली

ये दोनों स्वतंत्रतः अलग नहीं हैं। सत्य तो यह है कि मूल भाषा जिससे परिवार का आरंभ होता है (ऊपरी चित्र में 'क') को छोड़कर बाद की विकसित सभी भाषाएँ अपनी शैशवावस्था में बोली ही रहती हैं। ऊपर के चित्र में 'क' से 'ख', 'ग', 'घ' तीन बोलियों का विकास हुआ। कुछ सदियों के बाद ये तीनों विकास करते-करते एक दूसरे से इतनी भिन्न हो गईं कि भाषा हो गईं, और फिर 'ख' भाषा से 'च', 'छ', 'ज' बोलियों का विकास हुआ। इसी प्रकार 'ग' और 'घ' से 'ट', 'ठ', 'ड' तथा 'त', 'थ', 'द' का। आरंभ में ये सभी बोलियाँ रहीं। फिर समय पाकर धीरे-धीरे भाषाएँ बनीं और जैसा कि चतुर्थावस्था में दिखाया गया है इनसे पुनः 'प', 'फ', 'र' आदि भाषाओं का विकास हुआ।

कभी-कभी भाषा या बोली की मृत्यु भी दूसरे के दबाव से या बोलने वालों के समाप्त हो जाने से हो जाती है। उपर्युक्त चित्र में 'ट', 'ठ' तथा 'त' ऐसी ही बोलियाँ हैं।

भारोपीय परिवार से इन सब के उदाहरण लिये जा सकते हैं। इस परिवार की आर्यशाखा आरंभ में एक बोली रही होगी। उसका विकास भाषा में हुआ, फिर उस भाषा से ईरानी और भारतीय दो बोलियाँ निकलीं। और जब धीरे-धीरे ये दोनों समय पाकर भाषाएँ हो गईं तो आर्य बोली जो बोली से भाषा बनी थी अब शाखा कही जाने लगी।

भारतीय परिवार की हिट्टाइट आदि भाषाएँ बहुत पहले मर गईं। बहुत सी मरी भाषाओं के संबंध में तो यह भी निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता कि मृत्यु के समय वे बोलियाँ थीं या भाषाएँ।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि बोली भाषा क्यों बन जाती है? इसका एक मात्र

उत्तर है उस बोली का किसी कारण महत्वपूर्ण हो जाना ?* पर यह सर्वदा आवश्यक नहीं है कि किसी कारण से बोली प्रमुखता एवं महत्व प्राप्त करके भाषा बन ही जाय या सर्वदा भाषा ही बनी रहे। कभी-कभी केवल साहित्य आदि में उसका प्रयोग भर होने लगता है पर वह भाषा नहीं भी बन पाती। या कभी-कभी कुछ दिनों तक भाषा की महत्ता पाकर भी प्रतिकूल परिस्थिति आने के कारण पुनः बोली बन जाती हैं।

एक भाषा के अंतर्गत बहुधा बहुत सी बोलियाँ होती हैं, जो मूलरूप में बहुधा उस भाषा की छोटी या बड़ी बहन ही होती हैं।

(३) आदर्श भाषा

सभ्यता के विकसित होने पर यह आवश्यक हो जाता है कि एक भाषा-क्षेत्र (जिसमें कई बोलियाँ हों) की कोई एक बोली आदर्श मान ली जाय और पूरे क्षेत्र से संबंधित कार्यों के लिए उसका प्रयोग हो। उसे आदर्श भाषा कहा जाता है, और वह पूरे क्षेत्र के उच्च वर्ग के लोगों की भाषा हो जाती है। साहित्य आदि में भी प्रायः उसी का प्रयोग होता है।

एक बोली जब आदर्श भाषा बनती है और प्रतिनिधि हो जाती है तो आस-पास की बोलियों पर उसका पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। आज की खड़ी बोली ने ब्रज, अवधी, भोजपुरी सभी को प्रभावित किया है। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि आदर्श भाषा आस-पास की बोलियों को बिल्कुल समाप्त कर देती है। रोम की लैटिन जब इटली की आदर्श भाषा बनी तो आस-पास की बोलियाँ शीघ्र ही समाप्त हो गईं। पर, ऐसा बहुत ही कम होता है।

आदर्श भाषा के तत्कालीन रूप को लेकर उसका उच्चारण और व्याकरण आदि निश्चित कर दिया जाता है और फल यह होता है कि आदर्श भाषा स्थिर हो जाती है और कुछ दिन में उसका रूप प्राचीन पड़ जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आज की खड़ी बोली का लिखित रूप जीवित बोली से उच्चारण तथा शब्द-समूह में कम से कम चालिस वर्ष पीछे है†। व्याकरण में भी कुछ परिवर्तन आ गया है।

आदर्श भाषा का रूप पूरे क्षेत्र में एक ही नहीं होता। प्रादेशिक बोलियों का

* पीछे इसके कारण कुछ विस्तार से दिए जा चुके हैं।

† देखिए २७ अगस्त १९५० के संगम (प्रयाग से प्रकाशित होने वाला साप्ताहिक पत्र) में लेखक का 'क्या हम जो बोलते हैं वही लिखते भी हैं ?' शीर्षक लेख।

प्रभाव भी उस पर कुछ पड़ता है*। यह प्रभाव व्याकरण और शब्द-समूह तथा उच्चारण तीनों में ही देखा गया है। भोजपुरी लोग 'दिखाई दे रहा है' के स्थान पर 'लौक रहा है' तथा 'हमने काम किया' के स्थान पर 'हम काम किए' का प्रयोग करते हैं। पंजाबी लोगों ने भी आदर्श हिन्दी पर अपनी पालिश कर दी है और खड़ी बोली हिंदी का 'हमको जाना है' वाक्य उनके बीच 'हमने जाना है' हो गया है।

आदर्श भाषा के (१) मौखिक और (२) लिखित रूप

आदर्श भाषा के प्रादेशिक रूपों के अतिरिक्त लिखित और मौखिक भी दो रूप होते हैं। सभी मौखिक भाषाएँ अपने लिखित रूपों से भिन्न होती हैं। बोलने में सर्वदा ही वाक्य छोटे-छोटे रहते हैं पर लिखित रूप के वाक्य अधिकतर बड़े हो जाते हैं। कादम्बरी के वाक्य कहीं-कहीं पृष्ठ पार कर जाते हैं, पर बोलचाल की संस्कृत कभी भी ऐसी न रही होगी। इस प्रकार मौखिक रूप स्वाभाविक है और लिखित रूप कृत्रिम। ये बातें आदर्श भाषा में भी पायी जाती हैं।

आदर्श भाषा के लिखित रूप पर मौखिक रूप की अपेक्षा प्रादेशिकता की छाप कम रहती है क्योंकि लिखने में लोग हँसी और अशुद्धि आदि के भय से काफी सोच-समझ कर लिखते हैं।

लिखित रूप मौखिक की अपेक्षा अधिक संस्कृत रहता है।†

(४) राष्ट्र-भाषा

आदर्श भाषा तो केवल उसी क्षेत्र में रहती है जिसकी वह एक बोली होती है। जैसे हिन्दी खड़ी बोली उत्तर प्रदेश तथा बिहार आदि की आदर्श भाषा है। पर जब कोई बोली आदर्श भाषा बनने के बाद भी बढ़ती है और अन्य भाषा-क्षेत्र तथा अन्य

* परिशिष्ट में आधार-सिद्धांत (सब्स्ट्रेटम थ्यूरी) शीर्षक के अंतर्गत इस संबंध में कुछ और भी बातें मिल सकती हैं।

† खड़ी बोली के सम्बन्ध में एक और विशेष बात है। मौखिक भाषा में उर्दू और हिन्दी का कोई प्रधान अंतर प्रायः दृष्टिगत नहीं होता; पर लिखित भाषा में यदि जान-बूझ कर हिन्दुस्तानी न लिखी जाय तो यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार आदर्श भाषा हिन्दी खड़ी बोली के तीन रूप प्रचलित हैं—(१) मौखिक रूप—जिसमें विभिन्न स्थानों पर केवल प्रादेशिकता की छाप रहती है। (२) लिखित उर्दू रूप—जिसमें खड़ी बोली का व्याकरण मात्र रहता है, शेष के लिए अरबी, फारसी और तुर्की का सहारा लिया जाता है। तथा, (३) लिखित हिन्दी रूप—जिसमें संस्कृत के शब्द अधिक रहते हैं।

परिवार-क्षेत्र में भी उसका प्रयोग सार्वजनिक कामों में होने लगता है तो वह राष्ट्र भाषा का पद पा जाती है। हिन्दी को धीरे-धीरे भारतवर्ष में लगभग यही स्थान प्राप्त हो रहा है। वह अपने परिवार के अहिन्दी प्रान्तों (राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल आदि) तथा अन्य परिवार के प्रान्तों (मद्रास आदि) में भी धीरे-धीरे व्यवहार में आ रही है। पूरे यूरोप में कुछ दिन तक फ्रेंच को भी यही स्थान प्राप्त था। कुछ तो आज भी है। व्यापार आदि के क्षेत्र में अँग्रेज़ी आज विश्व की राष्ट्र-भाषा या विश्व भाषा है। किसी बोली की उन्नति की चरम सीमा उसका किसी रूप में विश्व भाषा होना ही है।

(५) विशिष्ट भाषा

व्यवसाय या कार्य के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्गों की अलग-अलग भाषाएँ हो जाती हैं। ये भाषाएँ आदर्श भाषा के ही विभिन्न रूप हैं, जो अधिकतर शब्द-समूह, मुहावरे तथा प्रयोग आदि में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। कभी-कभी उच्चारण संबंधी अंतर भी दिखाई देता है। विद्यार्थियों की भाषा या छात्रालय की भाषा, व्यापारियों की भाषा, सोने-चाँदी की दलाली करने वालों की भाषा, कहारों की भाषा,* धार्मिक संघों की भाषा, राजनैतिक संस्थाओं की भाषा तथा साहित्यिक गोष्ठियों की भाषा इसी अर्थ में विशिष्ट हैं। किसी पर अंग्रेज़ी का प्रभाव अधिक रहता है तो किसी पर संस्कृत का और किसी-किसी पर गाँव की बोलियों का तो किसी पर गूढ़ या पारिभाषिक शब्दों का।

(६) कृत्रिम भाषा

भाषा के ऊपर लिए गए रूप स्वाभाविक रूप से विकसित होकर बनते हैं पर इनके विरुद्ध कृत्रिम भाषा बनाई जाती है। इसके दो रूप किए जा सकते हैं—(क) गुप्त भाषा और (ख) सामान्य भाषा। यहाँ हम दोनों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

(क) गुप्त भाषा

गुप्त भाषा का प्रयोग प्रायः चोरों, डाकुओं, क्रांतिकारियों तथा लड़कों आदि में होता है। एक अंग्रेज ने उत्तर प्रदेश के जरायम पेशावालों की भाषा का अध्ययन किया था। ये लोग कुछ शब्दों को तोड़-मरोड़ कर तथा कुछ सामान्य शब्दों को नए अर्थों में प्रयोग कर अपनी गुप्त भाषा इस प्रकार की बनाते हैं, जिनको दूसरे समझ न सकें। इस प्रकार के कुछ उदाहरण बड़े मनोरंजक हैं।

---

* दे० 'हिन्दी अनुशीलन' में लेखक का 'कँहारों की शब्दावली' शीर्षक लेख।

शब्द या प्रयोग	अर्थ
दामोदर	उदर या फेटे में दाम या धन है।
नारायण	नाले में ले चलो या नाले में है।
बासदेव	डंडे से मारो
परसाद दो	ज़हर दो
पूजा करो	पीटो
अमर करो	मार डालो

भारत के आज़ाद होने के पूर्व यहाँ के आतंकवादियों एवं क्रांतिकारियों में भी इस प्रकार की कुछ गुप्त भाषाएँ तथा लिपियाँ प्रचलित थीं। इन पंक्तियों के लेखक को भी इस जीवन का कुछ अनुभव है। मुझे याद है कि एक नेता को एक बार बुलाने के लिए उन्हें तार में केवल 'ऐब्सेंट' (absent = अनुपस्थित) लिखा गया था और वे पूर्व निर्णय के अनुसार आ गए थे।

लड़कों में गुप्त भाषा की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। मेरी बाल्यावस्था में मेरे ही साथियों में ऐसी चार गुप्त बोलियाँ प्रचलित थीं। उनमें कम से कम एक तो ऐसी थी कि उसमें दो लड़के एक-एक घंटे तक बात कर सकते थे और अन्य सुनने वाले उससे कुछ भी नहीं समझ पाते थे। वह है—

राकस्तूरी पंजा बीरे मकस्तूरी मासा = राम

गक्स्तूरी पंजा बीरे याक्स्तूरी मासा = गया

यहाँ इन दोनों स्थानों पर अक्षर-अक्षर जोड़ कर शब्द और वाक्य बनाए जाते थे।

कुछ लोग र् और म् लगाकर बोलते थे, पर, यह भाषा सुरक्षित नहीं समझी जाती थी। जैसे

करम्यों जरमा ररमहे हरमो = क्यों जा रहे हो?

या

मरमैं खरमाना खरमा करमर अरमाऊँ गरमा = मैं खाना लाकर आऊँगा।

सबसे आसान रास्ता 'फुल' लगाकर था।

फुलभो फुलला फुलना फुलथ = भोलानाथ

इलाहाबाद के समीप के कुछ गाँवों में 'अफ़' लगाकर गुप्तरूप से बोलने का प्रचार है। जैसे

'हम बात अही' के लिए 'हफ़म जफ़ात अफ़ही'

या

'तू आज आया' के लिए 'तुफ़ू अफ़ाज अफ़ाया'

शब्दों में अक्षर उलट कर या हर अक्षर के बाद 'स' या अन्य अक्षर रखकर भी गुप्त भाषाओं का निर्माण लोग करते हैं।

कभी-कभी गुप्त भाषाओं की अलग लिपि भी होती है। एक लिपि मेरे देखने में भी आई थी जो बँगला, अंग्रेज़ी, उर्दू, और नागरी के आधार पर थी।

चले आना = চ A ل E A न A

(ख) सामान्य भाषा

कृत्रिम भाषा के प्रथम रूप 'गुप्त भाषा' में हमने देखा कि भाषाएँ स्वाभाविक रूप से विकसित न होकर बनाई रहती हैं। सामान्य कृत्रिम भाषा और गुप्त कृत्रिम भाषा में अंतर यह है कि गुप्त भाषा गुप्त व्यवहार या बात के लिए बनती है, अतः प्रचलित भाषा से अधिकाधिक दूर रखी जाती है ताकि कोई समझ न सके, पर सामान्य में यह बात नहीं रहती। वह प्रचलित भाषा से मिलती-जुलती और ऐसी बनाई जाती है कि यथाशीघ्र लोग उसे समझ कर उसका प्रयोग कर सकें।

डॉ० ज़मेनहाफ की बनाई एसपिरेंतो* भाषा ऐसी भाषाओं में सर्व प्रसिद्ध है। यह संसार भर के लिए बनाई गई थी। डॉ० सुंदरलाल की हिन्दुस्तानी† भी कुछ (बिल्कुल नहीं) इसी प्रकार की भाषा है।

कृत्रिम भाषाएँ प्रचलित नहीं हो सकतीं। इसका कारण यह है कि वे स्वाभाविक और जीवित नहीं होतीं।

---

* आगे परिशिष्ट में इसका विशेष विवरण दिया गया है।

† इसके उदाहरण उनकी पत्रिका 'जयहिन्द' में देखे जा सकते हैं।

अध्याय ३

संसार की भाषाएँ और उनका वर्गीकरण

संसार में अनेकानेक भाषाएँ तथा बोलियाँ हैं। लोकोक्ति है—

चार कोस पर पानी बदले, आठ कोस पर बानी।

अर्थात् पानी का स्वाद हर चौथे कोस पर कुछ न कुछ बदल जाता है और भाषा आठवें कोस पर कुछ न कुछ परिवर्तित हो जाती है। सोचने की बात है कि जब हर आठ कोस पर भाषा में कुछ न कुछ परिवर्तन दृष्टिगत होने लगता है तो इतने लंबे-चौड़े संसार में कितनी अधिक भाषाएँ और बोलियाँ होंगी। गणना करने वालों ने बतलाया है कि इनकी संख्या २७९६ है।

संसार की इन २७९६ भाषाओं और बोलियो में कुछ अत्यन्त प्रधान भाषाओं और बोलियों के विषय में आगे हम विचार करेंगे। यहाँ पहले उनको वर्गीकृत करने की समस्या पर विचार करना है।

संसार की भाषाओं का वर्गीकरण कई आधारों पर किया जा सकता है, जिनमें प्रधान निम्नांकित हैं—

(१) **महाद्वीप के आधार पर**—जैसे एशियाई भाषाएँ, यूरोपीय भाषाएँ तथा अफ्रीकी भाषाएँ आदि।

(२) **देश के आधार पर**—जैसे चीनी भाषाएँ तथा भारतीय भाषाएँ आदि।

(३) **धर्म के आधार पर**—जैसे मुसलमानी भाषाएँ, हिंदू भाषाएँ तथा ईसाई भाषाएँ आदि।

(४) **काल के आधार पर**—जैसे प्रागैतिहासिक भाषाएँ, प्राचीन भाषाएँ, मध्य-युगीन भाषाएँ तथा आधुनिक भाषाएँ आदि।

(५) **भाषाओं की आकृति के आधार पर**—जैसे अयोगात्मक तथा योगात्मक भाषाएँ।

(६) **परिवार के आधार पर**—जैसे भारोपीय परिवार की भाषाएँ, **एकाक्षर** परिवार की भाषाएँ या द्रविड़ परिवार की भाषाएँ आदि।

वर्गीकरण के •उपर्युक्त छः आधारों में भाषा-विज्ञान की दृष्टि से या भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से अंतिम दो (**अर्थात् आकृति के आधार पर** तथा **परिवार के आधार पर**) आधारों पर किये गये वर्गीकरण ही काम के तथा महत्व-पूर्ण हैं। इन दोनों आधारों पर किये गये वर्गीकरण क्रमशः

(क) आकृति मूलकवर्गीकरण

तथा (ख) पारिवारिक वर्गीकरण

कहे जाते हैं।

इन दोनों वर्गीकरणों के अन्तर को मोटे रूप में समझकर इन पर विस्तार से विचार किया जायगा।

जैसा कि आगे चलकर हम लोग देखेंगे, किसी वाक्य का अर्थ हम दो चीज़ों के कारण समझते हैं। एक है 'अर्थतत्व' और दूसरा 'संबंधतत्व'। 'राम ने रावण को मारा' इस वाक्य में 'राम' 'रावण' तथा 'मारना' ये तीन अर्थतत्त्व हैं और 'के', 'को' तथा मारा का 'आ' ये तीन सम्बन्ध तत्त्व या पद-रचना के तत्त्व हैं। अर्थात् इन्हीं तीनों के कारण उन अर्थतत्वों का आपस में सम्बन्ध स्पष्ट होता है कि राम ने मारा, रावण ने नहीं और रावण मारा गया, राम नहीं, तथा वर्तमान काल में नहीं मारा गया, बल्कि भूतकाल में। कुछ और उदाहरणों से इन दोनों के भेद और स्पष्ट हो जावेंगे। करना, खोना, रोना, सोना, या उससे, तुमसे, राम से, या आया, गया, खोया, धोया, आदि में अर्थतत्त्व अर्थात् अर्थ या भाव तो भिन्न-भिन्न हैं, पर, प्रथम चार में संबंध तत्त्व या पद रचना की समानता है अर्थात् सभी में 'ना' है। इसी प्रकार दूसरे तीन में भी सब के अंत में 'से' है तथा तीसरे चार में सब के अंत में 'या' है, अतएव इन दूसरे तीन तथा तीसरे चार में भी सम्बन्धतत्त्व या पदरचना का समानता है। दूसरी ओर खाकर, खाया, खाता, खा, खायेगा तथा खाय में सम्बन्धतत्त्व या पद-रचना की भिन्नता है पर अर्थ-तत्त्व की समानता है अर्थात् खाने का भाव सभी में है।

संबन्धतत्त्व या पद-रचना* की समानता पर आधारित भाषाओं का वर्गीकरण

* साथ ही वाक्य-रचना भी।

आकृतिमूलक कहलाता है तथा अर्थतत्त्व की समानता पर आधारित वर्गीकरण पारिवारिक।

(क) आकृतिमूलक वर्गीकरण (Morphological Classification)*

आकृतिमूलक वर्गीकरण का आधार—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इस वर्गीकरण का आधार संबन्ध तत्त्व या शैली है। शैली से हमारा तात्पर्य वाक्य और रूप बनाने की शैली से है। इस प्रकार प्रस्तुत वर्गीकरण में दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है--

(१) प्रथमतः, वाक्य में शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार प्रकट किया गया है ? उदाहरण के लिये यदि हम "मैंने भोजन किया" वाक्य लें तो 'मैं' 'भोजन' और 'करना' अर्थतत्त्वों का संबन्ध एक दूसरे से किस प्रकार प्रकट किया गया है, या वे एक दूसरे से किस प्रकार बाँधे गये हैं।

(२) दूसरे, 'मैंने' 'भोजन' और 'किया' ये तीनों शब्द किस प्रकार धातु प्रत्यय या उपसर्ग लगा कर बनाये गये हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वाक्य-विज्ञान और रूप-विज्ञान या वाक्य-रचना एवं रूप या पद-रचना पर ही यह वर्गीकरण आधारित है।

आकृतिमूलक वर्गीकरण के भेद—आकृतिमूलक वर्गीकरण के हिसाब से भाषाएँ पहले दो वर्गों में बाँटी जाती हैं—

(१) अयोगात्मक भाषाएँ (Isolating Languages) †

(२) योगात्मक भाषाएँ (Agglutinative Languages) ‡

फिर इन दोनों के भेद-विभेद होते हैं।

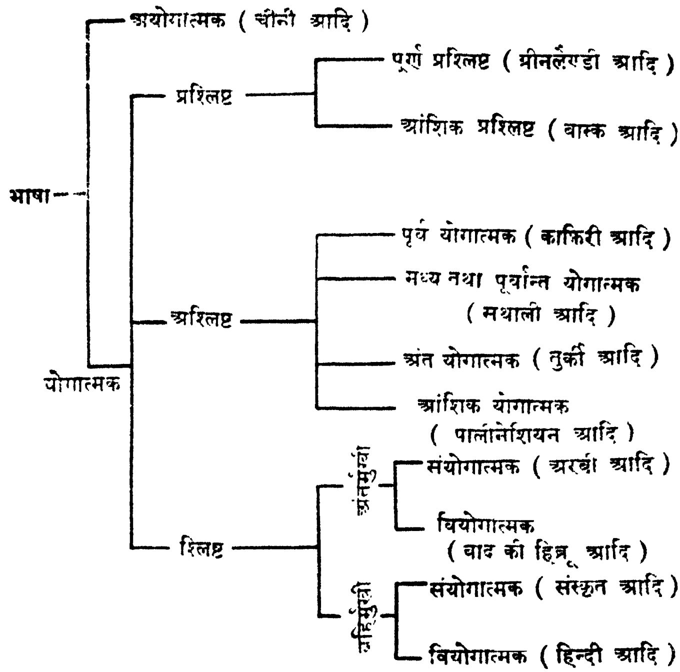
---

* यह वर्गीकरण रूपात्मक, रूपाश्रित, वाक्य-मूलक (Syntactical) वाक्यात्मक अथवा पदात्मक भी कहा जा सकता है, क्योंकि इसके लिए शब्द-रूप (या पद) तथा वाक्य की गठन आदि पर ही विचार करना पड़ता है। भाषा की आकृति, उसकी गठन, सम्बन्ध-तत्त्व या पद रचना पर आधारित होने के कारण इस वर्गीकरण का महत्व पारिवारिक वर्गीकरण से अधिक है।

† इन भाषाओं को स्थान-प्रधान (Positional), निरवयव (Inorganic) विकीर्ण, अलगन्त या निपात-प्रधान भी कहा जाता है।

‡ इन्हें सावयव (Organic) भी कहते हैं।

आकृतिमूलक वर्गीकरण के आधार पर बनाये गये भाषाओं के वर्गों और उपवर्गों या भेदों-विभेदों को इस प्रकार दिखाया जा सकता है—



अब इन पर कुछ विस्तार से विचार किया जा सकता है।

(१) **अयोगात्मक भाषाएँ**—जैसा कि 'अयोग' शब्द से स्पष्ट है, इस वर्ग की भाषाओं में 'योग' नहीं रहता। अर्थात् शब्दों में उपसर्ग या प्रत्यय आदि जोड़कर अन्य शब्द या वाक्य में प्रयुक्त होने योग्य रूप नहीं बनाए जाते। उदाहरणार्थ संस्कृत में 'राम' में 'आ' प्रत्यय जोड़कर 'रामेण' बनाया जाता है या हिंदी में 'मुझे दो' वाक्य में प्रयोग करने के लिये 'मैं' में कुछ जोड़-घटाकर 'मुझे' बनाना पड़ता है, पर अयोगात्मक भाषाओं में इस प्रकार के योग की आवश्यकता नहीं पड़ती। उनमें किसी भी शब्द में कोई परिवर्तन नहीं होता। वाक्य में स्थान के अनुसार शब्दों का अर्थ लगा लिया जाता है। इसीलिये इन भाषाओं को 'स्थान-प्रधान' भी कहते हैं।

हिन्दी में भी कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें शब्दों में विकार नहीं होता

और स्थान बदलने से अर्थ बदल जाता है। (यद्यपि ऐसे उदाहरण अपवाद से हैं।) 'राधा सीता कहती है' तथा 'सीता राधा कहती है' इन दोनों वाक्यों में शब्द बिल्कुल एक हैं। उनमें कोई भी परिवर्तन नहीं है पर राधा और सीता का स्थान बदल देने से अर्थ पूर्णतः उलट गया है।

अयोगात्मक भाषा का सर्वोत्तम उदाहरण चीनी भाषा है। चीनी भाषा में व्याकरण नाम की कोई अलग चीज़ नहीं होती। वाक्य में एक ही शब्द स्थान और प्रयोग के अनुसार संज्ञा, विशेषण, क्रिया, और क्रिया-विशेषण आदि हो सकता है और तिस पर भी शब्दों में किसी प्रकार का विकार या परिवर्तन नहीं होता। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं।

(१) 'ता लेन' = बड़ा आदमी
'लेन ता' = आदमी बड़ा (है)

(२) 'न्गो त नि' = मैं मारता हूँ तुमको।
'नि त न्गो' = तुम मारता है मुझको।

यहाँ तक कि विभिन्न काल के क्रिया के रूप बनाने में भी शब्दों में परिवर्तन नहीं होता। उदाहरणार्थ हिन्दी में 'चलना' का भूतकाल 'चला' बनेगा, जो देखने में 'चलना' से भिन्न है। पर, पुरानी चीनी में

त्सेन (Tsen) = चलना का भूतकाल बनाने के लिये इसके आगे लिओन (Lion) जिसका अर्थ 'समाप्त' है रख देगें।

त्सेन लिओन = चला (शाब्दिक अर्थ 'चलना समाप्त')

कहना न होगा कि दोनों ही में 'त्सेन' का रूप एक है। आगे दूसरा शब्द-मात्र आने से काल-परिवर्तन हो गया। मूल शब्द में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और न कोई जोड़ना घटाना ही अपेक्षित हुआ।

इसी प्रकार

त लइ (Ta Lai) = वह आता है।

त लइ लिआव (Ta Lai Liao) = वह आया।

यहाँ यह भी स्पष्ट है कि इन भाषाओं में प्रत्येक शब्द की अलग-अलग सम्बन्ध-तत्त्व तथा अर्थतत्त्व व्यक्त करने की शक्ति होती है और वाक्य में स्थान के अनुसार ही उनके ये तत्व जाने-जाते हैं। ऊपर के उदाहरणों में लिओन (Lion) का अर्थ-तत्व है 'खतम करना' पर यहाँ वह संबन्ध-तत्व हो गया है और भूतकाल का भाव व्यक्त करता है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में लिआव (Liao) का अर्थतत्व है

'पूर्ण' या 'पूर्णता' पर यहाँ वह सम्बन्ध-तत्व हो गया है और भूतकाल का भाव व्यक्त कर रहा है। इस प्रकार वहाँ शब्दों के सम्बन्ध-तत्व तथा अर्थ-तत्व रूप में दो अर्थ होते हैं। उदाहरण के लिये एक शब्द 'य' लें। इसका अर्थ-तत्व रूप में अर्थ है 'प्रयोग' पर सम्बन्ध-तत्व रूप में 'से'। इसी प्रकार 'त्सि' का अर्थ-तत्व का अर्थ है 'स्थान', पर संबन्ध-तत्व का 'का'।

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि अयोगात्मक भाषाओं में संबन्ध-तत्व का बोध शब्दों में कुछ जोड़कर (जैसे हिन्दी में 'मैं' से 'मैंने') या कुछ भीतरी विकार या परिवर्तन लाकर (जैसे 'मैं' से 'मुझे') नहीं कराया जाता, अपितु सम्बन्ध तत्व-बोधक ('लिओन' या 'लिआव' आदि) शब्दों को स्थान विशेष पर रख कर।

चीनी के अतिरिक्त अफ्रीका की सूडानी, तथा एशिया की मलय, अनामी, बर्मी, स्यामी तथा तिब्बती आदि भाषाएँ भी लगभग इसी प्रकार की हैं।

(२) **योगात्मक भाषाएँ**—अयोगात्मक भाषाओं में अर्थ-तत्व तथा संबन्ध-तत्व में योग नहीं होता। या तो सम्बन्ध-तत्व की आवश्यकता ही नहीं होती, केवल स्थान-क्रम से ही सम्बन्ध का पता चल जाता है या सम्बन्ध-तत्व रहता भी है तो वह अर्थ-तत्व से मिलता नहीं। इसके विरुद्ध योगात्मक भाषाओं में संबन्ध-तत्व और अर्थ-तत्व दोनों में योग हो जाता है अर्थात् मिले-जुले रहते हैं। 'मेरे घर आना' हिन्दी का एक वाक्य लें। इसमें 'मेरे' में अर्थ-तत्व (मैं) तथा संबन्ध तत्व (संबन्धवाचकता प्रकट करने वाली प्रत्यय जिसके कारण 'मेरे' शब्द बना है और जिसके कारण इसका अर्थ 'मैं का' हुआ है) दोनों मिले-जुले हैं। संस्कृत का एक वाक्य 'रामः हस्तेन धन ददाति' (राम हाथ से धन देता है) लें। इसमें राम (अर्थ-तत्व)+अः (सम्बन्ध-तत्व), हस्त (अर्थ-तत्व)+एन (सम्बन्ध-तत्व), धन (अर्थ-तत्व)+अम् (सम्बन्ध-तत्व) तथा दा (=देना, अर्थतत्व)+ति (सम्बन्ध-तत्व) मिले हैं, या इन अर्थतत्वों और सम्बन्ध-तत्वों में 'योग' है। इस योग के कारण ही ये भाषाएँ योगात्मक कही जाती हैं। संसार की अधिकांश भाषाएँ योगात्मक हैं।

योगात्मक भाषाओं को योग की प्रकृति के आधार पर तीन वर्गों में रखा गया है—

(क) प्रश्लिष्ट-योगात्मक (Incorporating) *

(ख) अश्लिष्ट-योगात्मक (Simple Agglutinative)

---

* बहुसंश्लेषात्मक (Polysynthetic) या अव्यक्त-योगात्मक (Holophrstic) भी इसी के नाम हैं।

(ग) श्लिष्ट-योगात्मक (Inflacting)

स्पष्टता के लिए इन तीनों विभागों पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

(च) प्रश्लिष्ट-योगात्मक भाषाएँ—प्रश्लिष्ट-योगात्मक भाषाओं में संबन्ध-तत्व तथा अर्थ-तत्व का योग इतना मिला-जुला होता है, कि उन्हें अलग-अलग न तो पहचाना जा सकता है और न एक को दूसरे से अलग ही किया जा सकता है। जैसे संस्कृत 'ऋतु', से 'आर्तव' या 'शिशु से 'शैशव'। प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं के भी दो भेद किये गए हैं। एक में योग पूर्ण रहता है और दूसरे में आंशिक या अपूर्ण। ये दोनों भेद इस प्रकार हैं—

(क) पूर्ण प्रश्लिष्ट-योगात्मक भाषाएँ (Completely Incorporative)—इन भाषाओं में संबन्धतत्व और अर्थतत्व का योग इतना पूर्ण रहता है कि पूरा वाक्य लगभग एक ही शब्द बन जाता है। इस प्रकार की भाषा की सब से बड़ी विशेषता यह होती है कि वाक्य में पूरे शब्द नहीं आते, बल्कि उनका कुछ अंश छूट जाता है और इस प्रकार आधे-आधे शब्दों के संयोग से बना हुआ लम्बा-सा शब्द ही वाक्य हो जाता है। ग्रीनलैंड तथा अमेरिका के मूल निवासियों की भाषाएँ इसी प्रकार की हैं। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं—

(१) दक्षिणी अमरीका की चेरोकी भाषा में—

नातन = लाओ

अमोखोल = नाव

निन = हम

इन शब्दों से वाक्य बनाने में शब्द अपना थोड़ा-थोड़ा अंश छोड़ कर ऐसे मिलते हैं कि एक बड़ा-सा शब्द बन जाता है—'नाधोलिनिन' (= हमारे पास नाव लाओ)

(२) इसी प्रकार ग्रीनलैंड की भाषा में भी—

अउलिसर् = मछली मारना

पेअर्तोर = किसी काम में लगना

पिन्नेसुअर्पोक् = वह शीघ्रता करता है

इन तीनों से मिलकर एकशब्दीय वाक्य बनता है—

'अउलिसरिअर्तोरसुअर्पोक्' (= वह मछली मारने के लिये जल्दी जाता है)

(ख) आंशिक प्रश्लिष्ट-योगात्मक भाषाएँ (Partly Incorporative)—इन

भाषाओं में सर्वनाम तथा क्रियाओं का ऐसा सम्मिश्रण हो जाता है कि क्रिया अस्तित्व-हीन होकर सर्वनाम की पूरक हो जाती है। पेरीनीज़ पर्वत के पश्चिमी भाग में बोली जाने वाली भाषा बास्क कुछ अंशों में आंशिक प्रश्लिष्ट योगात्मक है। इससे दो उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

दकारकिओत = मैं इसे उसके पास ले जाता हूँ।
नकारसु = तू मुझे ले जाता है।
हकारत = मैं तुझे ले जाता हूँ।

इन वाक्यों में केवल सर्वनाम और क्रियाएँ हैं। पूर्ण प्रश्लिष्ट की भाँति आंशिक प्रश्लिष्ट में संज्ञा, विशेषण, क्रिया, और अव्यय आदि सभी का योग संभव नहीं होता।

भारोपीय परिवार की भाषाओं में भी इसके कुछ उदाहरण मिल जाते हैं—
गुजराती में—'मे कह्युं जे' का 'मकुंजे' (= मैंने वह कहा)
मेरठ की बोली में—'उसने कहा' का 'उन्नेका'

अँग्रेजी, बँगला, फ्रेंच तथा भोजपुरी आदि अन्य बहुत-सी भाषाओं तथा बोलियों के मौखिक रूप में भी इसके उदाहरण मिल जाते हैं पर ये अपवाद ही हैं। इसका आशय यह नहीं कि ये भाषाएँ आंशिक प्रश्लिष्ट हैं। बांटू भाषा में भी इसके उदाहरण मिलते हैं।

इस संदर्भ में एक बात स्मरणीय है संसार की कोई भी भाषा विशुद्ध रूप से आंशिक प्रश्लिष्ट योगात्मक नहीं है।

(ब) **अश्लिष्ट-योगात्मक भाषाएँ**—अश्लिष्ट-योगात्मक भाषाओं में संबन्ध-तत्व (प्रत्यय) अर्थतत्व से इस प्रकार जुड़ा होता है कि तिलतंडुलवत दोनों ही स्पष्ट रूप से दीखते हैं। हिन्दी इस प्रकार की भाषा नहीं है, पर उसमें से समझने के लिए कुछ उदाहरण खोजे जा सकते हैं—

सुन्दरता (सुन्दर + ता)
मैंने (मैं + ने)
करेगा (करे + गा)

इन सभी में दोनों तत्व (अर्थ तथा संबन्ध) स्पष्ट हैं। इस स्पष्टता के कारण इस प्रकार की भाषाओं की रूप रचना बहुत ही आसान होती है। भाषा-वैज्ञानिकों की आदर्श और कृत्रिम भाषा 'एसपिरेंतो' का निर्माण इसी आधार पर हुआ है।

अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं को भी कई वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) पूर्व-योगात्मक (Prefix Agglutinative)—इन भाषाओं में प्रत्यय के स्थान पर उपसर्ग का प्रयोग होता है। शब्द वाक्य के अंतर्गत बिल्कुल अलग-अलग रहते हैं। शब्दों की रूप-रचना में सम्बन्धतत्व केवल आरंभ में लगता है, इसी कारण ये 'पूर्व-योगात्मक' कही जाती हैं। अफ्रीका की बंटू भाषाओं में यह विशेषता स्पष्ट रूप से पायी जाती है।

उदाहरण लीजिए—

जुलू भाषा में

उमु = एकवचन का चिह्न
अब = बहुवचन का चिह्न
न्तु = आदमी
न्गा = से

इनके योग से शब्द बनते हैं—

उमुन्तु = एक आदमी
अबन्तु = कई आदमी
न्गाउमुन्तु = आदमी से
न्गाअबन्तु = आदमियों से

कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सभी उदाहरणों में योग ('नी' 'उमु' या 'अब' आदि सम्बन्ध-तत्व) आरम्भ में हैं। इसी प्रकार काफिर भाषा में भी—

कु = संप्रदान कारक का चिह्न
ति = हम
नि = उन

इनके योग से

कुति = हमको
कुनि = उनको

यहाँ जुलू का एक वाक्य भी देखा जा सकता है। ऊपर उमु, अब तथा न्तु का अर्थ हम दे चुके हैं। इनके अतिरिक्त

तु = हमारा
चिल = सुन्दर
यबोनकल = देख पड़ना

इनके मिलाने से एक बचन में—

उमुन्तु बेतु ओमुच्ले उयबोतकल = हमारा आदमी देखने में भला है।

इसका बहुवचन केवल आरंभिक अंश में परिवर्तन करने से हो जाता है—

अबन्तु बेतु अबचले बयनोकल = हमारे आदमी देखने में भले हैं।

(ख) **मध्य-योगात्मक** (Infix Agglutinative)—इसके उदाहरण भारत की तथा हिंद महासागर के द्वीपों से लेकर अफ्रीका के समीप के मैडागास्कर आदि द्वीपों तक फैली भाषाओं में मिलते हैं। इनमें प्रायः शब्द दो अक्षरों के होते हैं और जैसा कि नाम (मध्ययोगात्मक) से स्पष्ट है सम्बन्ध-तत्त्व दोनों अक्षरों के बीच में रक्खे या जोड़े जाते हैं।

मुंडा कुल की संथाली भाषा में 'मंझि' (= मुखिया) और 'प' (बहुबचन का चिह्न) के योग से—

मपंझि = मुखिया लोग

यहाँ 'प' बीच में जोड़ा गया है।

इसी प्रकार दल् (= मारना) से दपल (= परस्पर मारना)

अपवाद स्वरूप मध्ययोगात्मकता के बंटू भाषा में भी कुछ उदाहरण मिलते हैं—

सि – तन्दा = हम प्यार करते हैं।

सि – म – तन्दा = हम उसे प्यार करते हैं।

सि – ब – तन्दा = हम उन्हें प्यार करते हैं।

इसी प्रकार तुर्की में भी कुछ मध्य योग के उदाहरण हैं—

सेव्मेक् = प्यार करना

सेव्इनमेक् = अपने को प्यार करना

सेव्इलमेक् = प्यार किया जाना

कहना न होगा कि बंटू तथा तुर्की के इन उदाहरणों में शब्द दो अक्षरों से अधिक के हैं, इसीलिए ये मध्य-योगात्मक अश्लिष्ट भाषा के शुद्ध उदाहरण नहीं हैं।

(ग) **पूर्वान्त-योगात्मक**—इस श्रेणी की भाषाओं में सम्बन्ध-तत्त्व अर्थतत्त्व के आगे और पीछे या पूर्व और अन्त में लगाया जाता है, इसीलिए इन्हें 'पूर्वान्त-योगात्मक' कहते हैं।

न्युगिनी की मफोर भाषा में

'मनफ' = सुनना

ज़ – म्नफ – उ = मैं तेरी बात सुनता हूँ।

(यहाँ पूर्व में 'ज़' और अन्त में 'उ' जोड़ा गया है।)

मध्ययोगात्मकता तथा पूर्वान्त-योगात्मकता के उदाहरण कई भाषाओं में साथ-साथ भी मिलते हैं। पूर्व योगात्मकता के बारे में भी यह सत्य है।

(घ) **अन्त-योगात्मक** (Suffix agglutinative)—इस वर्ग की भाषाओं में सम्बन्धतत्व केवल अन्त में जोड़ा जाता है। यूरालअल्टाइक तथा द्राविड़ परिवार की भाषाएँ ऐसी ही हैं। यहाँ कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं--

तुर्की

एव = घर

एवलेर = कई घर

एवलेरइम = मेरे घर

कन्नड़

'सेवक' शब्द का बहुवचन में विभिन्न कारकों में रूप

कर्ता कारक में—सेवक-रु

कर्म ,, ,,—सेवक-रन्नु

करण ,, ,,—सेवक-रिंद

संप्रदान,, ,,—सेवक-रिगे आदि

इसी प्रकार हंग्री की भाषा में—

ज़ार = बन्द करना

ज़ारत् = बन्द करवाता है।

ज़ारत्गत् = अधिकतर बन्द करवाता है।

(ङ) **आंशिक-योगात्मक** (Partially agglutinative)—योगात्मक शाखा के अश्लिष्ट वर्ग की अन्तिम उपशाखा आंशिक-योगात्मक भाषाओं की है। इस वर्ग की भाषाएँ यथार्थतः योगात्मक और अयोगात्मक वर्ग के बीच में पड़ती हैं। इन भाषाओं में योग और अयोग दोनों के ही चिह्न मिलते हैं। पर ये भाषाएँ योगात्मक भाषाओं और उनमें भी अश्लिष्ट भाषाओं से कुछ समानता रखती हैं अतः इनको आंशिक (अश्लिष्ट) योगात्मक नाम दिया गया है।

न्यूज़ीलैंड तथा हवाई द्वीप की भाषाएँ आंशिक योगात्मक हैं।

(ञ) **श्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ**—श्लिष्ट-योगात्मक भाषाओं में सम्बन्धतत्व (प्रत्यय) को जोड़ने के कारण अर्थतत्त्व वाले भाग में भी कुछ विकार पैदा हो जाता है, परन्तु संबंधतत्त्व की झलक अलग ही मालूम पड़ती है। रूप विकृत हो जाने पर भी संबंधतत्त्व छिपा नहीं रहता। जैसे अरबी में क्-त्-ल् (=मारना) धातु से क़तल (=ख़ून), क़ातिल (=मारने वाला), क़िल्ल (=शत्रु) तथा यक़्तुलु (=वह मारता है) आदि। इसी प्रकार संस्कृत में **वेद, नीति, इतिहास** तथा **भूगोल,** से **वैदिक, नैतिक, ऐतिहासिक** और **भौगोलिक** आदि। संस्कृत के उदाहरणों में स्पष्ट है कि अन्त में 'इक' लगा है पर साथ ही आरम्भ के 'वे', 'नी', 'इ' तथा 'भू' में विकार आ गया है और वे 'वै', 'नै', 'ऐ' तथा 'भौ' हो गये हैं।

इस वर्ग की भाषाएँ संसार में सब से अधिक उन्नत हैं। सामी, हामी और भारोपीय परिवार इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं।

श्लिष्ट-योगात्मक भाषाओं के भी दो उपवर्ग किये जाते हैं—(क) **अन्तर्मुखी** और (ख) **बहिर्मुखी**। यह विभाजन बहुत समीचीन नहीं है और न पूर्णतया लागू ही होता है, किन्तु आंशिक रूप से इसकी सत्यता अस्वीकार नहीं की जा सकती।

यहाँ दोनों पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है—

(क) **अन्तर्मुखी-श्लिष्ट** (Internal Inflectional)

इस विभाग की भाषाओं में जोड़े हुये भाग मूल (अर्थ-तत्त्व) के बीच में बिल्कुल घुलमिल कर रहते हैं। सेमेटिक और हेमेटिक कुल की भाषाएँ इसी विभाग की हैं। अरबी भाषा इसके लिए उदाहरण स्वरूप ली जा सकती है। अरबी में धातु प्रायः तीन व्यंजनों की (सुलासी) होती है। संबंधतत्त्व प्रधानतः स्वर होता है जो व्यंजनों के साथ घुलमिल कर रहता है। आशय स्पष्ट करने के लिए हम क्-त्-ब् धातु को लेते हैं, जिसका अर्थ 'लिखना' होता है। इससे निम्न शब्द बने हैं—

कातिब = लिखने वाला।
किताब = जो लिखा (या लिखी) गया हो।
कुतुब = बहुत-सी किताबें।

यहाँ क्-त्-ब् व्यंजन तीनों में हैं पर बीच-बीच में विभिन्न स्वरों के आने से अर्थ बदलता गया है।

इस अन्तर्मुखी के भी दो भेद हैं—

(१) **संयोगात्मक** (Synthetic)—अरबी आदि सेमेटिक भाषाओं का पुराना

रूप संयोगात्मक था। शब्दों में अलग से सहायक सम्बन्ध तत्त्व लगाने की आवश्यकता न थी।

(२) **वियोगात्मक** (Analytic)—आज इन भाषाओं में शब्द साधारणतया बनते तो उसी प्रकार हैं पर वाक्य की दृष्टि से वियोगात्मकता आ गई है, क्योंकि सहायक शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। बाद की हिब्रू भाषा में यह बात विशेष रूप से दिखाई पड़ती है।

(ख) **बहिर्मुखी-श्लिष्ट** (External Inflectional)

इस विभाग की भाषाओं में जोड़े हुए भाग प्रधानतः मूल भाग (अर्थ-तत्त्व) के बाद आते हैं। जैसे संस्कृत में गम् धातु से 'गच्छ्+अ+न्ति=गच्छन्ति (=जाते हैं)। भारोपीय परिवार की भाषाएँ इसी विभाग में आती हैं।

इसके भी दो भेद किये जा सकते हैं—

(१) **संयोगात्मक**—भारोपीय परिवार की पुरानी भाषाएँ (ग्रीक, लैटिन, संस्कृत, अवेस्ता आदि) संयोगात्मक थीं। इनमें सहायक क्रिया तथा परसर्ग आदि की आवश्यकता न थी। शब्द में ही संबंध-तत्त्व लगा रहता था, जैसे संस्कृत में—सः पठति = वह पढ़ता है।

इस परिवार की लिथुआनियन भाषा तो अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण अधिक परिवर्तित न होने से आज भी संयोगात्मक ही है।

(२) **वियोगात्मक**—भारोपीय परिवार की अधिक भाषाएँ आधुनिक काल में वियोगात्मक हो गई हैं। बहुत पहले उनकी विभक्तियाँ धीरे-धीरे घिस कर लुप्तप्राय हो गईं, अतः अलग से शब्द लगाने की आवश्यकता पड़ने लगी और इस आवश्यकता के कारण परसर्ग तथा सहायक क्रिया के रूप में शब्द रखे जाने लगे। ऊपर हम लोग संस्कृत भाषा का 'सः पठति' संयोगात्मक उदाहरण देख चुके हैं। शब्द 'है', वहाँ 'पठति' में ही था, किन्तु अब उसे अलग से (पढ़ता है) लगाने की आवश्यकता पड़ गई है। कारक-चिन्हों के विषय में भी यही बात है।

अँग्रेजी, हिन्दी, बँगला आदि वियोगात्मक भाषाएँ हैं। कुछ लोगों का कथन है कि आधुनिक भारोपीय कुल की वियोगात्मक भाषाएँ पुनः संयोगावस्था की ओर जा रही हैं। सम्भव है अपना वृत्त पूरा कर ये पुनः पूर्ण संयोगात्मक हो जायँ।

ऊपर भाषा के आकृतिमूलक वर्गीकरण को वर्गों, उपवर्गों तथा उसके भेदों-विभेदों के साथ समझाया गया है। स्थान-स्थान पर विभिन्न भाषाओं से उदाहरण भी दिये गए हैं। उदाहरणों का यह आशय नहीं समझना चाहिये कि जिस भाषा से

लिये गये हैं वह भाषा पूर्ण-रूपेण उस विशेष वर्ग, उपवर्ग या उसके भेद-विभेद से संबद्ध है। कोई भी भाषा पूर्णरूपेण, अश्लिष्ट, श्लिष्ट, प्रश्लिष्ट, अयोगात्मक या योगात्मक आदि नहीं कही जा सकती। किसी वर्ग या उपवर्ग के लक्षण किसी भाषा में अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में मिलने पर प्रायः वह भाषा उस वर्ग या उपवर्ग आदि की मान ली जाती है। कहीं-कहीं अपवाद स्वरूप भी किसी वर्ग या उपवर्ग आदि के उदाहरण भाषा मिल गए हैं और उन्हें समझाने के लिये दे दिया गया है। ऐसे स्थलों में स्पष्टता के लिए 'अपवाद-स्वरूप' या इसी भाव के अन्य शब्दों का प्रयोग कर दिया गया है।

(ख)पारिवारिक व र्गीकरण (Geneological classification)

पारिवारिक वर्गीकरण का आधार—आकृतिमूलक समानता (शब्द तथा वाक्य बनाने की शैली की समानता) के अतिरिक्त जब अर्थतत्व या धातु, शब्द-समूह तथा ध्वनि आदि की भी समानता रहती है तो भाषाएँ एक परिवार की मानी जाती हैं। इसके लिये शब्दों की व्युत्पत्ति तथा ऐतिहासिक और तुलनात्मक व्याकरण की सहायता लेनी पड़ती है।

परिवारिक वर्गीकरण को कुछ विद्वान् भ्रामक मानते हैं। उनका कहना है कि व्युत्पत्ति आदि के आधार पर निश्चिततः इस सम्बन्ध में दो-टूक उत्तर नहीं मिलता। पर इतना होने पर भी इस दृष्टि का वर्गीकरण एक हद तक शुद्ध है और बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस वर्गीकरण से भाषाओं के इतिहास, साहित्य तथा संस्कृति की बहुत सी गुत्थियाँ आसानी से सुलझाई जा सकती हैं।

इस वर्गीकरण के लिए शब्द-समूह, व्याकरण और ध्वनि इन तीनों की पूरी तरह छान-बीन करके निष्कर्ष निकालना ठीक होता है। इन तीनों में भी व्याकरण सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि शब्दसमूह और ध्वनि को तो विजातीय प्रभाव भी सरलता से प्रभावित कर सकता है, पर व्याकरण में बाहरी प्रभाव बहुत कम काम कर पाता है।

पारिवारिक वर्गीकरण—मोटे रूप से संसार की भाषाएँ भारोपीय, सेमिटिक, हैमिटिक, चीनी, यूरालअल्टाइक, द्राविड़, मैलेपालीनीशियन, बंटू, मध्यअफ्रीका, आस्ट्रोप्रशान्तीय, तथा शेष इन बारह कुलों में बाँटी गई हैं। पर यह मोटा रूप मात्र है। फ्रेडरिक मूलर आदि विद्वानों का विश्वास है कि इस समय विश्व में लगभग एक सौ भाषा-परिवार हैं। सत्य तो यह है कि अभी संसार भर की भाषाओं का ठीक से अध्ययन ही नहीं हुआ है, अतः इस संबन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा

जा सकता। कुछ विद्वानों का तो यह अनुमान है कि केवल अमरीका में ही एक सौ से अधिक भाषा-परिवार हैं। अफ्रीका की भी लगभग यही दशा है। इन आधारों पर यह अनुमान लगाना अनुचित न होगा कि इस समय दो-ढाई सौ से कम भाषा-परिवार संसार में नहीं है। पर, सामग्री के अभाव में यहाँ हम इतने अधिक परिवारों पर विचार न कर सकेंगे।

भूगोल का भाषा पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है, अतः भूगोल के आधार पर संसार की भाषाओं को कुछ खंडों में बाँट कर चलना अधिक सुविधाजनक होगा। इन खंडों में विभिन्न भाषा-परिवार सम्मिलित हैं, पर, एक खंड की भाषाओं ने आपस में एक दूसरे को काफी प्रभावित किया है, चाहे वे विभिन्न परिवार की ही क्यों न हों, अतः इस दृष्टि से भाषाओं को समझने के लिए भी खंडों में बाँट लेना समीचीन होगा।

भाषा-खंड

विश्व के भाषा-खंडों की संख्या चार है—(१) अफ्रीका-खंड, (२) यूरेशिया खंड (३) प्रशांत महासागरीय खंड, और (४) अमरीका खंड।

इन पर यहाँ अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

(१) अफ्रीका-खंड

अफ्रीका-खंड में प्रधानतः पाँच भाषा-परिवार हैं—(क) बुशमैन, (ख) बन्टू, (ग) सुडान वर्ग, (घ) हैमिटिक या हामी, और (ङ) सैमिटिक या सामी।

(क) बुशमैन

दक्खिणी अफ्रीका में आरेंज नदी से नगामी झील तक बसने वाले मूल निवासी बुशमैन जाति के कहे जाते हैं। इनकी भाषा वहाँ की सबसे प्राचीन भाषाओं में से है। अलग-अलग वर्गों में रहने के कारण इन लोगों में बहुत-सी भाषाएँ और बोलियाँ प्रचलित हो गई हैं। कुछ लोगों का तो यह भी कहना है कि यह कोई एक परिवार नहीं है अपितु कई परिवारों का वर्ग है। इसीलिए कुछ लोग इसे 'बुशमैन परिवार' न कहकर 'बुशमैन वर्ग' कहते हैं। इस वर्ग या परिवार में गीत और कथा के रूप में मौखिक साहित्य भी है। डा० ब्लीक तथा मिस ल्वायड ने इनका साहित्य एकत्र किया है तथा भाषा का अध्ययन किया है। उनका कहना है कि ये भाषाएँ अश्लिष्ट अंत योगात्मक रही हैं, पर अब धीरे-धीरे अयोगात्मक हो रही हैं। इन भाषाओं ने आस-पास के बंटू एवं सुडान परिवारों को काफी प्रभावित किया है। जुलू के ध्वनि-समूह पर भी इनका प्रभाव है। नामा, खोरा आदि होटेन्टोट भाषाएँ भी इसी के अंत-

र्गत हैं, जिन पर हैमिटिक परिवार का प्रभाव अधिक है और संभवतः इसी कारण वे अपनी अलग विशेषताएँ भी रखती हैं।

बुशमैन परिवार की प्रधान विशेषताएँ

(१) इस परिवार की भाषाओं में एक विचित्र प्रकार की ध्वनियाँ पाई जाती हैं, जिन्हें 'क्लिक' या अंतःस्फोटात्मक ध्वनियाँ कहते हैं। साधारण ध्वनियों (वहिस्फोटात्मक) का उच्चारण साँस बाहर फेंक कर किया जाता है, पर क्लिक ध्वनियों के उच्चारण में साँस भीतर खींचनी पड़ती है। ये कई प्रकार की होती हैं, जिन पर विस्तार के साथ ध्वनि-विज्ञान प्रकरण में विचार किया जायेगा।

(२) इन भाषाओं में लिंग पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर न आधारित होकर सजीव और निर्जीव पर आधारित है।*

(३) बहुवचन बनाने के लिये यहाँ कोई एक नियम नहीं है। चालीस-पचास तरीकों का प्रयोग किया जाता है और वे भी इतने अव्यवस्थित हैं कि समझने पर भी बिना अभ्यास के कोई नहीं सीख सकता। कभी-कभी जापानी आदि भाषाओं की भाँति संज्ञा (एकवचन) की पुनरुक्ति करके भी बहुवचन बना लेते हैं। उदाहरण के लिये यदि घोड़ा का बहुवचन बनाना हुआ तो 'घोड़ा-घोड़ा' कर देते हैं। बहुवचन बनाने का यह नियम सबसे प्राचीन और सरलतम है।

(ख) बंटू परिवार

इस परिवार की बंटू संज्ञा इसलिए दी गई है कि इसकी सभी भाषाओं में आदमी के लिये साधारण ध्वनि परिवर्तनों के साथ 'बंटू' शब्द ही प्रचलित है। यह परिवार मध्य और दक्षिणी अफ्रीका के बहुत बड़े भाग तथा ज़ंज़ीबार द्वीप आदि में फैला है। ज़ंज़ीबार की 'स्वाहिली' भाषा को छोड़कर इसकी अन्य भाषाओं में साहित्य नहीं के बराबर है। सुनने में ये भाषाएँ बड़ी मधुर हैं। शायद इसका कारण यह है कि इनमें संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग कम होता है और सभी शब्द स्वरांत होते हैं। कहने का ढंग भी कुछ संगीतात्मक सा होता है।

बंटू परिवार की प्रमुख विशेषताएँ

(१) इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट पूर्व योगात्मक हैं। शब्द वाक्य में अलग-अलग रहते हैं। पदों की रचना उपसर्ग जोड़कर होती है। आकृतिमूलक वर्गीकरण में हम इसका उदाहरण देख चुके हैं।

* परिशिष्ट में देखिये 'अवाभिमुख नियम'

(२) इन भाषाओं में लिंग-विचार नहीं के बराबर है ।

(३) कभी-कभी अर्थ की विभिन्नता स्वरों के ही अन्तर से हो जाती है । जैसे 'होफि नेल्ला' का अर्थ 'बाँधना' है पर 'हो फिनोल्ला का अर्थ बिल्कुल उलटा 'खोलना' हो जाता है ।

(४) कोमलता और मधुरता इस वर्ग का इतना प्रधान गुण है कि उधार शब्दों में भी परिवर्तन लाकर स्वानुकूल बना लेते हैं । बेचारे 'क्राइस्ट' वहाँ जाकर 'किरिसित' हो गये हैं ।

(५) इस परिवार की भाषाओं के साधारण वाक्यों में भी कविता की भाँति ध्वनि-सामंजस्य रहता है । वाक्य के एक शब्द में उपसर्ग लगाकर उसी की वज़न पर सभी शब्दों में परिवर्तन कर लिया जाता है । इस प्रकार छेक और वृत्ति अनुप्रास से इन लोगों की वाणी सर्वदा आभूषित रहती है ।

(६) इस परिवार की दक्षिणी पूर्वी भाषाओं में क्लिक ध्वनियाँ भी मिलती हैं ।

विभाजन

बंटू परिवार में लगभग डेढ़ सौ भाषाएँ हैं, जिनमें से प्रधान भाषाओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

बंटू परिवार—
- पूर्वीवर्ग (काफिर, ज़ुलू, किसुअहिली, किकांबा इत्यादि)
- मध्य वर्ग (सेचुना, सेसुतो, संरोलांग, तेकेज़ा इत्यादि)
- पश्चिमी वर्ग (हरेरो, बुन्दा, कांगो, इसुबु, दुअलला आदि)

(ग) सूडान वर्ग

पहले सूडान परिवार समझा जाता था पर डब्ल्यू शिमट ने स्पष्ट रूप से दिखला दिया है कि यह एक वर्ग है और इसमें सात परिवार हैं । इस वर्ग की भाषाएँ अफ्रीका में भूमध्यरेखा के उत्तर और हैमिटिक परिवार के दक्षिण, पूरब से पश्चिम तक पतले भाग में फैली हैं । इसकी कुछ भाषाएँ लिपिबद्ध भी हैं । कुछ बातों में यह वर्ग बंटू से मिलता-जुलता है ।

सूडान वर्ग की भाषाओं की प्रमुख विशेषताएँ

(१) चीनी भाषा की भाँति ये अयोगात्मक हैं । विभक्तियाँ बिल्कुल नहीं पाई जातीं । धातुएँ उसी प्रकार एकाक्षर हैं ।

(२) यहाँ व्याकरण नहीं होता और न उसकी कोई आवश्यकता ही है ।

(३) इनमें बहुवचन बहुत स्पष्ट नहीं है । कभी-कभी अन्य पुरुष (वे लोग, ये

लोग) या 'लोग' के समानार्थी शब्दों को जोड़कर संज्ञा को बहुवचन बना लेते हैं। ह्रस्व स्वर को दीर्घ करके भी कभी-कभी बहुवचन को प्रकट कर लेते हैं, जैसे रॉर=बन और रोर=बहुत से बन। पर यह सब बहुत कम किया जाता है।

(४) लिंग के विषय में भी यही बात है। कुछ खास शब्द लिंग-बोधक होते हैं, जिन्हें जोड़कर शब्दों को लिंग प्रदान किया जाता है।

(५) पूर्व सर्ग (Preposition) के अभाव के कारण संयुक्त या मिश्रित वाक्यों की रचना यहाँ नहीं हो पाती, अतः उसे तोड़कर लोग साधारण बना लेते हैं, जो छोटा-सा होता है और जिसमें केवल एक क्रिया होती है। उदाहरणार्थ यदि इन लोगों को 'वह जहाज पर से समुद्र में कूदा' कहना होगा तो इसे ३ वाक्यों में (वह कूदा। जहाज़ के भीतरी भाग को छोड़ा। समुद्र में गिरा।) कहेंगे।

(६) ऊपर हम कह चुके हैं कि इस परिवार की धातुएँ चीनी की भाँति एकाक्षर होती हैं, पर प्रकृति की दृष्टि से कुछ भिन्न होती हैं। इनमें वर्णनात्मकता होती है। साथ ही वे ध्वन्यात्मक भी होती हैं। यों तो हिन्दी आदि अन्य भाषाओं में भी भड़-भड़, तड़तड़ आदि ध्वन्यात्मक शब्द होते हैं जो ध्वनि को चित्रित करते हैं पर इन भाषाओं में धातु या शब्द केवल ध्वनि को ही प्रकट नहीं करते अपितु रूप, गति, अवस्था और यहाँ तक कि रंग का भी चित्र खींच देते हैं। ये अधिकतर क्रिया-विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं, पर कभी-कभी विशेषण रूप में भी। इस वर्ग की भाषाओं में ऐसे शब्द सबसे अधिक हैं। कुछ क्रिया-विशेषणों के उदाहरण लिये जा सकते हैं। ये क्रिया-विशेषण 'जो' धातु (=चलना) की विशेषता प्रकट करते हैं—

कक—सीधा

त्यत्य—जल्दी-जल्दी

सिसि—छोटे-छोटे कदम रखकर, आदि।

हम लोग इनके सुनने के अभ्यस्त नहीं हैं, फिर भी थोड़ा ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इन शब्दों की ध्वनि अपने अर्थ को व्यक्त करने में पूर्णतया समर्थ है।

(७) चीनी भाषा की ही भाँति यहाँ भी सुर (Tone) के परिवर्तन से अर्थ में परिवर्तन हो जाता है।

विभाजन

सूडान परिवार में सवा चार सौ से भी अधिक भाषाएँ हैं, जिनमें बोलोफ, ईब,

फ्यूल, होसा, मोम तथा नूबो आदि प्रधान हैं। इस परिवार की भाषाएँ चार वर्गों में रखी जा सकती हैं :—

सूडान परिवार—
- —सेनेगल भाषाएँ (वोलोफ आदि)
- —ईव भाषाएँ (ईव, अशानी, यरुबा आदि)
- —मध्यवर्ती भाषाएँ (हौसा, सोंघराई आदि)
- —नीलोत्तरी भाषाएँ (बारी, डेंका आदि)

इन चार प्रधान वर्गों के अतिरिक्त भी कुछ वर्ग हैं, पर उतना विस्तार यहाँ अनावश्यक है।

(घ) हैमिटिक परिवार

उत्तरी अफ्रीका के संपूर्ण प्रदेश में यह फैला है। इसके कुछ बोलने वाले मध्य और दक्षिणी अफ्रीका तक पहुँच गए हैं, अतः उत्तरी अफ्रीका के अतिरिक्त छिट-फुट कुछ अन्य छोटे-छोटे प्रदेशों में भी इस परिवार की भाषाएँ पाई जाती हैं। इंजील की पौराणिक कथा के अनुसार नौह के दूसरे पुत्र हैम अफ्रीका के कुछ लोगों के आदि पुरुष माने जाते हैं। इन्हीं के नाम पर इस कुल का नाम हैमेटिक पड़ा है। इस परिवार की बहुत सी भाषाएँ अब नष्ट हो चुकी हैं। और अब उन क्षेत्रों में सेमिटिक परिवार की भाषाओं ने अपना आधिपत्य जमा लिया है। हैमेटिक परिवार की कुछ भाषाओं में धार्मिक साहित्य तथा पुराने शिलालेख मिलते हैं। इस परिवार की अधिकतर वर्तमान बोलियाँ अन्य परिवारों से प्रभावित हैं। हौसा (मध्य अफ्रीका की राष्ट्र भाषा) जिसका नाम हम लोग सूडान परिवार के अंतर्गत ऊपर ले चुके हैं, कुछ विद्वानों के अनुसार इसी कुल की है, और सूडानी परिवार से अधिक प्रभावित होने के कारण ही सूडानी ज्ञात होती है।

हैमिटिक परिवार की प्रमुख विशेषताएँ

(१) इस परिवार की भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक हैं।

(२) पद बनाने के लिए इन भाषाओं में प्रत्यय और उपसर्ग दोनों ही लगाए जाते हैं, पर ऐसा केवल क्रिया के ही संबंध में होता है। संज्ञा में प्रत्यय ही लगाए जाते हैं।

(३) इन भाषाओं में स्वर-परिवर्तन मात्र से अर्थ परिवर्तित हो जाता है। जैसे 'गल्' का अर्थ होता है 'भीतर जाना' पर 'गेलि' का अर्थ होता है 'भीतर रखना' है।

(४) ज़ोर देने के लिए इनमें पुनरुक्ति का प्रयोग किया जाता है। 'लब' का अर्थ 'मोड़ना' होता है पर बार-बार मोड़ने के लिए 'लब् लब्' का प्रयोग होता है। इसी प्रकार गोइ (काटना) और गोगोइ (बार-बार काटना) भी हैं।

(५) इन भाषाओं में क्रिया में काल से ठीक-ठीक समय का बोध नहीं होता बल्कि पूर्णता और अपूर्णता का बोध होता है। समय का ठीक बोध कराने के लिए अन्य सहायक शब्दों की शरण लेनी पड़ती है।

(६) इस परिवार में लिंगभेद नर और मादा पर आधारित नहीं है, पर साथ ही वह भारोपीय भाषाओं की भाँति बहुत अव्यवस्थित भी नहीं है। सामान्यतः बड़ी और बली वस्तुएँ पुलिंग समझी जाती हैं और इसकी उलटी निर्बल और छोटी स्त्रीलिंग। प्यार करने योग्य तथा कोमल वस्तुएँ भी स्त्रीलिंग मानी जाती हैं। तलवार, कड़ी और मोटी घास, चट्टान तथा हाथी आदि पुलिंग हैं, पर चाकू, नरम और पतली घास, पत्थर के टुकड़े तथा छोटे-छोटे जानवर स्त्रीलिंग हैं।

इन भाषाओं के अधिकतर पुलिंग शब्द कण्ठ-ध्वनि से आरंभ होते हैं और स्त्री-लिंग दंत्य ध्वनि से। इथिओपिक शाखा की गल्ला और सोमाली भाषाओं में यह बात विशेष रूप से पाई जाती है। नामा आदि भाषाओं में अंत की ध्वनि से लिंग-भेद होता है। कुछ भाषाओं में अन्य नियम भी हैं, पर 'त' ध्वनि स्त्रीलिंग के चिह्न के रूप में पूरे परिवार में प्रचलित है।

(७) बहुवचन बनाने के यहाँ कई तरीके हैं, साथ ही बहुवचन के समूहात्मक और असमूहात्मक आदि कई भेद भी हैं। लिसा (= आँसू, एक वचन), लिस् (= आँसू का असमूहात्मक बहुवचन) और लिस्से (= आँसू का समूहात्मक बहुवचन)। छोटे पदार्थ या कीड़े आदि बहुवचन समझे जाते हैं। उनको एक वचन में लाने के लिए प्रत्यय जोड़ने पड़ते हैं। ऊपर हम लोग लिस् और लिसा देख चुके हैं। बिल् (पतिंगे) और बिला (पतिंगा) भी उदाहरणस्वरूप लिए जा सकते हैं। इस परिवार की केवल 'नामा' भाषा में द्विवचन हैं।

(८) यहाँ की सबसे विचित्र और अभूतपूर्व विशेषता यह है कि संज्ञा वचन में परिवर्तित होने पर लिंग में भी परिवर्तित हुई समझी जाती है। अर्थात् किसी एक-

वचन पुलिंग संज्ञा को बहुवचन बनाते हैं तो लिंग के विचार से वह स्त्रीलिंग हो जाती है। इस नियम को भाषा-वैज्ञानिकों ने ध्रुवाभिमुख नियम कहा है। इसके अनुसार माता स्त्रीलिंग है पर माताएँ पुलिंग और इसी प्रकार शेर पुलिंग है पर कई शेर स्त्री-लिंग। परिशिष्ट भाग में इस पर विस्तार के साथ विचार किया गया है।

विभाजन

हैमिटिक परिवार—
- —मिस्रशाखा (प्राचीन मिस्री तथा काप्टिक आदि)
- —एथिओपिक शाखा (बेदौय, खामीर, सोमाली, गल्ला, साहो, बेजा आदि)
- —लिबियन शाखा (शिल्हा, तामाशेक, नुमिदिअन आदि)
- —मिश्रित (मसाइ, नामा आदि)
- —फुला

(ङ) सेमिटिक परिवार

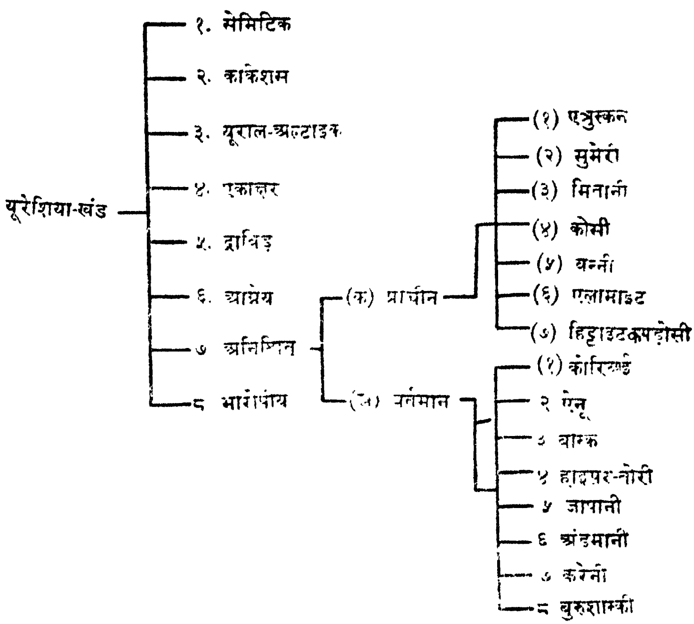
अफ्रीका में इस परिवार की शाखा मोरक्को से स्वेज़ नहर तक बोली जाती है। इस परिवार का प्रधान क्षेत्र एशिया है, अतः यूरेशिया खंड में इस पर विचार करना अधिक समीचीन होगा।

[२] यूरेशिया खंड

यह खंड मानव-सभ्यता का केन्द्र रहा है और आज भी विश्व में इसी खंड का बोल-बाला है। यहाँ की भाषाओं में प्रचुरतम साहित्य मिलता है। भाषा-विज्ञान के अध्ययन में भी इस खंड की भाषाओं का ही प्रधान हाथ है, और इसीलिए इनका अध्ययन भी विशेष रूप से हुआ है।

इस खंड में प्रधान रूप से सात भाषा-परिवार हैं। पर, इनके अतिरिक्त कुछ प्राचीन और नवीन भाषाएँ ऐसी भी हैं, जिनको किसी भी परिवार के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। इन अनिश्चित भाषाओं के लिए यदि एक अनिश्चित या परिशेष समुदाय या परिवार मान लिया जाय तो कुल निम्नांकित आठ शाखाएँ बनती हैं।

यूरेशिया-खंड के भाषा-परिवार



(क) सेमिटिक परिवार

ऊपर हैमिटिक पर विचार करते समय हजरत नौह के छोटे लड़के हैम के नाम से हम लोग परिचित हो चुके हैं। हैम के अग्रज सेम दक्षिणी पश्चिमी एशिया के निवासियों के आदि पुरुष कहे जाते हैं। उन्हीं के नाम पर उस क्षेत्र में बोले जाने वाले भाषा-परिवार का नाम सेमिटिक पड़ा है। इस परिवार की अरबी भाषा ने उत्तरी अफ्रीका पर अपना आधिपत्य जमा लिया है और इस प्रकार यह परिवार अफ्रीका खंड में भी आता है। बहुत से विद्वान् हैमिटिक और सेमिटिक को एक ही परिवार मानते हैं। इस एक मानने का आधार दोनों परिवारों के लक्षणों में साम्य का आधिक्य है।

सेमिटिक और हैमिटिक के मिलते-जुलते लक्षण

(१) दोनों ही श्लिष्ट योगात्मक और अंतर्मुखी हैं। इनमें पूर्व, अंतः, और

पर विभक्तियाँ लगती हैं, पर अधिकतर संबन्धतत्व भीतर होने वाले स्वर-परिवर्तन से ही सूचित हो जाता है। जैसे सेमिटिक की अरबी भाषा में क्-त्-ल्, से क़ितल, क़िल्त, क़ुतिल, यक़तुलु, क़ातिल, तथा क़तल आदि अनेक शब्द बनते हैं, जिनमें साधारण स्वर परिवर्तन से ही अर्थ-परिवर्तन हो गया है।

(२) दोनों ही परिवारों में अफ्रीका की कुछ भाषाओं की भाँति क्रिया में काल का गौण स्थान है, और पूर्णता और अपूर्णता का प्रमुख।

(३) बहुवचन बनाने के लिये दोनों ही कुलों में प्रत्यय लगते हैं और दोनों की प्रत्ययों का मूल भी लगभग एक ही ज्ञात होता है।

(४) 'त' ध्वनि दोनों कुलों में स्त्रीलिंग का चिह्न मानी जाती है। दोनों ही में लिंगभेद नर मादा पर अर्थात् प्राकृतिक लिंग पर न होकर कुछ अन्य बातों पर आधारित है।

(५) दोनों परिवारों के सर्वनामों का मूल एक ही है।

सेमिटिक परिवार की प्रमुख विशेषताएँ

सेमिटिक और हैमिटिक के उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन में इस विषय पर हम कुछ विचार कर चुके हैं, पर दोनों परिवारों की सभी बातें एक-सी नहीं हैं, अतः यहाँ सेमिटिक कुल पर अलग भी विचार कर लेना आवश्यक है।

(१) माद्दा (धातु, रूट या अर्थतत्वबोधक मूल शब्द) प्रायः तीन व्यंजनों* का होता है। जैसे क्‌त्‌ब (लिखना), द्‌ब्‌र् (बोलना), व्‌ग्‌द् (पाना) इत्यादि। हैमिटिक भाषाओं में यह बात नहीं पाई जाती।

(२) 'माद्दा' के इन व्यंजनों में स्वर जोड़कर पद (वाक्य में रखे जाने योग्य शब्द जिनमें अर्थतत्व और सम्बन्ध तत्व दोनों हों) बनते हैं। इस प्रकार भारोपीय परिवार में जो कार्य आंतरिक परिवर्तन तथा प्रत्ययों से लिया जाता है वह यहाँ स्वरों

* कुछ माद्दे चार या पाँच व्यजनों के भी होते हैं और 'रुबाई' तथा 'ख़ुमासी' कहलाते हैं।

की सहायता से हो जाता है। जैसे अरबी में क्तब् 'माद्दा' से कातिब, किताब तथा कुतुब इत्यादि।

(३) कभी-कभी इस उपर्युक्त स्वर-परिवर्तन से काम नहीं चलता तो उपसर्ग तथा प्रत्यय की भी आवश्यकता पड़ती है। जैसे प्रेरणार्थक आदि के लिये क्तल् से हिक्तिल 'हि' उपसर्ग जोड़कर बनाना पड़ता है। इसी प्रकार क्तब् से इस्तक्तब (किसी अन्य से लिखने को कहा) भी बनता है। यहाँ एक बात उल्लेख्य यह है कि भारोपीय भाषाओं की भाँति सेमिटिक परिवार की भाषाओं में एक धातु में कई प्रत्यय या उपसर्ग (जैसे अनुकरणात्मकता शब्द में अनु+करण+आत्मक+ता हैं) एक साथ नहीं मिलते।

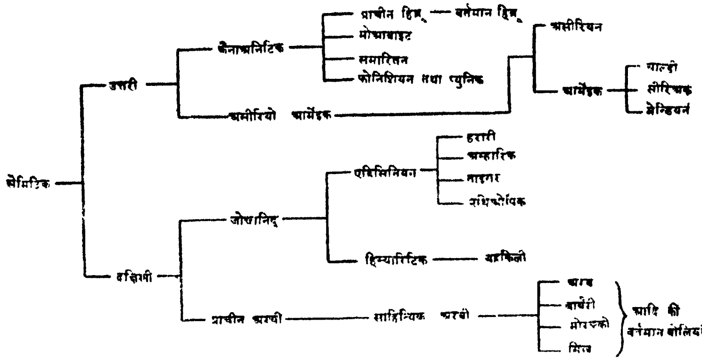
(४) इस परिवार में समास केवल व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में ही मिलता है और वह भी केवल दो शब्दों का। जैसे, बीर्-शेबा, मलकह-इसरायल आदि। स्थान-क्रम की दृष्टि से भारोपीय समासों से यहाँ की पद्धति उलटी है। संस्कृत में 'दधि-सुत' होगा तो यहाँ 'सुत-दधि'।

(५) प्राचीन सेमिटिक भाषाओं में प्रत्यय लगाकर कर्त्ता, कर्म और संबंध कारक बनते थे। जैसे प्राचीन अरबी में अब्दू, अब्दा। इसी प्रकार बहुवचन और द्विवचन के लिए भी प्रत्यय का प्रयोग होता था पर अब अलग से शब्द जोड़े जाते हैं, क्योंकि हिन्दी आदि की भाँति ही ये भाषाएँ भी वियोगात्मक हो गई हैं।

(६) ऊपर हम लोग कह चुके हैं कि हैमिटिक और सेमिटिक दोनों ही में 'त' स्त्रीलिंग का चिन्ह है, पर सेमिटिक परिवार में एक बात यह विशेष है कि यह 'त' ध्वनि कुछ भाषाओं में विकसित होकर 'थ' या 'ह' हो गई है। जैसे अरबी में मलक् (राजा) का स्त्रीलिंग मलकह् (रानी) होता है न कि मलकत्।

(७) इसी प्रकार कुछ धातुओं में ध्वनि-विकास के ही कारण व्यंजन-लोप हो गया है, जिसके फलस्वरूप वे द्विव्यंजनात्मक हो गई हैं। पर ऐसी द्विव्यंजनात्मक धातुएँ संख्या में अधिक नहीं हैं, अतः इनकी उपस्थिति अपवाद ही समझी जायेगी।

विभाजन



सेमिटिक परिवार की विभिन्न शाखाओं में आपस में बहुत कम अंतर है। इस परिवार की अरबी भाषा बहुत धनी है। धर्म, ज्योतिष, गणित, दर्शन, साहित्य और रसायन आदि सभी क्षेत्रों में उसका हाथ है। अरबी साहित्य ने फारसी, तुर्की, उर्दू, हिन्दी, बँगला, मराठी और गुजराती आदि को बहुत प्रभावित किया है। अंग्रेज़ी तथा फ्रेंच आदि यूरोप की अन्य समुन्नत भाषाएँ भी अपने शब्द-समूह में अरबी के प्रभाव से नहीं (अलजब्रा, सिफ़र, अलकोहल आदि) बच सकी हैं।

(ख) काकेशस परिवार

इस परिवार की भाषाएँ पूर्व और अंत-अश्लिष्ट-योगात्मक हैं। इनका क्षेत्र कृष्ण सागर और कैस्पिअन सागर के बीच में काकेशस पहाड़ पर पड़ता है। पहाड़ों के बाहुल्य से यहाँ बहुत सी बोलियाँ विकसित हो गई हैं। ये बोलियाँ एक दूसरे से इतनी भिन्न हैं कि एक परिवार के अंतर्गत रखने में भी विद्वानों को हिचक मालूम होती है।

प्रधान विशेषताएँ

(१) ऊपर से देखने में ये भाषाएँ श्लिष्ट या विभक्ति-प्रधान ज्ञात होती हैं, पर हैं अश्लिष्ट योगात्मक। इनमें प्रत्यय और उपसर्ग दोनों ही लगाए जाते हैं।

(२) इस परिवार की उत्तरी शाखा की भाषाओं में स्वरों की कमी है।

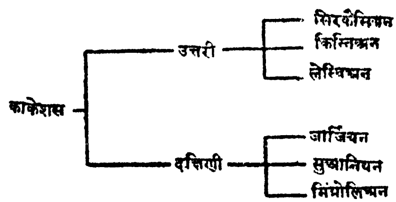
(३) पूरे परिवार में पद-रचना के सम्बन्ध में बड़ी कठिनाइयाँ हैं। कुछ बोलियों में (अवर आदि) तो संज्ञा की तीस-तीस विभक्तियाँ हैं।

(४) इसकी कुछ बोलियों में छः लिंग तक माने जाते हैं।

(५) बास्क आदि भाषाओं की भाँति सर्वनाम और क्रिया का भी योग इस परिवार में होता है। जहाँ ऐसा होता है, भाषा आंशिक-प्रश्लिष्ट-योगात्मक हो जाती है।

(६) क्रिया के रूप इस कुल में और भी जटिल हैं। कभी-कभी तो उन रूपों में मूल धातु का पता पाना भी असंभव-सा हो जाता है। जार्जियन भाषा में 'होना' क्रिया के 'वर्', 'चर्', 'अर्स', 'वर्थ', 'चर्थ' आदि रूपों में 'अर्' धातु का अनुमान किया भी जा सकता है, पर खसीकुमुक बोली में 'आर', 'ऊर', 'अइसर' 'ऊन्द', 'आन्द' तथा 'आ' आदि रूपों में 'अइ' धातु (=बनाना) का तो कहीं पता ही नहीं चलता।

विभाजन



उत्तरी वर्ग की भाषाएँ आपस में बहुत कम मिलती हैं। इस वर्ग में अनेक बोलियाँ हैं। इनकी न तो कोई लिपि है और न अपना साहित्य। इसके बोलने वाले लगभग ५ लाख हैं। दक्षिणी वर्ग की भाषाओं में आपस में पर्याप्त सम्पर्क है। इस वर्ग के बोलने वाले लगभग १५ लाख हैं। इस वर्ग की प्रसिद्ध भाषा जार्जियन है, जिसकी अपनी लिपि है, और जिसमें इधर दस शताब्दियों से साहित्य-साधना भी यथेष्ट हुई है।

(ग) यूराल-अल्टाइक परिवार

फिनो-तातारिक, स्कीथियन तथा तूरानी आदि भी इसी कुल के नाम हैं, पर कोई भी नाम उपयुक्त नहीं ज्ञात होता। भौगोलिक दृष्टि से उचित होने के कारण यहाँ

यूराल-अल्टाइक नाम स्वीकार किया गया है। इस परिवार की भाषाएँ यूराल और अल्टाई पर्वत के बीच में टर्की, हंग्री और फिनलैण्ड से लेकर पूरब में ओरवोत्स्क सागर तक और भूमध्य सागर से लेकर उत्तर में उत्तरीय सागर तक फैली हुई हैं। क्षेत्र की दृष्टि से भारोपीय परिवार को छोड़कर संसार का कोई भी परिवार इतना विस्तृत नहीं है। काकेशस परिवार की भाँति इसकी भाषाएँ भी आपस में बहुत अधिक समानता नहीं रखतीं। इसीलिए कुछ लोग यूराल और अल्टाइक दो भाषा-परिवार कहना अधिक उचित समझते हैं। ध्वनि और धातु या शब्द-समूह की दृष्टि से सचमुच ही ये दोनों भिन्न परिवार प्रतीत होते हैं, पर व्याकरण की दृष्टि से इनकी एकता अस्वीकार नहीं की जा सकती।

यूराल और अल्टाइक के समान लक्षण

(१) इन दोनों (यूराल और अल्टाइक) की भाषाएँ अश्लिष्ट अंत योगात्मक हैं। धातु में प्रत्यय जोड़ कर पद बनाए जाते हैं। एक पद बनाने में एक से अधिक प्रत्ययें भी जोड़ी जा सकती हैं। कुछ भाषाएँ कुछ दिनों से अश्लिष्ट से श्लिष्ट की ओर आ रही हैं। उदाहारण के लिए फिनिश भाषा को ले सकते हैं। यह तो इतनी आगे बढ़ आई है कि आकृति की दृष्टि से भारोपीय परिवार में रखी जा सकती है।

(२) इनकी सभी भाषाओं में धातु अव्यय के समान हैं। उनमें कभी भी विकार नहीं आता और बड़े से बड़े शब्द में भी आसानी से पहचानी जा सकती हैं।

(३) इन दोनों में ही कभी-कभी संबन्ध वाचक सर्वनाम प्रत्यय के रूप में संज्ञाओं के साथ जोड़ दिए जाते हैं।

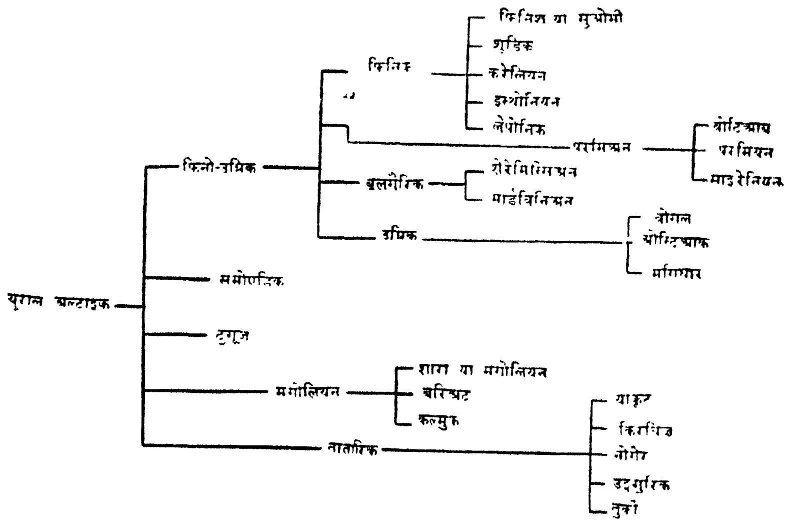
(४) स्वर-अनुरूपता (Vowel Harmony) भी दोनों ही में मिलती है। ऐसा होता है कि जब मूल धातु में अनेक प्रत्ययों को जोड़ा जाता है तो उन प्रत्ययों के स्वर धातु के स्वर के 'वज़न' पर कर लिए जाते हैं। यहाँ के स्वरों के गुरुस्वर और लघुस्वर दो वर्ग हैं। जब धातु में गुरुस्वर रहता है तो सभी प्रत्ययों के स्वर गुरु कर लिये जाते हैं और नहीं तो लघु। यह संभवतः उच्चारण-सौकर्य के लिये होता है। तुर्की से उदाहरण ले सकते हैं—

'यज़' से 'मक' लगाकर 'यज्‌मक्' (= लिखना) बनता है।

पर 'सेव' से 'मक' लगाकर 'सेवमक' न बन कर सेव्‌मेक् (= प्यार करना) बनता है। इसी प्रकार 'लर' बहुवचन की विभक्ति है। अट् के साथ मिलकर यह अट्‌लर् (= घोड़े) पद बनती है, पर 'एव' के साथ 'एव्‌लेर' (= अनेक घर)।

यह स्वर-अनुरूपता इन भाषाओं में बहुत पुरानी नहीं है। इसका विकास कुछ ही दिनों से हुआ है। ऊपर दिए गए सभी समान लक्षण व्याकरण के हैं। जैसा कि पहले कह चुके हैं ध्वनि और शब्दों की दृष्टि से इनमें समानता नहीं मिलती। इसीलिए कुछ लोग इसे परिवार न कह कर समुदाय कहना पसन्द करते हैं।

विभाजन



फिनिश भाषा में १६ वीं सदी से इधर सुसंस्कृत साहित्य मिलता है। 'कलेवला' नाम का एक २२ हज़ार छन्दों का प्रसिद्ध महाकाव्य भी है। इस भाषा में भारोपीय परिवार के शब्दों का बाहुल्य है। हंग्री की भाषा 'मगियार' भी सभ्य भाषा है। इसमें भाषा सम्बन्धी सामग्री १२वीं सदी से ही मिलने लगती है। इस समुदाय की तीसरी विकसित भाषा तुर्की है। तुर्की पर राजनैतिक कारणों से फ़ारसी और अरबी का प्रभाव अधिक पड़ा है, पर बदले में तुर्की ने भी उन दोनों को प्रभावित किया है। उत्तरी भारत की जन भाषा में भी तुर्की के चाक़ू, तोप तथा तमग़ा आदि बहुत से शब्द बहुतायत से प्रचलित हैं। तुर्की का साहित्य बहुत धनी है। काव्य और कथा साहित्य यहाँ बहुत ही पुराना है। भारत के प्रथम तुर्क बादशाह बाबर ने अपना वृत्तान्त तुर्की में ही (तुज़ुक्-बाबरी) लिखा है। तुर्की की लिपि अरबी थी पर अब रोमन लिपि स्वीकार कर ली गई है। इधर

अरबी के शब्द भी निकाल दिए गए हैं और उनके स्थान पर तुर्की शब्दों का स्वागत हुआ है।

तुर्की में लगभग २८ बोलियाँ हैं, जिनके बोलने वालों की संख्या चार करोड़ के लगभग है।

इस समुदाय में इन तीन के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के या तो बोलने वाले बहुत कम हैं, या हैं भी तो इतने पिछड़े हैं कि उनका कोई विशेष महत्व नहीं है।

(घ) एकाक्षर परिवार*

इसे चीनी परिवार भी कहते हैं, क्योंकि इस परिवार की प्रधान भाषा चीनी है। चीन, स्याम, तिब्बत और ब्रह्मा में यह परिवार फैला हुआ है। भारोपीय परिवार के बाद बोलनेवालों की संख्या की दृष्टि से यही परिवार विश्व में सबसे बड़ा है।

इस परिवार के प्रमुख लक्षण स्पष्ट रूप से अब केवल चीनी में ही पाए जाते हैं। अन्य भाषाएँ आर्य परिवार से प्रभावित होने के कारण वर्ण-संकर हो गई हैं। अतः पहले चीनी भाषा को ही लिया जायेगा और इस परिवार की विशेषताओं पर प्रकाश डाला जायेगा।

चीनी भाषा में विश्व का सबसे पुराना साहित्य मिलता है। कुछ को तो तीन हज़ार ई० पू० का माना जाता है। चीन के इतिहास-ग्रंथों (जिन्हें शु-किंग कहते हैं) की प्रथा बहुत पुरानी है। ५वीं सदी ई० पू० के उत्तरार्ध में दार्शनिक विद्वान् कनफ़ूशियस ने इन ग्रंथों का सम्पादन किया और लोगों का अनुमान है कि उन्होंने कुछ उस समय की भाषा के अनुसार परिवर्तन भी कर दिए। फिर भी पद्यों के अंत्यानुप्रास, उच्चारण सम्बन्धी लिखित चिह्न और कुछ संस्कृत शब्दों के बौद्धों द्वारा अंकन, आदि के आधार पर प्राचीन भाषा के रूप और उच्चारण का पता अनुमानतः लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त चीनी भाषा के इतिहास से भी पुरानी चीनी पर प्रकाश पड़ता है, जैसा कि भाषा की उत्पत्ति पर परोक्ष मार्ग से विचार करते समय हम लोग देख चुके हैं।

इन सभी बातों के आधार पर जो प्राचीन भाषा का रूप मिलता है वह आज की चीनी भाषा से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। इसका आशय यह है कि चीनी भाषा

* चीनी के सम्बन्ध में जो बातें कही गई हैं तथा जो उदाहरण आदि दिए गए हैं, प्रायः प्राचीन चीनी से संबद्ध हैं। आधुनिक चीनी काफ़ी बदल गई है।

बहुत दिन से ज्यों की त्यों पड़ी है और उसमें कोई भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है। चीनी लिपि* के सम्बन्ध में भी यही बात है। लिपि-विकास की भाव-ध्वनि-मूलक अवस्था (जिसे विकास की तीसरी अवस्था कहा जाता है) को अभी तक पार नहीं कर पाई है। इसमें एक शब्द या एक भाव के लिए एक चिह्न होता है, पर अलग-अलग ध्वनि के लिए नहीं। हाँ कुछ थोड़े चिन्ह ध्वन्यात्मक अवश्य हैं। 'छिह्' (वह) तो चीनी लिपि में लिखा जा सकता है पर 'छि' या 'ह्' अलग लिखना चाहें तो सम्भव नहीं है। इतनी कठिनाइयों के रहते हुए भी उसी परिस्थिति में चीनी भाषा इतनी विकसित है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म विचारों को भी स्पष्टता के साथ अंकित कर सकती है। बौद्ध धर्म सम्बन्धी बहुत सा संस्कृत-साहित्य अनूदित होकर इन लोगों के यहाँ रखा हुआ है। इनके अनुवादों में एक विचित्रता यह है कि नामों का भी अनुवाद हो गया है। इसका कारण यह है उनकी लिपि ध्वनि को पूर्णतः व्यक्त नहीं कर सकती। उदाहरण के लिए 'नरसिंह' नाम ले लें। इसे लिखने के लिए चीनी पंडितों ने 'नर' और 'सिंह' कर लिया, और फिर 'आदमी' और 'शेर' के भाव के शब्द अपनी भाषा से लेकर एक जगह रख दिया, वही नरसिंह या नृसिंह हो गया। भाषा और लिपि की इस विशेषता से लाभ यह हुआ है कि वहाँ का शब्द समूह शुद्ध रूप से उनका अपना है। यदि कोई बाहरी शब्द गया भी है तो अनूदित होकर और चीनी जामा पहन कर।†

एकाक्षर परिवार की प्रधान विशेषताएँ

(१) इस परिवार की भाषाएँ स्थान-प्रधान या अयोगात्मक हैं। दो शब्द एक में नहीं मिलते। सम्बन्ध का पता बहुधा शब्द के स्थान से ही चल जाता है। 'हुआ पओ मीन' = राजा प्रजा की रक्षा करता है। पर यदि इसके उलटा कहना होगा तो वाक्य में और किसी भी प्रकार का परिवर्तन न करके केवल स्थान-परिवर्तन कर देंगे। 'मीन पओ हुआ' = प्रजा राजा की रक्षा करती है।

(२) प्रत्येक शब्द एक अक्षर (syllable) का होता है। वह एक प्रकार से

* चीनी लिपि के सम्बन्ध में कुछ विस्तार के साथ लिपि के प्रकरण में विचार किया जावेगा।

† ये बातें प्राचीन चीनी के सम्बन्ध में सत्य हैं। अब वहाँ की लिपि में ध्वनि-अंकन की कुछ शक्ति आ गई है और कुछ विदेशी शब्द भी।

अव्यय है जो न बढ़ता है और न घटता है और न विकृत होता है। वाक्य में चाहे जहाँ भी आवे उसके रूप में कोई परिवर्तन नहीं मिलेगा।

इन एकाक्षर शब्दों की संख्या चीनी भाषा में पाँच सौ और एक हजार के बीच में है। चीन की साहित्यिक और राष्ट्रभाषा 'मंदारिन' में चार सौ से कुछ ही अधिक शब्द हैं, जो लगभग बयालिस हज़ार भिन्न-भिन्न अर्थों को प्रकट करते हैं।

(३) यहाँ यह समस्या उठती है कि इतने कम शब्द कैसे इतने अधिक अर्थ प्रकट करते हैं। इसके लिए ये लोग सुर (Tone)* का प्रयोग करते हैं। एक शब्द विभिन्न सुरों में विभिन्न अर्थ देता है। यों तो प्रधान चार ही सुर हैं, पर कुछ उपभाषाओं या बोलियों में इससे कम या अधिक सुर भी अपवाद स्वरूप मिलते हैं। मंदारिन में पाँच सुर हैं। दूसरी बोली फूकिन में आठ हैं। केवल सुरों से पूरी स्पष्टता नहीं आ पाती, अतः इसके लिए वे लोग एक और युक्ति (द्वित्व) से काम निकालते हैं।

(४) इनके यहाँ द्वित्व प्रयोग चलता है। ऊपर हम कह चुके हैं कि एक शब्द के कई अर्थ होते हैं। जैसे 'ताओ' = सड़क, झंडा, गल्ला, ढक्कन इत्यादि, या 'लू' = ओस, जवाहर, घुमाव, सड़क इत्यादि। यहाँ हम देखते हैं कि 'ताओ' और 'लू' दोनों के सड़क अर्थ हैं। अब यदि सड़क के लिए दोनों शब्दों (ताओ और लू) का साथ प्रयोग करें तो किसी भी प्रकार की गड़बड़ी का भय नहीं रह जाता। अतः सड़क के लिए 'ताओ लु' शब्द प्रयुक्त होता है। ऐसे प्रयोगों को द्वित्त प्रयोग कहते हैं। चीनी भाषा में इसका बहुत प्रयोग होता है। इसमें सर्वदा पर्याय शब्द ही नहीं रखे जाते। कभी-कभी आवश्यकतानुसार अन्य भी ऐसे शब्द (दूसरा अर्थ रखने वाले) रख दिए जाते हैं, जिनसे अर्थ स्पष्ट हो जाय। जैसे नमक के साथ बारीक या रोड़ा, पानी के साथ गर्म या ठंढा इत्यादि।

(५) भारोपीय परिवार की भाँति वहाँ भाषा का व्याकरण नहीं है। एक ही शब्द स्थान और आवश्यकतानुसार संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि हो जाता है। 'त' शब्द का उदाहरण लिया जा सकता है। इसका अर्थ 'बड़ा', 'बड़ाई' तथा 'बड़ा होना' आदि होता है।

(६) ऊपर हम इसे स्थान-प्रधान भाषा कह चुके हैं। पर कभी-कभी केवल शब्दों के स्थान से सम्बन्ध स्पष्ट नहीं हो पाता तो सहायक शब्दों की आवश्यकता

* ध्वनि प्रकरण में इस पर और सामग्री मिलेगी।

पड़ती है। इस दृष्टि से चीनी शब्दों के दो वर्ग होते हैं—पूर्ण शब्द और रिक्त शब्द। पूर्ण शब्द वह है जो कुछ अर्थ-तत्त्व रखे पर रिक्त शब्द वह है जो केवल सम्बन्ध प्रकट कर दे। पर इसका आशय यह नहीं कि वहाँ का पूरा शब्द समूह इन दो भागों में बँटा है। बहुत से पूर्ण शब्द आवश्यकता पड़ने पर रिक्त बना लिया जाते हैं। इस प्रकार, प्रयोग होने पर ही कहा जा सकता है कि कौन शब्द रिक्त है और कौन पूर्ण। उदाहरण के लिए 'छिह' शब्द को ले सकते हैं। इसका 'जाना' 'वह' 'सम्बन्ध' रखना' आदि अर्थ होता है पर कभी-कभी यह सम्बन्ध कारक की विभक्ति का भी काम करता है। जैसे—

मु = माता

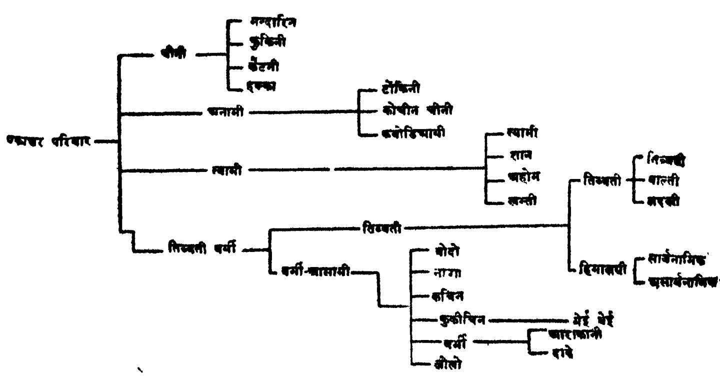
त्सु = पुत्र

मु छिह त्सु* = माता का पुत्र

(७) चीनी भाषा में पूर्ण शब्द भी प्रायः दो प्रकार के माने जाते हैं। एक तो वे हैं जो जीवित हैं और क्रिया जिनका प्रधान गुण है। दूसरे वे हैं, जो मृत या जड़ हैं और स्वयं कुछ कर नहीं सकते। जीवित शब्द अपनी क्रिया इन्हीं मृत शब्दों पर कते हैं। यह विभाजन भी बहुत निश्चित नहीं है।

(८) अनुनासिक ध्वनियों के प्रयोग का यहाँ बाहुल्य है। विशेषतः ङ और ञ ध्वनियाँ तो शायद ही विश्व की किसी और भाषा इतनी प्रयुक्त होती हों।

विभाजन



चीनी के विषय में ऊपर हम काफी विचार कर चुके हैं। इसकी मँदारिन, कैंटनी

* यह रूप पुराना है। अब इसे 'मूछिन त अङ् दज़्'।

और फुकिनी आदि प्रधान बोलियाँ छः के लगभग हैं। नानकिन और पेकिङ के समीप बोली जानी वाली 'मँडारिन' बोली राज्य एवं साहित्य की भाषा है, जिनमें बयालिस हज़ार के लगभग शब्द हैं, जो केवल सवा चार सौ शब्दों से ही सुर आदि के द्वारा व्यक्त किये जाते हैं। इस बोली में ग् और ब् ध्वनियाँ नहीं हैं।

फुकिनी में मँदारिन के विरुद्ध ब और ग ध्वनि है। कैंटनी में 'त्स' के स्थान पर 'कि' हो गया है।

चीन में बोलने की भाषा लिखने से भिन्न है। कुछ बोलियाँ एक दूसरे से इतनी भिन्न हो गई हैं कि एक का बोलनेवाला दूसरी को समझ भी नहीं सकता।

अनामी भाषा टोंकिन, कोचिन चीन तथा कम्बोडिया में बोली जाती है। इसे कुछ विद्वान् इस परिवार से अलग स्यामी तथा आस्ट्रो-एशियाई कुल के बीच की मानते हैं। पर चीनी की ही भाँति यह भी एकाक्षर, अयोगात्मक और स्थान-प्रधान है। अर्थ प्रकट करने के लिये यहाँ भी सुरों (लगभग छः) का प्रयोग होता है, अतः इसे अलग मानना ठीक नहीं कहा जा सकता। इसका शब्द-समूह अवश्य चीनी से भिन्न है, पर उधार रूप में पर्याप्त मात्रा में चीनी शब्द भी मिलते हैं। इसके पुराने ग्रंथ भी चीनी लिपि में ही हैं। इधर कुछ वर्षों से उन लोगों ने रोमन लिपि को अपना लिया है।

स्यामी भाषा का दूसरा नाम 'थाई' या 'तई' है। इनके बोलने वालों को तई या शान कहा जाता है। आसाम के पूर्वी भाग तथा ब्रह्मा के कुछ भागों में इस भाषा का क्षेत्र है। १२ वीं सदी के लगभग ये लोग भारत में आकर आसाम में बसे और लगभग आर्य हो गये। आसाम नाम भी संभवतः इन्हीं लोगों के कारण पड़ा। आसाम के पुरोहित अब भी अपनी प्राचीन बोली अहोम बोलते हैं। खम्ती बोली आसाम और ब्रह्मा के संधिस्थल पर बोली जाती है। स्यामी भाषा में अब कुछ उपसर्ग आदि भी प्रयुक्त होने लगे हैं। यह शायद भारत का ही प्रभाव है।

तिब्बती या भोट भाषा में एकाक्षरता चीनी की अपेक्षा कम है। एकाक्षर परिवार की भाषाओं में इस पर भारत का प्रभाव सबसे अधिक है। छठों सदी से यहाँ संस्कृत और पालि ग्रंथों के अनुवाद आरम्भ हो गये थे। महापंडित राहुल सांकृत्यायन को वहाँ ऐसे अनेक ग्रंथ मिले हैं, जिनका मूल संस्कृत रूप कहीं भी उपलब्ध नहीं है। ऐसे कुछ ग्रन्थों के उन्होंने संस्कृत में अनुवाद भी किए हैं और कुछ और के भी करने वाले हैं। तिब्बती लिपि ब्राह्मी की ही पुत्री है और इसका व्याकरण भी संस्कृत

से बहुत प्रभावित है। उसे शुद्ध स्वरूप भी किसी भारतीय पंडित ने ही दिया था। तिब्बती साहित्य बहुत सम्पन्न है। इसके अंतर्गत कुछ हिमालय की ऐसी बोलियाँ हैं जो मूलतः इसकी बेटी होने पर भी अब दूर पड़ गई हैं। पड़ोस की मुंडा बोलियों का भी इन पर प्रभाव पड़ा है और उनके प्रायः सभी लक्षण इनमें आ गये हैं। लक्षणों पर विचार, पिष्ट-पेषण से बचने के लिये मुंडा परिवार के अंतर्गत ही करना ठीक होगा। इन हिमालयी बोलियों के असार्वनामिक (Non-Pronominalized) और सार्वनामिक (Pronominalized) दो वर्ग किये जा सकते हैं। सार्वनामिक वर्ग में कर्ता और कर्म यदि सर्वनाम हों तो उन्हें क्रिया में ही प्रत्यय की तरह जोड़ देते हैं—

हिप्=मारना
तू =उसे
ङ्ग=मैं
हिप्तुङ्ग=मैं उसे मारता हूँ।

सार्वनामिक के किराँत और कनौरदामी दो उपवर्ग हैं। पहले को पूर्वी और दूसरे को पश्चिमी भी कहते हैं। इन दोनों ही के अंतर्गत छोटी-छोटी अनेक बोलियाँ हैं। नेपाल के पूरब में इनका प्रदेश पड़ता है।

असार्वनामिक वर्ग में इस प्रकार का सर्वनाम-संयोग नहीं होता। यह वर्ग नेपाल, सिक्किम, भूटान आदि में फैला हुआ है। नेपाल की प्रधान बोली नेवारी इसी वर्ग की है, जिसमें साहित्य भी है। भारतीय संस्कृति तथा मैथिली साहित्य का नेवारी पर काफ़ी प्रभाव पड़ा है।

'बर्मी-आसामी' वर्ग जैसा कि नाम से स्पष्ट है बर्मा और आसाम में फैला है। हाँ इसकी एक बोली 'लोलो' अवश्य चीन में पड़ती है। इस पर भी भारतीय संस्कृति तथा साहित्य का प्रभाव कम नहीं है और इसी कारण यह भी शुद्ध एकाक्षरी नहीं रह गई है।

मेईथेई भाषा में प्राचीन साहित्य बहुत है। मनीपुर इसका प्रधान क्षेत्र है। इस भाषा में इतिहास ग्रंथ लिखने की प्रथा १५ वीं सदी से चली आ रही है। इसमें शुद्ध क्रिया का अभाव है। लोग क्रियार्थक संज्ञा आदि से काम चलाते हैं।

बर्मी भाषा भी साहित्यिक है। इसका साहित्य प्रधानतया धार्मिक है। बर्मी भाषा की बोलियाँ एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। बर्मी की लिपि भी तिब्बती की भाँति ही ब्राह्मी की पुत्री है।

'तिब्बती-बर्मी' वर्ग की भाषाएँ अन्तप्रश्लिष्ट-योगात्मकता की ओर अग्रसर होती जा रही हैं।

(ङ) द्राविड़ परिवार

यह परिवार दक्षिण भारत में नर्वदा और गोदावरी से लेकर कुमारी अंतरीप तक फैला हुआ है। इसके अतिरिक्त उत्तरी लंका, लक्षद्वीप, बिलोचिस्तान, मध्य भारत तथा बिहार-उड़ीसा के कुछ भागों में भी इस परिवार के बोलने वाले बसते हैं। इस परिवार को तामिल परिवार भी कहते हैं। सत्य तो यह है कि द्राविड़* का ही विकसित रूप तामिल या तमिल है। इस परिवार से भारत के अन्य परिवारों को जोड़ने का बहुत से विद्वानों ने निष्फल प्रयास किया है। यह परिवार वाक्य तथा स्वर-अनुरूपता की दृष्टि से यूराल-अल्टाई से मिलता-जुलता है। इस आधार पर इसे कुछ लोग उससे जोड़ना चाहते थे। प्रो० श्रेडर ने इस परिवार को फ़िनो-उग्रिक वर्ग से मिलती-जुलती दिखाने का यत्न किया था। पी० डब्लू० श्मिट महोदय ने इसका सम्बन्ध आस्ट्रेलिया की भाषा से जोड़ना चाहा। उनका यह विचार था कि पहले मडागास्कर, आस्ट्रेलिया और भारत, छोटे-छोटे द्वीपों के सहारे सम्बन्धित थे। इधर मोहन-जो-दड़ो की खुदाई के बाद उसकी संस्कृति से भी इसका सम्बन्ध जोड़ने के कुछ प्रयत्न हुए हैं। पर उपर्युक्त सभी प्रयास अभी तक प्रायः असफल हैं।

द्राविड़ परिवार की प्रधान विशेषताएँ

(१) प्रधानतः इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट अन्तयोगात्मक (तुर्की आदि की भाँति) हैं। मूल शब्द या धातु में प्रत्यय एक के बाद दूसरे जुटते चले जाते हैं—

तामिल में 'पालन्' = पुरस्कार

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्ता कारक	पालन्	पालन् गल्
कर्म कारक	पालन् एई	पालन् गल् एई
संबंध कारक	पालन् उदीय	पालन् गल् उदीय इत्यादि

पर कभी-कभी अपवाद स्वरूप उपसर्ग भी लगता है :—

* कुछ लोगों का ऐसा मत है कि भारत में आने पर आर्यों ने अनार्यों को इसी नाम से पुकारा, और उस देश का भी यही नाम पड़ा। बाद में उनकी भाषा भी इसी संज्ञा से आभूषित की गई।

अथू = वह वस्तु
इथू = यह वस्तु
एथू = कौन वस्तु

(२) जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है इस परिवार में संयोग तिलतंडुल-वत, पारदर्शक या स्पष्ट होता है। साथ ही मूल में किसी प्रकार का विकार नहीं आता।

(३) उपर्युक्त संयोग की भाँति ही बड़ा से बड़ा समास भी बड़ी ही सरलता से इस परिवार की भाषाओं में बना लिया जाता है।

(४) शब्द के अन्तिम व्यंजन से उच्चारण में बहुधा एक उकार की ध्वनि जोड़ ली जाती है। कुछ भाषाओं में यह प्रवृत्ति केवल लिखने में ही होती है, पर कुछ में लिखने और बोलने दोनों ही में। शायद इसी का प्रभाव हमारे अपभ्रंश साहित्य पर भी पड़ा जिसे बाद में हिन्दी में भक्ति तथा रीतिकाल के कवियों ने कोमल बनाने की दृष्टि से अपना लिया। जैसे आप का आपु या राम का रामु।

(५) यूराल-अल्टाई परिवार की भाँति ही इस परिवार में भी स्वर-अनुरूपता मिलती है। मूल शब्द के स्वरों के वज़न पर अधिकतर प्रत्ययों का रूप संयोग के समय परिवर्तित कर लिया जाता है।

(६) शब्दारम्भ में घोष व्यंजन नहीं मिलते पर बीच में आने वाले अनुनासिक व्यंजन या अकेले व्यंजन के पश्चात् घोष व्यंजन अवश्य रहते हैं। तामिल में यह प्रवृत्ति अनिवार्यतः मिलती है, पर अन्य में इसके अपवाद भी हैं।

(७) मुर्द्धन्य ध्वनियों (ट वर्ग) का यहाँ प्राधान्य है। इसी कारण अन्य भाषा-भाषी को इस परिवार की किसी भाषा में दिया जानेवाला भाषण ऐसा ज्ञात होता है जैसे कोई घड़े में पत्थर डालकर ज़ोर से हिला कर बजा रहा हो। कुछ लोगों का विश्वास है कि संस्कृत में मूर्द्धन्य ध्वनियाँ इसी परिवार के प्रभाव से आईं, वे मूल-भारोपीय भाषा में नहीं थीं।

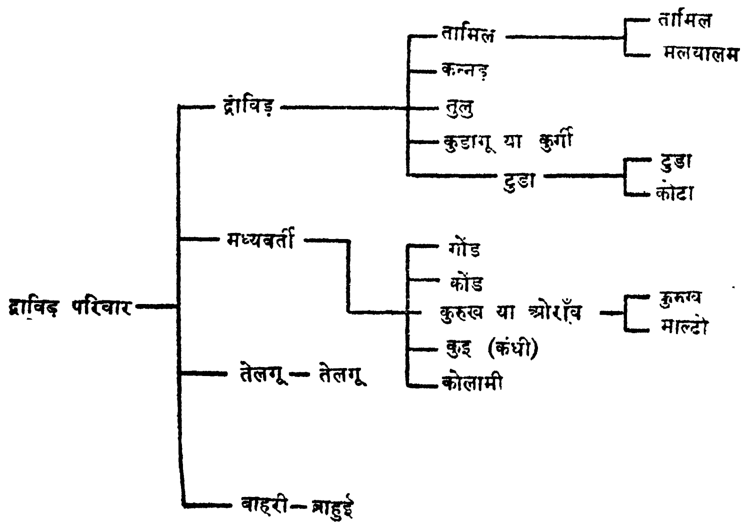
(८) इस परिवार की भाषाओं में दो वचन होते हैं। बहुवचन प्रत्यय जोड़ कर बनता है जैसा कि हम ऊपर के उदाहरण में देख चुके हैं। नपुंसक शब्द प्रायः एक-वचन ही होते हैं। उत्तम पुरुष सर्वनाम में बहुवचन के दो रूप होते हैं। जिनमें से एक में श्रोता भी अन्तर्भूत रहता है। गिनती भारोपीय परिवार की भाषाओं की भाँति दस पर आधारित हैं।

(६) लिंग तीन होते हैं। संज्ञा एवं विशेषण को स्त्रीलिंग और पुलिंग बनाने के लिए अन्य पुरुष सर्वनाम के स्त्रीलिंग और पुलिंग रूप जोड़ दिए जाते हैं।

(१०) संज्ञा के दो वर्ग होते हैं। एक का नाम है उच्च या सज्ञानी और दूसरे का निम्न या अज्ञानी। कुछ संज्ञाएँ क्रिया का भी कार्य करती हैं।

(११) यहाँ की क्रियाएँ कुछ विचित्र होती हैं। पुरुषवाची सर्वनाम उसमें पुरुष का बोध कराने के लिए जोड़ दिए जाते हैं। कर्मवाच्य का बोध सहायक क्रिया द्वारा कराया जाता है। उसके स्वतन्त्र रूप नहीं होते। भारोपीय भाषाओं के अर्थ में सच्ची क्रिया इस परिवार में होती ही नहीं।

विभाजन



'तामिल' भाषा उत्तरी लंका एवं पूर्वी किनारे पर मद्रास नगर के उत्तर से लेकर कुमारी अन्तरीप तक बोली जाती है। इस परिवार की यह सबसे प्रमुख भाषा है। इसका वाङ्मय बहुत ही विशाल है, जिसमें सातवीं सदी से आज तक साधना के पुष्प खिलते चले आ रहे हैं, और जो हिन्दी, बँगला आदि के समकक्ष खड़ा होने की क्षमता रखते हैं। इसमें काव्य की भाषा जिसे 'शेन' (=पूर्ण) कहते हैं, बोल-चाल की भाषा 'कोडुन' (ग्रामीण) से भिन्न है। 'शेन' में संस्कृत शब्दों की बहुलता है।

'मलयालम' इसी की एक शाखा है जो नवीं सदी के लगभग तामिल से पृथक् हुई। यह मलाबार तट पर बंगलौर के दक्षिण में एक पतली और छोटी पेटी में फैली हुई है। पास ही पश्चिम ओर बसे लक्ष द्वीप में भी यही बोली जाती है। ब्राह्मणों के प्रभाव से यह भी संस्कृत-बहुल हो गई है, केवल कुछ मुसलमान जिन्हें 'मोपला' कहते हैं, आर्य (हिन्दू) संस्कृति दूर रहने के कारण इसके मूल रूप का प्रयोग करते हैं, जिसमें आर्य शब्द बहुत कम हैं। १३वीं सदी से ही इसमें साहित्य मिलता है। त्रावणकोर और कोचीन के राज्यों ने इस साहित्य को उन्नत बनाने का प्रशंसनीय कार्य किया है।

'कन्नड़' का क्षेत्र कुर्ग के पूर्वी भाग, पूर्वी प्रदेश के कुछ अंशों को छोड़ कर पूरे मैसूर, मद्रास प्रान्त के पश्चिमी भाग तथा हैदराबाद और बम्बई के कुछ हिस्सों में पड़ता है। इसकी भाषा तामिल के और लिपि तेलगू के समीप है। द्राविड़ भाषाओं में यह सबसे प्राचीन मानी जाती है। चौथी-पाँचवी सदी तक के पुराने लेख मिलते हैं। इसमें पर्याप्त साहित्य भी है। इसकी काव्य की भाषा बहुत ही आलंकारिक और अस्वाभाविक है।

'तुलु' भाषा कुर्ग और बम्बई प्रान्त की सीमा पर एक छोटे क्षेत्र में बोली जाती है। इसमें साहित्य नहीं है। द्राविड़ भाषाओं के विशेषज्ञ तथा अधिकारी विद्वान् कैल्डवेल के अनुसार विकास की दृष्टि से विश्व की उच्चतम भाषाओं में इसका स्थान है।

'कुडागु' कुर्ग की भाषा है। इसमें कन्नड़ और तुलु दोनों ही के कुछ-कुछ लक्षण मिलते हैं, इसी कारण इसे दोनों के बीच की भाषा कहा जाता है। इसका क्षेत्र भी दोनों के बीच में पड़ता है।

'टुडा' और 'कोटा' भाषाएँ नीलगिरि के जंगली लोगों की बोली है। इन लोगों की संख्या दिन पर दिन घटती जा रही है, अतः भाषा और जाति दोनों ही समाप्तो-न्मुख हैं।

'गोंड' भाषा के बोलने वाले विन्ध्य-प्रदेश में रहते हैं। बुन्देलखंड इनका केन्द्र है। गोंड भाषा तामिल से मिलती-जुलती है। बोलने वाले जंगली हैं। यह मध्यवर्ती भाग की प्रमुख बोली है, पर न तो इसकी अपनी लिपि है और न इसमें साहित्य ही है।

'कोंड' भाषा के बोलने वाले उड़ीसा की पहाड़ियों पर हैं। इनकी संख्या बहुत कम है। यह भाषा 'गोंड' से मिलती-जुलती है।

बिहार, उड़ीसा और मध्य-प्रान्त के सीमा-प्रदेश पर 'कुरुख' या 'ओरॉंव' के बोलने वाले रहते हैं। ये लगभग पौने नौ लाख हैं। भाषा तामिल से मिलती-जुलती है। इसकी शाखाएँ बहुत सी हैं।

बंगाल और बिहार की मिलन-रेखा पर राजमहल की पहाड़ी पर रहने वाले माल्टो जाति के लोगों की भाषा 'माल्टो' है। यह भाषा 'ओरॉंव' की एक शाखा है।

उड़ीसा के जंगलों में 'कुई' (कंधी) बोलने वाले जंगली लोग रहते हैं। इस भाषा का संबंध तेलगू से है।

बरार के पश्चिमी प्रदेश में कोलामी का क्षेत्र है। यह भी तेलगू से संबंधित है। मध्यप्रान्त की भीली बोली का भी इस पर प्रभाव पड़ा है। यह भी मरणोन्मुख है।

दक्षिणी पूर्वी हैदराबाद तथा आन्ध्र प्रान्त की भाषा तेलगू है। इस भाषा के बोलने वाले इतिहास प्रसिद्ध तिलंगाने या तिलंगे हैं। इसमें बारहवीं सदी तक साहित्य मिलता है। आधुनिक साहित्य तामिल से भी उच्च है। अपने परिवार की यह सबसे मधुर भाषा है। शब्द स्वरांत होते हैं। इसी कारण इसे पूर्व की इटाली भाषा कहा जाता है। संस्कृत से यह भी काफ़ी प्रभावित है।

बिलोचिस्तान के एक छोटे भाग में ब्राहुई का क्षेत्र है। इस पर ईरानी, पश्तो और बलूची का प्रभाव पड़ा है। इसके बोलने वाले लगभग सभी मुसलमान हैं, जिनकी संख्या डेढ़ लाख के लगभग है।

द्राविड़ परिवार का भारत की आर्य भाषाओं पर प्रभाव

संस्कृत से इस परिवार की भाषाएँ बहुत प्रभावित हैं, इन सबकी लिपि भी ब्राह्मी से निकली है पर इन्होंने भी आर्य भाषाओं को काफी प्रभावित किया है और आज तक प्रभावित करती जा रही हैं। क्रम से कुछ प्रमुख प्रभावों को हम ले सकते हैं—

(१) आर्य परिवार की मूर्द्धन्य ध्वनियों के मूल में द्राविड़ परिवार का प्रभाव माना जाता है।

(२) ध्वनि परिवर्तन में 'र' का 'ल' के स्थान पर (गला = गर) और 'ल' का 'र' के स्थान पर (हरिद्रा = हल्दी) आना भी इसी परिवार का प्रभाव कहा जाता है।

(३) मराठी आदि में अब तक तीन लिंग का सुरक्षित रहना भी इन्हीं का प्रभाव है, क्योंकि इनमें तीन लिंग हैं।

(४) आर्य भाषाओं में सोलह पर आधारित (सेर छटाँक, रुपया आना) माप भी इसी परिवार की देन है।

(५) आदान-प्रदान में अटवी, आलि, नीर, मीन तथा अथू आदि अनेक शब्द भी इस परिवार ने आर्य परिवार को दिये हैं।

(च) आग्नेय परिवार

इस परिवार को श्मिट महोदय ने आस्ट्रिक (दक्षिणी) परिवार कहा है। आग्नेय परिवार के दो भाग हैं। पहला भाग आग्नेयद्वीपी है जो प्रशान्त सागर के द्वीपों में फैला है, अतः उस चक्र पर विचार करते समय उस पर प्रकाश डालना उचित होगा। दूसरा भाग आग्नेय देशी है, जो यूरेशिया परिवार के अंतर्गत आता है। यहाँ इसी पर विचार किया जायेगा।

प्राचीन काल में इन भाषाओं का क्षेत्र पूर्वी भारत और हिंद-चीनी प्रायद्वीप था, पर धीरे-धीरे इनका लोप हो गया। स्याम और ब्रह्मा के कुछ जंगलों में, नीकोबार, खासी-जयंती पहाड़ियों पर, बंगाल, बिहार, मध्य प्रान्त तथा मध्य भारत के कुछ भागों में और मद्रास के गंजाम जिले में यह परिवार फैला हुआ है।

प्रमुख विशेषताएँ

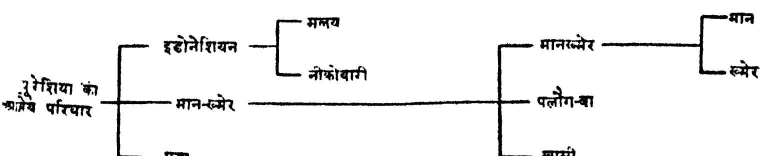
(१) इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं पर अब कुछ वियोगावस्था की ओर बढ़ रही हैं।

(२) धातुएँ प्रायः दो अक्षरों की होती हैं।

(३) पद बनाने के लिए आदि, मध्य और अंत तीनों ही स्थानों पर योग होता है।

भाषाओं पर अलग-अलग विचार करते समय अन्य विशेषताओं पर विस्तार से विचार किया जा सकेगा। मूलतः एक होने पर भी अलग-अलग हो जाने से इस परिवार की भाषाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार की विशेषताएँ विकसित हो गई हैं, जो पूरे परिवार में नहीं पाई जातीं, अतः एक स्थान पर उन पर प्रकाश नहीं डाला जा सकता।

विभाजन



मलय भाषा का क्षेत्र ब्रह्मदेश के दक्षिण मलय प्रायद्वीप में है। नीकोबारी नोको-

बार द्वीप की भाषा है। इन दोनों ही भाषाओं की प्रधान विशेषताएँ तो ऊपर जैसी ही हैं, पर इसके संबंध में कुछ और बातें इंडोनेशियन पर अलग विचार करते हम लोगों के समक्ष आयेंगी।

जैसा कि उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट है, मानख्मेर वर्ग में ३ भाषाएँ प्रधान हैं। 'मान' भाषा बर्मा के किनारे, पीगू, बतौन तथा मर्तबान की खाड़ी के पास बोली जाती है। पहले की यह बहुत मँजी हुई साहित्यिक और राजभाषा है। स्याम के कुछ भागों में भी इसका प्रचार है।

मान वर्ग के ही ख्मेर लोग भी हैं। ये कंबुज के प्राचीन निवासी हैं, पर अब ब्रह्म-देश और स्याम के सीमाप्रान्तों पर रहते हैं। इनकी भाषा 'ख्मेर' भी मान की भाँति साहित्यिक है।

बरमा के उत्तरी जंगलों में रहने वालों की बोली 'पलौंग' और 'वा' है। 'खासी' भाषा खसिया और जन्तिया की पहाड़ियों पर बोली जाती है। इसके चारों ओर एका-क्षर परिवार की भाषाओं का समूह है, और इसी कारण अपने मूल वर्ग से यह भाषा बहुत दिनों से अलग हो गई है, जिसके फलस्वरूप इधर इसमें कुछ भिन्नताएँ आ गई हैं। 'नीकोबारी' को भी कुछ लोग मान्ख्मेर में ही मानते हैं, यद्यपि इंडोनेशियन से भी कम साम्य नहीं है।

मुंडा

आग्नेय परिवार की मुंडा भाषाओं का प्रधान क्षेत्र भारत है। पश्चिमी बंगाल, बिहार की दक्षिणी पहाड़ियाँ, उड़ीसा के कुछ जंगल, मध्य भारत तथा मध्य प्रदेश के सीमाप्रान्त, नेपाल के कुछ भाग, संयुक्त प्रान्त के उत्तरी प्रदेश की कुछ तराइयाँ तथा मद्रास का गंजाम जिला आदि मुंडा के प्रमुख प्रदेश हैं। इसे पहले 'कोल' भाषा कहा जाता था, पर संस्कृत में 'कोल' शब्द का अर्थ सूअर है, अतः इसका प्रयोग उचित नहीं समझा गया। मैक्समूलर महोदय ने इसे मुंडा नाम दिया। 'मुंडा' शब्द इसी परिवार की एक भाषा मुंडारी का है जिसका अर्थ 'मुखिया' है। कुछ लोग इसे मुंड, कुछ शबर या शाबर कहना भी ठीक समझते हैं।

मुंडा भाषा-भाषी लोग आर्य और द्राविड़ लोगों से पूर्व भारत में आए थे और चारों ओर फैले थे। बाद के आने वालों ने इनको मार कर भगा दिया।

मुंडा भाषाओं पर यहाँ विशेष रूप से विचार करना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि भारत के अन्य तीन परिवारों पर इसका महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है।

मुंडा की प्रधान विशेषताएँ

(१) आकृति की दृष्टि से ये भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं। तुर्की की भाँति इनका भी योग सरल और स्पष्ट होता है।

(२) इनका ध्वनि-समूह आर्यभाषाओं की भाँति घोष, अघोष, महाप्राण और अल्पप्राण से ही बना है पर उसमें कुछ विशेषताएँ हैं। (क) उनकी महाप्राण ध्वनियों में हम लोगों की अपेक्षा महाप्राणत्व की मात्रा अधिक होती है। (ख) हमारे स्वरों, अर्द्धस्वरों और व्यंजनों (स्पर्श, ऊष्म, पार्श्विक तथा उत्क्षिप्त आदि) के अतिरिक्त वहाँ एक अन्य प्रकार की ध्वनि पाई जाती है, जिसे अर्द्धव्यंजन की संज्ञा दी जा सकती है। इन अर्द्धव्यंजनों के उच्चारण में साँस पहले क्लिक ध्वनियों की भाँति अंदर खींची जाती है, और स्फोट के समय कभी-कभी इनमें अनुनासिकता भी आ जाती है।

(३) पद बनाने में प्रत्यय तथा उपसर्ग लगते हैं। कभी-कभी बीच में भी शब्द जोड़े जाते हैं। मंझी, मपंझी का उदाहरण हम लोग भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण करते समय ले चुके हैं।

(४) मूल शब्द अधिकतर दो अक्षरों के होते हैं, जिनमें यदि अंत्याक्षर दीर्घ और आदि का अक्षर ह्रस्व हो तो स्वराघात अंतिम पर और नहीं तो आदि पर होता है।

(५) एक ही शब्द चीनी की भाँति संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि सभी का यथा-स्थान काम देता है।

(६) प्राचीन आर्य भाषाओं की भाँति तीन वचन होते हैं। इसके लिए पुरुष-वाचक (अन्यपुरुष) के रूप जोड़ दिए जाते हैं। जैसे खेरवारी में—

हाड़ = आदमी
हाड़कीन = दो आदमी
हाड़को = कई आदमी

उत्तम पुरुष के द्विवचन और बहुवचन में दो-दो रूप होते हैं। जैसे हम के लिए 'अले' और 'अबोन' दो* शब्द हैं।

* 'अले' में केवल कहने वाले का बहुवचन है पर 'अबोन' में सुनने वाला भी शामिल है। यदि किसी से कहें कि हम (अबोन) चलेंगे तो आशय यह हुआ कि सुननेवाला भी चलेगा।

(७) लिंग दो होते हैं। स्त्रीवाचक और पुरुषवाचक शब्द जोड़ कर इनका बोध कराया जाता है। जैसे—

आडिया कूल = बाघ

एंगा कूल = बाघिन

कुछ थोड़े प्रयोग हिन्दी की भाँति 'ई' और 'आ' से भी बनते हैं—

कूड़ी = लड़की

कोड़ा = लड़का

इसे आर्यभाषाओं का मुंडा भाषाओं पर प्रभाव माना जाता है।

शब्दों का विभाजन सजीव और निर्जीव पर आधारित है, जिनमें निर्जीव पदार्थ एक प्रकार से स्त्रीलिंग समझे जाते हैं। लिंग का क्रिया पर प्रभाव नहीं पड़ता।

(८) इन भाषाओं में दस तक संख्याएँ हैं। इनके अतिरिक्त बीस के लिए भी एक नाम है। इन्हीं ग्यारह संख्याओं की सहायता से जोड़ कर, घटाकर या कुछ और तरीकों से सभी संख्याएँ प्रकट की जाती हैं।

उदाहरणार्थ—

बारेआ = दो

पोनेआ = चार

गैल = दस

इसि = बीस

इसी आधार पर—

गैल खन पोनेआ (१० + ४) = चौदह (१४)

बारेआ कम इसि (२० − २) = अठारह (१८)

पोनेआ इसि (४ × २०) = अस्सी (८०)

(९) क्रिया में 'अ' को जोड़े बिना वह पूर्ण नहीं समझी जाती। 'दल्केत' का अर्थ मारा हो गया पर इसे 'दल केत अ' कहेंगे। संशयात्मक क्रियाओं में यह 'अ' नहीं जोड़ा जाता।

(१०) ज़ोर देने के लिए शब्द को या शब्दांश को दो बार कह देते हैं—

दल् = मारना

दल्-दल् = बार-बार मारना

ददल् = खूब मारना।

स्वर से आरंभ होने वाले शब्दों में ज़ोर देने के लिए बीच में क् जोड़ दिया जाता है—

अगु = ले जाना

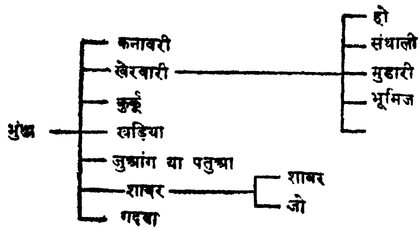
अक्गु = बार-बार ले जाना

(११) प्रेरणार्थक क्रिया बनाने के लिए अंत में 'ओची' प्रत्यय जोड़ी जाती है।

(१२) क्रिया रूपों में प्रत्यय जोड़ कर कालों का बोध कराया जाता है।

(१३) इन भाषाओं में अव्यय स्वतंत्र शब्द हैं, और अव्यय अर्थ के अतिरिक्त भी इनका अर्थ है। जैसे—'मैंने-खन' का अर्थ 'लेकिन' है पर कहीं-कहीं 'यदि तुम कहो' भी इसका अर्थ हो जाता है।

विभाजन



कनावरी का क्षेत्र शिमला के आसपास है। ऊपर के चित्र में दिखलाई हुई पाँच बोलियों के वर्ग को खेरवारी कहते हैं। इसका क्षेत्र विन्ध्याचल के पूर्वी भाग में है। संथाली और मुंडारी इसकी प्रधान बोलियाँ हैं। मुंडा शब्द इसी मुंडारी का है। संथाली संथाल लोगों की भाषा है। इसके बोलने वाले लगभग २५ लाख हैं। संथाली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें किसी भी शब्द के आरंभ में संयुक्त व्यंजन नहीं आता।

कुर्कू मालवा के आस-पास तथा मध्य प्रान्त और मेवाड़ में बोली जाती है। खड़िया (राँची के समीप), जूआंग (केंदूझर और ढेंकानल राज्य में) शाबरी और दगवा (आन्ध्र की सीमा पर) ये सभी अब मरणोन्मुख हैं। शाबरी शिकारियों की भाषा का नाम 'जो' है। जूआंग भाषा बिल्कुल असभ्यों की है। इसके बोलने वाले अभी तक नंगे रहते हैं।

मुंडा भाषाओं का प्रभाव

एकाक्षर परिवार पर विचार करते समय हम कह चुके हैं कि उनकी कुछ भारतस्थ

भाषाओं पर मुंडा का प्रभाव पड़ा है। इसके फलस्वरूप उनमें (क) संख्याओं को बीस के आधार पर गिनना, (ख) द्विवचन का प्रयोग, (ग) उत्तम पुरुष सर्वनाम के दो रूप, और (घ) जीव और निर्जीव शब्दों में भेद, आदि कितनी ही बातें आ गई हैं। द्राविड़ परिवार भी इनके प्रभाव से नहीं बच सका है। उदाहरण के लिए कुछ संज्ञाओं का क्रियारूप में प्रयोग तथा उत्तम पुरुष बहुवचन के दो रूप आदि। मुंडा का आर्यपरिवार पर तो और भी अधिक प्रभाव पड़ा है। यहाँ कुछ प्रमुख लिए जा सकते हैं—

(क) वस्तुओं की कौड़ियों में गिनती।

(ख) बिहारी बोलियों में क्रिया की जटिलता।

(ग) मध्य प्रान्त की मालव आदि कुछ बोलियों में उत्तम पुरुष बहुवचन के 'हम' और 'अपन' तथा गुजराती में 'अमे' और 'आपणे' दो रूपों का मिलना।

(घ) भोजपुरी बँगला आदि की क्रियाओं में लिंगसूचक उपकरणों की कमी।

(ङ) कोड़ी तथा गोड़ा आदि कुछ मुंडा भाषा के शब्द ज्यों के त्यों हिंदी आदि आधुनिक आर्य भाषाओं में ले लिए गए हैं।

(७) अनिश्चित भाषाएँ

यहाँ उन भाषाओं पर थोड़ा-थोड़ा जान लेना है जो अभी तक किसी परिवार में नहीं रखी जा सकीं। इनमें कुछ तो प्राचीन या मृत हैं और कुछ आज भी वर्तमान हैं।

इन अनिश्चित भाषाओं के दो वर्ग बनाए जा सकते हैं—

(क) प्राचीन—अर्थात् वे भाषाएँ जो प्राचीन काल में बोली जाती थीं और अब लुप्त हो गई हैं।

(ख) वर्तमान—जो आज भी बोली जाती हैं।

प्राचीन वर्ग में ६ भाषाएँ आती हैं और वर्तमान में ६। यहाँ इनका अत्यंत संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

(क) प्राचीन

(१) एत्रुस्कान

यह भाषा इटली के मध्य और उत्तरी प्रदेश में उस समय बोली जाती थी जब रोमन साम्राज्य की स्थापना भी नहीं हुई थी। इसे विद्वान् बहुत दिनों तक भारोपीय परिवार की ही समझते रहे हैं पर इधर जब से कुछ शिलालेख और एक पुस्तक की

प्राप्ति हुई है यह विचार बदल गया है। भूमध्य सागर के कुछ द्वीपों की मूल भाषाओं से इस भाषा का कुछ संबंध अवश्य ज्ञात होता है, पर इस संबंध में आवश्यक खोज यथेष्ट रूप में अभी तक नहीं हुई है, अतः निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता।

(२) सुमेरियन

सुमेरियन लोग बेबीलोन के शासक थे। इन लोगों का राज्य कई हज़ार वर्ष ई० पू० ईरान की खाड़ी तक फैला था। इनकी भाषा सुमेरियन बहुत ही सुसंस्कृत और साहित्य-संपन्न थी। ये लोग बहुत सभ्य और ज्ञान में बढ़े-चढ़े थे। इन लोगों की समाप्ति के कारण लगभग ७०० वर्ष ई० पू० इनकी सभ्यता और भाषा दोनों ही समाप्त हो गईं। आज इस भाषा के चार हज़ार वर्ष ई० पू० तक के लेख असीरियन लोगों द्वारा अपनी भाषा में किए गए सुमेरी की साहित्यिक पुस्तकों के कुछ अनुवाद तथा कोष और व्याकरण आदि मिलते हैं। कुछ लोगों ने हड़प्पा और मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता से सुमेरी लोगों का संबंध जोड़ने का प्रयास किया था, पर वह सफल नहीं हुआ।

सुमेरी भाषा अश्लिष्ट योगात्मक है, पर यूराल अल्टाइक परिवार से पूरी तरह नहीं मिलती, अतः उस परिवार में नहीं रखी जा सकती।

(३) मितानी

दज़ला और फरात नदियों के पास यह भाषा बोली जाती थी। इसकी सामग्री अधिक नहीं मिल सकी है। केवल एक धर्मपुस्तक तथा कुछ व्यक्तियों के नाम मिले हैं, अतः इसके संबंध में कुछ अधिक कहना संभव नहीं है।

(४) कोसी

इस भाषा में भी केवल कुछ नाम आदि ही मिले हैं, अतः विशेष इसके संबंध में भी नहीं कहा जा सकता।

(५) वन्नी

इसके भी लगभग एक हजार ई० पू० के कुछ शिलालेख मात्र मिले हैं।

(६) एलामाइट*

इस भाषा के संबंध में भी सामग्री के अभाव के कारण कुछ नहीं कहा जा सकता।

* अनिश्चित वर्ग की प्राचीन भाषाओं में लोग एक सातवीं भाषा हिट्टाइट को

(ख) वर्तमान

(१) कोरियाई

कोरियाई जैसा कि नाम स्पष्ट है वर्तमान कोरिया की भाषा है। अधिक दिनों तक चीनी प्रभाव में रहने के कारण चीनी शब्दों की इसमें अधिकता है। यह कुछ बातों में जापानी से मिलती-जुलती है। इसकी आधुनिक लिपि ब्राह्मी लिपि की ही पुत्री है। आकृति की दृष्टि से यह अश्लिष्ट-योगात्मक भाषा है, पर यूराल अल्टाइक परिवार में नहीं रखी जा सकती।

(२) एनू

इस भाषा के बोलने वाले जापान से उत्तर कुछ टापुओं में पाए जाते हैं। इसमें दो-तीन बोलियाँ हैं। कोरियाई की ही भाँति यह भी अश्लिष्ट-योगात्मक है। इसमें साहित्य का नितान्त अभाव है।

(३) बास्क

फ्रांस और स्पेन की सीमा पर पेरीनीज़ पर्वत के पश्चिमी भाग में बास्क भाषा बोली जाती है। यह चारों ओर से आर्य भाषाओं से घिरी है। बोलने वालों की संख्या दो लाख से कुछ ही ऊपर है। पहाड़ी भाग होने से आने-जाने की सुविधा न होने के कारण इसकी सात-आठ बोलियाँ विकसित हो गई हैं। इधर लगभग चार सौ वर्षों से कुछ साहित्य भी मिलता है। सबसे पुरानी पोथी १५४५ ई० की एक कविता पुस्तक है।

बास्क की प्रधान विशेषताएँ

(१) यह अश्लिष्ट अन्तयोगात्मक भाषा है।

(२) उपपद (article) परसर्ग की भाँति बाद में लगता है—

जाल्दी = घोड़ा

जाल्दी अ = वह घोड़ा (The Horse)

(३) सर्वनाम सेमिटिक और हैमिटिक परिवार से मिलते-जुलते हैं।

(४) क्रिया के रूप बहुत ही कठिन होते हैं। बिना अभ्यास के अधिकार पाना असंभव है।

भी मानते रहे हैं, पर अब इसे भारोपीय परिवार का माना जाने लगा है। प्रस्तुत पुस्तक में भी इसे भारोपीय परिवार में ही रखा गया है।

(५) क्रिया और सर्वनाम का इसमें संयोग होता है।

दकारकिओत = मैं इसे उसके पास ले जाता हूँ।

(६) वाक्य की बनावट कठिन नहीं होती। क्रिया अधिकतर हिन्दी की भाँति अन्त में लगती है।

(७) लिंग-विचार केवल क्रिया में होता है। आश्चर्य यह है कि कहने वाले के अनुसार क्रिया का लिंग परिवर्तित न होकर जिससे बात कही जाय उसके अनुसार परिवर्तित होता है।

१. सामान्य वाक्य—एज़ातकित् = मैं इसे नहीं जानता

२. जब पुरुष से कहा जाय—एज़ातकिआत्

३. जब स्त्री से कहा जाय—एज़ातकिनात्

(८) क्रिया में आदरसूचक और निरादरसूचक भी दो रूप होते हैं।

(९) धातु शब्दों में इतनी छिप जाती है कि पता नहीं चलता। 'एउ' धातु से 'नेबन' (मेरे पास था) शब्द बनता है जिसमें 'एउ' का कोई भी स्वरूप स्पष्ट नहीं है।

(१०) शब्दसमूह अधिक नहीं है। सूक्ष्म भावों के लिए शब्दों का बहुत अभाव है।

विभाजन

बास्क की बोलियों को युस्कोरियन या युस्कारा कहते हैं, जिनमें से प्रधान निम्न हैं—

बास्क—
- लेबोर्डिन
- सुलेटिन
- नराइस
  - बासनवराइस
  - हउट-नवराइस
- बिस्केयन

(४) हाइपर बोरी

इसमें कई बोलियाँ हैं, जो साईबेरिया के उत्तरी पूर्वी प्रदेश तथा समीप के कुछ द्वीपों में लेना नदी से सखालिन तक बोली जाती हैं।

(५) जापानी

यह जापान की भाषा है। अभिव्यंजना-शक्ति तथा साहित्य दोनों ही दृष्टियों से जापानी संसार की सर्वोच्च भाषाओं में है। अभी हाल तक भाषा-विज्ञान के विद्वान्

'जापानी' को किसी भी भाषा परिवार में नहीं रख पाते रहे हैं। पर, इधर लोग इसे यूराल-अल्टाई परिवार में रखने के पक्ष में हो रहे हैं। प्रमुख रूप से जापानी विद्वान् तो पूर्ण रूप से इस पक्ष में हैं।

जापानी में लगभग १२०० वर्ष प्राचीन साहित्य मिलता है। सबसे पुरानी पोथी शिंतो धर्म की 'कोसिकी' है। यहाँ की लिपि मूलतः चीनी ही है। उसे जापानी भाषा के अनुकूल बना लिया गया है। कहा जाता है कि जिस व्यक्ति ने चीनी लिपि को जापानी भाषा के अनुकूल बनाया वह संस्कृत का विद्वान् था। संभवतः इसीलिये जापानी वर्णमाला का नाम 'अइउएओ' है।

जापानी भाषा के मौखिक और लिखित रूप में पर्याप्त अन्तर रहा है। लिखने की भाषा को 'बुङो' और बोलने की भाषा को 'कोङो कहते रहे हैं। १८६० ई० के आस-पास लिखित और मौखिक रूप को एक करने का आंदोलन चला। यमाद मिमियो तथा हुताबते शिमे इन दो व्यक्तियों ने दोनों रूपों को एक करने का प्रारंभिक कार्य किया और 'उकीगुमो' नामक उपन्यास (१८८७ ई०) बोलचाल की भाषा में लिखा। अब बहुत अंशों में दोनों का रूप एक हैं।

शिष्टता की दृष्टि से जापानी भाषा संसार में सबसे आगे है। प्रयोगों की दृष्टि से बादशाह की भाषा, उच्च लोगों की भाषा, सामान्य लोगों की भाषा तथा स्त्रियों की भाषा में यहाँ भिन्नता है। अन्य भाषाओं में सभी के पिता के लिये 'पिता' शब्द है, पर जापानी में अपने पिता के लिये 'चिचि' शब्द है तो आपके पिता के लिए 'उतो-समा'। यह शिष्टता कुछ उसी प्रकार की है जैसे उर्दू में दूसरे का स्थान पूछने के लिये "जनाब का दौलतख़ाना कहाँ है" कहते हैं और अपने स्थान के लिए "मेरा गरीब खाना······है" कहते हैं।

जापानी भाषा में चीनी से बहुत से शब्द उधार लिए गये हैं।

इस समय टोकियो की बोली का ही जापान भर में बोलबाला है।

प्रधान विशेषताएँ

(१) भाषा श्लिष्ट अंतयोगात्मक है, पर साथ ही कुछ उदाहरण इसके विरुद्ध भी मिलते हैं।

(२) संज्ञा शब्दों का सम्बन्ध परसर्गों से स्पष्ट किया जाता है।

दे = द्वारा
नि = में

नो = का

उए = पर

हसामी दे किरु = कैंची से काटना

नेको नो त्सुमे = बिल्ली का पंजा

(३) बहुवचन बनाने के लिये पुनरुक्ति का प्रचलन है—

यामा = पहाड़

यामायामा = कई पहाड़

(४) ध्वनिसमूह बहुत सरल है। संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग नहीं के बराबर है।

(६) अंडमनी

यह अंडमन द्वीप की भाषा है। इसे भी अभी तक किसी परिवार में नहीं रखा जा सका है।

(७) करेनी

इसका क्षेत्र रंगून के पूरब में है। इसके भी परिवार का पता नहीं है।

(८) बुरुशास्की

काश्मीर के उत्तरी पूर्वी कोने पर इस भाषा का प्रदेश है। इसे 'खजुना' भी कहते हैं।

(९) मानी

इसका क्षेत्र करेनी के पास ही है। ग्रियर्सन इसको तथा करेनी को अलग-अलग परिवार की मानते हैं।

[ज] भारोपीय परिवार

संसार का यह सबसे प्रसिद्ध भाषा परिवार है। इसका महत्व तीन दृष्टियों से अधिक है। एक तो इस परिवार के बोलने वाले संसार में सबसे अधिक हैं। दूसरे यह बहुत बड़े भूभाग में फैला हुआ है। तीसरे सभ्यता, साहित्य तथा विकास की दृष्टि से भी यह और परिवारों से आगे है और आज विश्व में इसी परिवार के बोलने वालों का बोलबाला है।

नाम

इस परिवार का क्षेत्र उत्तरी भारत से लेकर ईरान और आर्मेनिया होता हुआ

बीच के (यूराल-अल्टाइक तथा बास्क) कुछ भागों को छोड़ कर ब्रिटेन और ब्रिटिश द्वीपों के पश्चिमी भाग तक है। इस परिवार का उचित नामकरण आरंभ से ही विवादास्पद रहा है और आज भी कोई संतोषजनक नाम नहीं है।

भारोपीय परिवार को पहले 'इन्डो-जर्मेनिक' कहा गया था क्योंकि इसके पूर्वी छोर पर भारतीय और पश्चिमी छोर पर जर्मेनिक भाषाएँ हैं। पर उसके भी पश्चिम इस परिवार की केल्टिक शाखा है, अतः यह नाम उचित नहीं जान पड़ा और इसी कारण छोड़ भी दिया गया, यद्यपि जर्मनी में अब भी यही नाम प्रचलित है।

भौगोलिक दृष्टि से 'इंडो-केल्टिक' नाम ठीक था और कुछ प्रयोग में भी आया पर चल नहीं सका, क्योंकि इसमें केवल दोनों छोर ही थे। नाम से परिवार के संबन्ध में निश्चित चित्र नहीं खड़ा होता था।

इसे 'आर्य परिवार' भी कहा गया पर सत्य यह है कि आर्य परिवार इस परिवार की एक शाखा (भारतीय ईरानी) का नाम है, अतः वह पूरे परिवार का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। इसी प्रकार 'सांस्कृतिक' और 'काकेशियन' नाम भी झाँक कर चले गये।

कुछ लोग सेमिटिक और हैमिटिक की वज़न पर 'जफेटिक' नाम रखना चाहते थे। बाइबिल में इन आधारों पर मनुष्य जाति का वर्गीकरण किया गया है। पर, यह वर्गीकरण पूर्णतः अवैज्ञानिक और अमान्य था, अतः नहीं चल सका। इसमें सबसे बड़ी दिक्कत तो यह थी कि कितने ही जफेटिक कहलाने वाले लोग ऐसी भाषाएँ बोलते हैं जिनका भारोपीय परिवार से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

अंतिम नाम जो आजकल भी प्रचलित है 'भारोपीय' (भारत-यूरोपीय) है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह नाम भी पूर्णतया संतोषजनक नहीं है। इस नामकरण का आधार भौगोलिक है क्योंकि इस परिवार की शाखाएँ भारत से लेकर यूरोप तक फैली हैं। पर यदि यही आधार माना जाय तो अमेरिका और अफ्रीका के बहुत से भागों में भी अब इस परिवार की भाषाओं (अंग्रेजी, स्पैनिश, फ्रेंच, डच आदि) का प्रचार है और इस नाम में ये क्षेत्र नहीं सम्मिलित हैं। फिर भी किसी अन्य अधिक उपयुक्त नाम के अभाव में 'भारोपीय' नाम काम दे सकता है, और दे रहा है।

भारोपीय परिवार की प्रधान विशेषताएँ

(१) यह परिवार श्लिष्ट-योगात्मक है।

(२) योग अधिकतर सेमिटिक या हैमिटिक भाषाओं की भाँति अंतर्मुखी न होकर बहिर्मुखी होता है।

(३) जो प्रत्यय जोड़े जाते हैं, उनके स्वतंत्र अर्थ का पता नहीं है। एक दो के विषय में [जैसे अंग्रेजी का ly (Manly)] विद्वानों ने कुछ अनुमान लगाया है पर शेष संदिग्ध हैं। पर अनुमान ऐसा है कि अन्य भाषाओं की प्रत्ययों की भाँति भारोपीय प्रत्यय भी कभी स्वतंत्र शब्द थे, उनका अर्थ था, कालान्तर धीरे-धीरे ध्वनि-परिवर्तन के चक्र में पड़ने से अनका आधुनिक रूप मात्र शेष रह गया।

(४) इस परिवार की भाषाएँ आरंभ में संयोगात्मक थीं, पर धीरे-धीरे दो-एक को छोड़ कर सभी वियोगात्मक हो गईं, जिसके फलस्वरूप, परसर्ग तथा सहायक क्रिया की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही कुछ स्थान-प्रधान (Positional) भी हो गई हैं। जैसे 'राम ने मोहन को मारा' में 'राम' को 'मोहन' के स्थान पर और 'मोहन' को 'राम' के स्थान पर कर देने से अर्थ परिवर्तित हो जावेगा पर संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं में यह बात नहीं थी।

(५) धातुएँ अधिकतर एकाक्षर होती हैं। इनमें प्रत्यय जोड़कर पद या शब्द बनते हैं।

(६) प्रत्यय दो प्रकार के होते है। जो प्रत्यय धातु में जोड़े जाते हैं उन्हें कृत (Primary) कहते हैं और जो कृत लगाने के बाद जोड़े जाते हैं उन्हें तद्धित (Secondary)। तद्धित के भी तीन भेद हैं जो क्रम से शब्द, कारक के उपयुक्त पद और कालानुसार क्रिया बनाते हैं।*

(७) इस परिवार में पूर्वसर्ग या पूर्व विभक्तियाँ सम्बन्ध-सूचना देने के लिये या वाक्य बनाने के लिये बन्टू आदि कुलों की भाँति नहीं प्रयुक्त होतीं। उनका प्रयोग होता है, और पर्याप्त मात्रा में होता है पर उनसे शब्दों या धातुओं के अर्थ को परिवर्तित करने का काम लिया जाता है। जैसे विहार, आहार, परिहार, आदि में 'वि', 'आ', और 'परि' आदि लगाकर किया गया है।

(८) समास-रचना की विशेष शक्ति इस परिवार में है। इसकी रचना के समय विभक्तियों का लोप हो जाता है और समास द्वारा बने शब्द का अर्थ ठीक वही नहीं रहता जो उसके अलग-अलग शब्दों को एक स्थान पर रखने से होता। उसमें एक नया अर्थ आ जाता है। जैसे काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा अर्थात् काशी की वह सभा जो नागरी का प्रचार करती है। वेल्श भाषा में समासों से बहुत बड़े-बड़े शब्द

* इन्हें क्रम से Wordbuilding suffixes, case-indicating suffixes और verbal suffixes कह सकते हैं।

बनते हैं। किसी टापू में बसे एक वेल्श ग्राम का नाम जो समास पर आधारित है ५८ अक्षरों का है।

(६) इस परिवार की एक प्रधान विशेषता यह भी है कि स्वर-परिवर्तन से संबन्धतत्व सम्बन्धी परिवर्तन हो जाता है। आरम्भ में स्वराघात के कारण ऐसा हुआ होगा। स्वराघात के कारण स्वर-परिवर्तन हो गया और जब धीरे-धीरे प्रत्ययों का लोप हो गया तो वे स्वर-परिवर्तन ही सम्बन्ध-परिवर्तन को भी स्पष्ट करने लगे। अंग्रेज़ी की कुछ बली क्रियाओं में यह बात स्पष्टतः देखी जा सकती है—drink, drank, drunk। यहाँ आई (i) का (a) और यू (u) में परिवर्तन हुआ है, और इसी से उनमें काल-संबन्धी परिवर्तन आ गया है।

(१०) एक स्थान से चलकर अलग होने पर इस परिवार की भाषाओं का अलग-अलग विकास हुआ ।और सभी में प्रत्ययों की आवश्यकता पड़ी, अतः यहाँ प्रत्ययों की संख्या बहुत अधिक हो गई है। अन्य किसी भी परिवार में इनकी संख्या इतनी अधिक नहीं है।

भारोपीय मूल भाषा

यह पूरा परिवार कभी एक भाषा रहा होगा, जिसे हम भारोपीय भाषा कह सकते हैं। भारोपीय भाषा-भाषी लोगों के जीवन पर प्रकाश डालना तो प्राचीन संस्कृति का विषय है, पर यहाँ उनकी भाषा और उसके विभिन्न पक्षों पर विचार कर लेना उचित होगा। उस मूल भारोपीय भाषा के सम्बन्ध में सारी बातें यद्यपि अनुमान पर ही आधारित हैं, पर, अनुमान वैज्ञानिक और तर्कपुष्ट है, अतः ऐसी आशा की जाती है कि वह बहुत अंशों में ठीक ही होगा। हम भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते समय कह चुके हैं कि भाषाओं के आधुनिक रूप से अध्ययन प्रारंभ कर धीरे-धीरे पीछे चलते-चलते मूल या आदिम रूप तक पहुँच सकते हैं। ऐसा ही अध्ययन इस निम्न अनुमान का आधार है।

भारोपीय मूल भाषा का ध्वनि-समूह

भारोपीय मूल भाषा के ध्वनि-समूह के ज्ञान के लिये इस परिवार की शाखाओं के प्राचीनतम उपलब्ध शब्दों का विवेचन करते हैं और उसी आधार पर ध्वनियों का निर्धारण करते हैं। यहाँ वह विवेचन तो नहीं प्रस्तुत किया जा सकता, क्योंकि उतना विस्तार प्रस्तुत पुस्तक का विषय नहीं है, पर इस क्षेत्र में विद्वानों ने जो अनुसंधान किए हैं उनके निष्कर्ष-स्वरूप ज्ञात ध्वनियाँ दी जा सकती हैं।

मूल भारोपीय भाषा में स्वर, अर्द्धस्वर, अर्द्धव्यंजन और व्यंजन, चार प्रकार की ध्वनियाँ थीं, जो निम्नांकित हैं—

(i) स्वर

(क) अति ह्रस्व* ə
(ख) ह्रस्व—अ, इ, उ, ऍ, ऑ
(ग) दीर्घ—आ, ई, ऊ, ए, ओ

(ii) अर्द्धस्वर

य्, व्

(iii) अर्द्धव्यंजन†

(क) ह्रस्व—ऋ, ऌ
(ख) दीर्घ—ॠ, ॡ
(ग) ह्रस्व तथा दीर्घ—न्, म्

(iv) व्यंजन

(क) स्पर्श
१. पुरःकंठ्य‡—क्, ख् ग् घ् ङ्
२. पश्चकंठ्य§—क़् ख़् ग़् घ़् ङ्
३. कंठोष्ठ्य—क्व्, ख्व्, ग्व्, घ्व्, ङ्व्
४. दंतमूलीय—त्, थ्, द्, ध्, न्
५. ओष्ठ्य—प्, फ्, ब्, भ्, म्
(ख) कंपित—र्

---

* यह उदासीन स्वर है, जो ह्रस्व स्वर का भी आधा होता है और जिसका उच्चारण अस्पष्ट होता है।

† ये स्वर और व्यंजन के बीच में होते थे। इनमें न् और म् भी थे।

‡ यूरोप के विद्वान् इन्हें तालव्य मानते हैं, पर डा० सुनीतिकुमार चटर्जी पुरः कंठ्य (Advanced velar) मानते हैं। इनका उच्चारण कुछ लोगों के अनुसार क्य, ख्य, ग्य, घ्य जैसा था।

§ यूरोपीय विद्वान् इन्हें कंठ्य (Velar) मानते हैं पर डॉ० चटर्जी (Back Velar या Uvular (अलिजिह्वीय) मानते हैं।

(ग) पार्श्विक—ल्

(घ) ऊष्म—स् *

अर्द्ध व्यंजन न् और म् ही सभी वर्गों के साथ अनुनासिक व्यंजन का कार्य करते थे। अइ, आइ, अॠ, आॠ तथा आम् आदि संयुक्त स्वर लगभग २८ थे।

शब्दों की बनावट में एक से अधिक शुद्ध व्यंजन एक साथ आ सकते थे, पर एक से अधिक मूल स्वर नहीं। स्वरों में अनुनासिकता नहीं थी।

भारोपीय मूल भाषा का व्याकरण

(१) धातु में प्रत्यय जोड़कर शब्द (पद) बनते थे।

(२) आरंभ में उपसर्गों का बिल्कुल प्रचलन न था।

(३) मध्य-विन्यस्त प्रत्यय (Infix) का प्रयोग नहीं होता था।

(४) संज्ञा, क्रिया और अव्यय अलग-अलग होते थे। विशेषण और सर्वनाम आदि संज्ञा के अंतर्गत ही समझे जाते थे। अव्यय भी अविकारी न होकर विकारी होते थे।

(५) सर्वनाम के रूपों में विविधता थी। पुरुष तीन थे।

(६) एक, द्वि और बहु, इन तीनों वचनों का प्रयोग होता था।

(७) स्त्रीलिंग, पुलिंग और नपुंसक लिंग थे। उनका विचार केवल संज्ञा म होता था।

(८) क्रिया में उत्तम, मध्यम और अन्य पुरुष के अनुसार भी प्रत्येक के तीन रूप होते थे, अर्थात् तीन पुरुष थे।

(९) क्रिया में उसके किए जाने और फल का विचार प्रधान था और काल का गौण। यों काल चार थे।

(१०) वाच्य दो थे—आत्मनेपद और परस्मैपद।

(११) संज्ञा की आठ विभक्तियाँ थीं।

(१२) समास का प्रयोग होता था, जिसकी रचना में प्रत्ययों को छोड़ दिया जाता था।

* मूल भारोपीय भाषा की ऊष्म ध्वनियों में यों तो विद्वानों ने क्, ग्, त्, तथा द् आदि का भी उल्लेख किया है पर मुख्य ध्वनि 'स्' ही थी जिसका उच्चारण ह् तथा ज़् भी हो जाता था।

(१३) पद-रचना में स्वर-क्रम का महत्वपूर्ण हाथ था। ग्रीक आदि में बहुत से ऐसे शब्द मिलते हैं, जिनमें यदि 'ए' स्वर है तो अर्थ वर्तमान सूचक है पर यदि उसके स्थान पर 'ओ' हो गया तो अर्थ भूतकाल का हो जाता है।

(१४) सुर का भी प्रयोग होता था। भाषा संगीतात्मक थी।

(१५) सम्बन्धतत्त्व और अर्थतत्त्व इतने दूध और पानी की भाँति मिले रहते थे कि दोनों को अलग कर पाना साधारण कार्य नहीं था।

(१६) भाषा अंतर्मुखी श्लिष्ट-योगात्मक थी।

समवेत रूप से मूल भारोपीय भाषा का व्याकरण बहुत ही जटिल था।

भारोपीय भाषा-भाषी धीरे-धीरे अलग हुए और उनकी भाषाओं का अलग-अलग विकास हुआ, जिससे निकली आज सैकड़ों भाषाएँ और कई हज़ार बोलियाँ हैं। इन भाषाओं और बोलियों को मिला कर 'भारोपीय परिवार' कहा जाता है।

'भारोपीय परिवार' का विभाजन

भारोपीय परिवार की भाषाओं को ध्वनि के आधार पर 'सतम्' और 'केंटुम' दो वर्गों में रक्खा गया है।

पहले पहल अस्कोली ने १८७० ई० में विद्वानों के समक्ष यह विचार रखा कि भारोपीय मूल भाषा की कंठस्थानीय ध्वनियाँ (क आदि) कुछ शाखाओं में ज्यों की त्यों रह गईं, पर कुछ में वे ऊष्म (स् श् आदि) हो गईं। इसी आधार पर वान ब्रैडके ने इस परिवार के 'सतम्' और 'केन्टुम' दो वर्ग बनाये। इन दोनों शब्दों का अर्थ १०० है। यह नाम इसलिए रखे गये कि 'सौ' के लिए पाए जाने वाले शब्दों में यह भेद स्पष्ट है। 'सतम्' अवेस्ता का शब्द है और 'केंटुम' लैटिन का।

स्पष्टता के लिए दोनों वर्ग की भाषाओं में 'सौ' के लिए पाए जाने वाले शब्दों को यहाँ देख लेना ठीक होगा—

सतम् वर्ग	केन्टुम वर्ग
अवेस्ता—सतम्	लैटिन—केन्टुम
फारसी—सद	ग्रीक—हेक्टोन
संस्कृत— शतम्	इटैलियन—केन्टो
हिन्दी—सौ	फ्रेंच—केन्त
रूसी—स्तो	ब्रीटन—कैन्ट
बल्गेरियन—सुतो	गेलिक—क्युड
लिथुआनियन—स्जिम्तास	तोखारी—कन्ध

इन उदाहरणों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक वर्ग (सतम्) में 'स' ध्वनि सर्वत्र है और दूसरे वर्ग (केंटुम) में वह सर्वत्र 'क' ध्वनि हो गई है।

आरम्भ में लोगों का यह विचार था कि पश्चिम में पाई जाने वाली भाषाओं को 'केन्टुम' वर्ग की तथा पूरब में पाई जाने वाली भाषाओं को 'सतम्' वर्ग की कहा जा सकता है। पर इधर पूरब में हिट्टाइट और तोखारी दो भाषाएँ ऐसी मिली हैं जिनमें 'स' के स्थान पर 'क' ध्वनि है, अतः पूरब और पश्चिम के आधार पर वर्ग अलग-अलग करना ठीक नहीं है।

अब दोनों वर्गों (केन्टुम् और सतम्) की भाषाओं पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है—

[क] केन्टुम वर्ग

इस वर्ग की भाषाएँ (या शाखाएँ) ये हैं :—

केन्टुम्
- —केल्टिक
- —ट्यूटानिक
- —लैटिन
- —हेलेनिक
- —हिट्टाइट
- —तोखारी

(१) केल्टिक

आज से लगभग दो हज़ार वर्ष पूर्व इस शाखा के बोलने वाले मध्य यूरोप, उत्तरी इटली, फ्रांस (उस समय इसका नाम 'गाल' था) के एक बड़े भाग, स्पेन, एशिया माइनर और ग्रेट ब्रिटेन आदि में रहते थे, पर, अब आयर्लैंड, वेल्स, स्काटलैंड, मान-द्वीप और ब्रिटेनी तथा कार्नवाल के ही कुछ भागों में इसका क्षेत्र शेष रह गया है।

लैटिन शाखा से इस शाखा का बहुत साम्य है—

(अ) दोनों में ही पुलिंग और नपुंसक लिंग ओकारान्त संज्ञाओं में संबंधकारक के लिए—ई प्रत्यय का प्रयोग होता है।

(आ) दोनों ही में क्रियार्थक संज्ञा अधिकतर—शन (tion) प्रत्यय लगाकर बनाई जाती है।

(इ) कर्मवाच्य की बनावट भी दोनों में लगभग एक सी है।

(ई) दोनों ही में उच्चारण भेद के कारण 'क' और 'प' दो वर्ग बनाए जा सकते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इसमें कुछ भाषाओं में जहाँ 'प' मिलता है वहाँ दूसरी भाषाओं में उसके स्थान पर 'क' मिलता है—

वेल्श में 'पम्प' (=पाँच) का आइरिश में 'कोइक' है।

इस आधार पर इसके 'प' और 'क' दो वर्ग हैं। 'प' वर्ग को ब्रिटानिक और 'क' वर्ग को गायलिक कहते हैं। इसके अतिरिक्त एक गालिक वर्ग भी है। इस प्रकार इसके ३ वर्ग हैं।

विभाजन

- केल्टिक
  - गालिक
  - ब्रिटानिक या ब्रिथोनिक
    - सिमरिक या वेल्श
    - कार्निश
    - ब्रीटन या आर्मोरिकन
  - गोइडेलिक या गायलिक
    - आयरिश
    - स्कॉच

गालिक, रोम के राजा प्रथम सीज़र के समय में बोली जाती थी। २८० ई० पू० यह एशिया माइनर में पहुँच गई थी। अब इस भाषा का दर्शन कुछ स्थान तथा आदमियों के नामों, पुराने लेखकों द्वारा उद्धृत शब्दों, सिक्कों और लगभग २५ अभिलेखों में ही मिलता है, अतः इसके विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

सिमरिक् या वेल्श 'प' वर्ग की एक शाखा है। इसके बोलने वाले आज भी हैं। इसका प्रधान क्षेत्र वेल्श है। इसके आठवीं सदी तक के लेख मिलते हैं। साहित्य का आरम्भ ११वीं सदी से हुआ है और १३वीं तक कविता आदि की पर्याप्त संख्या में रचना हुई है। कुछ रचना आज भी होती है। इसके बोलने वालों को अपनी भाषा का बहुत गर्व है।

कार्निश कार्नवाल की एक बोली थी। १७७० के लगभग इसकी इतिश्री हो गई। इसका प्राचीन साहित्य अवश्य हमें प्राप्त है, जिसकी प्रधान पुस्तक १५वीं सदी की एक 'रहस्य-नाटिका' है।

ब्रीटन फ्रांस के ब्रिटेनी प्रदेश में बोली जाती है। इसे आर्मेरिकन भी कहते हैं। यथार्थतः यह कार्निश की ही एक शाखा है, जो पाँचवीं सदी के लगभग अलग हुई थी।

इसके पुराने उदाहरण दसवीं सदी तक के मिलते हैं। १२वीं सदी में साहित्य भी मिलता है।

'क' वर्ग की प्रधान शाखा आयरिश है। यह केल्टिक शाखा की प्रधान भाषा है। आयर्लैंड में जब तक अंग्रेज़ी राज्य था भारत की ही भाँति अंग्रेज़ी का बोलबाला था, पर देश के स्वतंत्र होने के उपरान्त आयरिश भाषा को भी उचित स्थान मिला है। इसके पुराने उदाहरण पाँचवीं सदी के 'ओघम' के अभिलेखों में मिलते हैं। मध्यकाल से इसमें साहित्य (प्रधानतः काव्य और पौराणिक गाथा) की भी वृद्धि यथेष्ट हुई है। धार्मिक केन्द्र होने के कारण भी इस भाषा को कम बल नहीं मिला है। इस भाषा और इसके साहित्य की उन्नति डी वेलरा के प्रयास के फलस्वरूप बड़ी ही तेज़ी से हुई है।

स्कॉच स्काटलैण्ड के उत्तरी और उत्तरी-पश्चिमी भाग की बोली थी। अब इसके बोलने वाले अंग्रेज़ी के प्रभाव से कम हो गये हैं। कुछ स्कूलों में धार्मिक प्रार्थना के लिए इस भाषा का प्रयोग वहाँ अब भी होता है। इसमें कुछ पुरानी कविताएँ मिलती हैं।

मैंक्स इंगलैंड के समीप मानद्वीप की भाषा है। यह बेचारी भी अब समाप्त-प्राय है।

(२) ट्यूटानिक

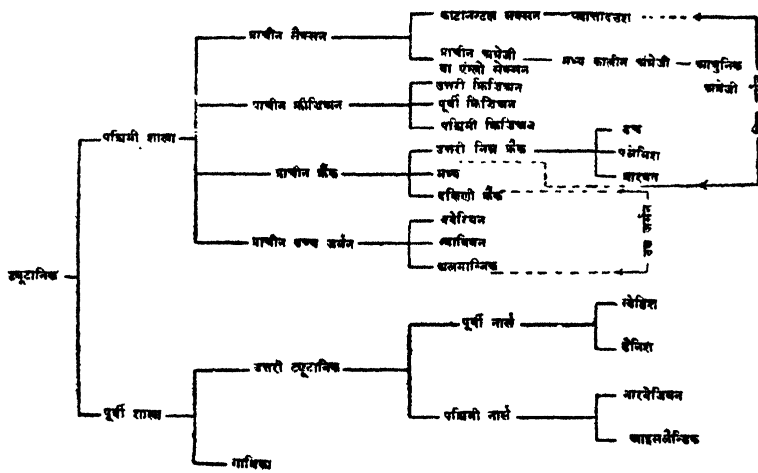
यह शाखा भारोपीय परिवार की सबसे महत्वपूर्ण शाखा है। इस शाखा की अंग्रेज़ी भाषा आज की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है। इस शाखा का नाम जर्मेनिक भी है। यह शाखा अपनी ध्वनियों के परिवर्तन के लिए बहुत प्रसिद्ध है। पहला परिवर्तन प्रागैतिहासिक काल में हुआ, जिसके कारण भारोपीय परिवार की अन्य शाखाओं से यह कुछ दूर हो गई। दूसरा परिवर्तन ७वीं सदी के लगभग हुआ जिसके कारण इस शाखा के ही उच्च जर्मन और निम्न जर्मन दो वर्ग हो गये। इन ध्वनि-परिवर्तनों का विस्तृत विवरण आगे 'ध्वनि-नियम' के प्रकरण में मिलेगा।

इसके प्राचीनतम उदाहरण तीसरी सदी के मिलते हैं, जो इसकी पुरानी, रोमन और ग्रीक लिपि से भिन्न रूनी लिपि में हैं। ४थी सदी का इंजील का अनुवाद भी मिलता है। साहित्य इधर हज़ार वर्ष के लगभग से आरंभ हुआ है।

इस वर्ग की भाषाएँ धीरे-धीरे संयोगात्मक से वियोगात्मक होती जा रही हैं। भारोपीय मूल-भाषा में संगीतात्मक स्वराघात का प्राधान्य था। इस वर्ग में अब केवल

स्वेडिश में ही संगीतात्मक स्वराघात शेष है। शेष सभी भाषाओं में बलात्मक स्वराघात विकसित हो गया है।

विभाजन



प्राचीन सैक्सन बोलियाँ सैक्सन आंग्लस और ज्यूट्स लोगों की थीं। ये लोग वेसेक्स, ससेक्स, एसेक्स, केन्ट, वाइट, पूर्वी एँग्लिया, मरकिया तथा दक्षिणी स्काटलैंड के पूर्वार्द्ध में रहते थे। ब्रिटेन में इसकी तीन शाखाएँ विकसित हुईं, जिन्हें उत्तरी, मध्यवर्ती और दक्षिणी कह सकते हैं। आधुनिक अंग्रेज़ी मूलतः मध्यवर्ती शाखा से विकसित हुई है। स्काटलैंड की बोलियों का जन्म उत्तरी से है।

अंग्रेजी का आरंभ ११०० ई० से माना जाता है। लगभग साढ़े तेरह सौ तक प्राचीन काल और साढ़े चौदह सौ तक मध्यकाल है। इसके बाद अंग्रेज़ी का आधुनिक काल आरम्भ होता है। आज की अंग्रेज़ी भाषा और उसका साहित्य संसार में सबसे धनी कहा जा सकता है। अंग्रेज़ी भाषा की तीन बोलियाँ हैं, जिनमें स्काट के निम्न भाग की नार्थम्बरियन प्रधान है।

जर्मनी के उत्तरी भाग में प्लात्तदिउश शाखा है, जिसके अंतर्गत कई बोलियाँ हैं।

फ्रिजियन का आरंभ तेरहवीं-चौदहवीं सदी से स्पष्ट मिलता है। इसमें तीन बोलियाँ थीं। पश्चिमी बोली का क्षेत्र हालैंड के उत्तरी भाग में था। पूर्वी फ्रिजियन यम्स और वेजर नदी के मुहानों के बीच में बोली जाती थी, और उत्तरी बोली एब

नदी के मुहाने के उत्तर में। अब इसके बोलने वाले केवल जर्मनी और हालैंड के कुछ भागों में हैं। शेष क्षेत्र में डच आदि भाषाओं ने अधिकार जमा लिया है।

फ्रैंक भाषा का क्षेत्र राइन से नीदरलैंड तक था। धीरे-धीरे इसकी भी उत्तरी, मध्य और दक्षिणी तीन शाखाएँ हो गईं। दक्षिणी में उच्च जर्मन की प्रकृति है और उत्तरी में निम्न जर्मन की। मध्यवर्ती शाखा दोनों के बीच की है। इसमें दोनों की ही कुछ-कुछ बातें आ गई हैं। उत्तरी शाखा से ही नीदरलैंड की बोलियों का भी विकास हुआ है, जिनका साहित्य तेरहवीं सदी से मिलता है। इन बोलियों में डच और हालैंड की बोलियाँ प्रधान हैं। फ्लेनिश फ्लेंडर लोगों की बोली है, जो प्रमुखतः उच्चारण में ही डच से भिन्न है। 'बारबंत' बोली भी इसी का साधारण भिन्नता लिए हुए एक रूप है।

ट्यूटानिक की पश्चिमी शाखा की ऊपर दी गई सभी भाषाएँ तथा बोलियाँ केवल मध्य (जो तटस्थ है) तथा दक्षिणी (जो उच्च जर्मन में हैं) को छोड़कर निम्न जर्मन के अन्तर्गत आती हैं।

अब हम उच्च जर्मन को ले सकते हैं। संपूर्ण जर्मनी तथा आस्ट्रिया के एक बड़े भाग की यह साहित्यिक और संस्कृत भाषा है। इसमें ३ प्रधान शाखायें हैं। अलमानिक का क्षेत्र स्विट्ज़रलैंड का जर्मन भाषा-भाषी प्रदेश, अलसेस तथा बादेन के दक्षिण में है। स्वाबियन पश्चिमी बवेरिया, उरटेमबर्ग आदि में बोली जाती है। बवेरियन बोलने वाले शेष बवेरिया तथा आस्ट्रिया के एक बड़े भाग में हैं।

इस उच्च जर्मन का इतिहास तीन कालों में विभक्त हैं। प्राचीन उच्च जर्मन द्वितीय वर्ण परिवर्तन के पश्चात् ८वीं सदी से आरम्भ होकर बारहवीं तक है। इसमें कुछ पुरानी कविताएँ, बाइबिल के खंडित अंश तथा कुछ और लेख आदि मिलते हैं। इसके बाद मध्य जर्मन का समय है। 'निबेलुंजेन' काव्य की रचना इसी में हुई है। वर्तमान उच्च जर्मन बहुत ही गंभीर और संस्कृत है। यह रचनात्मक (building language) भाषा है, जिसमें किसी भी भाषा के किसी भी शब्द का अनुवाद आसानी से किया जा सकता है। पूरे ट्यूटानिक परिवार में उच्च जर्मन अपेक्षाकृत अपने मूल के सबसे अधिक निकट है। इसमें अंग्रेज़ी, फ्रेंच आदि से कुछ शब्द अवश्य उधार लिए गए हैं, पर उनका भी स्वदेशीकरण कर लिया गया है। उच्च जर्मन भाषियों ने संस्कृत का भी गम्भीर अध्ययन किया है और दर्शन एवं भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में उनका प्रमुख स्थान है।

ट्युटानिक वर्ग की सबसे प्राचीन भाषा गाथिक है। इसके अवशेष एक तिथि-पुस्तिका एवं उलफिला नामक पादरी द्वारा किए गए बाइबिल के अनुवाद के अंश रूप में मिलते हैं। बाइबिल की पांडुलिपि लगभग पाँचवीं सदी की है, यद्यपि इसका रचना-काल ३५० ई० के समीप का है।

इसका क्षेत्र कारपैथियन्स के दक्षिण और दक्षिण-पूरब में था। कुछ प्रचार स्पेन और इटली में भी हुआ पर यह वहाँ से शीघ्र ही समाप्त हो गई। कृष्ण सागर के किनारे यह भाषा नवीं सदी तक रही और कुछ स्थानों पर इसके १६वीं सदी तक रहने का भी संकेत मिलता है। आकृति की दृष्टि से यह अंत तक संयोगात्मक रही। साथ ही द्विवचन आदि भारोपीय की पुरानी बातें भी इसमें सुरक्षित थीं। इस भाषा को संस्कृत के बहुत निकट कहा जाता है। अब इसके क्षेत्र में नार्स भाषाओं का प्रयोग होता है।

पूर्वी शाखा की दूसरी उपशाखा उत्तरी ट्यूटानिक या प्राचीन नार्स है। रूनी लिपि में इसके अभिलेख ५वीं सदी तक के मिलते हैं। आज से लगभग एक हज़ार वर्ष पूर्व तक इसकी शाखाओं में आपस में अंतर नहीं हुआ था। सभी में ध्वनि-संबंधी कुछ विशेषताएँ एक थीं। आइसलैंडिक भाषा में उसके उदाहरण हैं। आइस-लैंडिक में लगभग १३वीं सदी की 'एड्डा' नामक पौराणिक गीत तथा स्काल्ड लोगों की कुछ कविताएँ भी हैं।

दसवीं सदी के लगभग उत्तरी ट्यूटानिक की दो प्रधान शाखाएँ पूर्वी और पश्चिमी हो गईं। पूर्वी नार्स का विकास स्वेडिश और डैनिश के रूप में हुआ तथा पश्चिमी का नारवेजियन एवं आइसलैंडिक के रूप में। डैनिश भाषा डेनमार्क के अतिरिक्त उत्तरी श्लेस्विग तथा नारवे के कुछ सभ्य लोगों में प्रयुक्त होती है। इसके नमूने १३वीं सदी तक के मिलते हैं। इसमें मुख-सुख के लिए ध्वनि-विकास खूब हुआ है। अन्य भाषाओं का भी इस भाषा पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। स्वेडिश का प्रधान क्षेत्र स्वेडन तथा फिनलैंड का कुछ भाग है। इस भाषा में अब तक बहुत पुरानी प्रकृति पाई जाती है। भारोपीय परिवार की जीवित भाषाओं में से केवल यही एक ऐसी भाषा है, जिसमें संगीतात्मक स्वराघात आज भी स्पष्टतः मिलता है। नार्वे की भाषा नार्वेजियन है। सम्पूर्ण आइसलैंड तथा स्कैंडिनेविया के पश्चिमी भाग में आइसलैंडिक भाषा का प्रयोग होता है। यह भाषा अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण अब तक लगभग संयोगात्मक है और दूसरी भाषाओं का प्रभाव भी इस पर कम ही पड़ा है। इसमें इधर कुछ साहित्य-रचना भी हुई है।

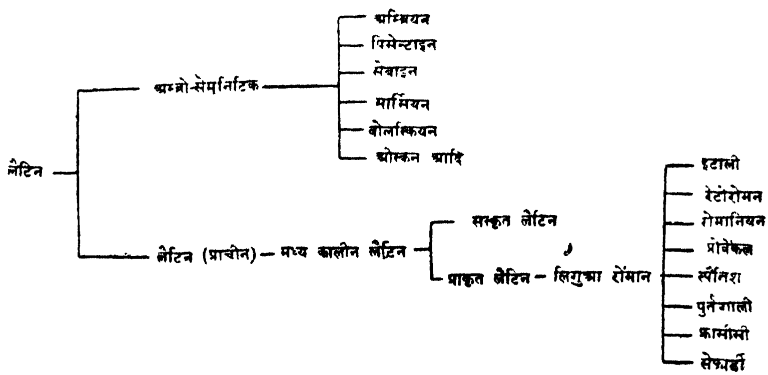
(३) लैटिन

इसका नाम इटाली भी है। इसकी सबसे पुरानी भाषा लैटिन है, जो आज भी रोमन कैथलिक संप्रदाय की धार्मिक भाषा है। आरंभ में लैटिन शाखा का प्रधान क्षेत्र इटली में था। केल्टिक की भाँति ही इस शाखा के भी दो वर्ग 'प' और 'क' हैं।

लैटिन		ओस्कन
क्वाम	=	पाम
येकुअस	=	येपो

'क' वर्ग को लैटिन वर्ग तथा 'प' को अम्ब्रो-सेमृनिटिक वर्ग कहते हैं। इन दोनों वर्गों के पृथक्-पृथक् विभाजन इस प्रकार हैं—

विभाजन



अंब्रो-सेमृनिटिक शाखा की भाषाएँ उत्तरी अंब्रिया से लेकर दक्षिण में अपुलिया और लूकानिया तक मध्य अपेनाइन्स के दोनों ओर बोली जाती थीं। इनमें प्रथम (अंब्रियन) एवं अंतिम (ओस्कन) ही हम लोगों के लिए महत्वपूर्ण हैं। शब्द-समूह को छोड़कर ये दोनों आपस में काफ़ी समानता रखती हैं। लैटिन 'क' दोनों ही में 'प' हो जाता है। ओस्कन भाषा कुछ दिनों तक महत्वपूर्ण थी। अपने क्षेत्र में ईसा से सौ वर्ष पूर्व इसका पर्याप्त प्रचार था, और बाद में भी कुछ दिन तक रहा। इसके चिह्न, सिक्कों, लैटिन लेखकों के उद्धरणों तथा लगभग दो सौ लेखों (पत्थर तथा धातुपत्र पर) में मिलते हैं। ओस्कन ओस्की लोगों की भाषा थी जो कपुआ और बेनेवेंटम के आस-पास रहते थे।

अम्ब्रियन भाषा के भी प्राचीन लेख मिलते हैं, जो लगभग २०० वर्ष ई० पू० के हैं। अब इन सबके क्षेत्र में 'क' वर्ग की बोलियों का ही आधिपत्य है।

लैटिन बोलने वाले लोग लैटिअम के मैदानों में रहते थे। रोमन राज्य के विकास के साथ इस भाषा का भी विकास हुआ। इसके लेख ५०० ई० पू० तक के मिलते हैं। धीरे-धीरे इस भाषा का प्रसार इतना हुआ था कि आज की रोमान्स भाषाओं के पूरे क्षेत्र में यह बोली जाने लगी थी। बहुत पहले से ही धीरे-धीरे यह संयोग से वियोग की ओर आ रही थी।

इसके इतिहास को तीन कालों में बाँटा जा सकता है। प्राचीन लैटिन का काल ५०० ई० पू० से तीसरी सदी तक है। मध्यकालीन लैटिन के दो रूप हैं। एक तो बहुत संस्कृत थी, जो सभ्य लोगों की एवं साहित्य की भाषा थी। दूसरी भारतीय आर्य-भाषा के सादृश्य पर प्राकृत लैटिन कही जा सकती है। यह साधारण लोगों की भाषा थी। संस्कृत लैटिन का साहित्य में प्रयोग तीसरी सदी से ७वीं तक होता रहा। धीरे-धीरे प्राकृत लैटिन में बहुत विकास हो गया। यही बाद में नियो-लैटिन हुई, जिसका क्षेत्र इटली, सिसिली, स्पेन, गाल और डेसिया में था। यह विजयी लोगों की भाषा थी और हारे हुए लोगों पर लादी गई, अतः परिवर्तन तेज़ी से होने लगा, जिसके फलस्वरूप यह रोमन साम्राज्य की राष्ट्रभाषा, अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग रूप में विकसित होने लगी। थोड़े ही दिनों में अलग बोली, फिर अलग भाषाएँ हो गईं। इन्हें अब रोमान्स भाषाएँ इसलिए कहा जाता है कि ये रोम साम्राज्य की भाषाएँ थीं।

यहाँ प्रधान रोमान्स भाषाओं पर विचार किया जा रहा है।

इटाली का क्षेत्र इटली, टिसिनो, सिसिली तथा कार्सिका में है। इसके लेख ७वीं सदी तक के मिलते हैं। इसमें भी कई बोलियाँ हो गई हैं। फ्लारेन्स की बोली ही प्रधान है, जिसमें दाँते ने १०वीं सदी में अपना काव्य लिखा। यही साहित्यिक भाषा भी है। बोलियों में आपस में अंतर अधिक है। सबका साहित्य भी पृथक्-पृथक् है।

रेटोरोमन का नाम 'रेटियन', 'रोमांश' या 'लेडिक' भी है। यह इटली स्विटज़रलैंड तथा आस्ट्रिया के कुछ भागों में बोली जाती है। इस पर ट्यूटानिक परिवार का भी प्रभाव अधिक पड़ा है।

रोमानियन भाषा रूमानिया, ट्रान्सिलवेनिया तथा ग्रीस के कुछ भागों में बोली जाती है। यह डेन्यूब नदी पर बसे रोमन लोगों की भाषा से निकली है। इसके लगभग चालीस प्रतिशत शब्द स्लाविक हैं। अन्य रोमान्स भाषाओं के प्रतिकूल इसमें

बलगेरियन की भाँति उपपद (article) प्रत्यय की तरह शब्दों के अंत में लगाया जाता है। उत्तरी भाग में कुछ साहित्य भी है।

प्रोवेंकल भाषा रोमान्स भाषाओं में प्रथम भाषा है, जिसमें साहित्य-साधना का श्रीगणेश हुआ। इसकी प्रथम कविता नवीं सदी की है। इसका क्षेत्र दक्षिणी फ्रांस है। १२वीं से १३वीं सदी तक इसमें साहित्य लिखा गया। बाद में फ्रेंच भाषा ने इसे दबा लिया और अब इसके बोलने वाले फ्रांस के दक्षिणी पूर्वी भाग में थोड़े से ही और बचे हैं।

प्राकृत लैटिन के स्पेन में पहुँचने के पूर्व वहाँ बास्क और अरबी का राज्य था। इन दोनों (बास्क तथा अरबी) का ही शब्दसमूह तथा ध्वनि के क्षेत्र में स्पैनिश भाषा पर प्रभाव पड़ा। इसी कारण रोमांस भाषाओं में स्पैनिश ही मूल लैटिन से अपेक्षाकृत बहुत दूर हट गई है। इसके चिह्न तो सातवीं सदी तक मिले हैं, पर बारहवीं से नियमित लेख मिलते हैं। इसमें बहुत सी बोलियाँ हैं, जिनमें कैस्टाइल प्रधान है। यही वहाँ की साहित्यिक एवं राज्य-भाषा है। स्पेन के लोगों के साथ-साथ अब यह स्पेन के बाहर भी चली गई है। अमेरिका में भी इसके बोलने वाले काफ़ी हैं।

फ्रांसीसी इस वर्ग की सब से प्रधान भाषा है। यह पेरिस की बोली का विकसित रूप है। इसके चिह्न आठवीं सदी उत्तरार्द्ध तक के मिलते हैं। ९वीं से १३वीं सदी तक इसका प्राचीन काल है। उसके बाद इसका विकास तेज़ी से आरंभ हुआ। इसके बोलने वालों ने सभी भाषाओं से शब्द उधार लेकर तथा अनेक शब्द नए गढ़कर शब्द-समूह को धनी बनाया, और साहित्य भी पर्याप्त रूप में लिखा। इसका उच्चारण बहुत कठिन और लिखित भाषा से बहुत दूर होता है। यह बहुत दिनों तक यूरोप की अंतर्राष्ट्रीय भाषा रही है। अमेरिका, अफ्रीका और एशिया में भी इसके कुछ क्षेत्र हैं। इसमें संगीतात्मक स्वराघात काफी मात्रा में विद्यमान है तथा यह बहुत ही मधुर है।

पुर्तगाली भाषा स्पैनिश से मिलती-जुलती है। इस पर फ्रेंच और मूर लोगों का भी प्रभाव पड़ा है। इसके लेख तेरहवीं सदी उत्तरार्द्ध से मिलते हैं। अफ्रीका तथा भारत में भी इसके छोटे-छोटे क्षेत्र हैं। भारतीय भाषाओं के शब्द-समूह पर इसका कुछ प्रभाव पड़ा है।

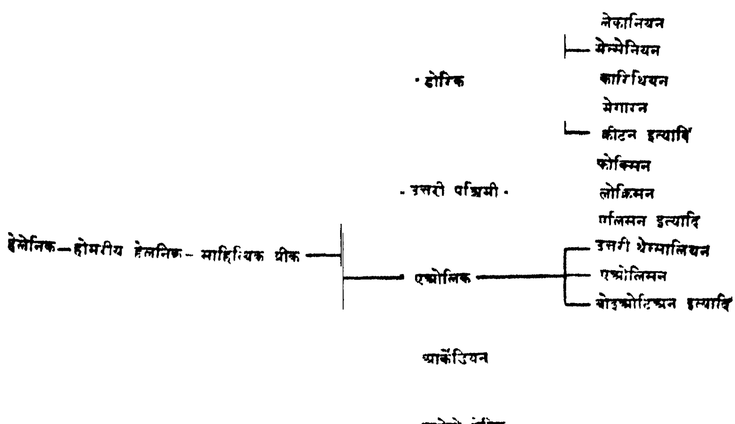
पुर्तगाल और स्पेन के यहूदियों की भाषा पुर्तगाली और स्पैनिश से भिन्न है। इसे सेफ़ार्डी कहते हैं। इसका ढाँचा तो स्पैनिश सा ही है पर शेष बातें सेमिटिक परिवार से मिलती-जुलती हैं।

(४) हेलेनिक

इसे ग्रीक शाखा भी कहा जाता है। इस शाखा में कुछ भौगोलिक कारणों से बहुत पहले से छोटे-छोटे राज्य और उनकी बहुत सी बोलियाँ हो गई थीं। इसके प्राचीन उदाहरण महाकवि होमर के इलियड और ओडिसी महाकाव्यों में मिलते हैं। इनका समय एक हज़ार ई० पू० माना जाता है। ये दोनों महाकाव्य अधिक दिन तक मौखिक रूप में रहने के कारण अपने मूल रूप में आज नहीं मिलते, फिर भी उनसे ग्रीक के पुराने रूप का कुछ पता तो चल ही जाता है। ग्रीक भाषा बहुत सी बातों में वैदिक संस्कृत से मिलती-जुलती है। दोनों ही में संगीतात्मक स्वराघात प्रधान था। कालान्तर दोनों बलात्मकता की ओर आने लगीं। दोनों ही में शब्दों के रूप बहुत अधिक हैं। हाँ, संस्कृत में संज्ञा और सर्वनामों के रूप अधिक हैं तो ग्रीक में अव्यय और क्रिया आदि के। संस्कृत के परस्मैपद और आत्मनेपद की भाँति ग्रीक में ऐक्टिव और मिडिल वायस होते थे। द्विवचन दोनों में था। ग्रीक में संस्कृत की अपेक्षा स्वर अधिक हैं और संस्कृत में ग्रीक की अपेक्षा व्यंजन। ग्रीक ने भारोपीय मूल भाषा के स्वरों को बहुत सुरक्षित रखा है, पर व्यजनों में परिवर्तन भी अधिक हो गया है।

ग्रीक भाषा की शाखाओं और उपशाखाओं को इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

विभाजन



जब ग्रीस उन्नति पर था होमरिक ग्रीक का विकसित रूप साहित्यिक हुआ। उसकी बोलियाँ भी उसी समय अलग-अलग हो गईं।

एटिक बोली का लगभग चार सौ ई० पू० में बोलबाला था, अतः यही भाषा वहाँ की राज्य भाषा हुई। आगे चलकर इसका नाम 'कोइने' हुआ और यह शुद्ध एटिक से धीरे-धीरे कुछ दूर पड़ गई और एशिया माइनर तक इसका प्रचार हुआ। उधर मिस्र आदि में भी यह जा पहुँची और स्वभावतः सभी जगह की स्थानीय विशेषताएँ इसमें विकसित होने लगीं। बिजैन्टाइन के समय में कोइने भाषा का रूप और भी विकसित हो गया। उसमें विदेशी शब्द अधिक आ गए। उस विकसित या बिगड़ी अवस्था से १४५० ई० के बाद वर्तमान ग्रीक का विकास हुआ। वर्तमान ग्रीक, ग्रीस तुर्की, ग्रीक, क्रीट, साइप्रस आदि में बोली जाती है। कोइने भाषा (एटिक) ही प्लेटो, अरस्तु तथा सिकंदर आदि की भाषा थी। नव-विधान (New Testament) भी इसी में लिखा गया था।

डोरिक स्पार्टा के निवासियों की भाषा थी। बाद में इसका इटली आदि में भी विस्तार हुआ। पिंडर कवि के गीत और कुछ खंडकाव्य इसके मुख्य साहित्य हैं।

(५) हिट्टाइट

ह्यूगो विंकलर को एशिया माइनर के बोगाज़कुई स्थान की खुदाई में कुछ कीलाक्षर लेख १९वीं सदी उत्तरार्द्ध में मिले, जिनसे हिट्टाइट भाषा का पता चला। इसे लगभग डेढ़ हजार वर्ष ई० पू० का माना गया है। सईस आदि कुछ विद्वान् इसे सेमिटिक परिवार की मानते थे पर अध्यापक ह्राज्नी ने उसे निश्चित रूप से भारोपीय परिवार की सिद्ध किया है। यों अब भी कुछ लोग इसे अनिश्चित परिवार की मानते हैं और भारोपीय शब्दों को उधार लिया गया बतलाते हैं। पीछे पृ० ९७ की पद टिप्पणी में इस संबंध में लिखा गया है।

हिट्टाइट की विभक्तियाँ तथा सर्वनाम संस्कृत एवं लैटिन से बहुत अंशों में मिलते हैं। क्रिया में भी पर्याप्त साम्य है। कारक रचना भी अधिकांशतः भारोपीय है। समवेत रूप से विचार करने पर यह लैटिन के अधिक निकट जान पड़ती है। तुलना के लिए कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं—

हिट्टाइट	संस्कृत	लैटिन	
उग (मैं)	×	इगो	
तत् (वह)	तत्	×	
कुइस (कौन)	कः	क्विस	
कुइद् (क्या)	×	क्विड	
वेटर (पानी)	उदन्	उदुथ	अं० वाटर

इसके अतिरिक्त कुछ बातें सेमिटिक परिवार से भी मिलती हैं, पर उसे विद्वान् सेमेटिक का प्रभाव मात्र मानते हैं। इसके पता चलने से भारोपीय मूल भाषा पर बहुत प्रकाश पड़ा है। इसे हत्ती, खत्ती या हिट्टाइट कापदोसी भी कहते हैं।

(६) तोखारी

अंग्रेज़, फ्रेंच, रूसी तथा जर्मन विद्वानों ने बीसवीं सदी के आरंभ में पूर्वीय तुर्किस्तान के तुरफान प्रदेश में कुछ ऐसे ग्रंथ तथा पत्र प्राप्त किये जो भारतीय लिपि (ब्राह्मी तथा खरोष्ठी) में थे। प्रो० सीग (Sieg) ने इनका अध्ययन किया, जिसके फलस्वरूप यह भाषा भारोपीय परिवार की सिद्ध हुई। इसके बोलने वाले 'तोखार' लोग थे, अतः इस भाषा को तोखारी कहा गया। समीपता के कारण इस पर यूराल-अल्टाई परिवार का बहुत प्रभाव पड़ा है। ग्रीयर्सन के अनुसार महाभारत एवं ग्रीक पुस्तकों में क्रम से 'तुषाराः' तथा तोखारोई जाति का नाम है। संभव है यह उन्हीं लोगों की भाषा हो। ये लोग दूसरी सदी ई० पू० में मध्य एशिया के शासक थे। सातवीं सदी के लगभग यह भाषा लुप्त हो गई।

तोखारी भाषा में स्वरों की जटिलता कम है। सन्धि-नियम कुछ संस्कृत जैसे हैं। संख्याओं के नाम एवं सर्वनाम भी भारोपीय परिवार से साम्य रखते हैं। विभक्तियाँ भी उसी रूप में आठ हैं। शब्द-भंडार भी संस्कृत के समीप है।

संस्कृत	तोखारी
पितृ	पाचर्
मातृ	माचर्
वीर	विर्

सौ के लिए तोखारी शब्द 'कन्ध' है इसी कारण यह केन्टुम वर्ग की भाषा मानी गई है।

तोखारी भाषा में जो सामग्री मिली है उसके अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें दो बोलियों का प्रयोग हुआ है। एक को विद्वानों ने 'अ' तथा दूसरी को 'ब' कहा है। इनमें 'अ' तोखारों की भाषा है और 'ब' कूचा प्रदेश की। ऐसी स्थिति में एक को 'तोखारी' और दूसरे को 'कूची' कहा जा सकता है।

[ख] सतम् वर्ग

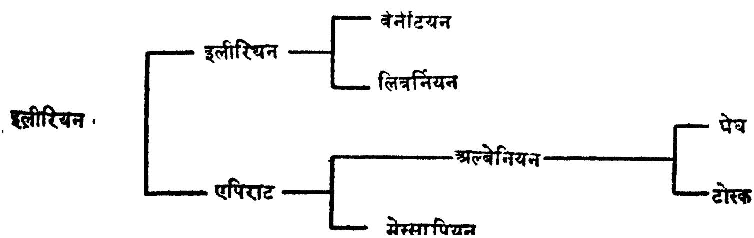
भारोपीय परिवार की सतम् वर्ग की शाखाओं को इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

सतम्–
- —इलीरियन
- —बाल्टिक
- —स्लैवोनिक
- -आर्मेनियन
- —आर्य

(१) इलीरियन

इस शाखा के बोलने वाले एड्रिआटिक सागर के किनारे कारिन्थियन की खाड़ी से इटली के दक्षिण पूर्वी भाग तक फैले थे। इसके प्राचीन रूप का कोई भी आज अवशेष नहीं है।

विभाजन



विभाजन में दिखाई हुई भाषाओं में से केवल अल्बेनियन के विषय में ही आज सामग्री प्राप्त है। शेष सभी बहुत पहले समाप्त हो गई थीं। इसी कारण इस शाखा को अल्बेनियन भी कहते हैं।

अल्बेनियन के बोलनेवाले अल्बेनिया तथा कुछ ग्रीस में हैं। इसके अंतर्गत बहुत सी बोलियाँ हैं, जिनके घेघ और टोस्क दो वर्ग बनाये जा सकते हैं। घेघ का क्षेत्र उत्तर में और टोस्क का दक्षिण में है।

अल्बेनियन साहित्य लगभग १७वीं सदी से आरंभ होता है। इसके पूर्व के किसी भी प्रकार के लेख इस भाषा के नहीं मिलते, अतः इसका ऐतिहासिक अध्ययन नहीं किया जा सकता। इधर इसने तुर्की, स्लावोनिक, लैटिन और ग्रीक आदि भाषाओं के शब्दों को बहुत लिया है। अब यह भी ठीक से पता चलाना असंभव सा है कि इसके अपने शब्द कितने हैं। इसका कारण यह है कि ध्वनि-परिवर्तन के कारण बहुत घोल-मेल हो गया है।

बहुत दिनों तक विद्वान् इसे स्वतंत्र शाखा मानने को तैयार नहीं थे, पर जब यह किसी से भी यह पूर्णतः न मिल सकी तो अलग मानना ही पड़ा।

(२) बाल्टिक

इसे लेट्टिक भी कहते हैं। इसमें तीन भाषाएँ आती हैं। प्रथम प्राचीन प्रशन है, जो सत्रहवीं सदी में ही समाप्त हो गई। इसका क्षेत्र बाल्टिक तट पर विश्चुला और नीमेन नदियों के बीच में प्रशियन प्रशा प्रदेश था। १५वीं सदी के आरंभ की तथा १६वीं सदी की लिखी कुछ पुस्तकें इसमें मिली हैं। दूसरी भाषा लिथुआनियन है। इसका क्षेत्र प्रशा के उत्तर पूरब में है। इसका साहित्य भी १६वीं सदी के बाद से आरंभ होता है और इसकी पुरानी प्रसिद्ध पुस्तक महाकवि दोनेलेटिस की 'सीज़न्स' है, जो १७५० के लगभग लिखी गई थी। वैज्ञानिकों की दृष्टि से यह भाषा बड़ी ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसका विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ है, और इसी कारण आज भी यह मूल भारोपीय भाषा से अधिक दूर नहीं है। इसमें एस्टि (संस्कृत अस्ति) एवं जीवाः जैसे रूप अब भी हैं। वैदिक संस्कृत की भाँति संगीतात्मकता और द्विवचन भी अभी इसमें हैं। इसकी तीसरी भाषा लेट्टिश है। यह रूस के पश्चिमी भाग में लेटिविया राज्य की भाषा है। यह लिथुआनियन से अधिक विकसित है। इसमें भी साहित्य का आरंभ १६वीं सदी से हुआ है।

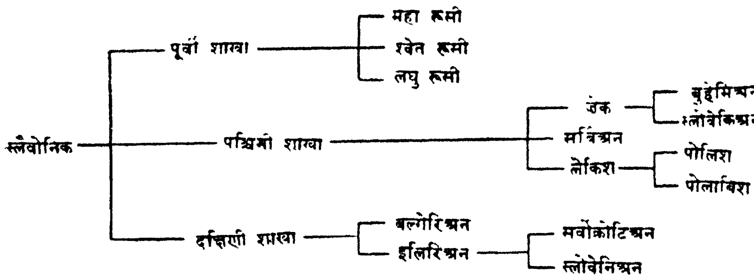
विभाजन

बाल्टिक
- —प्राचीन प्रशन
- —लिथुआनियन
- —लेट्टिश

(३) स्लैवोनिक

यह बहुत विस्तृत वर्ग है। इसमें पूर्वी यूरोप का एक बड़ा भाग आ जाता है। दूसरी-तीसरी सदी के लगभग तक इसके बोलने वाले एक सीमित क्षेत्र में थे, पर पाँचवी सदी के बाद से ये लोग इधर-उधर फैलने लगे, और नवीं सदी तक रूस, पोलैंड, गलसिआ, आस्ट्रिया का एक बड़ा भाग, बोहेमिया, मोराविआ, सर्विया, बलगेरिया, तथा स्लावोनिआ आदि इनके कब्ज़े में आ गया। आज भी यह क्षेत्र उनका है। नवीं सदी तक के लेख इसमें मिलते हैं।

विभाजन



पूर्वी शाखा का १२वीं सदी तक लगभग एक ही रूप मिलता है। इसमें साहित्य १६वीं सदी से भी पूर्व का है। महा रूसी ही रूस की प्रधान भाषा है। १८वीं सदी के पूर्व तक यह बहुत अस्तव्यस्त थी। उसके बाद इसे टकसाली रूप मिला। यह मूलतः मास्को की एक बोली मात्र है। श्वेत रूसी रूस के दक्षिणी भाग में बोली जाती है। लघु रूसी का दूसरा नाम रुथेनियन भी है। इसके बोलने वाले कुछ आस्ट्रिया के गलीसिया प्रान्त में भी हैं। आधुनिक साहित्य प्रमुखतः महारूसी में ही है। रूसी क्रांति के पश्चात् से इसका भंडार बहुत ही पूर्ण हो गया है। पश्चिमी शाखा की प्रधान भाषा ज़ेक है। यह प्रधानतः बोहेमिआ की भाषा है, अतः इसका नाम बोहेमिअन भी है। इसके लेख ६वीं सदी तक के हैं, पर नियमित साहित्य १२वीं सदी से मिलता है। १५वीं सदी के हुस्साइट युद्ध के समय में यहाँ साहित्य की उन्नति खूब हुई। इधर डेढ़ सौ वर्षों से फिर इसका साहित्य बढ़ रहा है। स्लोवेकिअन इसी की एक बोली है, जो उत्तरी हंग्री, तथा प्रेसबर्ग एवं कारपेथिअन्स के मध्य में बोली जाती है।

ज़ेक की बहिन सर्बिअन का नाम 'सारोबिअन' एवं 'वेंडिक' भी है। यह धीरे-धीरे लुप्त हो रही है। प्रशा और सैक्सोनी में इसके कुछ ही बोलने वाले अब शेष हैं। इसका प्राचीनतम रूप १६वीं सदी की एक प्रार्थना-पुस्तक में मिलता है।

पोलिश भाषा का मूल क्षेत्र अब पोलैंड है। जर्मनी में भी इसका प्रचार कभी था पर फिर निकाल दी गई। इसमें कुछ प्रार्थनाओं के अनुवाद १३वीं सदी के मिलते हैं। वही इसका प्राचीनतम साहित्य है। निम्न एब के पास के गुलामों की भाषा पोलाबिश पोलिश की ही बहन थी। पोलाबिश का लोप बहुत पहले हो गया। इसमें साहित्य आदि कुछ भी नहीं मिलता।

दक्षिणी शाखा की प्रसिद्ध भाषा बल्गेरिअन है। इसमें पुराने रूप को प्राचीन बल्गेरिअन या चर्च स्लैवोनिक कहा जाता है। इसमें बाइबिल का अनुवाद ६वीं सदी के मध्य का मिलता है। इसमें द्विवचन का प्रयोग भी है और भाषा अधिक वियोगात्मक नहीं है। वर्तमान बल्गेरिअन पूर्णतः वियोगात्मक हो गई है। यह अपने प्राचीन रूप से बहुत दूर चली आई है। जहाँ तक शब्दसमूह का प्रश्न है, इसने स्वतंत्रता के साथ ग्रीक, अल्बेनियन, रूमानियन तथा तुर्की शब्दों को अपनाया है। इसका प्रधान क्षेत्र बल्गेरिया के अतिरिक्त यूरोपीय तुर्की तथा ग्रीस आदि भी है। संभवतः इसी कारण इसके शब्दसमूह में विदेशी तत्व अधिक आ गए हैं।

सर्वोक्रोटिअन भाषा के बोलने वाले सर्विआ, दक्षिणी हंग्री तथा स्लैवोनिया आदि कई स्थानों पर हैं। इसके अंतर्गत बहुत सी बोलियाँ हैं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इसका महत्व अत्यधिक है। इसके १२वीं सदी तक के कुछ लेख मिलते हैं, पर पुराना साहित्य नहीं है। स्लोवेनिअन का क्षेत्र कार्निओला, दक्षिणी कारिन्थिया एवं स्टीरिया में है। इसके प्राचीन लेख १०वीं सदी तक के मिलते हैं।

(४) आर्मेनियन

इसे कुछ लोग आर्य परिवार की ईरानी भाषा के अंतर्गत रखना चाहते हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि इसका शब्दसमूह ईरानी शब्दों से भरा है। पर, ये शब्द केवल उधार लिए हुए हैं। इसकी योगात्मकता तथा ध्वनि आदि स्पष्टतः ईरानी से भिन्न है, अतः इसे भारोपीय परिवार की एक स्वतंत्र शाखा मानना ही अधिक उपयुक्त है।

इसके कीलाक्षर-लेख मिले हैं, जिससे इसके प्राचीन साहित्य का अनुमान होता है। यह साहित्य धार्मिक था, जिसे ईसाइयों ने ४थी सदी के लगभग नष्ट कर दिया। ईसाई साहित्य ४ थी से ११वीं सदी तक रचा गया। ६वीं सदी का एक इंजील का इसमें अनुवाद है। कुछ पंक्तियाँ यहाँ के मूल साहित्य की भी हैं। इसका नवीन रूप प्रत्येक दृष्टि से प्राचीन रूप से बहुत दूर चला आया है, पर पुराने रूप का प्रयोग धार्मिक कार्यों में अब भी संस्कृत और लैटिन की भाँति होता है।

१वीं सदी में ईरान के युवराज आर्मेनिया के राजा थे अतः ईरानी शब्द इस भाषा में अधिक आ गए। तुर्की और अरबी शब्द भी इसमें काफ़ी हैं। इस प्रकार आर्य और आर्येतर दोनों ही प्रभाव इस पर पड़े हैं।

इसके व्यंजन आदि संस्कृत से मिलते हैं। जैसे फारसी 'दह' और संस्कृत 'दशन्' की भाँति १० के लिये इसमें 'तस्न' शब्द है। दूसरी ओर ह्रस्व स्वर ए और ओ आदि ग्रीक की भाँति हैं, अतः इसे आर्य और ग्रीक के बीच में कहा जाता है।

विभाजन

- आर्मेनिअन
  - फ्रीजिअन
  - प्राचीन आर्मेनिअन — वर्तमान आर्मेनिअन
    - अराराट
    - स्तंबुल

यूरोप और एशिया के सरहद पर बोली जाने वाली प्राचीन भाषा फ्रीजिअन* भी इसी के अंतर्गत मानी जाती है। वर्तमान आर्मेनियन के प्रधान दो रूप हैं। एक का प्रयोग एशिया में होता है और दूसरे का यूरोप में। इनका क्षेत्र कुस्तुनतुनिया तथा कृष्ण सागर के पास है। एशिया वाली बोली का नाम अराराट है और यूरोप में बोली जाने वाली का स्तंबुल। स्तंबुल में साहित्य रचना भी होती है, और यही इसकी प्रधान बोली है।

(५) आर्य

भारोपीय परिवार की आर्य शाखा बहुत ही महत्वपूर्ण है। आर्य परिवार का प्राचीनतम प्रामाणिक साहित्य इसी शाखा में मिलता है। इतना ही नहीं ऋग्वेद के बराबर पुराना शुद्ध साहित्य किसी भी भाषा में नहीं मिलता। ऋग्वेद की कुछ ऋचाएँ ढाई हजार ई० पू० तक लिखी जा चुकी थीं, ऐसी कुछ विद्वानों की धारणा है। पारसियों का धर्मग्रंथ 'जेन्द अवेस्ता' भी लगभग ७वीं सदी ई० पू० का है। इसके अतिरिक्त इस शाखा की भाषाओं की गठन तथा उनका साहित्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिए इस शाखा ने सामग्री दी है और पश्चिम में भाषा-विज्ञान का अध्ययन तभी से यथार्थतः प्रारंभ भी हुआ है जब से उन लोगों को इस आर्य शाखा के मनन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसे हम भाषा-विज्ञान के इतिहास पर विचार करते समय कुछ अधिक विस्तार से देखेंगे।

इस शाखा के आर्य, अन्य आर्यों का, या अन्य भारोपीयों का साथ छोड़ने के बाद जब आगे बढ़े तो कुछ लोग ईरान में रुक गये और कुछ लोग और बढ़कर भारतवर्ष में आ बसे। इस प्रकार इसकी भारतीय और ईरानी दो प्रमुख शाखाएँ हुईं। बहुत लोगों ने इन दोनों को भारोपीय की अलग-अलग शाखा माना है, पर ऐसा मानना वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि ये दोनों बहुत-सी बातों में साम्य रखती हैं, जिससे स्पष्ट है

* यह Phrygian है जो हालैंड की जर्मेनिक या ट्यूटानिक शाखा की फ्रीज़िअन (Frisian) से भिन्न है।

कि ये दोनों पहले से ही अलग न होकर एक शाखा के रूप में थीं और बाद में अलग हुईं। यहाँ भारतीय तथा ईरानी दोनों के समान लक्षणों का सिंहावलोकन कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

भारतीय और ईरानी में समानता

(१) भारोपीय मूल भाषा के तीन ह्रस्व मूल स्वर (अ, 'एँ', ओ) तथा तीन दीर्घ मूल स्वर ('आ' 'ए' और 'ओ') के स्थान पर भारतीय तथा ईरानी दोनों ही में एक ह्रस्व मूल स्वर 'अ' और एक दीर्घ मूल स्वर 'आ', ये दो ही मिलते हैं।

भारोपीय	संस्कृत	अवेस्ता
*नेभास	नभस्	नबह्
*ओस्थ	अस्थि	अस्ति
*याग	यज	यज्
*एपो	आपः	अपा

(२) दोनों में भारोपीय के अतिह्रस्व या उदासीन स्वर ꟈ के स्थान पर 'इ' स्वर मिलता है।

भारोपीय	संस्कृत	अवेस्ता
*पꟈते	पिता	पिता

(३) दोनों ही में मूल भारोपीय 'र' (ऋ) का 'ल' (लृ) और 'ल' (लृ) का र (ऋ) होता देखा जाता है। संभवतः 'र' (ऋ) और ल (लृ) ध्वनि में उस समय भेद नहीं था। केन्टुम वर्ग को भारोपीय का प्रतिनिधि मानकर कुछ उदाहरण यहाँ लिये जा सकते हैं :—

ग्रीक	लैटिन	संस्कृत	अवेस्ता
	रुन्करे	लुंचामि	
लुके	लुपुस्	वृकः	वहूको
	लिंगो	रेह्मि	

(४) इस शाखा में इ, उ, क तथा र के पश्चात् आने वाला 'स' व्यंजन ईरानी में 'श' हो गया और बाद में संस्कृत में वह ष हो गया। कुछ उदाहरण हैं :—

भारोपीय	अवेस्ता	संस्कृत
*स्थिस्थामि	हिश्तौति	तिष्ठामि
*जिउस्टर	जओशो	जोष्ट

(५) मूल भारोपीय के प्रथम श्रेणी के कंठ्य या पुरःकंठ्य क् (क्य) ख् (ख्य) ग् (ग्य) घ् (घ्य) भारत-ईरानी शाखा में क्रम से श् श्ह् ज् और ज्ह् हो गये। कालान्तर भारत में ये श् ज् और ह् हो गए और ईरान में स् ज् ज्ह् ।

(६) मूल भारोपीय के तृतीय श्रेणी के कंठ्य या कंठोष्ठ्य क् (क्व) ख् (ख्व) ग् (ग्व) घ् (घ्व) इस शाखा में शुद्ध कंठ्य क् ख् ग् घ् हो गये। और यदि इनके बाद इ, ए स्वर थे तो क्रम से च्, छ्, ज्, झ् हो गए।

(७) ईरानी तथा भारतीय दोनों में स्वरांत संज्ञाओं को बहुवचन बनाने के लिये षष्ठी में '—नाम्' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।

(८) दोनों में आज्ञा के लिए अन्य पुरुष में '—तु' और '—न्तु' प्रत्यय पाए जाते हैं।

(९) बहुत से शब्द दोनों ही में लगभग एक से हैं और दोनों में उनका अर्थ भी एक ही है—

संस्कृत	अवेस्ता
ओजस्	ओजः
अनु	अनु
अन्य	अन्य
विश्व	विस्प
ददामि	ददामि
असुर	अहुर
पुत्र	पुथ्
सप्त	हप्त
वसिष्ठ	वहिश्त
असि	अहि

(१०) वैदिक संस्कृत और अवेस्ता इतनी समीप हैं कि एक भाषा के बहुत से वाक्य केवल साधारण परिवर्तन से दूसरी भाषा के बनाए जा सकते हैं—

संस्कृत अवेस्ता

यो यथा पुत्रं तरुणं सोमं वन्देत मर्त्यः = यो यथा पुथ्म् तउरुनम् हओमम् वन्दएँता मश्यो।

शूरं धामसु शविष्ठम् = सूरं दामोहू शविस्तम्।

सावने आ ऋतौ आ = हावनीम् आ रतुम् आ

भारतीय और ईरानी में अंतर

ऊपर की समानताओं के रहते हुए भी दोनों में अंतर भी हैं। यदि ऐसा न होता तो दोनों अलग-अलग ही क्यों होतीं। यहाँ कुछ प्रमुख अंतरों की ओर संकेत किया जा सकता है।

(१) चवर्ग के केवल दो व्यंजन च् और ज् ईरानी में हैं, जबकि भारतीय में पाँच (च् छ् ज् झ् ञ्) हैं।

(२) ईरानी में टवर्ग का एकांत अभाव है, जब कि भारतीय में है।

(३) पाँचों वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ महाप्राण वर्ण ईरानी में नहीं हैं।

(४) पुरानी ईरानी में 'ल्' का भी अभाव है। इसके स्थान पर 'र' है। जैसे श्रीलः=स्रीरो (श्री-संपन्न)।

(५) ईरानी में स्वरों का बाहुल्य है। वहाँ ८ स्वर ऐसे हैं, जिनके स्थान पर भारतीय में 'अ' या 'आ' का प्रयोग होता है।

(६) आदि स्वरागम और अपिनिहिति भी ईरानी में भारतीय की अपेक्षा अधिक है। भरति=बरइति तथा भवति=बवइति आदि।

(७) ईरानी शब्दों के आरम्भ में भारतीय शब्दों में पाया जाने वाला 'स्', 'ह्' हो गया है। जैसे सप्त=हप्त, सप्ताह=हफ़्ता तथा सिंधु=हिंदु आदि।

(८) संस्कृत के घोष महाप्राण घ्, ध्, भ्, ईरानी में अल्पप्राण ग्, द्, ब रूप में हैं। जैसे भूमि=बूमि, दीर्घम्=दरेगम् तथा भ्राता=ब्राता आदि।

(९) संस्कृत के अघोष अल्पप्राण क् त् प ईरानी में संघर्षी ख़, थ़, फ़ हैं। जैसे क्रतुः=ख़्रतुश्, सत्यः=हइथ्यो तथा स्वप्नः=ह्वफ़्नम् आदि।

(१०) संस्कृत का ऋ ईरानी में अर, र, या अ है। जैसे वृत्तम्=वरेशेम्।

ध्वनि-संबंधी इन अंतरों के अतिरिक्त व्याकरण संबंधी अंतर बहुत से हैं, पर उनकी गहराई में उतरना प्रस्तुत पुस्तक का विषय नहीं है।

विभाजन

|—ईरानी

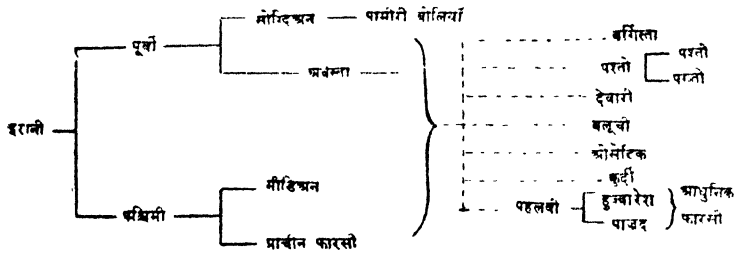
आर्य———|—दरद

|—भारतीय

(१) ईरानी

ईरानी में साहित्य-रचना बहुत पहले आरम्भ हो गई थी, पर आज उन प्राचीन निधियों का कुछ भी पता नहीं है, अतः वहाँ की भाषा का शृंखलाबद्ध इतिहास नहीं बतलाया जा सकता। इसके पता न चलने का कारण यह है कि सिकंदर ने ३२३ ई० पू० और अरब के विजेताओं ने ६५१ ई० में ईरानी का पुराना साहित्य बुरी तरह जला डाला। अब वहाँ का प्राचीनतम साहित्य पारसी धर्मग्रंथ अवेस्ता है, जिसकी भाषा ऋग्वेद से बहुत मिलती-जुलती है। इसके अतिरिक्त हख़मानी बादशाहों के छठवीं सदी ई० पू० के कुछ पुराने शिलालेख भी मिले हैं।

विभाजन



[इसकी आधुनिक भाषाओं एवं बोलियों के मूल का स्पष्ट पता नहीं है अतः अनिश्चित अंश बिन्दु से दिखाया गया है।]

पूर्वी शाखा की साग्दिअन भाषा का पता इसी सदी में लगा है। ईसवी सन् के आरम्भ की तथा कुछ और बाद की ईसाई और बौद्ध धर्म की कुछ पुस्तकें इस भाषा में मिली हैं। यह सग्दियाना की भाषा थी और कभी मंचूरिया तक फैली थी। ऐसा अनुमान है कि पामीरी आदि बोलियाँ इसी की बेटी हैं। यह हिन्दूकुश पर्वत पर एवं पामीर की तराई में प्रचलित है। पामीरी की प्रसिद्ध बोली ग़लचा है। साग्दिअन भाषा का समय अवेस्ता के बहुत बाद माना गया है।

अवेस्ता बैक्ट्रिया की राजभाषा होने के कारण प्राचीन बैक्ट्रियन भी कही जाती है। कुछ लोग भूल से इसे ज़िन्द भी कहते हैं। इसका यह नाम इसकी प्राचीनतम पुस्तक अवेस्ता (७वीं सदी ई० पू०) के कारण पड़ा है। अवेस्ता का अर्थ शास्त्र है, जिसमें 'गाथा' या प्रार्थनाएँ ऋग्वेद की भाँति हैं। इसमें यस्न (यज्ञ) विस्पेरद (बलि सम्बन्धी कर्मकांड) तथा वेन्दिदाद (प्रेतादि के विरोधी नियम) आदि भी हैं। कुछ दिन बाद जब अवेस्ता वहाँ की जनभाषा नहीं रह गई और मध्यकालीन

फ़ारसी या पहलवी का प्रचार हुआ तो अवेस्ता की टीका पहलवी में की गई। इस टीका को ज़ेन्द कहते हैं। ज़ेन्द का अर्थ ही टीका होता है। अब दोनों शब्दों (जेन्द और अवेस्ता) को मिलाकर लोग उस पुस्तक को तथा कभी-कभी भाषा को ज़ेन्दा-वेस्ता या ज़िन्दावेस्ता कहते हैं।

ऊपर ईरानी और भारतीय से साम्य और अंतर दिखलाने में ईरानी के संबंध में जो बातें कही गई हैं अवेस्ता के विषय में ही हैं। यहाँ उन्हें दुहराना व्यर्थ होगा।

मीडिअन भाषा के संबंध में केवल इसका नाम और एक शब्द 'स्पाक' (कुत्ता) ज्ञात है। यह पश्चिमी ईरान में प्रचलित थी।

प्राचीन ईरान के पश्चिमी भाग को फ़ारस कहते थे। वहाँ की भाषा प्राचीन फ़ारसी थी। कुछ लोग इसे अवेस्ता से निकली हुई समझते हैं पर असल में यह बात नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि ईरानी की दो शाखाएँ प्राचीनकाल से ही मिलती हैं (१) प्राचीन फ़ारसी, (२) अवेस्ता। प्राचीनता में प्राचीन फारसी अवेस्ता की यदि बिल्कुल समकालीन नहीं तो कुछ ही बाद की है। डेरिअस प्रथम (ई० पू० ५२१—४८५) आदि एकेमेनियन राजाओं के खुदवाये कीलाक्षर अभिलेखों में इसका स्वरूप सुरक्षित है। इसका अलग साहित्य नहीं मिलता पर अभिलेखों में उपलब्ध लगभग ४०० शब्दों के आधार पर अध्ययन अवश्य हुआ है। यह बहुत सी बातों में अवेस्ता से मिलती है।

प्राचीन फ़ारसी की वर्णमाला अवेस्ता की अपेक्षा अधिक सरल है। इस माने में वह संस्कृत के निकट है—

अवेस्ता	प्रा० फ़ारसी	संस्कृत
येजी	यदी	यदी

अवेस्ता के ज़् के स्थान पर प्राचीन फ़ारसी में द् हो जाता है। ऐसे स्थानों पर संस्कृत में ह् मिलता है।

अवेस्ता	प्रा० फ़ारसी	संस्कृत
अज़ेम	अदम	अहम

पुरानी फ़ारसी के पदों के अंत में व्यंजन प्रायः नहीं मिलते।

संस्कृत	अवेस्ता	प्रा० फ़ारसी
अभरत्	अबरत्	अबर

प्राचीन फ़ारसी उस प्रदेश की प्रमुख भाषा थी। पर इसके अतिरिक्त जैबुली, हिराती आदि बोलियाँ भी थीं, जिनके विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है।

प्राचीन फ़ारसी का ही विकसित रूप मध्यकालीन फ़ारसी या पहलवी कहलाता है। इसका प्राचीनतम रूप तीसरी सदी ई० पू० के कुछ सिक्कों में मिलता है। प्राचीन फ़ारसी और मध्यकालीन के बीच का कोई लेख नहीं मिलता। पहलवी का नियमित साहित्य तीसरी सदी से मिलने लगता है।

पहलवी के दो रूप थे। एक का नाम हुज़्वारेश था, जिसमें सेमिटिक परिवार के शब्दों का आधिक्य है। इसकी लिपि भी सेमिटिक है। सस्सानिद राजवंश (२२६ ई० से ६५२ ई०) की राजभाषा यही थी। अवेस्ता का कुछ अनुवाद भी इस भाषा में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त कुछ और भी पारसियों का धार्मिक-साहित्य इसमें है। इसके व्याकरण पर भी सेमिटिक प्रभाव यथेष्ट है।

पहलवी का दूसरा रूप पारसी या पाज़ंद है। इस पर सेमिटिक प्रभाव नहीं है। इसका प्रचार पूर्वीय प्रदेशों में था। भारत में बसने वाले पारसियों की भाषा यही है। यही कारण है कि गुजराती को पाज़ंद ने बहुत प्रभावित किया है।

जिस प्रकार अवेस्ता और प्राचीन फ़ारसी संस्कृत से मिलती-जुलती हैं उसी प्रकार मध्यकालीन फ़ारसी अपभ्रंश से।

आधुनिक फ़ारसी हिन्दी की भाँति वियोगात्मक हो गई है। इसका आरंभिक ग्रंथ महाकवि फिरदोसी (६४० से १०२०) का 'शाहनामा' नामक राष्ट्रीय महाकाव्य है। इसकी भाषा में अरबी के शब्द अधिक नहीं हैं पर उसके बाद आधुनिक फ़ारसी अरबी से लदने लगी। यह मध्यकालीन की अपेक्षा अधिक सरल और मधुर है। ध्वनि-परिवर्तन भी इधर विशेष हुआ है।

अब कुछ दिनों से राष्ट्रीयता की लहर यहाँ भी चली है और अरबी शब्दों को तुर्की की भाँति लोग बहिष्कृत कर रहे हैं। उन हटाए शब्दों के स्थान पर आर्य परिवार के शब्दों का प्रयोग बढ़ रहा है।

आधुनिक फ़ारसी की बहुत सी प्रादेशिक बोलियाँ भी हैं। विद्वान् इस संबंध में बहुत निश्चित नहीं हैं कि कौन बोलियाँ सीधे अवेस्ता से निकली हैं और कौन फ़ारसी से। टकर महोदय तो आधुनिक फ़ारसी और पहलवी के विषय में भी शंका करते हैं। उनका कहना है कि अवेस्ता और प्राचीन फ़ारसी के बाद की सभी ईरानी भाषाएँ एवं बोलियाँ उस समय की बोलियों से विकसित हुई हैं। आज उनकी माँ के विषय में निश्चय के साथ कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

कुछ प्रधान बोलियों पर यहाँ विचार किया जा सकता है। ये बोलियाँ इधर भारत

से लेकर उधर कैस्पियन सागर तक फैली हैं। इनमें कुछ तो प्रत्येक बात में इतनी दूर हो गई हैं कि पहचानी भी नहीं जातीं।

ओसेटिक बोली काकेशस के एक छोटे प्रदेश में बोली जाती है। इसकी ध्वनियों पर जार्जियन का अधिक प्रभाव पड़ा है। आस-पास की अन्य अनार्य भाषाओं की भी इस पर स्पष्ट छाप है।

कुर्दी या कुर्दिश बोली आधुनिक फ़ारसी के समीप है। इसमें एक बड़ी विशेषता यह है कि शब्दों के रूप छोटे हो गए हैं। उदाहरणार्थ आधुनिक फ़ारसी का 'बिरादर' शब्द इसमें 'बेरा' हो गया है। इसी प्रकार 'सिपेद' (सफ़ेद) का इसमें 'स्पी' रूप मिलता है।

बिलुचिस्तान की बिलोची भाषा भी आधुनिक फ़ारसी के निकट है। अभी तक यह भाषा कुछ संयोगात्मक है। साहित्य के नाम पर इसमें कुछ ग्राम-कथाएँ हैं। इसमें संघर्षी वर्ण अधिकतर स्पर्श हो गए हैं।

पश्तो का नाम अफ़गानिस्तानी या अफ़ग़ानी भी है। यह अफ़गान की भाषा है। इस पर भारतीय ध्वनि, वाक्यरचना, तथा बलाघात आदि का प्रभाव पड़ा है। अब यह भारतीय और ईरानी की एक मध्यवर्ती भाषा सी हो गई है। ईरानी की उपर्युक्त सभी बोलियाँ या भाषाएँ साहित्य से लगभग शून्य हैं, पर पश्तो में १६वीं सदी के बाद से कुछ साहित्य-रचना हुई है। इसमें लोक-साहित्य भी काफ़ी है। कुछ लोग पश्तो को सीधे अवेस्ता की संतान मानते हैं पर यह निश्चित मत नहीं हो सका है। पश्तो के ही एक रूप को पख़्तो कहते हैं, जो पश्चिमोत्तर अफ़गानिस्तान में बोली जाती है। दोनों में उच्चारणभेद ही प्रधान है। पश्तान वा पख़्तान से ही हिन्दी का 'पटान' शब्द निकला है।

बिलुचिस्तान में ही एक भाषा देवारी है। अफ़गानिस्तान के केन्द्र में एवं सीमा प्रान्त पर ओरमुरी या बर्गिस्तान बोली का क्षेत्र है।

हिंदूकुश पर्वत पर तथा पामीर की तराई में बहुत सी ईरानी बोलियाँ बोली जाती हैं, जिनके समूह को 'पामीरी' कहते हैं। ये बोलियाँ गठन की दृष्टि से कैस्पियन सागर के तट पर प्रचलित ईरानी बोलियों से बहुत सी बातों में मिलती-जुलती हैं।

इसमें कुछ और भी बोलियाँ हैं, पर उनका महत्व नहीं है।

(२) दरद*

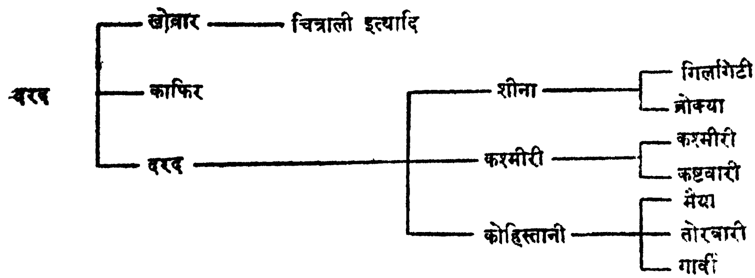
'दरद' भाषाओं का क्षेत्र पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के बीच में है। कभी

---

* यह संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ 'पर्वत' होता है। संस्कृत साहित्य में काश्मीर के पास के देश के लिए भी 'दरद' का प्रयोग मिलता है।

इनके बोलने वाले भारत के अन्य भागों में अवश्य थे, क्योंकि मराठी, सिंधी, पंजाबी आदि पर इनका प्रभाव स्पष्ट है। गठन की दृष्टि से पश्तो की भाँति ही दरद भाषाएँ भी ईरानी और भारतीय के बीच में हैं, पर यदि पश्तो ईरानी की ओर झुकी है तो दरद भारतीय की ओर। प्राचीन काल में अपने यहाँ दरद भाषाओं को भारतीय परिवार का समझा गया था और उन्हें पैशाची प्राकृत की संज्ञा दी गई थी।

विभाजन



खोवार भाषा का क्षेत्र दर्दिस्तान एवं ईरानी के मध्य में है। इसके अंतर्गत कई बोलियाँ हैं, जिनमें चित्राली प्रमुख है। चित्राली के पश्चिम में काफ़िर वर्ग की बोलियाँ हैं। इनमें से किसी में भी साहित्य नहीं है।

गिलगिट की घाटी में शीना बोली जाती है। यह दरद की प्रतिनिधि भाषा है। इसके अंतर्गत कई बोलियाँ हैं, जिनमें गिलगिटी ही मुख्य है।

कश्मीर की भाषा कश्मीरी है। इसमें १४वीं सदी से साहित्य मिलता है। इसके पूर्व यहाँ संस्कृत में साहित्य रचना होती थी। यहाँ के प्रसिद्ध कवि लल्ला (१४वीं सदी) हो गए हैं, जिनकी रचना को ग्रियर्सन ने लंदन से प्रकाशित किया था। अब कश्मीरी का साहित्य और भी उन्नत हो गया है। एक आधुनिक कश्मीरी कवि की कविता की तुलना टैगोर ने किसी अपनी कविता से की थी। कश्मीरी की कई बोलियाँ हैं। कुछ बोलियाँ पंजाबी से मिलकर विचित्र हो गई हैं। आश्चर्य है कि आज भी कश्मीर में उर्दू का बोल-बाला है और कश्मीरी प्रायः उपेक्षित सी है।

इस शाखा की अंतिम भाषा कोहिस्तानी है। कोहिस्तानी बोलने वाले बहुत कम हैं। मैया, तोरवारी आदि इनकी प्रधान बोलियाँ हैं।

(३) भारतीय*

आर्य शाखा की यह उपशाखा प्रमुख रूप से भारतवर्ष में है। मोटे तौर पर इसके इतिहास को तीन भागों में बाँटा जा सकता है।

भारतीय आर्य शाखा—
- (अ) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल (१५०० ई० पू० से ५०० ई० पू०)
- (आ) मध्यकालीन आर्यभाषा काल (५०० ई० पू० से १००० ई०)
- (इ) आधुनिक आर्यभाषा काल (१००० ई० से वर्तमान समय तक)

(अ) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल

ऋग्वेद की पुरानी ऋचाओं में इसका स्वरूप आज भी कुछ-कुछ सुरक्षित है। इस प्राचीनतम भाग को संहिता कहते हैं। वेद के शेष अंश ब्राह्मण एवं उपनिषद आदि में भाषा कुछ आगे बढ़ गई है। सूत्रकाल में और भी इसका विकास हुआ और साधारण जनता वेद आदि को समझने में अपने को असमर्थ पाने लगी। धीरे-धीरे वैदिक संस्कृत के बाद लौकिक संस्कृत या संस्कृत का युग भी समाप्त होने लगा। इस प्रकार संस्कृत भाषा बोल-चाल में असंस्कृत होने लगी। इसी को रोकने के लिए पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना की। संस्कृत नाम सम्भवतः उसी समय का है। अष्टाध्यायी के कारण संस्कृत का स्वरूप निश्चित तो हुआ और लगभग आज तक वही है, पर जन-भाषा का रुकना असम्भव था। बुद्ध के समय तक भौगोलिक दूरी के कारण संस्कृत का प्राकृतों में विकास आरम्भ ही नहीं हो गया था अपितु वे अपना अलग-अलग स्वरूप भी बना चुकी थीं।

प्राचीन काल में ही 'प्राचीन संस्कृत' (Classical Sanskrit) भी आती है। यह कृत्रिम या साहित्यिक भाषा थी। जीवित भाषा प्राकृत का रूप धारण कर चुकी थी फिर भी यह साहित्य क्षेत्र में अबाध गति से कार्य करती रही। यहाँ की अनार्य भाषाओं

* यहाँ भारतीय से अर्थ भारतीय और पाकिस्तानीय दोनों ही से है

पर तथा प्राकृतों पर इसका काफ़ी प्रभाव पड़ा पर दूसरी ओर यह भी उनसे प्रभावित हुई। अनार्यों के कितने ही शब्द संस्कृत को अपनाने पड़े। संस्कृत का प्रभाव भारत के बाहर चीन, जापान, तिब्बत, हिंदचीन, जावा, सुमात्रा तथा बाली आदि की भाषाओं पर भी पड़ा।

वैदिक संस्कृत के वेद, ब्राह्मण तथा उपनिषद् एवं संस्कृत के महाभारत, रामायण, अभिज्ञान शाकुंतल आदि ग्रंथरत्न विश्वसाहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं और संस्कृत साहित्य यदि संसार का सबसे धनी साहित्य नहीं तो कम से कम धनी साहित्यों में से एक अवश्य है।

आधुनिक काल में भी विशेष अवसरों पर संस्कृत का प्रयोग मंत्रों आदि के रूप में होता है। कुछ समाचार पत्र भी संस्कृत में अभी निकल रहे हैं। भारत की आधुनिक भाषाएँ आवश्यकता पड़ने पर नए शब्द संस्कृत से ही लेती हैं या उनके आधार पर गढ़ लेती हैं।

भाषा का स्वरूप

अंत में प्राचीन काल की भाषा के स्वरूप पर दृष्टि दौड़ा लेना ठीक होगा। मूल भारोपीय भाषा की तुलना में इसकी निम्नांकित विशेषताएँ महत्वपूर्ण हैं :

(१) स्वरों की संख्या कम हो गई।

(२) लृ का प्रयोग बहुत ही सीमित हो गया।

(३) चवर्ग और टवर्ग* ध्वनियों का विकास हुआ।

(४) तीन कवर्ग के स्थान पर एक ही कवर्ग रह गया।

(५) स्पर्शों में प्रत्येक वर्ग में एक-एक अनुनासिक जोड़ दिए गए।

(६) उदासीन स्वर भी लुप्त हो गया। उसके स्थान पर 'इ' का प्रयोग होने लगा।

(७) श् और ष् दो नए ऊष्म आए।

(८) ह् ध्वनि भी प्रयुक्त होने लगी।

इसके अतिरिक्त कुछ और बातों पर विचार कर लेना भी आवश्यक है, जो बाद की आर्य भाषाओं में नहीं पाई जाती।

(१) ऐ और औ का उच्चारण क्रम से 'आइ' और 'आउ' था।

---

* कुछ विद्वानों का विचार है कि टवर्ग का विकास द्रविड़-प्रभाव के फलस्वरूप है।

(२) शब्दों में व्यंजन ज्यों के त्यों थे। उनका लोप नहीं हो रहा था। (मध्य काल में हम देखेंगे कि यह लोप की प्रवृत्ति आ गई थी।)

(३) शब्दों में धातु का अर्थ अब तक सुरक्षित था। (बाद की लौकिक संस्कृत में अर्थ-परिवर्तन कुछ-कुछ आरंभ हो रहा था।)

(४) स्वराघात पूर्णतः संगीतात्मक था, पर धीरे-धीरे वह भी समाप्ति की ओर बढ़ रहा था।

(५) ३ लिंग, ३ वचन और ८ कारक थे।

(६) रूप-रचना जटिल और प्राचीन काल में कुछ अनियमित थी। लौकिक संस्कृत में ये दोनों बातें कुछ कम अवश्य हो गई थीं।

(७) वाक्य में शब्द का स्थान निश्चित नहीं था। वह कहीं भी रखा जा सकता था।

(८) उपसर्ग मूल शब्द से अलग हटा कर भी वाक्य में कहीं रखे जा सकते थे।

(आ) मध्यकालीन आर्यभाषा काल

ऊपर हम कह चुके हैं कि बहुत पहले जन-भाषा संस्कृत से आगे चली आई थी। यों इस काल का आरम्भ ५०० ई० पू० से माना जाता है पर यह समझने के लिए एक माना हुआ समय मात्र है।

प्राचीन काल की भाषा की तुलना में इस काल की भाषा बहुत सरल हो गई। रूपों की अधिकता कम हो गई। ध्वनि-सम्बन्धी परिवर्तन भी महत्वपूर्ण हुए। इस काल को हम लोग सुविधा के लिए तीन भागों में बाँट सकते हैं।

मध्यकाल—
- —प्रथम काल (५०० ई० पू० से १ ई० पू०)
- —द्वितीय काल (१ ई० पू० से ५०० ई०)
- —तृतीय काल (५०० ई० से १००० ई०)

(१) प्रथम काल

इस काल की प्रतिनिधि भाषा पाली और महाराज अशोक की प्राकृत हैं, जिनका नमूना अशोक की धर्मलिपियों में एवं पाली ग्रंथों में मिलता है। पाली उस काल की साहित्यिक भाषा थी। विंडिश, गाइगर, राइसडेविड आदि विद्वान पाली को उस समय के आर्यभारत की राष्ट्रभाषा मानते हैं, और इसे कोसल प्रदेश की बोली पर आधारित मानते हैं। साधारणतया यह अर्धमागधी प्रदेश की बोली मानी जाती है, पर इसकी गठन पर विचार करने पर विंडिश आदि विद्वानों की बातें ही ठीक ज्ञात होती हैं।

पाली में कथा-साहित्य बहुत है। इसके अतिरिक्त कुछ कोष और व्याकरण आदि भी इस भाषा में हैं। 'धम्मपद' की भाषा भी पाली है, जिसे बौद्धधर्म की गीता कहा गया है।

अशोक के शिलालेखों में (जो जौगढ़, गिरनार, धौली तथा मनसेरा आदि में मिले हैं) प्रथम काल के दूसरे रूप का दर्शन होता है। इन सभी की भाषा बिल्कुल एक नहीं है। प्रदेशों के अनुकूल उनमें परिवर्तन हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रादेशिक बोलियाँ एक दूसरे से उस समय तक कुछ भिन्न हो चुकी थीं।

भाषा का स्वरूप

(१) प्राचीन काल की 'ॠ', 'लृ', 'ऐ' और 'औ' ध्वनियों का प्रयोग बन्द हो गया।

(२) 'ऐ' और 'औ' के स्थान पर 'ए', 'ओ' का प्रयोग होने लगा।

(३) संस्कृत में स्वर-क्रम जहाँ अ—अ—अ था उसके स्थान पर पालि में अ—इ—अ हो गया। परम—परिम, चरम—चरिम।

(४) संयुक्त व्यंजनों में अनुरूपता की प्रवृत्ति पाई जाने लगी। (धर्म—धम्म, पुत्र—पुत्त)

(५) शब्दों में विसर्ग और अंतिम व्यंजन का लोप हो गया।

(६) 'र' ध्वनि के साथ आने वाली 'तवर्गीय ध्वनियाँ' क्रम से टवर्ग में परिवर्तित होने लगीं। प्रथम—पठम, प्रति—पटि।

(७) 'य्' के स्थान पर 'ज्' (यमुना—जमुना) और 'व्' के स्थान पर 'ब' ध्वनि का प्रयोग होने लगा।

(८) स्, श् और ष् के स्थान पर केवल स् रह गया।

(९) संगीतात्मक स्वराघात लुप्त हो गया और उसके स्थान पर बलात्मक स्वराघात की प्रवृत्ति परिलक्षित होने लगी।

(१०) द्विवचन का प्रयोग समाप्त हो गया।

(११) संज्ञाएँ अधिकतर अकारांत होने लगीं।

(१२) कालों, कारकों, और वाच्यों के रूप अपेक्षाकृत कम हो गए।

(१३) क्रियार्थक संज्ञा का प्रयोग धीरे-धीरे बढ़ने लगा।

(२) द्वितीय काल

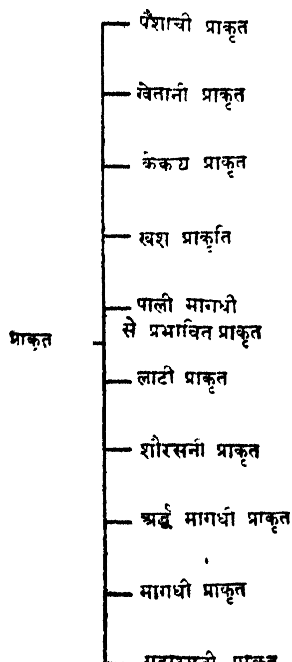
इसके अंतर्गत साहित्यिक प्राकृतें आती हैं। ऊपर हम कह चुके हैं कि अशोक के

शिलालेखों की भाषा प्रादेशिकता के अनुसार एक दूसरे से कुछ भिन्न थी। यही भिन्नता धीरे-धीरे अधिक हुई और अलग-अलग प्राकृतों का विकास हो गया। संस्कृत ग्रंथों में भी, विशेषतः नाटकों में, इन प्राकृतों का प्रयोग मिलता है। स्त्री एवं नीची श्रेणी के पात्र प्राकृत का ही प्रयोग करते पाए जाते हैं।

यह नित्यप्रति विकसित होने वाली जनभाषा की धारा है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक या कृत्रिम धारा भी आ रही थी। वैदिक संस्कृत से संस्कृत (पाणिनीय) में होते हुए इस द्वितीय काल में वह प्राकृतों के प्रभाव से न बच सकी और दोनों का मिश्रण हुआ। उस मिश्रित रूप को 'गाथा'* कहते हैं।

प्राकृतों के प्रधान भेद ये हैं :—

विभाजन



*'गाथा' कोई विशुद्ध भाषा न होकर प्राकृत और संस्कृत का एक मिश्रित रूप

पैशाची प्राकृत दरद प्रदेश की थी। यथार्थतः इसका मूल तो दरद भाषा में है, पर भारतीय शाखा से यह इतनी प्रभावित थी कि प्राचीनों ने ही इसे प्राकृत नाम दे दिया था। वर्तमान दरद भाषाएँ जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है इसी से उद्भूत हैं। पैशाची में साहित्य था जो अब उपलब्ध नहीं है। इस भाषा का प्रधान लक्षण यह है कि स्वर के बीच में आने वाले स्पर्श घोष अघोष हो गए हैं, जैसे गगन—गकन, मेघ—मेख, राजा—राचा तथा नगर—नकर।

गांधार, पंजाब एवं सीमांत प्रान्त की संस्कृत से विकसित बोलियों से तीन प्राकृतों का विकास हुआ। इनमें पहली खेतानी है, जिसका रूप खेतान के शिलालेखों में मिलता है। यह प्राकृत यहीं समाप्त हो गई। इससे आगे किसी भी भाषा का विकास न हो सका। दूसरी प्राकृत नाम-विहीन है। इसके बोलने वाले सिन्ध में थे। इसी से व्राचड़ अपभ्रंश का जन्म हुआ। तीसरी प्राकृत कैकय है। टक्क और मद्र प्राकृत भी इसी की शाखाएँ थीं। इन सभी का क्षेत्र पश्चिमी पंजाब था।

खश प्राकृत नेपाल, गढ़वाल आदि के पास पहाड़ों में प्रचलित थी। पैशाची प्राकृत, या दरद का भी इस पर प्रभाव था।

पाली भाषा धर्मग्रंथों के साथ सिंहल गई। इस पर मागधी का भी प्रभाव पड़ा था। इस द्वितीय काल में इसका भी एक प्राकृत रूप रहा होगा, जिसकी कोई अलग संज्ञा नहीं है।

अशोक की गिरनार की बोली की सीधी संतान कई प्राकृतें थीं। इन पर शौरसेनी का प्रभाव भी था। इनमें आभीरों की आभीरी, उज्जेन की अवंती, सौराष्ट्र (जो आज काठियावाड़ है) की सौराष्ट्री तथा लाट देश की लाटी आदि थीं। इन सब को मिलाकर कल्पित नाम 'नागर प्राकृत' रखा जा सकता है।

कुरु, पांचाल, पूर्वी पंजाब और पश्चिमी संयुक्त प्रान्त में शौरसेनी प्राकृत का प्रदेश था। प्राकृतों में सब से पुरानी सामग्री इसी की मिलती है। नाटकों में भी इसी का अधिक प्रयोग मिलता है। यह अपने समय की संभवतः राष्ट्रभाषा थी। ईसवी के आरंभ के इसमें अश्वघोषकृत कुछ रूपक मिले हैं। इसका प्रधान लक्षण स्वरों के बीच में

है। महायान संप्रदाय के 'ललित विस्तर' आदि अनेक ग्रंथों का पद्य भाग 'गाथा' में है। मैक्समूलर तथा वेबर आदि ने गाथा को संस्कृत तथा पालि के बीच की भाषा कहा है, पर आधुनिक विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं। यह संस्कृत और प्राकृत को मिलाकर बनाई गई एक मिश्रित भाषा थी। इस भाषा का आगे विकास नहीं हो सका।

संस्कृत—त्—और—थ्—का क्रम से—द्—और—ध्—हो जाना है। इसका नाम शूरसेन प्रदेश के नाम पर पड़ा है। पहले शूरसेन राज्य मथुरा के पास था। आज भी इस नाम का गाँव वहाँ है।

शौरसेनी और मागधी के बीच में अर्द्धमागधी का क्षेत्र था। इसका प्रयोग जैन ग्रंथों में हुआ है। अशोक के शिलालेखों की मूल भाषा भी यही है। इसमें र् का कहीं कहीं ल् हो गया है और श् तथा ष् के स्थान पर स् ही मिलता है। इसमें स्वरों के बीच के स्पर्श व्यंजन 'य' हो गये हैं, जैसे सागर—सायर तथा कृत—कय आदि।

मागध जनपद की भाषा मागधी थी। नाटकों में इसका भी प्रयोग है। इसमें स् और ष् के स्थान पर भी श् मिलता है। र् के स्थान पर ल् तो सर्वत्र है। 'राजा' बेचारा भी 'लाआ' हो गया है। इसका अपना अलग साहित्य नहीं है। शाकारी, ढक्की, चांडाली और शाबरी आदि प्राकृतें इसी की शाखा कही जाती हैं।

महाराष्ट्र की प्राकृत महाराष्ट्री थी। ज़ूल ब्लाख़ मराठी का विकास इसी से मानते हैं। इसमें दो स्वरों के बीच में आने वाले अल्पप्राण स्पर्श का लोप हो गया है और महाप्राण का 'ह्' मात्र रह गया है। डॉ० घोष जैसे कुछ विद्वान् महाराष्ट्री को शौरसेनी की शाखा मात्र मानते हैं।

भाषा का स्वरूप

(१) दो स्वरों के बीच में आने वाले अधिकतर व्यंजन लुप्त हो गए। (कोकिल—कोइल, शकट—सअढ)

(२) बीच में आने वाले महाप्राण केवल ह रह गए। (पृथिवी—पुहवी)

(३) बीच में रहने वाले—स्—भी ह् हो गए। (केशरी—केहरी)

(४) ओष्ठ्यस्पर्श का अधिकतर 'म्' हो गया। (नीप—नीम, आपीड़, आमेल)

(५) ड् नरम होकर प्राय: ल् या र् हो गया। (गरुड़—गरुल)

(६) व्याकरण के रूपों में और भी कमी हो गई, जिसके कारण सहायक शब्दों की आवश्यकता पड़ने लगी। इस प्रकार भाषा संयोगात्मक से वियोगात्मक हुई, पर अभी हिन्दी आदि की भाँति पूर्ण वियोगात्मक नहीं हुई थी।

(७) वाक्य में शब्दों का स्थान निश्चित हो गया।

(८) समवेत रूप से भाषा पहले की अपेक्षा सरल हो गई।

(३) तृतीय काल

इसमें प्राकृतों के विकसित रूप (अपभ्रंश) आते हैं। अपभ्रंश नाम से स्पष्ट है

कि नामकरण करने वाले का विचार था कि भाषा बिगड़ रही है, पर सच बात यह है कि यह 'बिगड़ना' न होकर 'भाषा का विकास' है। प्राकृतों को व्याकरण के सूत्रों में बाँध दिया गया था पर उनके प्रचलित रूप को बाँधना सम्भव न था, अतः भाषा विकसित होती गई।

अपभ्रंश में साहित्य है। इसका प्राचीन रूप कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक में मिलता है। नाथ-संप्रदाय के भी बहुत से ग्रंथ अपभ्रंश में हैं। विद्यापति अपनी कीर्तिलता 'अवहट्ठ' ('अपभ्रंश' का एक विशिष्ट रूप) में ही लिखा है।

'प्राकृतसर्वस्व' के लेखक मार्कंडेय ने अपभ्रंश के ३ भाग किये हैं—नागर, उपनागर और ब्राचड़।

नागर गुजरात के नागर ब्राह्मणों के प्रदेश की थी। इसका व्याकरण हेमचन्द्र ने लिखा है। उनके अनुसार यह शौरसेनी प्राकृत से निकली थी। ब्राचड़ का क्षेत्र सिन्ध था। उपनागर दोनों के बीच में थी।

सत्य तो यह है कि प्रत्येक प्राकृत का एक अपभ्रंश रूप विकसित हुआ होगा और इस प्रकार प्रमुखतः पैशाची का पैशाची अपभ्रंश, सिंध का ब्राचड़ अपभ्रंश, केकय से केकय अपभ्रंश, खश से खश अपभ्रंश, सिंहल का सिंहली या एलू अपभ्रंश, सौराष्ट्री आदि से विकसित सौराष्ट्री या नागर अपभ्रंश, शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश, अर्द्धमागधी से अर्धमागधी अपभ्रंश, मागधी से मागधी अपभ्रंश और महाराष्ट्रीय से महाराष्ट्री अपभ्रंश का अनुमान किया जा सकता है।

साहित्य में विशेषतः शौरसेनी अपभ्रंश का ही प्रयोग मिलता है।

भाषा का स्वरूप

(१) अब तक भाषा में अनुनासिक व्यंजन थे, पर अब अनुनासिक स्वर भी आ गए।

(२) प्राकृतों में विकसित होती प्रवृत्तियाँ इस काल में और भी आगे बढ़ीं, और बचे शब्दों पर भी अपना कार्य किया।

(३) दो स्वरों के बीच में आने वाला—म—,—व—हो गया। (कमल—कवँलु, भ्रमर-भँवरु)

(४) अकारान्त शब्दों में उकार आ गया (तत्र—तेत्थु) तथा इसी प्रकार के और भी निरर्थक सर्ग लगने लगे।

(५) कालों और कारकों के कारण बनने वाले क्रिया और संज्ञा के रूप और

भी कम हो गये, अतः अर्थ की स्पष्टता के लिए सहायक क्रिया तथा परसर्गों का प्रयोग पूर्णतया होने लगा। भाषा प्राकृतकाल से भी अधिक वियोगात्मक हो गई।

(६) ध्वन्यात्मक शब्दों (धड़-धड़, भड़-भड़) का प्रयोग साधारण भाषा में होने लगा।

(७) कविता में तुक की आवश्यकता पड़ने लगी।

(८) संगीतात्मक स्वराघात पूर्णतः लुप्त हो गया और बलात्मक स्वराघात आ गया।

(९) संस्कृत से आवश्यकता पड़ने पर शब्द लिए गए, अतः भाषा में एक ही शब्द के तत्सम, अर्द्धतत्सम और तद्भव रूप साथ-साथ प्रयोग में आने लगे।

(१०) अनार्य भाषाओं से स्वतंत्रता के साथ शब्द लिए जाने लगे।

(११) शब्दों के प्राचीन अर्थों में बहुत परिवर्तन हो गया।

(ग) आधुनिक आर्यभाषाकाल

इसके अन्तर्गत उत्तरी भारत की वर्तमान सभी भाषाएँ आती हैं। इनका आरम्भ १००० ई० के बाद से ही जन भाषा में होने लगा था पर साहित्य में १३ वीं सदी के लगभग इनका काल आता है।

इन सभी का अलग-अलग संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है। यों तो किसी न किसी अपभ्रंश से ही इनका जन्म माना जायगा पर सत्य यह है कि आधुनिक भाषाओं में से कोई भी अपनी अपभ्रंश माता की शुद्ध सन्तान नहीं है। उनमें मिश्रण खूब हुआ है, अतः आगे जब हम लोग किसी भाषा से किसी अपभ्रंश को सम्बन्धित कहेंगे तो इसका केवल मात्र इतना ही अर्थ होगा कि वह सम्बन्ध प्रधान है।

पैशाची अपभ्रंश से निकलने वाली कश्मीरी आदि का वर्णन ऊपर हो चुका है। ये भाषाएँ दरद के अन्तर्गत आती हैं। इनके एक क्षेत्र में प्रयुक्त शारदा लिपि नागरी लिपि की ही बहिन है।

सिंधी—व्राचड़ अपभ्रंश से निकलने वाली भाषा सिंधी पाकिस्तान के सिंध प्रान्त में बोली जाती है। इसका उल्लेख्य ग्रंथ 'शाहजो रिशालो' है। बोलने वाले अधिक-तर मुसलमान हैं, इसी कारण अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग अधिक होता है।

व्राचड़ अपभ्रंश की विशेषता 'त' का 'ट' और 'द' का 'ड' हो जाना सिंधी में भी है (ताँबा—टामो; देना—डिअणु)। इसमें ग, ज, ड तथा ब का उच्चारण एक विचित्र ढंग से कंठ-पिटक बंद करके होता है।

सिंधी की अपनी लिपि 'लंडा' है, पर अरबी तथा गुरुमुखी लिपि का भी यहाँ प्रयोग होता है। इसमें बिचोली सिरैकी, लारी, थलेरी और कच्छी पाँच प्रधान बोलियाँ हैं। इन पाँचों में प्रमुख 'बचोली' है जो आज वहाँ कि साहित्यिक भाषा बन गई है। कच्छ द्वीप में कच्छी बोली जाती है, जिस पर गुजराती का प्रभाव अधिक पड़ा है।

लहँदा—केकय अपभ्रंश से पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान) की भाषा पश्चिमी पंजाबी या लहँदा का विकास हुआ है। इस पर दरद शाखा का प्रभाव अधिक पड़ा है। डिलाही, जटकी, हिंदकी या उच्ची भी इसी के नाम हैं। लहँदा का अर्थ पश्चिम है। इसकी अपनी लिपि लंडा है, पर यह फारसी लिपि में भी लिखी जाती है। सिक्ख धर्म की जनमसाखी तथा ग्रामगीतों के अतिरिक्त इसमें कोई साहित्य नहीं है। इसकी ४ बोलियाँ लहँदा, मुल्तानी, पोठवारी और धन्नी हैं।

पूर्वी पंजाबी—पूर्वी पंजाबी या पंजाबी मध्य पंजाब की भाषा है। केकय से इसकी भी पैदाइश है, पर शौरसेनी का प्रभाव अधिक पड़ा है। कुछ विद्वान् इसकी उत्पत्ति 'टक्क' अपभ्रंश से मानते हैं। दरद का भी इस पर कुछ प्रभाव है। इसकी भी लिपि लंडा है, पर अब इसका सुधरा रूप गुरमुखी* व्यवहार में आता है। इसकी प्रसिद्ध बोली डोग्री है, जो टाकरी लिपि में लिखी जाती है। वैदिक संस्कृत का पुरुषत्व आधुनिक भाषाओं में सबसे अधिक इसमें ही विद्यमान है।

पहाड़ी—खश अपभ्रंश से पहाड़ी भाषाएँ निकली हैं। पर्बतिया आदि भी इसके नाम हैं। लिपि नागरी है। इसके अंतर्गत तीन वर्ग हैं।

पूर्वी पहाड़ी की प्रधान बोली नेपाली है। इसमें आधुनिक साहित्य भी है। टर्नर ने 'नेपाली डिक्शनरी' नामक पुस्तक संपादित की है, जो भाषा-विज्ञान की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। नेपाली को खसखुरा या गुरखाली भी कहते हैं।

मध्य पहाड़ी के गढ़वाली और कमायूनी दो रूप हैं। उनमें भी आधुनिक साहित्य कुछ है। लिपि देवनागरी है।

पश्चिमी पहाड़ी में लगभग ३० बोलियाँ हैं, जिनमें चंबाली, जौनसारी, सिरमैरी आदि प्रमुख हैं। चंबाली की लिपि शेष से भिन्न है।

सभी पहाड़ी बोलियों पर राजस्थानी का ऐतिहासिक कारणों से यथेष्ट प्रभाव है।

* गुरु अंगद सिंह ने १५५० के लगभग नागरी की सहायता से लंडा को सुधारा और 'गुरुमुखी' नाम रखा।

माली तथा सिंहली—मालद्वीप की माली भाषा और सिंहली पाली से निकली हैं। इनमें महाप्राण का अल्पप्राण और ऊष्मों का 'स' हो गया है। इनके प्राचीन रूप को एलु (अपभ्रंश) कहते हैं, जिस पर मराठी का प्रभाव पड़ा है। सिंहल से ही यह भाषा मालद्वीप पर भी गई है।

राजस्थानी तथा गुजराती—नागर अपभ्रंश से राजस्थानी का तथा उसके पश्चिमी रूप से गुजराती का विकास हुआ है। आजकल गुजराती साहित्य उन्नत हो गया है। इसके प्रथम प्रसिद्ध कवि नरसी मेहता हैं। इसकी लिपि पुरानी नागरी से विकसित हुई है। राजस्थानी की प्रधान बोलियाँ मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती तथा मालवी आदि हैं। मारवाड़ी में प्राचीन साहित्य है। नागरी और महाजनी दोनों लिपियों का प्रचार इन बोलियों के क्षेत्र में है।

भीली और खानदेशी—भीली और खानदेशी भाषाएँ अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रखतीं। भीली गुजराती की एक शाखा है, जो आस-पास के जंगलों में बोली जाती है। खान-देशी राजस्थानी की पुत्री है, जिसका प्रयोग खानदेश में होता है। इन दोनों ही में साहित्य के नाम पर लोकसाहित्य ही है।

पश्चिमी हिंदी—शौरसेनी अपभ्रंश से पश्चिमी हिन्दी का विकास हुआ है। इसके अंतर्गत दो बोलियाँ प्रधान हैं। एक तो ब्रज है, जिसके साथ कन्नौजी आदि भी हैं। यह मध्यकाल में साहित्य की भाषा रही है अतः पर्याप्त मँजी हुई और मधुर है। दूसरी खड़ी बोली है, जिसके हिन्दी और उर्दू दो रूप हो गए हैं। हिन्दी पर संस्कृत का प्रभाव है, तो उर्दू पर फ़ारसी-अरबी और तुर्की आदि का। उर्दू में कुछ परिवर्द्धन के साथ फ़ारसी लिपि प्रयुक्त होती है और हिन्दी में नागरी। हिन्दी का साहित्य इधर बहुत धनी हो गया है* और यह भारत की राष्ट्रभाषा भाषा हो गई है।

पूर्वी हिन्दी—अर्द्धमागधी अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी का विकास हुआ है, जिसमें अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी आदि बोलियाँ हैं। अवधी को तुलसी एवं जायसी आदि कवियों ने साहित्य में प्रयुक्त किया। शेष बोलियों में साहित्य नहीं है। इनकी लिपि भी नागरी है।

बिहारी—मागधी अपभ्रंश से बिहारी निकली है। बिहारी के अन्तर्गत भोजपुरी, मगही, मैथिली हैं। मैथिली मिथिला में बोली जाती है। इसमें साहित्य भी है।

* इसी में हिन्दू और उर्दू का मिश्रित रूप हिन्दुस्तानी भी आता है

विद्यापति इसके प्रसिद्ध कवि हैं। इसकी अपनी लिपि अलग है, जो बँगला से मिलती-जुलती है। शेष बोलियों में केवल लोक-साहित्य है। कबीर के कुछ पदों में भोजपुरी के कुछ प्रयोग अवश्य मिल जाते हैं। भोजपुरी तथा मगही क्षेत्र में लिखने-पढ़ने में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि तथा बही आदि के कामों में महाजनी लिपि का प्रयोग होता है।

बँगला—बँगला भाषा भी बिहारी की तरह मागधी अपभ्रंश से ही निकला है। बँगला साहित्य बहुत उन्नत है। टैगोर जैसे उच्च साहित्यिक पाने का उसे गर्व प्राप्त है। बँगला लिपि पुरानी नागरी से निकली है। बँगला के पूर्वी और पश्चिमी दो रूप हैं। एक का क्षेत्र पाकिस्तान है और दूसरे का हिन्दुस्तान। बँगला में संस्कृत के शब्द अधिक हैं। इनके उच्चारण में अ का ओ और स् का श हो जाता है।

आसामी—आसामी का क्षेत्र आसाम है। यह बँगला की बहिन है। अर्थात् मागधी से निकली है। इसमें ऐतिहासिक ग्रंथ बहुत हैं। इसका व्याकरण और लिपि बँगला के समीप हैं। इस पर बँगला का प्रभाव बहुत पड़ा है।

उड़िया—यह उत्कल देश की बोली है। इसे ओड्री भी कहते हैं। लिपि पुरानी नागरी से निकली है, पर द्रविड़ प्रभाव के कारण बड़ी कठिन है। इसमें कृष्ण-साहित्य मिलता है। राजनैतिक कारणों से उड़िया में मराठी और तेलगू शब्द बहुत मिलते हैं। यह मागधी से ही निकली है।

मराठी—महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी का विकास हुआ है। बम्बई, पूना, बरार तथा नागपुर आदि के पास इसका प्रदेश है। इसमें मराठी, बरारी और कोंकणी तीन प्रधान बोलियाँ हैं। द्रविड़ मिश्रित एक और बोली हल्बी भी है जो बस्तर में बोली जाती है। यहाँ कि लिपि मोड़ी* है यद्यपि साहित्य में नागरी का प्रयोग होता है। इसका साहित्य प्राचीन और प्रशस्त है।

हबूड़ी—हबूड़ी भाषा यूरोप के खानाबदोश लोगों की है। यह ईसा के जन्म के पूर्व भारतीय परिवार से अलग हुई। अब इसमें अनेक भाषाओं के अनेक शब्द आ गये हैं। इस भाषा में संस्कृत शब्दों के घ, ध, भ का ख, थ, फ हो गया है। इसको जिप्सी भाषा भी कहते हैं, क्योंकि इनके बोलने वालों को जिप्सी कहा जाता है। सैम्सेन ने इनकी बोलियों का अध्ययन किया है।

उपर्युक्त आधुनिक भाषाओं को ग्रियर्सन ने (डॉ॰ हार्नली के सिद्धांत के आधार पर) ध्वनि आदि के आधार पर बाहरी, बीच की और भीतरी, इन तीन समुदायों में

* इसका आविष्कार शिवाजी के मंत्री बालाजी आवाजी ने किया था।

बाँटा था, पर डा० चटर्जी ने इसे अशुद्ध सिद्ध किया और भूगोल के आधार पर नवीन वर्गीकरण सामने रखा। आज यही वर्गीकरण मान्य है :—

(१) उदीच्य (उत्तरी)—सिंधी, लहँदा, पूर्वी पंजाबी।
(२) प्रतीच्य (पश्चिमी)—गुजराती, राजस्थानी।
(३) मध्यदेशीय—पश्चिमी हिन्दी।
(४) प्राच्य (पूर्वी)—पूर्वी हिंदी, बिहारी, उड़िया, बँगला, आसामी।
(५) दाक्षिणात्य (दक्षिणी)—मराठी।

भाषा का स्वरूप

(१) वर्तमान भाषाएँ पूर्णरूपेण वियोगात्मक हो गई हैं। सहायक क्रिया और परसर्गों का सहारा पग-पग पर लेना पड़ता है।*

(२) नपुंसक लिंग का लोप हो गया है, केवल मराठी, गुजराती तथा सिंहली आदि में कुछ अवशेष हैं।

(३) ऋ और ष का उच्चारण री (या रु) और श हो गया है।

(४) द्वित्त वर्ण एक हो गए हैं। कर्म —कम्म—काम। पंजाबी में अवश्य इसके विरुद्ध भी कुछ प्रवृत्ति है।

(५) उच्चारण सुविधा के लिए य, व, की अभिश्रुति हो गई है। ग्यारह।

(६) कारक के दो ही रूप हैं एक विकारी और दूसरा अविकारी।

(७) काल के अलग रूप भी दो ही हैं। शेष को सहायक शब्दों से व्यक्त करना पड़ता है।

(८) वाक्य में शब्द का स्थान निश्चित हो गया है। 'राम ने मोहन को मारा' और 'मोहन ने राम को मारा' में केवल शब्दों के स्थान के अंतर के कारण बहुत अंतर है।

(९) शब्द-समूह में तुर्की, अरबी, फ़ारसी, अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी तथा पुर्तगाली शब्द उधार ले लिए गये हैं, अतः क़ ख़ ग़ ज़ तथा फ़ आदि कुछ नवीन ध्वनियाँ भी आ गई हैं।

---

* कुछ लोगों का कहना है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ पुनः वियोगात्मकता से संयोगात्मकता की ओर जाने की प्रवृत्ति दिखला रही हैं।

[३] प्रशान्त महासागरीय खंड

हिंद महासागर तथा प्रशान्त महासागर आदि में उधर मैडागास्कर से लेकर चाइल के पश्चिम में ईस्ट द्वीप तक इस खंड का विस्तार है। इन सब में आपस में पर्याप्त साम्य है। इसके अंतर्गत बहुत सी भाषाएँ और अनेक बोलियाँ हैं। इन सबको पाँच परिवारों में बाँटा जा सकता है।

प्रशान्त महासागरीय खंड—
- —इंडोनेशिन या मलायन परिवार
- —मलेनेशियन परिवार
- —पालिनेशियन परिवार
- —पापुआ परिवार
- —आस्ट्रेलियन परिवार

कभी-कभी पाँचों परिवारों को सम्मिलित नाम आस्ट्रोनेशियन परिवार या मलय-पालिनेशियन परिवार भी दे दिया जाता है। कुछ लोगों ने प्रथम तीन परिवारों के लिये भी मलय-पालिनेशियन परिवार का प्रयोग किया है।

पाँचों परिवारों का स्रोत एक है। इस कारण बहुत सी बातों में समानता है। केवल शब्द-समूह और ध्वनि में ही प्रधान अन्तर है। समान लक्षण निम्न हैं—

(१) लगभग सभी अश्लिष्ट योगात्मक हैं।

(२) धातुएँ प्रायः दो अक्षरों की होती हैं।

(३) स्वराघात बलात्मक है।

(४) आदि या मध्य या अंत में शब्द जोड़ कर पद बनाए जाते हैं।

(५) सभी धीरे-धीरे वियोगात्मक हो रही हैं।

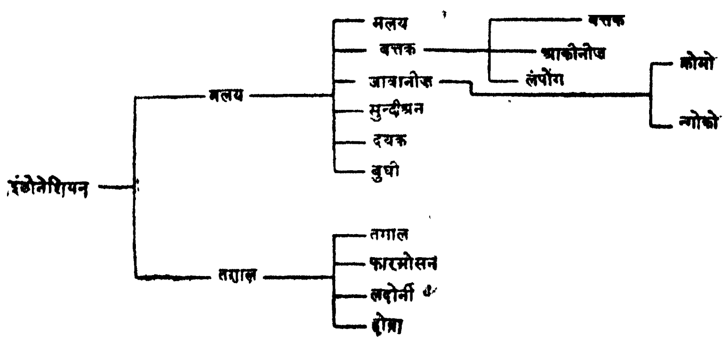
कुछ विस्तार से देखने के लिए उपर्युक्त पाँचो परिवारों को अलग-अलग लेना ठीक होगा।

(क) इंडोनेशिन परिवार

इसे मलायन परिवार भी कहते हैं। इसमें आदि, मध्य, अन्त तीनों स्थानों में सर्ग जोड़ कर पद बनाए जाते हैं, पर प्रधानता आदि में जोड़ने की है। यह परिवार अधिक विकसित नहीं है। शब्द और धातुओं में अधिक अंतर नहीं है। एक ही शब्द संज्ञा, क्रिया, क्रियाविशेषण आदि सभी का समय पड़ने पर कार्य करता है।

उदाहरणार्थ मलय भाषा के 'सकित' शब्द का अर्थ बीमार, बीमार होना तथा बीमारी आदि होता है। बहुवचन बनाने के लिये अधिकतर पुनरुक्ति कर दी जाती है। मलायन में रज=राजा और रजरज=बहुत से राजे। इस परिवार का क्षेत्र पहले भारत का उपनिवेश था अतः संस्कृत के शब्द काफ़ी मिलते हैं। हाँ उनमें ध्वनि-परिवर्तन अवश्य बहुत अधिक हो गया है। इसके अतिरिक्त फ़ारसी, अरबी, पुर्तगाली तथा डच शब्द भी हैं। कुछ तो उदाहरण ऐसे हैं, जिनमें दो भाषाओं के शब्द मिलकर यहाँ एक शब्द हो गए हैं। अरबी और संस्कृत का योग=जवाहर-मनिकम =रत्न। यहाँ के नामों में संस्कृत शब्द अधिक मिलते हैं। आजकल के वहाँ के प्रसिद्ध नेता का नाम सुकार्नो (सुकर्ण) है। ब्रोमो (ब्रह्मा), जोग्यकर्त (अयोध्या-कृत) तथा जसविदग्द (यशोविदग्ध) आदि अन्य उदाहरण भी देखे जा सकते हैं। नागरी, अरबी और रोमन तीनों ही लिपियाँ कुछ परिवर्तित होकर यहाँ काम में आती हैं।

विभाजन



मलय प्रायद्वीप, सुमात्रा के एक भाग, एवं बोर्नियों के किनारे मलय भाषा बोली जाती है। बत्तक वर्ग की तीनों बोलियों का क्षेत्र सुमात्रा है।

जावा के आधे से अधिक आदमी जावानीज़ का प्रयोग करते हैं। इस भाषा का नाम 'कवि' भी है, जिसका अर्थ 'कवि की भाषा' है। 'कवि' साहित्यिक भाषा है। इसके ८वीं सदी तक के लेख मिलते हैं। वर्तमान जावानीज़ के दो रूप हैं। प्रथम क्रोमो है, जिसका प्रयोग राजकीय कार्यों एवं साहित्य में होता है। दूसरी न्गोको है जिसका प्रयोग नीची श्रेणी के लोग करते हैं। जावा में ही सुन्दीअन के बोलने वाले भी

'दयक' भाषी बोर्नियो के मध्य और उत्तरी भाग में रहते हैं। बुघी और उसी की संगिनी मकासार भाषाएँ सेलेबेस में बोली जाती हैं।

तगाल फिलिपाइन की भाषा है। फारमोसन भाषा फारमूसा में बोली जाती है। इस पर चीनी का प्रभाव अधिक पड़ा है। लदोर्न द्वीप में लदोर्नी और मैडागास्कर में होवा बोली जाती है। होवा का दूसरा नाम मलगसी भी है।

(ख) मलेनेशियन परिवार

यह परिवार फ़ीजी आदि छोटे-छोटे द्वीपों में फैला है। इसमें वचन के सम्बन्ध में विचित्रता यह है कि एकवचन, द्विवचन, त्रिवचन और बहुवचन पाया जाता है। अलग-अलग द्वीपों में अलग-अलग भाषाएँ हैं। ल्वायल्ती भाषा में मनुष्य और बीस के लिए एक शब्द है। शायद यह इसलिए कि हाथ-पैर मिलाकर मनुष्य के बीस अँगुलियाँ होती हैं। इन भाषाओं में किसी में 'चार' पर गिनती आधारित है तो किसी में दस पर तो किसी में बीस पर। विकास में यह परिवार इण्डोनेशियन से आगे है।

इस परिवार में सम्बन्धवाचक सर्वनाम भी प्रत्यय लगाकर बनता है। यहाँ भी एक ही शब्द आवश्यकतानुसार संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि हो जाता है (फिजी में 'रेकी' का अर्थ मनोरंजन और मनोरंजन करना दोनों ही होता है)। ज़ोर देने के लिए शब्द दोहरा दिए जाते हैं। (फिजी में ही 'तला' = भेजना, 'तलातला' = बार-बार भेजना या खबर) इसमें प्रधानतः उपसर्ग और प्रत्यय लगते हैं।

विभाजन

मलेनेशियन—
- —फ़िज़ियन
- —केलीडोनी
- —ल्वायल्ती
- — हेब्रिडी
- —सोलोमोनी आदि।

ये सभी भाषाएँ इन्हीं नामों के द्वीपों में बोली जाती हैं। फ़िज़ियन के अन्तर्गत बहुत-सी बोलियाँ हैं, जो वाक्य-रचना की दृष्टि से इण्डोनेशियन परिवार से कुछ मिलती हैं।

(ग) पालिनेशियन परिवार

इस परिवार के बोलने वाले अधिक सभ्य हैं। पिछले दो परिवारों से यह अधिक विकसित परिवार है। इनका क्षेत्र मलेनेशिया के पूरब-दक्षिण में है। इण्डोनेशियन परिवार के शब्द इसमें पाए जाते हैं, पर व्यंजनों का लोप हो गया है। वहाँ का अकर (जड़) इसकी मओरी भाषा में 'अक' और हवाई में 'अअ' हो गया है। इस परिवार में संयुक्त स्वर और संयुक्त व्यंजन बिल्कुल नहीं हैं। गिनती दस पर आधारित है। द्विवचन इसमें भी होता है पर त्रिवचन नहीं। इसमें कभी-कभी वाक्य में सम्बन्ध दिखाने के लिए स्वतन्त्र निपात (Particle) का प्रयोग होता है। यह परिवार अँग्रेज़ी, हिन्दी आदि की भाँति पूर्णतः वियोगात्मक हो गया है। इसमें भी पुनरुक्ति के सहारे अर्थ की विशेषता प्रकट की जाती है। मओरी भाषा में हैरे = चलना, और हैरे हैरे = ऊपर नीचे चलना। हवाई में हुलि = खोजना, हुलि हुलि = अच्छी तरह खोजना।

विभाजन

पालिनेशियन—
- —मओरी
- —टोंगी
- —समोई
- —हवाई
- —ताहिती
- —मारक्वीसन

मओरी न्यूज़ीलैंड में, टोगी टोंगा में, समोई समोआ में, हवाई हवाई द्वीप में, ताहिती ताहिती में तथा मारक्वीसन मारक्वीसाज में बोली जाती है। हवाई का नाम सैंद्विशी भी है।

(घ) पापुआ परिवार

यह परिवार न्युगिनी के समीप के छोटे-छोटे द्वीपों में फैला है। इसकी भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं। पद बनाने के लिए उपसर्ग और प्रत्यय दोनों ही का प्रयोग होता है। मफ़ोर भाषा में—

म्नफ़ = सुनना

जम्नफ़ = मैं सुनता हूँ।

जम्नफ़ड = मैं तेरी बात सुनता हूँ।

बहुवचन के लिए '—सी' प्रत्यय लगाया जाता है। मफोर में—

स्नून = आदमी

स्नूनसी = कई आदमी

इस परिवार की मफ़ोर भाषा ही प्रसिद्ध है और उसी का अध्ययन अब तक हो सका है। यह न्यूगिनी की प्रधान भाषा है।

(ङ) आस्ट्रेलियन परिवार

इस परिवार की भाषाओं का क्षेत्र आस्ट्रेलिया और टस्मानिया है। ये भी अश्लिष्ट योगात्मक हैं। पद अधिकतर प्रत्यय जोड़ कर बनाये जाते हैं। टस्मानिया से इस परिवार की भाषा समाप्त हो गई। आस्ट्रेलिया में भी इसके बोलने वाले दिन पर दिन कम ही होते जा रहे हैं।

कुछ लोगों ने इस परिवार को द्रविड़ परिवार से जोड़ने का प्रयास किया था पर यह मत मान्य नहीं हो सका।

इसकी प्रधान भाषा मैक्वारी है जो उसी नाम की झील के पास बोली जाती है। कमिलरोई भाषा का क्षेत्र भी उसके पास ही है। और भी कुछ छोटी-छोटी भाषाएँ हैं, जिनका विशेष महत्व नहीं है।

[४] अमेरीका खंड

इसमें उत्तरी और दक्षिणी दोनों अमेरीका की भाषाएँ सम्मिलित हैं। इस खंड की भाषाओं एवं भाषा-परिवारों का सम्यक् अध्ययन अभी तक नहीं हो सका है। जो कुछ अध्ययन हुआ है उसी आधार पर यहाँ हम लोग इस खंड पर विचार करेंगे।

इस खंड में लगभग चार सौ भाषाएँ हैं, जो लगभग ३० वर्गों में रखी जा सकती हैं। ये सभी भाषाएँ प्रश्लिष्ट योगात्मक हैं। वाक्य बनाने के लिए शब्दों की प्रधान ध्वनि या अंश को लेकर मिलाते जाते हैं और वाक्य एक शब्द बन जाता है। चेरोकी का नाधोलिनिन (हमारे पास नाव ले आओ) का उदाहरण ऊपर हम ले चुके हैं। अलग शब्दों का प्रयोग यहाँ नहीं होता। कुछ भाषाओं में तो अलग शब्द जैसे हैं ही नहीं। वाक्य ही यहाँ शब्द है। यह असंस्कृत भाषाओं की निशानी है। पर, यहाँ की मय आदि कुछ भाषाएँ कुछ सभ्य भी हैं और उनमें साहित्य भी मिलता है। इनके बोलने वालों ने कभी साम्राज्य-स्थापन किया था पर, यूरोपीय लोगों ने उसे समाप्त

कर दिया। लिपियाँ केवल नहुअत्ल और मय भाषाओं में हैं। कुछ भाषाओं में पत्थर, घोंघों या चमड़े आदि पर बने पुराने चित्र मिलते हैं, पर उनका पढ़ा जाना अब सम्भव नहीं है। यहाँ पहले रज्जुलिपि का भी प्रचार था।

आज से ५०० वर्ष पूर्व इन लोगों की संख्या लगभग ४-५ करोड़ थी, पर अब मुश्किल से डेढ़ करोड़ बचे हैं।

कुछ ईसाई पादरियों ने इनकी भाषाओं को धर्म प्रचार का माध्यम बनाया था। ऐसी भाषाओं में कुइचुआ तथा गुअर्नी आदि प्रधान हैं।

कुछ स्थानों पर ऐसा है कि स्त्रियाँ एक भाषा बोलती हैं और पुरुष दूसरी। इसका ऐतिहासिक कारण है। एक बार ऐसा हुआ था कि 'अरवक' भाषाभाषी लोगों पर 'करीब' भाषाभाषी लोगों की विजय हुई। उन लोगों ने पुरुषों को तो मार डाला और स्त्रियों से विवाह कर लिए। फल यह हुआ कि स्त्रियों की पीढ़ी अब तक 'अरवक' भाषा बोलती है और पुरुष 'करीब' भाषा का प्रयोग करते हैं। स्त्री-पुरुष दोनों ही एक दूसरे को समझ लेते हैं पर प्रयोग एक का करते हैं। दोनों भाषाओं का एक दूसरे पर काफ़ी प्रभाव पड़ा है, जो स्वाभाविक ही है।

विभाजन

- अमेरिका
  - उत्तरी अमेरिका
    - एस्किमो (ग्रीन लैंड तथा लेब्राडोर) इसका नाम इन्यूट भी है। इसके अंतर्गत बहुत सी बोलियाँ हैं।
    - अथबस्कन (उत्तरी पश्चिमी कनाडा, तथा युनाइटेड स्टेट) इसमें भी बहुत सी बोलियाँ हैं।
    - अल्गोनकिन (हडसन की खाड़ी के पास और युनाइटेड स्टेट) इसमें क्री, मिकमाक, मोहिकन आदि बोलियाँ हैं। इसकी एक प्रधान शाखा इरोक्वायस है जो सेन्ट लारेन्स नदी के पास बोली जाती है। इसके अंतर्गत भी कई बोलियाँ हैं।
    - मेक्सिकन (मेक्सिको) इसमें नहुअत्ल, सोनोरा और शोशोन भाषाएँ हैं। नहुअत्ल के आधुनिक रूप का नाम अज़्तेक है।
    - मय (युकतन) इसमें क्विच, हुआस्तेका आदि भाषाएँ हैं।
  - मध्य अमेरिका अवर्गीकृत। इसमें क्यूबा वर्ग प्रसिद्ध है।
  - दक्षिणी अमेरिका
    - करीब (पनामा के पूरब) इसका नाम गालिबी भी है। अरवक भी इसी के अंतर्गत है।
    - पेरुयिअन इसमें कुइचुआ और अयमारा आदि हैं।
    - अरौकनियन इसमें चिली की बोलियाँ हैं।
    - तुपी गुअर्नी (लापलाता के आस पास)
    - तेराडेलफ्यूगो की भाषा

अध्ययन और सामग्री के अभाव के कारण इस खंड की भाषाओं का वैज्ञानिक विभाजन या वर्गीकरण संभव नहीं है। कुछ लोगों ने राजनैतिक और भौगोलिक आधार पर दक्षिणी, उत्तरी और मध्य अमेरिका वर्ग माना है। कुछ अन्य लोगों ने यों ही इन्हें मोटे रूप से २४ विभागों में बाँट दिया है। यहाँ दोनों के सामंजस्य के आधार पर वर्गीकरण दिया गया है।

चेरोकी भाषा उत्तरी अमेरिका के ही अपलाशन वर्ग में है। इसका क्षेत्र फ्लोरिडा के आस-पास है। उत्तरी अमेरीका में डकोटा, पानी, कोलोशे तथा पुब्लो आदि वर्ग भी हैं, पर उनका विशेष महत्व नहीं है और उनके बोलने वाले भी बहुत कम रह गए हैं।

अध्याय ३

वाक्य-विज्ञान

(Syntax)

वाक्य को प्राय: लोग सार्थक शब्दों का समूह मानते हैं जो भाव को व्यक्त करने की दृष्टि से अपने आप में पूर्ण हो। कोषों तथा व्याकरणों में भी वाक्य की यही परिभाषा मिलती है। यों समझने या समझाने के लिए यह परिभाषा ठीक है, पर तत्त्वतः इसे ठीक नहीं कहा जा सकता। थोड़ा ध्यान दें तो यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहेगा भाषा में या बोलने में वाक्य ही प्रधान है। व्याकरण-वेत्ताओं ने कृत्रिम रूप से वाक्य को तोड़कर शब्दों को अलग-अलग कर लिया है। हमारा सोचना, समझना, बोलना या किसी भाव को हृदयंगम करना सब कुछ वाक्य में ही होता है। ऐसी स्थिति में 'वाक्य शब्दों का समूह है' कहने की अपेक्षा 'शब्द वाक्यों के कृत्रिम खंड हैं' कहना अधिक समीचीन है।

ऊपर वाक्य की जो परिभाषा दी गई है वह कई दृष्टियों से अशुद्ध है। उसमें मूलतः दो बातें हैं—

१—वाक्य शब्दों का समूह है।

२—वाक्य पूर्ण होता है।

'वाक्य शब्दों का समूह है।' पर एक दृष्टि से ऊपर विचार किया जा चुका है और यह कहा जा चुका है कि वाक्य का शब्द रूप में विभाजन स्वाभाविक नहीं है। आज भी संसार में ऐसी भाषाएँ हैं जिनमें वाक्य का शब्द रूप में कृत्रिम विभाजन नहीं हुआ है। ऐसी भाषाओं में वाक्य ही वाक्य हैं। शब्द नहीं।

'वाक्य शब्दों का समूह है' इस पर एक और दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। 'वाक्य शब्दों का समूह है' का अर्थ है कि वाक्य एक से अधिक शब्दों का होता है, पर यह बात भी पूर्णतः ठीक नहीं है। एक शब्द के भी वाक्य होते हैं। छोटा बच्चा प्रातः जब माँ से 'बिछकुट' (बिस्कुट) कहता है तो इस एक शब्द के वाक्य से ही वह अपना पूरा भाव व्यक्त कर लेता है। बातचीत में भी प्रायः वाक्य एक शब्द के होते हैं। उदाहरण स्वरूप

हीरा—तुम घर कब जाओगे ?

मोती—कल। और तुम ?

हीरा—परसों

मोती—और मोहन गया क्या ?

हीरा—हाँ।

'खाओ', 'जाओ', 'लिखिए', 'पढ़िए', तथा 'चलिए' आदि भी एक ही शब्द के वाक्य हैं।

वाक्य की पूर्णता भी कम विवादास्पद नहीं है। उसे पूर्णतः पूर्ण नहीं कहा जा सकता। कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। प्रायः अपने किसी भाव को हम कई वाक्यों द्वारा व्यक्त करते हैं। यहाँ वह भाव अपने में पूर्ण है और कई वाक्य मिलकर उसे व्यक्त करते हैं, अतएव निश्चय ही ये वाक्यपूर्ण (पूरे भाव) के खंड मात्र हैं, अतः अपूर्ण हैं। यह विवाद यहीं समाप्त नहीं हो जाता। मनोविज्ञानवेत्ता उस भाव या एक पूरी बात (जिसमें बहुत से वाक्य होते हैं) को भी अपूर्ण मानता है, क्योंकि जन्म से लेकर मृत्यु तक उसके अनुसार भाव की एक अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती है और बीच में आने वाले छोटे-मोटे सारे भाव या बातें उस धारा की लहर मात्र हैं, अतएव वह अविच्छिन्न धारा ही केवल पूर्ण है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उस अविच्छिन्न धारा की पूर्णता की तुलना में एक भाव या विचार भी बहुत ही अपूर्ण है तो फिर एक वाक्य की पूर्णता का तो कहना ही क्या जो पूरे भाव या विचार का एक खंड मात्र है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'वाक्य' की प्रचलित परिभाषा बहुत ही अपूर्ण तथा अशुद्ध है।

ऊपर वाक्य के संबंध में दिए गए विवाद की पृष्ठभूमि में कहा जा सकता है कि—

वह अर्थवान ध्वनि-समुदाय जो पूरी बात या भाव की तुलना में अपूर्ण होते भी अपने आप में पूर्ण हो तथा जिसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से क्रिया का भाव हो वाक्य है।

यह परिभाषा भी हर दृष्टि से पूर्ण तथा वैज्ञानिक नहीं है, पर किसी अन्य अधिक समीचीन परिभाषा के अभाव में काम दे सकती है।

लिखित और बोलचाल के वाक्य

बोलचाल के वाक्य अपेक्षाकृत छोटे होते हैं और प्रायः एक साँस (लगभग ३ सेकंड) में बोले जा सकते हैं पर इसके विरुद्ध लिखित वाक्य प्रायः बड़े होते हैं और बोलचाल के कई वाक्यों से मिलकर बनते हैं।* उदाहरणार्थ—

* संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथ कादम्बरी के लंबे वाक्य विशेष प्रसिद्ध हैं।

(१) एक राजा था। (२) राजा का नाम भीमसेन था। (३) राजा धेनुपुर नाम के शहर में रहता था।

इसका लिखित रूप होगा—

एक राजा था, जिसका नाम भीमसेन था और जो धेनुपुर नामक नगर में रहता था।

बोलचाल के वाक्यों का प्रयोग प्रायः अपढ़ लोग करते हैं। पढ़े-लिखे लोग लिखित भाषा के प्रभाव तथा मस्तिष्क के संस्कृत हो जाने के कारण अपनी बोलचाल में भी लिखित वाक्यों की भाँति बड़े वाक्यों का ही प्रयोग करते हैं। ऊपर के दोनों उदाहरणों में पहला उदाहरण अपढ़ लोगों का प्रतिनिधित्व करता है। पर, पढ़े-लिखे लोग उसे इस प्रकार न कहकर प्रायः बोलचाल में भी दूसरे रूप (लिखित वाक्य) में कहते हैं। कहना न होगा कि पहला वाक्य का स्वाभाविक और प्राचीन रूप है और दूसरा कृत्रिम तथा बाद का।

वाक्य का विभाजन

संसार की सभी भाषाओं के वाक्य एक प्रकार के नहीं होते, इसी कारण कोई ऐसा विभाजन भाषा-वैज्ञानिकों को नहीं मिल सका है, जो सभी भाषाओं पर लागू किया जा सके। फिर भी दो प्रकार के विभाजनों का प्रचलन है, जिन्हें नीचे 'क' और 'ख' के अंतर्गत दिया जा रहा है। इनमें पहला विभाजन अपेक्षाकृत अधिक भाषाओं पर लागू होता है।

(क) अग्र और पश्च

वाक्य के अग्र और पश्च ये दो विभाग स्वाभाविक रूप से हो जाते हैं। विशेषतः जब हम धाराप्रवाह रूप से कुछ कहते हैं तो दोनों रूप अपने आप स्पष्ट होते रहते हैं। पर ये विभाग आज के लिखित वाक्य या शिक्षित लोगों द्वारा प्रयुक्त वाक्य में न मिलकर अपढ़ लोगों के छोटे-छोटे वाक्यों में मिलते हैं।

भोजपुरी का एक उदाहरण लिया जा सकता है। यहाँ वाक्य के अग्र और पश्च भाग रेखा द्वारा स्पष्ट कर दिए गए हैं।

हमके खाए जाए के रहल। जाए में देरी हो गइल। देरी हो गइला से ओइजा क खयक्वे खतम हो गयल। खयका खतम भइला से हमके आपन अस मुँह लेके रह जाए के परल।

इसमें एक वाक्य का पश्च अंश संबंध दिखलाने के लिए दूसरे का अग्र हो गया है।

समुन्नत भाषाओं या सुशिक्षित लोगों की बोलचाल में यह प्रवृत्ति नहीं मिलती। हमारा मस्तिष्क इतना संस्कृत हो गया है कि इस सम्बन्ध को स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि ऊपर के वाक्यों को आज का शिक्षित आदमी कहेगा तो उसके दो रूप होंगे। या तो वह सबको मिलाकर एक वाक्य कर देगा—

मुझे खाने जाना था पर देर हो गई और फल यह हुआ कि खाना खतम हो गया और मुझे अपना सा मुँह लेकर रह जाना पड़ा।

या कई वाक्य में कहेगा पर एक वाक्य के पश्च भाग को दूसरे वाक्य में अग्र-रूप में रखने की आवश्यकता न होगी।

मुझे खाने जाना था। देर हो गई। खाना खतम हो गया और मुझे अपना सा मुँह लेकर रह जाना पड़ा।

(ख) उद्देश्य और विधेय

वाक्य के दो भाग होते हैं—१. उद्देश्य और २. विधेय। उदाहरणार्थ 'राम जाता है' वाक्य में 'राम' उद्देश्य है और 'जाता है' विधेय। यह विभाजन ठीक है पर केवल भारोपीय परिवार की भाषाओं पर ही लागू होता है। अन्य परिवारों में यह विभाजन इस रूप में संभव नहीं है।

हाँ यदि अग्र तथा पश्च रूपों या दुहराए और नए आए अंशों को ही उद्देश्य विधेय मान लिया जाय तो बात दूसरी है।

वाक्यों के प्रकार

पीछे भाषाओं के आकृति-मूलक वर्गीकरण में हम लोग इसे देख चुके हैं। संसार की सभी भाषाओं पर विचार करने से हमें चार प्रकार के वाक्य दिखाई पड़ते हैं। कुछ समय पहले लोगों का विचार था कि सभी भाषाओं में समय-समय पर ये चारों प्रकार के वाक्य पाए जाते हैं अर्थात् विकास-चक्र के ये चार विराम मात्र हैं, पर अब यह चीज़ निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। कोई एक भाषा इन चारों प्रकार के वाक्यों में नहीं जा सकती।

यहाँ संक्षेप में वाक्य के इन चारों प्रकारों* पर पृथक्-पृथक् विचार किया जा रहा है—

* पृ० ५५-६४ पर इस संबंध में कुछ सामग्री दी जा चुकी है

(१) अयोगात्मक

अयोगात्मक वाक्य में शब्द अलग-अलग रहते हैं और उनका स्थान निश्चित रहता है। इसका कारण यह है कि यहाँ संबंधतत्व दिखाने के लिए शब्दों में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता। अतः संबंध का प्राकट्य शब्दों के स्थान से ही होता है। यह पद-क्रम की निश्चितता एकाक्षर परिवार की चीनी आदि भाषाओं में प्रधान रूप से मिलती है।

भारोपीय कुल की आधुनिक भाषाओं में भी कुछ ऐसी प्रवृत्ति दिखाई दे रही है। संस्कृत, ग्रीक आदि प्राचीन भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक थी पर उनसे विकसित हिन्दी आदि वियोगात्मक हो गई हैं। पद-क्रम यहाँ भी कुछ-कुछ निश्चित हो गया है।

१—राम ने मोहन को मारा।

२—मोहन ने राम को मारा।

दोनों में शब्द एक ही हैं, पर स्थान-परिवर्तन से अर्थ उलटा हो गया है। अंग्रेज़ी में भी लगभग यही बात है। पर आर्य परिवार की भाषाएँ अभी चीनी जैसी अयोगात्मक नहीं हैं, अतः पद-क्रम उतने निश्चित नहीं हैं। हिन्दी में कर्ता पहले और क्रिया बाद में आती है, पर इसके अपवाद भी मिलते हैं। इसी प्रकार अंग्रेज़ी में प्रश्नवाचक आदि वाक्यों में यह साधारण नियम टूट जाता है।

इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि भाषा अयोगावस्था की ओर जितनी ही जाती है उसके वाक्यों में पद-क्रम का महत्व उतना बढ़ता जाता है।

अयोगात्मक वाक्य का उदाहरण अयोगात्मक भाषाओं के विवेचन में दिया जा चुका है।

(२) प्रश्लिष्ट योगात्मक

प्रश्लिष्ट योगात्मक वाक्यों के सभी शब्द मिलकर एक बड़ा शब्द बन जाते हैं। ऐसा होने में उनका थोड़ा-थोड़ा अंश कट जाता है।

मेक्सिकन में क = खाना
नकत्ल = मांस
नेवत्ल = मैं

तीनों को मिलाकर

नीनकक = मैं मांस खाता हूँ।

इन वाक्यों का विश्लेषण आसानी से नहीं किया जा सकता, इसी से इनके

शब्दों के योग को प्रश्लिष्ट कहा जाता है, जो इनकी इस (प्रश्लिष्ट योगात्मक) संज्ञा का कारण है।

(३) अश्लिष्ट योगात्मक

इनमें प्रत्ययों की प्रधानता रहती है। यहाँ शब्द प्रश्लिष्ट की भाँति मिलते नहीं पर अयोगात्मक की भाँति सम्बन्ध जानने के लिए स्थान का ध्यान भी नहीं रखना पड़ता, अपितु प्रत्ययों से सम्बन्ध प्रकट हो जाता है। इन वाक्यों में मूल शब्द और सम्बन्ध प्रकट करने के लिए जोड़े गए प्रत्यय स्पष्ट रहते हैं। इसी कारण इनको पारदर्शक गठन वाले वाक्य कहा जाता है।

इसका भी उदाहरण अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं के विवेचन में दिया जा चुका है।

(४) श्लिष्ट योगात्मक

इन वाक्यों में विभक्तियों की प्रधानता रहती है। विभक्तियाँ अश्लिष्ट योगात्मक वाक्यों की भाँति प्रत्यय रूप में लगती हैं। पर दोनों में भेद यह है कि अश्लिष्ट में प्रत्यय स्पष्ट रहते हैं और उनका अस्तित्व खो नहीं जाता पर दूसरी ओर श्लिष्ट में इनका स्पष्ट पता नहीं चलता।

संस्कृत में प्रथमा एक वचन में 'सु' प्रत्यय जोड़कर पद बनाया जाता है पर जोड़ने के बाद जो पद बनता है उसमें 'सु' का बिल्कुल पता नहीं चलता—

राम + सु = रामः

कहीं-कहीं तो जोड़ने में प्रत्यय पूर्णतया लुप्त हो जाता है।

विद्या + सु = विद्या

इन चारों में कुछ के उपभेद भी होते हैं, जिन पर पीछे विचार किया जा चुका है।

वाक्य के अन्य भेद

व्याकरण की दृष्टि से वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—

(१) साधारण वाक्य—जिसमें एक उद्देश्य और एक विधेय हो। जैसे राम जाता है।

(२) संयुक्त वाक्य—जिस वाक्य में दो या दो से अधिक प्रधान उपवाक्य हों। जैसे मैं तुम्हारे घर गया पर तुम वहाँ नहीं थे।

(३) मिश्रित वाक्य—जिसमें एक प्रधान उपवाक्य तथा अन्य आश्रित उपवाक्य [(क) संज्ञा उपवाक्य, (ख) विशेष उपवाक्य, तथा (ग) क्रियाविशेषण उपवाक्य] हों। जैसे—

(क) उसने कहा कि मैं जाऊँगा ।

(ख) वह लड़का, जिसे मैंने देखा था मर गया ।

(ग) वह फ़ेल हो गया, क्योंकि उसने पढ़ा नहीं था ।

भाव या अर्थ की दृष्टि से वाक्य के अनेकानेक भेद हो सकते हैं, जिनमें प्रधान नीचे दिए जा रहे हैं—

(१) विधानसूचक—राम जाता है ।

(२) निषेधसूचक—राम नहीं जाता है ।

(३) आज्ञासूचक—यह काम करो ।

(४) प्रश्नसूचक—तुम्हारा क्या नाम है ?

वाक्यों की गठन में परिवर्तन के कारण

भाषाओं के वाक्य की गठन सर्वदा एक-सी नहीं रहती । उसमें परिवर्तन होता रहता है । परिवर्तन के प्रधान कारण यहाँ दिए जा रहे हैं—

(१) अन्य भाषा का प्रभाव

जब दो भाषाओं अथवा संस्कृतियों का मेल होता है तो वाक्य की गठन भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती । हिन्दी की एक शैली 'उर्दू' के वाक्य की गठन कुछ अंशों में अरबी-फ़ारसी के प्रभाव के कारण ही कुछ परिवर्तित हो गई है । अँग्रेज़ी की वाक्य गठन का कुछ प्रभाव हिन्दी पर स्पष्ट है । यह प्रभाव प्रमुखतः दो बातों में स्पष्ट देखा जा सकता है । प्रथम तो यह कि कुछ लेखक अँग्रेज़ी की भाँति छोटे-छोटे वाक्य लिखने लगे हैं, जिनमें छाया स्पष्ट हो जाती है । दूसरे कुछ लोग कभी-कभी क्रिया के बाद कर्म रखने लगे हैं, यद्यपि हिन्दी में उसका स्थान क्रिया के पूर्व है । अँग्रेज़ी से अनूदित पुस्तकों में ये बातें विशेष रूप से मिलती हैं । पंडित नेहरू के वाक्यों में अँग्रेज़ी की छाया बहुत ही अधिक मिलती हैं ।

कभी-कभी अँग्रेज़ी पर भी भारतीय भाषाओं की छाया देखी जाती है । वे भारतीय जो अधिक अँग्रेज़ी नहीं जानते जब अँग्रेज़ी बोलते हैं तो अपनी भाषा के पद-क्रम या वाक्य-गठन का आरोप अँग्रेज़ी पर करते पाये जाते हैं, यद्यपि इसका कोई स्थायी प्रभाव सम्भव नहीं है ।

(२) ध्वनि विकास से विभक्तियों का घिस जाना

धीरे-धीरे सम्बन्धतत्त्व को स्पष्ट करने वाली विभक्तियाँ जब घिस जाती हैं तो अर्थ को गड़बड़ी से बचाने के लिए सहायक शब्द जोड़ने पड़ते हैं । ऐसा करने से वाक्य

संयोगात्मकता से वियोगात्मकता की ओर बढ़ने लगते हैं। भारोपीय परिवार की अधिकतर आधुनिक भाषाएँ इसी कारण से प्रभावित हुई हैं और उनका वाक्य कुछ अयोगात्मक भाषाओं की भाँति पद-क्रम-प्रधान या स्थान-प्रधान होता जा रहा है।

(३) बल का प्रदर्शन

बल से वाक्य-गठन में क्षणिक परिवर्तन होता है पर धीरे-धीरे वह प्रवृत्ति भी बन जाता है। इसका प्रभाव शब्द-क्रम पर विशेषतः पड़ता है। बल के लिए क्रम में परिवर्तन करके बहुधा उसे प्रथम स्थान दे दिया जाता है।

'मैं घर जाता हूँ।' यह हिन्दी का यह व्याकरण सम्मत साधारण वाक्य है पर यदि 'जाने' पर बल देना हुआ तो 'जाता हूँ मैं घर' भी कहा जाता है। इसी प्रकार और भी उदाहरण लिए जा सकते हैं।

(४) बोलने वालों की मानसिक स्थिति में परिवर्तन

इसके परिवर्तन से अभिव्यंजना-शैली तथा अलंकरण शैली प्रभावित होती है अतः वाक्य की गठन भी अछूती नहीं रह पाती। जैसे, युद्धकालीन व्याख्यानों में वाक्य घुमे-फिरे न होकर सीधे अधिक होते हैं। या, रोकर अपना दुःख सुनाने वाला दुखी, अलंकृत वाक्य नहीं कहता। जोर देने के लिए उसमें कभी-कभी पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है।

वाक्य में पद-क्रम

वाक्य में किस प्रकार के शब्दों का क्या स्थान होता है, इसका भी अध्ययन वाक्य-विज्ञान में करते हैं। पीछे अयोगात्मक वाक्य पर विचार करते समय इस संबंध में कुछ बातें कही जा चुकी हैं।

वाक्य में पद-क्रम की दृष्टि से भाषाएँ दो प्रकार की हैं। एक तो वे हैं, जिनमें वाक्य में शब्दों (पदों) का स्थान निश्चित नहीं है। इन भाषाओं में शब्दों में विभक्ति लगी होती है, अतएव किसी भी शब्द को उठाकर कहीं रख दें अर्थ में परिवर्तन नहीं होता। ग्रीक, लैटिन, अरबी-फारसी तथा संस्कृत आदि इसी प्रकार की हैं। इनके एक ही वाक्य को शब्दों के स्थान में परिवर्तन करके कई प्रकार से कहा जा सकता है। कुछ उदाहरण हैं—

अरबी

जरबअ्र जैदुन अम्रन = जैद ने अमर को मारा।

ज़रब्अ अम्रन ज़ैदुन = अमर को ज़ैद ने मारा।

फ़ारसी

ज़ैद अमररा ज़द = ज़ैद ने अमर को मारा

अमररा ज़ैद ज़द = अमर को ज़ैद ने मारा।

संस्कृत

जैदः अमरं अहनत् = ज़ैद ने अमर को मारा।

अमरं जैदः अहनत् = अमर को ज़ैद ने मारा।

दूसरी प्रकार की भाषाएँ वे होती हैं जिनमें वाक्य में शब्द (पद) का क्रम निश्चित रहता है। ऊपर के उदाहरणों में हम देखते हैं कि शब्दों के स्थान-परिवर्तन से अर्थ में कोई फ़रक नहीं आया पर निश्चित स्थान या स्थान-प्रधान भाषाओं में वाक्य में शब्द का स्थान बदलने से अर्थ बदल जाता है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण चीनी है। यों हिंदी, अंग्रेज़ी आदि आधुनिक आर्य भाषाओं में भी कुछ यह प्रवृत्ति है। अंग्रेजी का एक उदाहरण है।

अंग्रेज़ी

Zaid killed Amar = ज़ैद ने अमर को मारा।

Amar killed Zaid = अमर ने ज़ैद को मारा (यहाँ शब्द के स्थान-परिवर्तन से वाक्य का अर्थ उलट गया)

चीनी में तो यह प्रवृत्ति विशेष रूप से मिलती है—

पा ताङ् शेन = पा शेन को मारता है।

शेन ताङ् पा = शेन पा को मारता है।

अंग्रेजी में सामान्यतः कर्त्ता, क्रिया और तब कर्म आता है पर प्रश्नवाचक वाक्य में क्रिया पहले आ जाती है। विशेषण संज्ञा के पहले आता है और क्रिया-विशेषण क्रिया के बाद में। हिन्दी में कर्ता, कर्म और तब क्रिया रखते हैं। सामान्यतः विशेषण संज्ञा के पूर्व तथा क्रिया विशेषण क्रिया के पूर्व रखते हैं। चीनी में अंग्रेज़ी की भाँति कर्ता के बाद क्रिया और तब कर्म रखते हैं। यद्यपि इसकी कुछ बोलियों में कर्म पहले भी आ जाता है। विशेषण और क्रिया-विशेषण हिन्दी की भाँति प्रायः संज्ञा और क्रिया के पूर्व आते हैं। प्रश्नवाचक शब्द (जैसे क्या) अंग्रेजी तथा हिंदी में वाक्य के आरंभ में आते हैं पर चीनी में वाक्य के अन्त में।

फ़ान त्स ल मा ?

खाना खा लिया क्या ?

किसी भी भाषा के शब्दों के स्थान की निश्चितता के ये नियम निरपवाद नहीं होते। यहाँ तक कि इस प्रकार की प्रधान भाषा चीनी में भी नहीं। ऊपर का चीनी वाक्य इस प्रकार भी कहा जा सकता है—

त्स फ़ान ल मा ?

खा खाना लिया क्या ?=खाना खा लिया क्या ?

वाक्य-विज्ञान का अध्ययन, जैसा कि भाषा-विज्ञान के अध्ययन के विभागों पर विचार करते समय कहा जा चुका है

(१) तुलनात्मक

(२) ऐतिहासिक

दो प्रकार का हो सकता है। ऐतिहासिक वाक्य-विज्ञान में किसी एक भाषा के वाक्य की गठन का विभिन्न कालों में अध्ययन किया जाता है। तुलनात्मक वाक्य-विज्ञान में दो या अधिक भाषाओं के वाक्यों की गठन का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। विषय कठिन और सूक्ष्म होने के कारण इस क्षेत्र में विद्वानों का ध्यान अभी तक अधिक नहीं गया है।

प्रसन्नता की बात है कि हिंदी के वाक्य-विज्ञान पर इधर कुछ काम हो रहा है।

अध्याय ४

रूप-विज्ञान

(Morphology)

भाषा-विज्ञान के रूप-विचार या रूप-विज्ञान विभाग में पद की रचना, विकास एवं विकास के कारण आदि पर विचार किया जाता है। पदों के रूप या उनकी रचना आदि पर विचार करने के पूर्व 'पद' पर ही विचार कर लेना तथा उसे समझ लेना आवश्यक है। 'पद' को समझने के लिए पहले हम 'शब्द' को समझ लें। 'शब्द' से हम अधिकतर ध्वनि के उस समूह का आशय लेते हैं, जिसका कुछ अर्थ होता है और जिसके संयोग से वाक्य बनता है। पर, शास्त्रीय ढंग से विचार करने के लिए हमें अधिक गहराई में जाना पड़ेगा। जैसा कि पाणिनि ने स्पष्ट किया है 'वाक्य से अलग शब्द' और 'वाक्य में प्रयुक्त शब्द' दोनों एक नहीं हैं। वाक्य से अलग 'शब्द' तो शुद्ध 'शब्द' रहता है, पर, वाक्य में प्रयोग करने के लिए उसे इस योग्य बना लिया जाता है कि वह वाक्य के अन्य शब्दों के साथ अपना संबंध स्पष्ट कर सके। उदाहरण के लिए 'पत्र' शब्द को लें। यह एक शब्द मात्र है। संस्कृत के किसी वाक्य में इसे प्रयोग करना चाहें तो इसी रूप में हम इसका प्रयोग नहीं कर सकते। वैसा करने के लिए इसमें कोई संबन्ध-सूचक विभक्ति जोड़नी होगी। जैसे 'पत्रं पतति' (पत्ता गिरता है)। अब यहाँ हम स्पष्ट देख रहे हैं कि शुद्ध शब्द तो 'पत्र' है और वाक्य में प्रयोग करने के लिये उसे 'पत्रं' का रूप धारण करना पड़ा है। इस प्रकार शब्द दो प्रकार के होते हैं। एक को तो 'शब्द' कहते हैं जो विभक्ति या संबंधतत्व से शून्य शुद्ध शब्द होते हैं, और दूसरे को 'पद' कहते हैं। शब्द में जब संबंध-सूचक विभक्ति जोड़ दी जाती है तो वह 'पद' हो जाता है। ऊपर के उदाहरण में 'पत्र' शब्द है और 'पत्रं' पद। किसी शब्द का किसी वाक्य में तभी प्रयोग हो सकता है जब वह पद हो जाय, अर्थात् उसमें कोई संबंधतत्व जोड़ दिया जाय या दूसरे शब्दों में उसे इस योग्य बना दिया जाय कि वाक्य में वह अन्य शब्दों से अपना संबन्ध स्थापित कर सके।

स्थान-प्रधान या अयोगात्मक भाषाओं में (जैसे चीनी आदि) शब्द और पद का यह भेद नहीं दिखाई पड़ता। इसका कारण यह है कि वहाँ शब्दों में संबंध दिखाने

के लिए किसी संबंध-तत्त्व (विभक्ति आदि) के जोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती। शब्द के स्थान से ही शब्द का संबंध अन्य शब्दों से स्पष्ट हो जाता है या दूसरे शब्दों में बिना विभक्ति आदि जोड़े, किसी वाक्य में अपने विशिष्ट स्थान पर रक्खे जाने के कारण ही 'शब्द' पद बन जाता है। हिंदी तथा अंग्रेज़ी आदि कुछ आधुनिक भारोपीय कुल की भाषाएँ भी कुछ अंशों में इस प्रकार की हो गई हैं। उदाहरण के लिए 'भाई' हिंदी का एक शब्द है। इसे वाक्य में रखना हुआ तो बिना किसी परिवर्तन के, या विभक्ति आदि लगाकर पद बनाए बिना ही रख दिया—

भाई जाता है।

और 'भाई' ने वाक्य में जाते ही अपने स्थान के कारण (यहाँ कर्त्ता का स्थान है) अपने को पद बना लिया और उसका अन्य शब्दों से संबंध स्पष्ट हो गया। अंग्रेज़ी से भी इस प्रकार के अगणित उदाहरण लिए जा सकते हैं। इसके विरुद्ध संस्कृत, प्राचीन अरबी, ग्रीक तथा लैटिन आदि में यह बात नहीं थी। संस्कृत में भाई के लिए भ्रातृ शब्द है। यदि ऊपर का हिंदी वाक्य संस्कृत में कहना हो तो 'भ्रातृ गच्छति' न कहकर 'भ्रातृ' में 'सु' विभक्ति जोड़कर 'भ्राता' बनावेंगे और 'भ्राता गच्छति' कहेंगे। यहाँ 'भाई' जैसी स्थिति नहीं है। 'भ्रातृ' शब्द है तो 'भ्राता' पद।

अब हमें 'शब्द' और 'पद' पर विचार करना है। 'पद' प्रायः 'शब्द' पर ही आधारित रहता है, अतः पहले 'शब्द' को ही लेना ठीक होगा। यहाँ रचना की दृष्टि से विचार किया जावेगा।

शब्द

एकाक्षर परिवार की भाषाओं में शब्द का रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। उनमें तो केवल एक ही चीज़ होती है, जिसमें विकार कभी नहीं होता और जिसे धातु, शब्द या पद सब कुछ कह सकते हैं।

कुछ प्रश्लिष्ट योगात्मक (पूर्ण) भाषाओं में पूरे वाक्य का ही शब्द बन जाता है, जैसे पीछे हम लोग 'नाधोलिनिन' आदि देख चुके हैं।* ऐसे शब्दों पर भी यहाँ विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनका रूप मात्र ही शब्द-सा है। वे असल में वाक्य ही हैं। ये वाक्य जिन शब्दों से बनते हैं, वे भी एक प्रकार से बने-बनाए शब्द हैं, अतः उन पर भी विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं।

शेष अधिकतर भाषाओं में शब्द की रचना धातुओं में पूर्व, मध्य या पर (आरम्भ

---

* देखिये पीछे पृ० ५५-६४।

बीच या अन्त में) प्रत्यय जोड़ कर होती है। भारोपीय परिवार की भाषाओं में शब्द की रचना बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसमें प्रत्येक शब्द का विश्लेषण धातुओं तक किया जा सकता है। (सेमिटिक परिवार में भी कुछ यही बात है।) धातुएँ विचारों की द्योतिका होती हैं। शब्द बनाने के लिए उनमें उपसर्ग (पूर्व प्रत्यय) और प्रत्यय दोनों ही आवश्यकतानुसार जोड़े जाते हैं। उपसर्ग जोड़ने से मूल के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है, जैसे विहार, संहार, परिहार आदि में। प्रत्यय जोड़कर उसी अर्थ के 'शब्द' या 'पद' बनाए जाते हैं जैसे 'कृ' धातु में तृच् प्रत्यय जोड़ने से कर्तृ शब्द बना।

प्रत्यय भी दो प्रकार के होते हैं। एक, जो सीधे धातु में जोड़ दिए जाते हैं उन्हें 'कृत्' कहते हैं। दूसरे को तद्धित कहते हैं। तद्धित को धातु में कृत् प्रत्यय जोड़ने के बाद जोड़ा जाता है।

पद

हम ऊपर कह चुके हैं कि 'शब्द' को वाक्य में प्रयुक्त होने के योग्य बना लेने पर उसे 'पद' की संज्ञा दे दी जाती है। ऐसा करने के लिए हमें केवल योगात्मक भाषाओं पर ही ध्यान दौड़ाना होगा, क्योंकि अयोगात्मक भाषाओं में पद नाम की शब्द से कोई अलग वस्तु नहीं होती, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। योगात्मक भाषाओं में पद बनाने के लिए शब्द में सम्बन्ध-तत्व के जोड़ने की आवश्यकता होती है। शब्द पर हम विचार कर चुके हैं, अतः अब केवल सम्बन्ध-तत्व और उसके जोड़ने की विधि पर विचार कर लेना ही पर्याप्त है।

सम्बन्ध-तत्व (Morpheme)

वाक्य में दो तत्व (सम्बन्ध और अर्थ) होते हैं। दोनों में भी प्रधान अर्थ-तत्व (Semanteme) है। दूसरे को सम्बन्ध-तत्व कहते हैं। सम्बन्ध-तत्व का कार्य है विभिन्न अर्थ-तत्वों का आपस में सम्बन्ध दिखला देना। उदाहरणार्थ एक वाक्य लिया जा सकता है—'राम ने रावण को बाण से मारा।' इस वाक्य में चार अर्थ-तत्व हैं—राम, रावण, बाण और मारना। वाक्य बनाने के लिए चारों अर्थ-तत्वों में सम्बन्ध-तत्व की आवश्यकता पड़ेगी, अतः यहाँ चार सम्बन्ध तत्व भी हैं। 'ने' सम्बन्ध-तत्व वाक्य में राम का सम्बन्ध दिखलाता है और इसी प्रकार 'को' और 'से' क्रम से रावण और बाण का सम्बन्ध बतलाते हैं। मारना से 'मारा' पद बनाने में सम्बन्धतत्व इसी में मिल गया है।

यहाँ हमें एक ओर ऐसे सम्बन्ध-तत्व मिले जो शब्द के साथ ही अलग हैं (राम ने) और दूसरी ओर एक ऐसा मिला जो शब्द में ऐसा घुल-मिल गया है (मारा) कि पता नहीं चलता। इसी प्रकार कुछ और तरह के भी सम्बन्ध-तत्व होते हैं। यहाँ सभी प्रकार के सम्बध-तत्वों को पृथक्-पृथक् समझ लेना समीचीन होगा।

सम्बन्ध-तत्व के प्रकार

(१) शब्द-स्थान

जैसा कि पीछे कई स्थानों पर कहा जा चुका है शब्दों का स्थान भी कभी-कभी सम्बन्धतत्व का काम करता है। संस्कृत के समासों में यह बात प्रायः देखी जाती है। कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं—

राजसदन = राजा का घर
सदनराज = घरों का राजा अर्थात् बहुत अच्छा या बड़ा घर।
ग्राममल्ल = गाँव का पहलवान
मल्लग्राम = पहलवानों का ग्राम।
धनपति = धन का पति, कुबेर
पतिधन = पति (शौहर) का धन

यहाँ हम स्पष्ट देखते हैं कि स्थान-परिवर्तन से सम्बन्ध-तत्व में अन्तर आ गया है और अर्थ बदल गया है। अँग्रेज़ी में भी स्थान कभी-कभी सम्बन्ध-तत्व का काम करता है। जैसे 'गोल्ड मेडल'। इसमें यदि दोनों शब्दों का स्थान उलट दें, तो यह भाव नहीं व्यक्त होगा। 'पावरहाउस' तथा 'लाइटहाउस' आदि भी ऐसे ही उदाहरण हैं।

संस्कृत तथा अँग्रेज़ी के ऊपर के उदाहरणों की भाँति हिंदी में भी अधिकारी के बाद अधिकृत वस्तु रक्खी जाती है। 'राजमहल', 'डाकघर' तथा 'मालबाबू' इसी के उदाहरण हैं। यहाँ भी स्थान विशेष पर होने से ही राज, डाक, तथा माल शब्द संज्ञा होते हुए भी विशेषण का काम कर रहे हैं और इस प्रकार उनका साथ के शब्दों से विशिष्ट सम्बन्ध स्पष्ट है।

चीनी में भी इसी प्रकार अधिकारी के बाद अधिकृत वस्तु रखी जाती है। वैंग = राजा, तान = घर। अतः वैंग तीन = राजा का घर। वेल्श में शब्द-स्थान इसके बिलकुल उलटा है। वहाँ ब्रेनहिन = राजा और ती = घर। पर यदि 'राजा का घर' कहना होगा तो हिंदी या चीनी आदि की भाँति 'ब्रेनहिन ती' न कहकर 'ती ब्रेनहिन' कहेंगे।

वाक्यों में भी स्थान से सम्बन्ध-तत्त्व स्पष्ट हो जाता है। यह बात चीनी आदि स्थान-प्रधान भाषाओं में विशेष रूप से पाई जाती है। उदाहरण स्वरूप

ग्गो त नि = मैं तुम्हें मारता हूँ।

नि त ग्गो = तू मुझे मारता है।

अँग्रेज़ी तथा हिंदी में भी इसके उदाहरण मिल जाते हैं—

Mohan killed Ram.

Ram killed Mohan.

कहना न होगा कि पहले वाक्य में मोहन और राम का सम्बन्ध दूसरा है पर स्थान के परिवर्तन मात्र से ही दूसरे वाक्य में वाक्य पूर्णतः परिवर्तित हो गया है। हिन्दी में—

चावल जल रहा है।

मैं चावल खाता हूँ।

इन दोनों वाक्यों में बिना किसी विभक्ति के केवल 'चावल' शब्द है, पर स्थान की विशिष्टता के कारण है वह दोनों में दो प्रकार का सम्बन्ध दिखला रहा है। पहले में कर्ता है तो दूसरे में कर्म।

(२) शब्दों को ज्यों का त्यों छोड़ देना

कभी-कभी कोई भी सम्बन्ध-तत्व न लगाकर शब्दों को ज्यों का त्यों छोड़ देना भी सम्बन्ध-तत्व का बोधक होता है। अँग्रेज़ी में सामान्य वर्तमान में प्रथम पुरुष एकवचन (I go) तथा सभी बहुवचनों (We go, You go, They go) में क्रिया को ज्यों की त्यों छोड़ देते हैं। हिन्दी में धातुओं (मरना, रोना, हँसना तथा लिखना आदि) का अविकृत रूप (मर, रो, हँस तथा लिख आदि) ही आज्ञा-सूचक क्रिया का रूप है। संस्कृत में ऐसी संज्ञाएँ (जैसे वणिक्, भूभृत्, मरुत्, सरित्, विद्युत्, वारि, दधि, विद्या, नदी तथा स्त्री आदि) कम नहीं हैं, जिनका अविकृत रूप ही प्रथमा एकवचन का बोधक है।

(३) स्वतन्त्र शब्द

संसार की बहुत-सी भाषाओं में स्वतन्त्र शब्द सम्बन्ध-तत्त्व का कार्य करते हैं। हिन्दी के सारे परसर्ग या कारक चिह्न (ने, को, से, पर, में, का, की, के) स्वतन्त्र हैं और उनका कार्य दो या अधिक शब्दों का वाक्य या वाक्यांश या शब्द-समूह में सम्बन्ध दिखलाना ही है। अँग्रेजी के टू (To) फ्राम (From) ऑन (on) तथा

इन (in) आदि भी इसी श्रेणी के शब्द हैं। संस्कृत के इति, आदि, एव तथा च आदि भी ऐसे ही शब्द हैं।

चीनी में रिक्त (empty) और पूर्ण (full) दो प्रकार के शब्द होते हैं। रिक्त शब्दों का प्रयोग भी सम्बन्धतत्व दिखलाने के लिए ही होता है। चीनी के त्सि (=का), यु (=को), त्सुंग (=से) तथा लि (=पर) रिक्त शब्द हैं, जो ऊपर के हिन्दी तथा अँग्रेज़ी शब्दों की ही श्रेणी में आते हैं। ग्रीक, लैटिन, फ़ारसी तथा अरबी में भी इस प्रकार के सम्बन्ध-तत्वदर्शी स्वतन्त्र शब्द मिलते हैं।

कभी-कभी दो स्वतन्त्र शब्दों का भी प्रयोग सम्बन्ध तत्व के लिए होता है। हिन्दी का एक वाक्य लें—

अगर पिता जी की नौकरी छूट गई **तो** मुझे पढ़ाई छोड़ देनी पड़ेगी।

इसमें 'अगर' और 'तो' इसी प्रकार के शब्द हैं। हालाँकि...मगर, न...न, ज्यौं...त्यौं, यदि...तो, तथा यद्यपि...तथापि आदि भी इसी के उदाहरण हैं। अँग्रेज़ी के इफ़ (if)...देन (then) या नीदर (neither)...नार भी इसी श्रेणी के हैं।

(४) स्वर-परिवर्तन

केवल स्वरों में परिवर्तन से भी कभी-कभी सम्बन्धतत्व प्रकट किया जाता है। कुछ भाषा-विज्ञान-वेत्ताओं ने इसी को अपश्रुति (Vocalic Ablaut) द्वारा सम्बन्ध-तत्व प्रकट होना कहा है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण अरबी भाषा में मिलता है। वहाँ अधिकतर धातुएँ (जिन्हें 'माद्दा' कहते हैं) तीन हरफ़ों की होती हैं और उनमें विभिन्न स्वर रखकर तरह-तरह के शब्द बनाए जाते हैं। उदाहरण के लिए क़्-त्-ल् का अर्थ 'क़त्ल करना' होता है। इसी से स्वर-परिवर्तन के आधार पर क़ित्ल (=दुश्मन) क़तील (=जो मारा जाय), क़ातिल (=मारनेवाला), क़तल (=खून, मारना) तथा क़ेताल (=लड़ाई) आदि शब्द बनाते हैं। अँग्रेजी में 'सिंग' (sing) से सैंग (sang) तथा संग (sung) भी इसी प्रकार बनते हैं। जर्मन में विर गेबेन (wir geben=हम देते हैं) से विर गैबेन (wir gaben=हमने दिया) इसी प्रकार बना है। संस्कृत में दशरथ से दाशरथी तथा पुत्र से पौत्र या हिन्दी में चल से चला, और चाल, काट से काटा या काट, मर से मरा, मारा, मारी, मारे या मामा से मामी आदि भी इसी श्रेणी के उदाहरण हैं।

(५) व्यंजन, स्वर, अक्षर या अक्षर-समूह (प्रत्यय-उपसर्ग रूप में) शब्द के आदि, मध्य या अन्त में किसी एक स्थान पर या एक से अधिक स्थान पर जोड़ना या परिवर्तित करना—

इस प्रकार का जोड़ या परिवर्तन सबसे अधिक सम्बन्ध-तत्व का काम करता है और चीनी आदि ऐसी भाषाओं को छोड़कर जिनमें शब्दों में विकार प्रायः नहीं होते, यह सम्बन्धतत्त्व शेष सभी परिवार की भाषाओं में मिलता है। इसके कई वर्ग बनाए जा सकते हैं।

(अ) कहीं तो स्वर का परिवर्तन करते हैं और साथ ही कुछ व्यंजन भी जोड़ देते हैं। जैसे अरबी में क्-त्-ल् से मक्तूल (=जो मारा जाय), तकातुल (=एक दूसरे को मारना), कुत्ताल (=कतल करने वाले), मुकातला (=आपस में लड़ना), मकतल (=कतल करने की जगह) तथा तकतील (=बहुत कतल करना) आदि; या संस्कृत में शिशु से शैशव या इतिहास से ऐतिहासिक। इस वर्ग की प्रधान विशेषता यह है कि मूल शब्द (या अर्थ-तत्व) या उसके अक्षर स्पष्ट रहते हैं। अरबी के उदाहरणों में क्-त्-ल् सर्वत्र स्पष्ट हैं और यही दशा संस्कृत के उदाहरणों में भी है।

(ब) दूसरे वर्ग में स्वर-परिवर्तन के साथ व्यंजन-परिवर्तन आदि भी इतना कर देते हैं कि मूल शब्द का या उसके अक्षरों का पता नहीं चलता। जैसे अँग्रेज़ी में गो (go) का भूतकाल वेंट (went)। संस्कृत में भी इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। जैसे पच् धातु का लुङ् परस्मैपद में अपाक्षीः या अपाक्त आदि रूप या रभ् का लुङ् में अरप्साताम् या आशीः में रप्सीष्ट आदि।

(स) कहीं सम्बन्ध-तत्व के लिए शब्द या अक्षर होते हैं और उन्हें स्पष्ट रूप से आदि, मध्य या अन्त या आदि-अन्त में रखते हैं और वे बिल्कुल स्पष्ट रहते हैं। कुछ उदाहरण हैं।

(१) यूराल-अल्टाई तथा द्राविड़ भाषाओं में संबंध-तत्त्व अन्त में रहता है, जैसे मलयालम में सेवकन् से सेवकन्मार, सेवकन्मारे तथा सेवकन्माराल आदि। हिन्दी के शिशु से शिशुता में भी यह है।

(२) अफ्रीका की बंटू कुल की काफिर भाषा में आरम्भ में सम्बन्धतत्व रखते हैं। जैसे कु (सम्प्रदान का चिह्न) से कुति=हमको और कुनि=उनको।

(३) मुंडा भाषाओं में मध्य में सम्बन्ध-तत्व जोड़ते हैं। जैसे दल=मारना और दपल=परस्पर मारना या मंझि=मुखिया और मंपझि=मुखिया लोग।

(द) कहीं-कहीं सम्बन्ध-तत्व अन्त में जोड़ा जाता है पर उसका पता नहीं चलता। संस्कृत में सखि+सु=सखा या नदी+सु=नदी।

इस श्रेणी के अनेकानेक भेद हो सकते हैं। यहाँ बानगी के लिए थोड़े से ही दिए गए हैं। इनमें अर्थ-तत्व और सम्बन्ध-तत्व कहीं तो तिलतंडुलवत् अलग-अलग रहते हैं और कहीं-कहीं नीरक्षीरवत् बिल्कुल मिल जाते हैं।

(६) ध्वनिगुण (स्वराघात, बलाघात या सुर)

स्वराघात, बलाघात तथा सुर भी सम्बन्ध-तत्व का काम करते हैं। सुर का उदाहरण चीनी तथा अफ्रीकी भाषाओं में मिलता है। अफ्रीका की 'फ़ुल' भाषा से एक उदाहरण लिया जा सकता है। वहाँ 'मिवरत' यदि एक सुर में कहा जाय तो अर्थ होगा 'मैं मार डालूँगा' पर यदि 'त' का सुर उच्च हो तो अर्थ होगा 'मैं नहीं मारूँगा।' बलाघात तथा स्वराघात का संस्कृत, स्लैवोनिक, लिथुआनिअन तथा ग्रीक में भी काफ़ी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। ग्रीक का एक उदाहरण लिया जा सकता है। 'प्रेट्रोक्टोड' में यदि पहले 'ओ' पर स्वराघात होगा तो अर्थ होगा 'पिता द्वारा मारा गया' पर यदि दूसरे 'ओ' पर होगा तो अर्थ होगा 'पिता को मारने वाला।' अँग्रेज़ी में कनडक्ट (Conduct) में यदि 'क' पर बलाघात होगा तो यह शब्द संज्ञा होगा पर यदि 'ड' पर होगा तो क्रिया। इसी प्रकार रेकार्ड (Record) में 'रे' पर होने से संज्ञा और 'क' पर होने से क्रिया।

(७) स्वराघात का न होना

कुछ स्थानों पर स्वराघात का न होना भी काम करता है। संस्कृत की कुछ क्रियाएँ प्रयोगानुसार स्वराघातयुक्त या स्वराघात-शून्य होती थीं।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के भी सम्बन्ध-तत्त्व मिलते हैं, पर अधिक प्रचलित उपर्युक्त ही हैं।

सम्बन्ध-तत्व और अर्थ-तत्व का सम्बन्ध

इन दोनों के सम्बन्ध सभी भाषाओं में एक जैसे नहीं होते। इसका कुछ अनुमान हम लोग ऊपर के विवेचन से भी लगा सकते हैं। यहाँ स्वतन्त्र रूप से सम्बन्ध के प्रकारों पर विचार किया जायगा।

(१) पूर्ण संयोग

कुछ भाषाओं में अर्थतत्व और सम्बन्धतत्व दोनों एक दूसरे से इतने मिले रहते हैं कि एक ही शब्द एक साथ दोनों तत्वों को प्रकट करता है। भारोपीय एवं सेमिटिक दोनों ही परिवार की भाषाएँ ऐसी ही हैं। ऊपर 'स्वर-परिवर्तन' शीर्षक में ऐसे ही सम्बन्ध-तत्व की ओर संकेत किया गया है।

अरबी में क़्तल् में केवल स्वर या कुछ व्यंजन जोड़कर कई शब्द ऐसे बनाए जा सकते हैं, जिनमें दोनों तत्व एक में मिले हैं। जैसे क़ातिल, क़तल, यक़्तुलु (वह मारता है) तथा उक़्तुल आदि। अँग्रेज़ी के भी सिंग (sing) से सैंग (sang) आदि शब्द ऐसे ही हैं।

इन दोनों परिवारों की प्राचीन भाषाओं में तो यह बात बहुत ही अधिक थी पर नवीन भाषाएँ वियोगात्मक हो गई हैं, अतः सर्वत्र यह बात नहीं पाई जाती।

(२) अपूर्ण संयोग

कभी-कभी ऐसा होता है कि अर्थ और सम्बन्ध, ये दोनों ही तत्व एक में मिले रहते हैं, अतः एक ही शब्द द्वारा दोनों प्रकट होते हैं पर मिलन अपूर्ण रहता है और इस कारण सम्बन्ध और अर्थतत्व दोनों स्पष्ट देखे जा सकते हैं। उपर्युक्त पूर्ण संयोग की भाँति इनका संयोग नीरक्षीरवत् न होकर तिलतंडुलवत् होता है। अँग्रेज़ी की निर्बल क्रियाएँ ई ड (ed) लगाकर भूतकाल में परिवर्तित की जाती हैं। उनमें दोनों तत्व मिले रहने पर भी स्पष्ट दिखाई देते हैं। जैसे asked talked, killed तथा thanked इत्यादि। द्राविड़, तुर्की एवं एस्पेरैंतो आदि भाषाओं में भी दोनों तत्वों का सम्बन्ध लगभग ऐसा ही मिलता है। इनमें प्रधानत: उपसर्ग या प्रत्यय के रूप में सम्बन्ध तत्व रहता है। कभी कभी मध्य-प्रत्यय का भी प्रयोग करना पड़ता है पर ये सभी स्पष्टतः अलग रहते हैं, अतः इसे अपूर्ण संयोग कहा गया है। कन्नड़ भाषा में 'सेवक' से 'सेवक-रु' या 'सेवक-रन्नु' आदि तथा तुर्की में सेव (प्यार करना) से 'सेव-इस-मेक' या 'सेव-दिर-मेक' इसके अच्छे उदाहरण हैं।

(३) दोनों स्वतन्त्र

कुछ भाषाओं में दोनों तत्वों की सत्ता पूर्णतः स्वतन्त्र होती है। इसके अन्तर्गत भी कई भाग किये जा सकते हैं।

(क) चीनी आदि भाषाओं में दो प्रकार के शब्द होते हैं। पूर्ण शब्द और रिक्त शब्द। भाषाओं के वर्गीकरण में हम लोग इनसे परिचित हो चुके हैं। रिक्त-शब्दों का प्रयोग सर्वदा तो नहीं होता क्योंकि यह स्थान-प्रधान भाषा है पर कभी-कभी अवश्य होता है। उदाहरणार्थ

पूर्णशब्द { वो = मैं या मुझे
उलत्सु = लड़का

रिक्त शब्द 'ती' = अंग्रेजी के एपास्ट्रफी (') आदि की भाँति अधिकारी चिह्न

अतः वो ती उलत्सु = मेरा लड़का।

भारोपीय परिवार के प्रचीन 'इति', 'आउ' आदि तथा नवीन 'ने, 'को', 'से' तथा 'टू'(To) आदि भी एक प्रकार से ऐसे ही रिक्त शब्द हैं।

(ख) 'क' वर्ग में दोनों तत्त्व स्वतंत्र होते हुए भी साथ-साथ थे। वाक्य में सम्बन्धतत्त्व का स्थान अर्थतत्त्व के पास ही कहीं था पर कुछ भाषाएँ ऐसी भी हैं, जिनमें दोनों तत्त्वों का इस प्रकार का साथ नहीं रहता है। वाक्य में पहले सम्बन्ध-तत्त्व प्रकट करने वाले शब्द आ जाते हैं और फिर अन्य शब्द। अमेरिका चक्र की चिनूक भाषा से एक उदाहरण का हिन्दी अनुवाद यहाँ लिया जा सकता है—

वह—उसने—वह—से। मारना—आदमी—औरत—लाठी

= उस आदमी ने औरत को लाठी से मारा।

वाक्य की ऐसी बनावट देख कर हम लोगों का आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक है।

(४) सम्बन्ध-तत्व का आधिक्य

कुछ भाषाओं में सम्बन्ध-तत्वों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक रहती है। इसका फल यह होता है कि वाक्य में प्रति शब्द के साथ एक सम्बन्ध-तत्व रहता है और एक के स्थान पर तीन-तीन, चार-चार सम्बन्ध-तत्व प्रयोग में आते हैं।

फुल भाषा का एक उदाहरण—

बी = बहुवचन बनाने के लिए सम्बन्धतत्व

रिव-बी रैन-ए बी-बी = ये सफेद औरतें।

बंटू परिवार की सोविशा भाषा में—

मु = एक व्यक्ति का चिह्न

मु-न्तु मु-लोटू = सुन्दर आदमी

हिन्दी आदि में केवल संज्ञा के साथ बहुवचन की विभक्ति लगाने से काम चला जाता, पर इन भाषाओं में संज्ञा के सभी विशेषणों में भी विभक्ति लगानी पड़ती है।

यह आवश्यक नहीं है कि एक भाषा में केवल एक ही तरह के संबन्ध-तत्व मिलें और दोनों तत्वों का सम्बन्ध भी एक ही तरह का हो। अधिकतर भाषाओं में कई प्रकार के सबंध-तत्व मिलते हैं।

हिन्दी में सम्बन्ध-तत्व

हिन्दी में लगभग सभी प्रकार के सम्बन्ध-तत्व हैं। 'का', 'को', 'से', 'में', 'ने' आदि चीनी की भाँति रिक्त शब्द हैं। वाक्य में किसी हद तक कर्ता, क्रिया, कर्म का

स्थान भी निश्चित सा है, अतः स्थान द्वारा प्रकट होने वाला सम्बन्धतत्व भी है। बातचीत करते समय वाक्यों में स्वराघात के कारण भी कभी-कभी परिवर्तन हो जाता है। (काकु वक्रोक्ति) 'मैं जा। रहा हूँ' तथा 'मैं। जा रहा हूँ' में अंतर है। कहीं-कहीं तुर्की आदि की भाँति अपूर्ण संयोग भी मिलता है जैसे बालकों (बालक+ओं) या चावलों (चावल+ओं) आदि। इसी प्रकार स्वर और व्यंजन के परिवर्तन द्वारा दोनों तत्वों का पूर्ण संयोग भी मिलता है, जिनमें दोनों को अलग करना असंभव है जैसे करना से किया या जाना से गया। अपश्रुति के उदाहरण के लिए कुकर्म से कुकर्मी, घोड़ा से घोड़ी या करता से करती आदि कुछ शब्द लिये जा सकते हैं।

इस तरह लगभग सभी प्रकार उदाहरण हिन्दी में हैं। ऐसे एकाध सभी प्रकार के उदाहरण प्रायः सभी भाषाओं में मिल सकते हैं, पर प्राधान्य केवल एक या दो प्रकार के सम्बन्ध-तत्त्व का होता है। हिन्दी में स्वतंत्र शब्द तथा स्थान से प्रकट होने वाले सम्बन्ध-तत्व का प्राधान्य है।

संबध-तत्व के कार्य

भाषा में संबंधतत्त्व द्वारा काल, कारक, वाक्य तथा प्रेरणात्मक क्रियाओं के भावों को व्यक्त करते हैं। यहाँ इनमें कुछ प्रधान पर अत्यंत संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

काल

काल के वर्तमान, भूत और भविष्य तीन प्रधान भेद हैं और फिर इनके सामान्य वर्तमान, अपूर्ण वर्तमान आदि बहुत से उपभेद हैं। क्रिया में विभिन्न प्रकार के संबंधतत्व जोड़कर ही काल के इन भेदों और उपभेदों की सूक्ष्मताओं को प्रकट करते हैं। इसमें अनेक प्रकार के संबंध-तत्वों से काम लेना पड़ता है। कहीं तो स्वतंत्र शब्द जोड़कर (I shall go में शैल) काम चलाते हैं तो कहीं इड (ed) जोड़ (He walked) कर भाव व्यक्त करना पड़ता है और कहीं इतना परिवर्तन किया जाता है कि अर्थतत्व और संबंध-तत्व का पता ही नहीं चलता जैसे हिन्दी में 'जाना' से 'गया' या अंग्रेजी में गो (Go) से वेंट (Went)। कुछ अन्य तरह के सम्बन्धतत्वों का भी इसके लिए प्रयोग होता है।

विद्वानों का विचार है कि कालों का रूप आज के क्रिया के रूपों में जितना दो-टूक स्पष्ट है, उतना कभी नहीं था। इसका यही आशय है कि अब इस दृष्टि से हमारी विचार धारा जितनी विकसित हो गई है, पहले नहीं थी।

लिंग

प्राकृतिक लिंग दो हैं—स्त्रीलिंग और पुलिंग। बेजान चीजों को नपुंसक की श्रेणी में रख सकते हैं। पर, भाषा में यह स्पष्टता नहीं मिलती। संस्कृत का ही उदाहरण लें। वहाँ दारा (=स्त्री) प्राकृतिक रूप से स्त्रीलिंग होते हुए भी पुलिंग शब्द है और कलत्र (=स्त्री) प्राकृतिक रूप से स्त्रीलिंग होते हुए भी नपुंसक लिंग का शब्द है। हिंदी में किताब प्राकृतिक रूप से नपुंसक लिंग का शब्द होते हुए भी स्त्रीलिंग है और दूसरी ओर ग्रन्थ प्राकृतिक रूप से नपुंसक लिंग का शब्द होते हुए पुलिंग है। मक्खी, चींटी, चिड़िया, लोमड़ी तथा छिपकली आदि हिंदी में सर्वदा स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होते हैं, यद्यपि इनमें प्राकृतिक रूप से पुलिंग या पुरुष भी होते हैं। इसी प्रकार बिच्छू तथा गोजर जैसे बहुत से शब्द सर्वदा पुलिंग में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वाभाविक लिंग से भाषा के लिंग का संबंध बहुत कम है। भाषा में हमने प्रायः कल्पित लिंग आरोपित कर दिया है।

लिंग का भाव व्यक्त करने के लिए प्रमुख रूप से दो तरीके भाषा में अपनाए जाते हैं—

(१) प्रत्यय जोड़कर—जैसे हिंदी में बाघ से बाघिन, हिरन से हिरनी या कुत्ता से कुतिया।

अंग्रेजी में प्रिंस से प्रिंसेस या लायन से लाइनेस भी इसी प्रकार के उदाहरण हैं। संस्कृत में सुन्दर से सुन्दरी भी इसी श्रेणी का है।

(२) स्वतन्त्र शब्द साथ में रखकर—जैसे अंग्रेजी में शी गोट (बकरी) ही गोट (बकरा) या मुंडा भाषा में आंडिया कूल (बाघ) और एंगा कूल (बाघिन)।

ऐसा भी देखा जाता है कि एक लिंग में तो कोई दूसरा शब्द है और दूसरे में बिल्कुल दूसरा, जिससे पहले शब्द का कोई संबंध नहीं है, जैसे स्त्री पुरुष, ब्वाय गर्ल, हार्स-मेयर, वर-वधू, माता-पिता, राजा-रानी तथा भाई-बहिन आदि।

लिंग के अनुसार संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम तथा क्रिया के रूप बदलते हैं, पर यह सभी भाषाओं के बारे में सत्य नहीं है। अंग्रेजी के विशेषणों में लिंग के कारण प्रायः परिवर्तन नहीं होता, जैसे फैट गर्ल, फैट ब्वाय। हिंदी में कहीं तो हो जाता है जैसे मोटा लड़का, मोटी लड़की, पर कहीं-कहीं परिवर्तन नहीं भी होता, जैसे चतुर पुरुष, चतुर स्त्री या सुन्दर लड़का, सुन्दर लड़की। सर्वनाम में हिन्दी में तो कोई परिवर्तन नहीं होता पर अंग्रेजी (ही, शी) तथा संस्कृत (सः, तत्, सा) आदि में परिवर्तन हो जाता है। इसके उलटे क्रिया में लिंग के आधार हिन्दी में परिवर्तन होता है

(लड़का जाता है, लड़की जाती है) पर अंग्रेजी (द गर्ल गोज़, द ब्वाय गोज़) तथा संस्कृत आदि भाषाओं में नहीं होता।

पुरुष

पुरुष तीन होते हैं—उत्तम, मध्यम तथा अन्य। पुरुष के आधार पर क्रिया के रूपों में परिवर्तन होता है। पर यह बात संसार की सभी भाषाओं में नहीं पाई जाती। एक ओर संस्कृत हिंदी तथा अंग्रेज़ी आदि में यह है तो दूसरी ओर चीनी आदि में में नहीं है। पुरुष के आधार पर क्रिया के रूपों में परिवर्तन करने के लिए कभी तो कुछ स्वरों, व्यंजनों या अक्षरों के बदलने से काम चल जाता है जैसे हिंदी में मैं जाऊँगा, तू जायेगा (जावेगा, जाएगा), और कभी-कभी विभक्ति-परिवर्तन करना पड़ता है जैसे संस्कृत में प्रथम पुरुष भू+ति, मध्यम पुरुष भू+सि, अन्य पुरुष भू+मि। अंग्रेज़ी में कभी तो एक ही रूप कई में काम देता है (जैसे आई गो, यू गो, दे गो) और कभी नये शब्द रखकर (ही इज़ गोइंग, यू आर गोइंग) तथा कभी प्रत्यय जोड़कर (आई गो, ही गोज़) काम चलाते हैं। अरबी तथा फारसी आदि में भी प्रायः वही तरीके अपनाए जाते हैं।

वचन

वचन प्रमुख रूप से दो—एकवचन और बहुवचन—मिलते हैं। पर संस्कृत तथा लिथुयेनियन—जैसी कुछ भाषाओं में द्विवचन तथा कुछ अफ्रीकी भाषाओं में त्रिवचन का प्रयोग भी मिलता है। वचन का ध्यान विशेषतः संज्ञा, सर्वनाम तथा क्रिया में रक्खा जाता है, पर संस्कृत आदि कुछ प्राचीन भाषाओं में विशेषण में भी इसका ध्यान रक्खा जाता रहा है।

वचन के भावों को व्यक्त करने के लिए प्रायः एकवचन के रूप में प्रत्यय (हिंदी में ओं या यों आदि, अंग्रेज़ी में इ-इस या यस आदि तथा संस्कृत में औ, जस् आदि) लगाते हैं। कभी-कभी अपवाद स्वरूप समूहवाची स्वतन्त्र (गण तथा लोग आदि) शब्द भी जोड़े जाते हैं। क्रिया में और भी कई प्रकार की पद्धतियों से वचन के भाव व्यक्त किए जाते हैं।

इसके अतिरिक्त संज्ञा तथा सर्वनाम के कारक (कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, संबंध तथा संबोधन) रूप, क्रिया के विभिन्न वाच्यों (कर्तृ, कर्म, भाव) के रूप, संस्कृत धातुओं के परस्मैपद तथा आत्मनेपद के रूप तथा क्रिया के प्रेरणात्मक (पढ़ना से पढ़वाना) आदि रूपों के लिए भी भाषा में संबंधतत्व का सहारा लेना पड़ता है। इसी प्रकार संज्ञा से क्रिया (हाथ से हथियाना), क्रिया से संज्ञा

(मारना से मार), संज्ञा से विशेषण (अनुकरण से अनुकरणीय) विशेषण से संज्ञा (सुन्दर से सुन्दरता) संज्ञा या विशेषण से क्रियाविशेषण (तेज़ी या तेज़ से 'तेज़ी से') आदि बनाने के लिए भी संबंध-तत्व की आवश्यकता पड़ती है।

रूप-परिवर्तन (Morphological Change)

शब्दों या पदों के रूप सर्वदा एक से नहीं रहते। उनमें परिवर्तन होता रहता है।

रूप-परिवर्तन और ध्वनि-परिवर्तन में अंतर

सामान्य दृष्टि से देखने पर रूप-परिवर्तन और ध्वनि-परिवर्तन में अंतर नहीं दिखाई देता, पर यथार्थतः दोनों में अंतर है। यद्यपि कभी-कभी ये दोनों इतने समान या समीप होते हैं कि इनको अलग कर पाना यदि असंभव नहीं तो कष्ट-संभव अवश्य हो जाता है।

ध्वनि-परिवर्तन का संबंध किसी भाषा की विशिष्ट ध्वनि से होता है और उसका परिवर्तन ऐसे सभी शब्दों को प्रायः प्रभावित कर सकता है (और करता भी है), जिनमें वह विशिष्ट ध्वनि हो। आगे ध्वनि-नियमों में हम देखेंगे कि ध्वनि-परिवर्तन के नियमों ने कुछ अपवादों को छोड़ कर किसी भाषा में आने वाले विशिष्ट ध्वनि-तत्त्वों को प्रायः सर्वत्र प्रभावित किया, पर रूप-परिवर्तन का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित होता है। वह किसी एक शब्द या पद के रूप को ही प्रभावित करता है। उससे भाषा के पूरे संस्थान से कोई संबंध नहीं। इस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन अपेक्षाकृत बहुत व्यापक है और रूप-परिवर्तन सीमित तथा संकुचित।

इस संबंध में एक और बात भी स्मरणीय है। ध्वनि-परिवर्तन होने पर पुराने अवशेष बहुत कम मिलते हैं, पर रूप-परिवर्तन होने पर बहुत से पुराने रूप भी मिलते हैं और उनका प्रयोग भी होता रहता है।

रूप-परिवर्तन की दिशाएँ

पदों या शब्दों के रूपों का परिवर्तन प्रमुखतः दो दिशाओं में होता है।

(१) अपवाद-स्वरूप प्राप्त रूप मस्तिष्क के लिए बोझ ज्ञात होते हैं, अतएव उनके स्थान पर नियमानुसार बने रूपों का प्रयोग हम करने लगते हैं। अंग्रेज़ी में बली और निर्बल दो प्रकार की क्रियाएँ हैं। बली क्रियाओं का रूप किसी नियमित रूप से नहीं चलता जैसे गो, वेंट, गान या पुट, पुट, पुट या बीट, बेट, बीटेन या राइट, रोट, रिटेन आदि। इसके विरुद्ध निर्बल क्रियाओं में इड (ed) लगाकर रूप बना लिए

जाते हैं। अंग्रेजी भाषा के इतिहास के आरंभ में बली क्रियाएँ बहुत अधिक रही होंगी पर इनको याद रखना एक बोझ था, इसीलिए जन मस्तिष्क ने धीरे-धीरे निर्बल क्रियाओं के सादृश्य पर बली क्रियाओं के रूपों को भी चलाया और धीरे-धीरे बहुत सी बली क्रियाएँ निर्बल हो गईं और उनके पुराने अनियमित-रूप समाप्त हो गए और उनके स्थान पर नियमित रूप आ गए। इस प्रकार उनके रूप परिवर्तित हो गए। वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत के व्याकरणों की तुलना की जाय तो यह स्पष्टतः दिखाई पड़ता है कि वैदिक संस्कृत में संज्ञा तथा क्रिया के रूपों मे अपवाद बहुत अधिक थे पर लौकिक संस्कृत तक आते-आते अपवाद रूप में प्राप्त रूपों का स्थान नियमित रूपों ने ले लिया।

यह सब एकरूपता या नियमितता लाने के प्रयास में होता है। डा० सक्सेना ने प्राकृत से इसके कुछ अच्छे उदाहरण दिए हैं। संस्कृत में अकारांत संज्ञाओं की संख्या बहुत बड़ी है, अतएव उनके रूपों के नियम अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित हैं। प्राकृत काल में आते-आते हम देखते हैं कि कुछ अकारांत से इतर संज्ञा शब्दों के रूप भी अकारांत की भाँति चलते मिलते हैं। उदाहरणार्थ प्रा० पुत्तस्स (सं० पुत्र से पुत्रस्य) और सब्बस्स (सं० सर्व से सर्वस्य) के वज़न पर अग्गिस्स (सं० अग्नि, जिसका संस्कृत रूप अग्नेः था) तथा वाउस्स (सं० वायु, जिसका संस्कृत रूप वायोः था) यद्यपि ये इकारांत तथा उकारांत हैं।

(२) अभिव्यंजना की सुविधा या विभ्रम दूर करने या नवीनता के लिए भी लोग बिल्कुल नए रूपों का प्रयोग करना पसंद करते हैं। अवधी बोली में कर्ता कारक के एकवचन और बहुवचन के रूप एक हो गए थे। जैसे

बरधा खात अहै (एकवचन)
बरधा खात अहैं (बहुवचन)

पर इस गड़बड़ी को दूर करने के लिए बाद में बहुवचन में—न जोड़ा जाने लगा, और अब कहते हैं—

बरधवन या बरधन खात अहैं।
या घोड़वन दौड़त अहैं।
या बछवन दूध पियत अहैं।

यद्यपि अब भी यह नियम पूर्णतः लागू नहीं होता और 'घोड़ा दउड़त अहैं', 'घर गिरि हैं' या 'लरिका जात हैं' जैसे प्रयोग भी मिलते हैं।

भोजपुरी में भी यह गड़बड़ी है—

एकवचन	बहुवचन
चोर जात है	चोर जात हउवन
घर गिर गयल	घर गिर गइलँऽ

पर कुछ में यहाँ भी न जोड़ने लगे हैं—

बरध मर गयल	बरधन मर गइलँऽ
लइका डूबि जाई	लइकन डूबि जइहें

ध्वनि-परिवर्तन से भी शब्द या पद के रूप में परिवर्तन आ जाता है जैसे संस्कृत 'वर्तते' से भोजपुरी 'बाटे'। पर, इसे रूप-परिवर्तन न कहकर ध्वनि-परिवर्तन कहना ही अधिक उचित होगा।

रूप-परिवर्तन के कारण

ऊपर रूप-परिवर्तन की दिशाओं पर विचार करते समय रूप-परिवर्तन के कारणों की ओर भी संकेत किया गया है। यहाँ उन्हें अलग-अलग देखा जा सकता है।

(१) **सरलता**—एक नियम के आधार पर चलने वाले रूपों के साथ यदि उसके अपवादों को भी याद रखना पड़े तो मस्तिष्क पर एक व्यर्थ का भार पड़ता है और इसमें स्वभावतः कुछ कठिनाई भी होती है, अतएव सरलता के लिए जन-मस्तिष्क अपवादों को निकालकर उनके स्थान पर नियम के अनुसार चलने वाले रूपों को रखना चाहता है। ऊपर अंग्रेज़ी की बली-निर्बल क्रियाओं आदि के उदाहरण लिए जा चुके हैं। ध्वनि-परिवर्तन में प्रयत्न-लाघव का जो स्थान है, रूप-परिवर्तन में सरलता का वही स्थान है। इस सरलता के लिए प्रायः किसी अन्य प्रचलित रूप के सादृश्य (Analogy) पर नया रूप बना लेते हैं। इसके फुटकर उदाहरण भी मिलते हैं। पूर्वीय के लिए अपने यहाँ 'पौरस्त' शब्द था पर वह पाश्चात्य के वज़न पर नहीं था, अतएव लोगों ने उस वज़न पर नया शब्द पौर्वात्य बना लिया। संस्कृत में बाहर के लिए बाह्य शब्द है। उससे 'बाहर' शब्द कभी न बनता पर अभ्यंतर से 'भीतर' शब्द बना तो उसी वज़न पर बाह्य से लोगों ने 'बाहर' भी बना लिया, यद्यपि बाह्य में 'र' नहीं था।

(२) **अज्ञान**—अज्ञान के कारण भी कभी-कभी नए रूप बन जाते हैं और

इनमें से कुछ प्रचलित भी हो जाते हैं। मरना से मरा, घरना से धरा और सड़ना से सड़ा की भाँति करना से 'करा' रूप ठीक है, पर किसी ने देना से दिया या लेना से लिया के वज़न पर करना से 'किया' रूप चला दिया, जो अशुद्ध होने पर भी चल पड़ा और आज वही परिनिष्ठित (स्टैंडर्ड) रूप है। 'मैंने करा' शुद्ध होते हुए भी अशुद्ध माना जाता है।

अज्ञानवश बने रूपों में आवश्यक नहीं है कि सभी चल ही जायँ। अभी कुछ ही दिन पूर्व एक जेकोस्लोवाकिया के विद्यार्थी द्वारा लिखित एक पुस्तक में मुझे 'मूजियेगा' रूप मिला। स्पष्ट ही होना से 'हूजियेगा' की वज़न पर यह बनाया गया है और यह भी स्पष्ट है कि इसके प्रचलित होने की सम्भावना नहीं है। बच्चे प्रायः इस प्रकार के रूप बनाकर प्रयोग करते हैं और बाद में माता-पिता के सुधारने पर ठीक और परिनिष्ठित रूप का प्रयोग करने लगते हैं। कुछ अज्ञानी अपने संस्कृत-ज्ञान का रोब ग़ालिब करने के लिए लावण्यता, सौंदर्यता या शुद्ध अज्ञानवश दयालुताई, कुटिलताई, गरीबताई, सुघरताई या मित्रताई जैसे रूपों का प्रयोग करते हैं। इनमें अन्तिम ५ तो लोक-भाषाओं प्रचलित भी हैं। लोक भाषाओं में इस प्रकार के और भी अशुद्ध रूप खोजे जा सकते हैं। अवधी में बूढ़ा के स्थान पर बुढ़ापा (बुढ़ापा मनई) कहते हैं। साहित्यिक भाषा में भी राजनैतिक और उपरोक्त जैसे अशुद्ध रूप प्रचलन पा गए हैं।

(३) नवीनता, स्पष्टता या बल—नवीनता, स्पष्टता या बल के लिए भी नए रूपों का प्रयोग चल पड़ता है। ऊपर स्पष्टता के लिए भोजपुरी तथा अवधी में 'न' जोड़कर रूप बनाने का उल्लेख किया जा चुका है। इधर बोलचाल की हिन्दी में 'मैं' के स्थान पर 'हम' का प्रयोग बढ़ रहा है और अस्पष्टता मिटाने के लिए लोग बहुवचन में 'हम' के स्थान पर 'हमलोग' का प्रयोग कर रहे हैं।

नवीनता की दृष्टि से गत ३० वर्षों के हिन्दी साहित्य में भाँति-भाँति के उपसर्ग तथा प्रत्ययों के योग से बहुत से नए रूप सामने आए हैं।* मृदुता के लिए मार्दव या प्रखरता के लिए प्राखर्य जैसे रूप भी नवीनता के लिए ही लाए गए हैं।

बल के लिए भी नए रूप बना लिए जाते हैं। इनमें बहुत से अशुद्ध भी होते हैं। 'अनेक' का अर्थ ही है एक नहीं, अर्थात् एक से अधिक और इस प्रकार यह बहु-

* धावित के लिए प्रधावित, भावना के लिए प्रभावना, निंदित के लिए विनिंदित आदि।

वचन है पर इधर अनेक के स्थान पर 'अनेकों' का प्रयोग (अनेकों व्यक्ति) चल पड़ा है। यहाँ 'ओं' बल देने के लिए है। भोजपुरी में फ़जूल में और बल देने के लिए 'बेफजूल' (बेफजूल बात—अर्थात् ऐसी बात जो बहुत ही फ़जूल हो) का प्रयोग करते हैं, यद्यपि यह पूर्णतया अशुद्ध है और 'बे' लगा देने से इसका अर्थ उलटा हो जाना चाहिए।

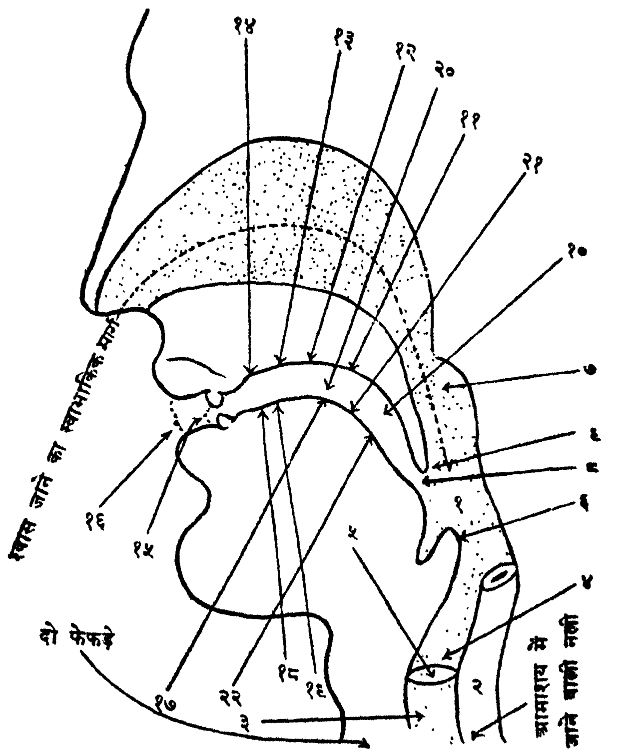
इस प्रकार रूप के क्षेत्र में एकरूपता और अनेकरूपता की दौड़ साथ-साथ होती है, और उनके बीच में रूप-परिवर्तन चलता रहता है।

अध्याय ५

ध्वनि-विज्ञान*

भाषा-विज्ञान की ध्वनि-विज्ञान (या ध्वनि-विचार) शाखा के अन्तर्गत ध्वनि उत्पन्न करने वाले अवयव क्या हैं, ध्वनि मुँह या नाक से निकल कर कान तक कैसे पहुँचती है, कान उसे कैसे ग्रहण करता है, ध्वनियों को किन-किन वर्गों में बाँटा जा सकता है, या ध्वनियाँ कितने प्रकार की होती हैं, संयुक्त ध्वनियाँ क्या हैं, ध्वनियों के कौन-कौन से गुण हैं, ध्वनि-परिवर्तन के कारण और उसकी दिशाएँ क्या है, तथा ध्वनि-नियम किसे कहते हैं आदि पर विचार किया जाता है। नीचे इन पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ, पहले ध्वनि-यंत्र के अवयव तथा ध्वनि उत्पन्न करने में उनकी प्रक्रियाओं पर विचार किया जा रहा है।

ध्वनि-यंत्र का चित्र



* अँग्रेज़ी में Phonology, Phonetics और Phonemics तीन शब्द हैं,

१. श्वास-नालिका (Wind pipe)
२. भोजन-नालिका (Gullet)
३. स्वर-यंत्र (Larynx)
४. स्वरयंत्र-मुख (Glottis) या काकल
५. स्वर-तंत्री (Vocal chord)
६. स्वरयंत्र-मुख-आवरण, या अभिकाकल (Epiglottis)
७. नासिका-विवर (Nazal Cavity)
८. मुख-विवर (Mouth Cavity)
९. अलिजिह्व या कौवा (Uvula)
१०. कंठ (Guttur)
११. कोमल तालु (Soft Palate)
१२. मूर्द्धा (Cerebral)
१३. कठोर तालु (Hard Palate)
१४. वर्त्स या ऊपरी मसूढ़ा (Alveola)
१५. दाँत (Teeth)
१६. ओष्ठ (Lip)
१७. जिह्वा (Tongue)
१८. जिह्वा की नोक (Tip of the tongue)
१९. जिह्वाग्र (Front of the tongue)
२०. जिह्वामध्य (Middle of the tongue)
२१. पश्च जिह्वा (Back of the tongue)
२२. जिह्वामूल (Root of the tongue)

ध्वनि-अवयव

श्वास-नालिका, भोजन-नालिका और अभिकाकल

हम प्रतिक्षण नाक के रास्ते से हवा अपने फेफड़े में पहुँचाते रहते हैं। जैसा कि नीचे के चित्र में दिखलाया गया है श्वास श्वासनालिका में होती हुई फेफड़ों में पहुँचती है और उन्हें स्वच्छ कर वह फिर उसी पथ से बाहर निकल जाती है। श्वास-नालिका, के पीछे भी जननालिका है, जो नीचे आमाशय तक जाती है। इन दोनों (श्वास तथा भोजन) नालिकाओं के बीच में दोनों को पृथक् करने के लिये एक दीवाल है। भोजन-नालिका के विवर के साथ श्वास-नालिका की ओर झुकी हुई

जिन्हें क्रम से ध्वनि-विचार (या ध्वनि-विज्ञान), ध्वनि-शास्त्र तथा ध्वनि-तत्त्व-विज्ञान (या ध्वनि-श्रेणी-विज्ञान) कहा जा सकता है।

एक छोटी-सी जीभ है, जिसे अभिकाकल या स्वरयंत्रमुखआवरण (Epiglottis) कहते हैं। भोजन या पानी जब मुँह के रास्ते भोजन-नालिका के मुख के पास आता है, तो यह अभिकाकल नीचे की ओर झुक कर श्वास-नालिका को बंद कर देता है और भोजन या पानी आगे सरक कर भोजन-नालिका में चला जाता है। यदि श्वास-नालिका बंद न हो तो, जैसा कि चित्र से स्पष्ट है, भोजन और पानी इसी नालिका में चले जायँ और मनुष्य की तुरंत ही मृत्यु हो जाय। खाते समय कभी-कभी असावधानी के कारण अन्न के एक-आध टुकड़े श्वास-नालिका में चले जाते हैं तो बुरी दशा हो जाती है और फेफड़े की हवा शीघ्र ही अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसे लौटा देती है। पानी पीते समय भी यदि पानी सरक जाता है तो इसी प्रकार की सुरसुरी आ जाती है। हमारे यहाँ खाते समय बात करना संभवतः इसीलिये वर्जित है, क्योंकि बात करते समय श्वास-नालिका को खुला रखना ही पड़ता है।

भोजन या पानी का स्वाभाविक मार्ग मुँह द्वारा होता हुआ भोजन-नालिका में है। इसी प्रकार श्वास या वायु का स्वाभाविक पथ नासिका-विवर में होते हुए श्वास-नालिका में है। सभी जानवर इस स्वाभाविक पथ का ही अनुसरण करते हैं, पर मनुष्य मस्तिष्क-प्रधान होने के कारण स्वाभाविकता या प्रकृति के विरुद्ध जाता है। यहाँ भी उसने कुछ विशिष्ट अवसरों के लिए भोजन-पानी और श्वास के स्वाभाविक मार्ग का परित्याग कर दिया है। साधू लोग ठोस भोजन तो नहीं पर दूध और पानी आदि द्रव पदार्थ कभी-कभी नाक से पीते देखे जाते हैं, दूसरी ओर बोलते समय सभी लोग श्वास-नलिका के साथ-साथ मुँह को भी वायु के आने-जाने का मार्ग बना देते हैं, जो कि नितान्त अस्वाभाविक है। पशु बोलते भी हैं तो वायु का अधिक भाग उनकी नाक से ही निकलता है। यही कारण है कि उनकी ध्वनि सर्वदा अनुनासिक होती है। हम लोगों की भाषा में भी कभी-कभी कुछ शब्दों में अकारण अनुनासिकता (Spontaneous Nazalization) आ जाती है, (सर्प से साँप या वक्र से बाँका) जो इसी बात को प्रदर्शित करती है कि नाक से बोलना ही हमारे लिए भी स्वाभाविक है।

स्वर-यंत्र, स्वर-यंत्र-मुख और स्वर-तंत्री

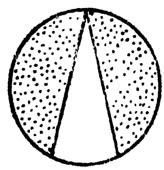
श्वास-नालिका के ऊपरी भाग में अभिकाकल से कुछ नीचे ध्वनि उत्पन्न करने वाला प्रधान अवयव होता है जिसे स्वर-यंत्र कहते हैं। यहाँ श्वास-नालिका कुछ मोटी होती है। स्वर-यंत्र में पतली झिल्ली के बने दो लचीले परदे होते हैं जिन्हें स्वरतंत्री कहते हैं। परदों के बीच के खुले भाग को काकल या स्वर-यंत्र-मुख कहते

हैं। इसी मुख से होकर हवा आती-जाती है। पर, इस मुख या काकल का स्वरूप सर्वदा एक सा नहीं रहता। जब स्वरतंत्री के परदे बहुत समीप आ जाते हैं तो यह बड़ा हो जाता है।

स्वर-तंत्री के परदे जब ढीले रहते हैं तो पुरुषों में उनकी लंबाई लगभग पौन इंच और स्त्रियों में आधा इंच होती है। तन जाने पर क्रमशः पुरुषों और स्त्रियों में लगभग एक इंच और पौन इंच हो जाती है। बचपन में ये अपेक्षाकृत और भी छोटे होते हैं।

स्वर-तंत्री के परदे प्रमुख रूप से चार अवस्थाएँ धारण करते हैं—

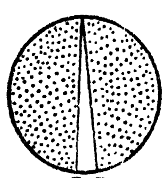
पहली अवस्था में दोनों परदे शिथिल पड़े रहते हैं। बीच में त्रिभुजाकार स्थान



[१]

छूटा रहता है। यह अवस्था उस समय की है जब हम साधारण रूप में श्वास लेते हैं (या अघोष ध्वनियों का उच्चारण करते हैं)।

दूसरी अवस्था वह है जब परदों के दोनों अधर इतने समीप आ जाते हैं कि वायु को रगड़ खाकर जाना पड़ता है। (इस अवस्था में घोष ध्वनियों का उच्चारण

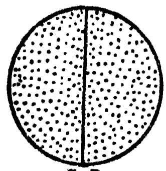


[२]

किया जाता है) जब स्वर-तंत्रियाँ इस दशा में रहती हैं और वायु निकलता है तो रगड़ के कारण कंपन होता है जिसका अनुभव गले पर हाथ रख कर किया जा सकता है।

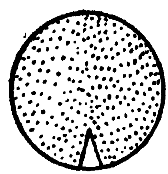
तीसरी अवस्था में इसके दोनों अधर तनकर इतने मिल जाते हैं कि रास्ता पूर्णतया बन्द हो जाता है। ऐसा करने में एक प्रकार की अन्तर्मुखी ध्वनि (click)

सी आवाज़ होती है। इस आवाज या ध्वनि को अरबी का 'हमज़ा' या स्वर-यंत्रीय व्यंजन कहते हैं।



[३]

चौथी अवस्था में दोनों अधर मिलते तो हैं पर नीचे पूरे का लगभग चौथाई भाग खुला रहता है। ऐसी अवस्था में फुसफुसाहट वाली ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं। इस दशा में रास्ता छोटा होने के कारण ही ध्वनि धीमी हो जाती है।



[४]

मुख-विवर, नासिका-विवर और कौवा

स्वरयंत्र के ऊपर उसका ढक्कन (अभिकाकल) होता है, जिसके संबंध में हम ऊपर विचार कर चुके हैं। उसके ऊपर वह स्थान आता है जिसे हम चौराहा (Crossing) कह सकते हैं। यह एक खाली स्थान है जहाँ से चार मार्ग (१. श्वास-नालिका, २. भोजन-नालिका, ३. मुख-विवर, और ४. नासिका-विवर) चारों ओर जाते हैं। जिस प्रकार इस चौराहे के नीचे अभिकाकल है, उसी प्रकार ऊपर जीभ के स्वरूप का मांस का छोटा सा भाग उस स्थान पर होता है जहाँ से नासिका-विवर और मुख-विवर के रास्ते फूटते हैं। इस छोटी जीभ को कौवा या अलिजिह्व कहते हैं। इसका भी कार्य अभिकाकल की भाँति कभी-कभी मार्ग अवरुद्ध करना है।

कौवा को विभिन्न दशाओं में हम तीन अवस्थाओं में पाते हैं। पहली तो इसकी स्वाभाविक और साधारण अवस्था है, जिसमें यह ढीला होकर नीचे की ओर गिरा रहता है। इसके गिरे रहने से मुख-विवर और श्वास-नालिका का सम्बन्ध-विच्छेद

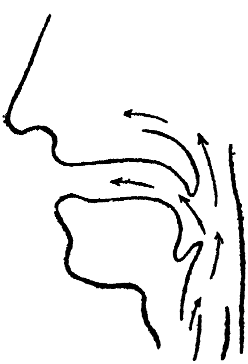


हो जाता है और श्वास अबाधगति से नासिका-विवर से होकर आता-जाता है। स्वाभाविक रूप से श्वास लेने की अवस्था यही होती है। किसी की बात सुनकर जब हम मुँह को बिना खोले हुए 'हँ' या 'हूँ' ध्वनि कहते हैं तो वह इसी दशा में उच्चरित होती है। संस्कृत के शुद्ध अनुस्वार का उच्चारण भी इसी प्रकार होता था।



[२]

दूसरी अवस्था में कौवा सामने की ओर खड़ा हो जाता है और नासिका-विवर में श्वास-नालिका से आई हवा को तनिक भी नहीं जाने देता, अतः वायु मुखविवर से आता-जाता है। अनुनासिकेतर स्वर या व्यंजनों का उच्चारण इसी दशा में होता है।



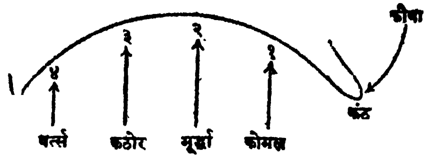
तीसरी और अंतिम अवस्था उस समय की है, जब कौवा न तो ऊपर तनकर नासिका-विवर को रोकता है और न नीचे गिर कर मुखविवर को। वह मध्य में रहता है, अतः श्वास, नासिका और मुख दोनों ही से होकर निकलता है। अनुनासिक स्वरों तथा व्यंजनों का उच्चारण इसी अवस्था में होता है।

तालु, जिह्वा, दाँत और ओष्ठ

कौवा के पश्चात् एक ओर नासिका-विवर है दूसरी ओर मुख-विवर। नासिका-

विवर में और कोई भी ऐसा अंग नहीं है, जिससे ध्वनि उत्पन्न करने में कुछ सहायता मिले, अतः उसे छोड़कर मुख-विवर पर विचार किया जा सकता है।

मुख-विवर में ऊपर की ओर तालु है, जिसके कंठ-स्थान और दाँतों के बीच में क्रम से ४ भाग हो सकते हैं। १. कोमल तालु, २. मूर्द्धा, ३. कठोर तालु, तथा ४.

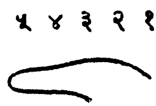


वर्त्स। जिह्वा के विभिन्न भागों का इनसे स्पर्श कराकर विभिन्न ध्वनियाँ उच्चरित की जाती हैं।



मुख विवर के निचले भाग में जिह्वा है। साधारण अवस्था में यह ढीली नीचे पड़ी है, बोलने में वायु-अवरोध या वायु रोकने के लिए हम इसका प्रयोग करते हैं। जिह्वा को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है—

१ = मूल
२ = पश्च



३ = मध्य
४ = अग्र
५ = नोक

ध्वनि-उच्चारण में इन पाँचों ही भागों का अलग-अलग महत्व है। साथ ही अभिकाकल और कौवे की भाँति जिह्वा की विभिन्न अवस्थाएँ भी होती हैं। इन सब का सविस्तर वर्णन ध्वनियों के वर्गीकरण के समय किया जा सकेगा।



मुख-विवर में तालु तथा जिह्वा के बाद तीसरे प्रधान अंग दाँत हैं, जो भोजन करने के अतिरिक्त बोलने में भी हमारी सहायता करते हैं। इनके भी (१) मूल और (२) अग्र ये दो भाग किये जा सकते हैं।



यों तो दाँत हिल-डोल नहीं सकते पर बोलते समय आवश्यकतानुसार जबड़े से सहायता लेकर हम इनको ऊपर-नीचे या आगे-पीछे कर लेते हैं।

ध्वनि से सम्बन्ध रखने वाले अंतिम अंग ओठ हैं। व्यंजनों के उच्चारण में तो इनको अधिक कार्य नहीं करना होता, केवल पवर्ग के उच्चारण में ही ये श्वास को रोकते हैं, पर स्वरों (लगभग सभी) के उच्चारण में इनको पर्याप्त काम करना पड़ता है। इसका वर्णन आगे यथास्थान किया जायेगा।

हम ध्वनि कैसे उत्पन्न करते हैं?

हारमोनियम या बिगुल आदि वाद्ययंत्रों की भाँति हम लोग भी वायु की सहायता से बोलते हैं। यह वायु दो प्रकार का है। एक तो वह है जो हम नाक या मुँह के मार्ग से भीतर खींचते हैं। यह बाहर की साफ़ हवा होती है। इस शुद्ध हवा से दुःख है कि हम लोग अधिक ध्वनियाँ उच्चरित नहीं कर पाते। कुछ भाषाओं की आश्चर्य आदि की ध्वनियों तथा अफ्रीका की क्लिक ध्वनियों के उच्चारण में ही यह हवा हमारा काम दे पाती है। दूसरे प्रकार की हवा वह है जो फेफड़े की गन्दगी साफ़ करके बाहर निकलती है। सच पूछा जाय तो यह दूसरी हवा (जो पहली का गंदा रूप मात्र है) ही संसार की प्रायः सभी भाषाओं के बोलने में हमारी सहायता करती है।

फेफड़े की सफाई करने के पश्चात् वायु श्वास रूप से श्वास-नालिका के पथ से बाहर चलता है। स्वर-यंत्र के पूर्व इसमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं होता। सर्वप्रथम हम स्वरतंत्रियों की सहायता से इसे मनमाना रूप देते हैं। उससे आगे चलकर आवश्यकतानुसार नासिका-विवर, मुख-विवर या दोनों से थोड़ा-थोड़ा निकालते हैं। ऐसा करने में कौवा भी हमारी सहायता करता है। वहाँ से मुख-विवर में जाने वाली हवा को हम आवश्यकतानुसार जिह्वा, कंठ, तालु, दाँत और ओष्ठ के सहारे इच्छित रूप देकर बाहर निकालते हैं, जो बाहर आकर ध्वनि की संज्ञा पाती है। साथ ही आवश्यक होने पर इसके एक अंश को नासिका-विवर (अनुनासिक- ध्वनियों को उच्चरित करने में) से निकालते हैं।

ध्वनि मुख से निकल कर किसी के कान तक कैसे जाती है?

फेफड़े से चली हवा ध्वनि-यंत्रों के आन्दोलन के कारण आन्दोलित होकर निकलती है और बाहर के वायु में अपने आन्दोलन के अनुसार एक विशिष्ट प्रकार के कम्पन से लहरें पैदा कर देती हैं। वे लहरें ही सुनने वाले के कान तक पहुँचती हैं, और वहाँ श्रवणेन्द्रिय में कंपन पैदा कर देती हैं। भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत इस

विषय पर विस्तार के साथ विचार नहीं किया जा सकता। यह भौतिक-शास्त्र के अध्ययन का विषय है।

हम कैसे सुनते हैं ?

ऊपर हमने अभी देखा कि ध्वनि-लहरें कान में पहुँचती हैं, पर 'इन लहरों के कंपन को हम कैसे सुन लेते हैं' इस बात को स्पष्ट करने के लिये संक्षेप में कान की बनावट को देख लेना होगा। हमारा कान तीन भागों में बँटा है, जिनको क्रम से बाह्य कर्ण, मध्यवर्ती कर्ण और आभ्यन्तर कर्ण कह सकते हैं।

बाह्य कर्ण के भी दो भाग किए जा सकते हैं। एक तो वह भाग है जो ऊपर टेढ़ा-मेढ़ा दिखाई देता है। यह भाग सुनने की क्रिया में अपना कोई विशेष स्थान नहीं रखता। दूसरा भाग छिद्र या कर्ण-नालिका के बाहरी भाग से आरंभ होकर भीतर तक जाता है। इस भाग की या कर्ण-नालिका की लंबाई लगभग एक इंच होती है। नालिका के भीतरी छिद्र पर एक झिल्ली होती है जो बाह्य कर्ण को मध्यवर्ती कर्ण से संबद्ध करती हैं।

मध्यवर्ती कर्ण एक छोटी सी कोठरी है, जिसमें तीन छोटी-छोटी हड्डियाँ होती हैं। इन अस्थियों का एक सिरा बाह्य कर्ण की झिल्ली से जुड़ा रहता है और दूसरी ओर इनका संबन्ध आभ्यन्तर कर्ण के बाहरी छिद्र से होता है।

इसके पीछे आभ्यन्तर कर्ण आरम्भ होता है। इस भाग में शंख के आकार का एक अस्थि-समूह होता है। इसके खोखले भाग में उसी आकार की झिल्लियाँ होती हैं। इन दोनों के बीच में एक प्रकार का द्रव पदार्थ भरा रहता है। इस भाग के भीतरी सिरे की झिल्ली से श्रावणी शिरा के तन्तु आरम्भ होते हैं, जो मस्तिष्क से सम्बद्ध रहते हैं।

ध्वनि की लहरें जब कान में पहुँचती हैं तो बाह्य कर्ण की भीतरी झिल्ली (या कान का पर्दा) पर कंपन उत्पन्न करती हैं। इस कंपन का प्रभाव मध्यवर्ती कर्ण की अस्थियों द्वारा भीतरी कर्ण के द्रव पदार्थ पर पड़ता है और उसमें लहरें उठती हैं, जिसकी सूचना श्रावणी शिरा के तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क में जाती है, और हम सुन लेते हैं।

ध्वनि, भाषा-ध्वनि और ध्वनितत्व

किसी भी वस्तु से किसी भी तरह कुछ ऐसा हो, जो किसी के द्वारा सुना जा सके तो उसे साधारणतः हम ध्वनि की संज्ञा देंगे। पानी में मछली के कूदने से या किसी

के सर पर डंडा मारने से जो आवाज़ होगी, उसे भी ध्वनि कहेंगे। इक्केवाला जब 'टिक् टिक्' की आवाज मुँह से पैदा करके घोड़े को तेज़ चलाता है, तो वह भी एक प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करता है। पर, जहाँ तक भाषा-विज्ञान में प्रयुक्त 'ध्वनि शब्द का अर्थ है इन तीनों में से कोई भी ध्वनि नहीं है। इसीलिये भाषा-विज्ञान-विशारदों ने साधारण ध्वनि से अपनी ध्वनि को अलग करने के लिये उसे 'भाषा-ध्वनि' (Speech Sound) का नाम दिया है।

भाषाध्वनि वह ध्वनि है जिसे मनुष्य अपने मुँह के नियत स्थान से निश्चित् प्रयत्न द्वारा किसी ध्येय को स्पष्ट करने के लिये उच्चरित करे और श्रोता जिसे उसी अर्थ में ग्रहण करें।

एक ही मनुष्य प्रत्येक 'भाषा-ध्वनि' (क्, ख् या ग् आदि भाषा-ध्वनियाँ हैं) का उच्चारण सर्वदा एक प्रकार से नहीं करता। कहा तो ऐसा जाता है कि उसका प्रत्येक बार का उच्चारण भी भिन्न होता है। 'कमलाकर कान्त की कहानियाँ सुन्दर हैं।' वाक्य में 'क्' भाषा-ध्वनि पाँच बार आई है। शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो इस वाक्य को कहने वाला इन पाँचों 'क्' का उच्चारण भिन्न-भिन्न ढंग से करेगा। इतना ही नहीं वह केवल 'कान्त' शब्द ही पाँच बार कहे तो पाँचों बार 'क्' का उच्चारण पाँच प्रकार से होगा। इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से 'क्' के ये भिन्न-भिन्न रूप अलग-अलग 'भाषा-ध्वनियाँ' हैं, पर व्यवहार की दृष्टि से इनको एक माना जाता है, और इन सबके लिए एक ही लिपि चिह्न 'क' का प्रयोग होता है। यह 'क्' भाषा-ध्वनि, क् ध्वनि-श्रेणी, ध्वनितत्व (Phoneme) या ध्वनिग्राम कहलाती है, क्योंकि इसके अंतर्गत 'क्' के उपर्युक्त अनेकों रूप आ जाते हैं।

ध्वनितत्व (Phoneme) *मिलती-जुलती अनेक भाषा-ध्वनियों (जैसे ऊपर की अनेक 'क्' भाषा-ध्वनियाँ) की प्रतीक वह एक ध्वनि है, जिसका खंड न हो सके।*

'राम' शब्द में र्+आ+म्+अ ये चार ध्वनितत्व हैं।

यों तो ध्वनितत्व अनेक हो सकते हैं, पर प्रत्येक भाषा अपनी आवश्यकतानुसार उनकी संख्या परिमित कर लेती है। वैज्ञानिक दृष्टि से उचित तो यह है कि एक ध्वनितत्व (Phoneme) के लिये एक लिपि-चिह्न हो पर ऐसा कम भाषाओं में है। स्पेन, बोहेमिया और पोलैन्ड की भाषाओं को छोड़ कर शेष सभी भाषाओं में कुछ ध्वनितत्वों (Phonemes) के लिये तो दो या तीन चिह्न हैं, (अंग्रेजी के Son और Sun के बीच के 'अ' ध्वनितत्व o और u दोनों से इन शब्दों में प्रकट किए गये हैं।

आज की हिन्दी में 'निराश' और 'कोष' के अंत में 'श' और 'ष' के रूप में आने वाला 'श' ध्वनितत्व एक है, पर 'श' और 'ष' दो चिह्नों का प्रयोग होता है।) और दूसरी ओर कुछ के लिये चिह्न हैं ही नहीं (अंग्रेजी में महाप्राण ध्वनितत्वों (जैसे थ् या ध्) के लिये चिह्न नहीं हैं। हिन्दी की बोलियों में कुछ नए ध्वनितत्व—ह्रस्व ए, ल्ह, न्ह, म्ह—हैं जिनके लिये अभी अब तक हमारे पास स्वतंत्र चिह्न नहीं हैं)।

ऊपर के विचारों को थोड़े में यों कहा जा सकता है कि संसार में अनेक प्रकार की ध्वनियाँ हैं, पर भाषा में केवल 'भाषा-ध्वनि' कार्य करती है। यह भाषा-ध्वनि भी भिन्न-भिन्न प्रकार से उच्चरित होती है, इसीलिये व्यावहारिक दृष्टि से मिलती-जुलती भाषा-ध्वनियों को एक मान कर ध्वनितत्व का नाम दिया गया है।

भाषा-विज्ञान के अंतर्गत ध्वनि रूप में इसी ध्वनितत्व* का विवेचन किया जाता है, अतः वैज्ञानिक दृष्टि से ध्वनितत्व शब्द का ही प्रयोग होना चाहिये। पर यह शब्द बड़ा है और अधिक प्रचलित नहीं है, अतः इसके स्थान पर ध्वनि का ही प्रयोग किया जाता है।

ध्वनियों का वर्गीकरण

घोष और अघोष

'हम कैसे बोलते हैं? इस पर विचार करते समय हम देख चुके हैं, कि, फेफड़े से बाहर निकलते समय श्वास ध्वनियंत्र में आने के पूर्व तक अविकारी रहता है। ध्वनि-यंत्र ही वह पहला स्थान जहाँ ध्वनि-वैभिन्य होता है। यहाँ दो बातें संभव हैं। या तो स्वर-तंत्रियाँ ढीली पड़ी रहती हैं और बिना किसी प्रकार की रुकावट के श्वास निकल जाता है। या फिर स्वरतंत्रियाँ कड़ी होकर रोकती हैं और श्वास को संघर्ष करके निकलना पड़ता है। पहले प्रकार के असंघर्षी श्वास से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, उसे अघोष कहते हैं, क्योंकि संघर्ष न होने से घोष नहीं होता। दूसरा संघर्षी श्वास संघर्ष के कारण घोष करता है, अतः उससे उत्पन्न ध्वनि को घोष कहते हैं।

ये घोष और अघोष, ध्वनियों के दो मूल वर्ग हैं। दोनों कान बन्द कर या गले पर हथेली रख कर जाने जा सकते हैं। लैरिंगोस्कोप तथा काइमोग्राफ† से इन दोनों के अंतर का स्पष्ट रूप से अध्ययन किया जा सकता है।

---

* 'ध्वनितत्व' शब्द Phoneme का हिंदी अनुवाद है। इसके लिये हिन्दी में ध्वनिमात्र, ध्वनि-श्रेणी, ध्वनि-ग्राम आदि और भी शब्द प्रचलित हैं। इसी प्रकार इस पुस्तक में Semanteme के लिये अर्थतत्व और Morpheme के लिये रूपतत्व का प्रयोग हुआ है। † दोनों यंत्रों का परिचय परिशिष्ट में है।

सभी स्वर घोष हैं, पर उनका फुसफुसाहट वाला रूप अघोष होता है। व्यंजनों में कुछ घोष हैं और कुछ अघोष।

स्पर्श

श्वास स्वर-यंत्र से घोष या अघोष होकर निकलता है, तो उसकी दो अवस्थाएँ संभव हैं। १. मुख-विवर में कुछ रुकावट हो, २. मुख-विवर में से स्वतंत्रता से निकल जाय। इन दोनों में से प्रथम की पुनः दो दशाएँ संभव हैं। १. रुकावट पूर्ण हो, २. रुकावट अधूरी हो।

पूर्ण रुकावट वाली ध्वनियों में जिह्वा की सहायता से श्वास को मुखविवर में तालु पर या ओठों की सहायता से ओठ पर पूर्ण रूप से रोक कर फिर झटके के साथ खोलते हैं, तब ध्वनि सुनाई पड़ती है। इन ध्वनियों का नाम स्पर्श इसलिये है कि श्वास को रोकने के लिये तालु का जिह्वा से या ओठ का ओठ से स्पर्श कराना पड़ता है।

स्पर्शों का वर्गीकरण

स्पर्श ध्वनियों के वर्गीकरण के संबन्ध में पहला प्रश्न यह उठता है कि स्पर्श तालु के किस भाग में हुआ। यों तो स्पर्श-बिन्दु अनेक हो सकते हैं, पर साधारणतया पाँच माने गये हैं। इन पाँचों का नाम तालु के उन भागों पर आधारित किया गया है जहाँ स्पर्श होता है। क्रम से एक-एक को ले सकते हैं। (उदाहरण के लिये यहाँ हिन्दी ध्वनियों को लिया जायगा।)

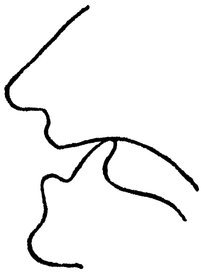
(१) कंठ्य (Velar)

कंठ्य स्पर्श ध्वनियों के उच्चारण में ध्वनियंत्र से आये घोष या अघोष श्वास को हम कंठ के पास रोक कर झटके से मुक्त करते हैं। ऐसा करने के लिए जिह्वा के पश्च भाग को उठाकर कोमल तालु से स्पर्श कराते हैं। इसीलिये इसे कंठ्य स्पर्श कहना वैज्ञानिक* नहीं कहा जा सकता। इसका उचित नाम 'कोमल तालव्य स्पर्श' होगा। हिन्दी कवर्ग इसी के अन्तर्गत आता है।



* प्राचीन काल में इसका उच्चारण कंठ से होता था, अतः अब तक यह इसी नाम से पुकारा जाता है।

(२) मूर्द्धन्य (Cerebial)



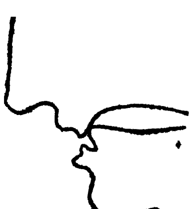
इसमें स्पर्श-बिन्दु और आगे चला आता है। तालु के बिचले भाग से जिसे मूर्द्धा कहते हैं, जिह्वा का अग्र भाग ऊपर उठ कर मिलता है। मिलते समय कुछ भाषाओं में जीभ की नोक उलट जाती है और कुछ में नहीं। हिन्दी भाषा का टवर्ग इसमें है, जिसके उच्चारण में जिह्वा उलट कर स्पर्श करती है।

(३) तालव्य (Palatal)

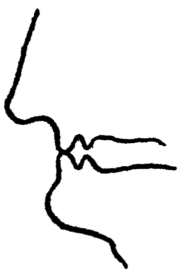


तालव्य-स्पर्श-ध्वनियों के उच्चारण में कठोर तालु से जीभ का अगला भाग ऊपर उठकर मिलता है। स्पर्श-बिन्दु के कठोर तालु पर होने से इसका नाम तालव्य है। हिन्दी का चवर्ग इसके अंतर्गत आता है, पर अब वह शुद्ध रूप में स्पर्श नहीं रह गया है। उसके उच्चारण में स्पर्श के साथ-साथ घर्षण भी होता है, अतः इसे विद्वान् तालव्य-स्पर्शों न कह कर तालव्य-संघर्ष-स्पर्शी कहने लगे हैं। पहले इसका स्पर्श-बिन्दु मूर्द्धा और कंठ के बीच में कहीं होता था, पर अब आगे चला आया है।

(४) दंत्य (Dental)



यहाँ स्पर्श-बिन्दु दाँतों के मूल के कुछ ऊपर चला आता है। जिह्वा की नोक ऊपर उठ कर दाँतों से मिलती है। हिन्दी का तवर्ग दंत्य है, पर उसकी न् ध्वनि वर्त्स्य हो गई है, अर्थात् न् के उच्चारण में जीभ की नोक ऊपरी मसूढ़े पर स्पर्श करती है।



(५) ओष्ठ्य (Labial)

इसमें जिह्वा का काम नहीं रहता। दोनों ओष्ठों से श्वास रोका जाता है। इसी कारण इसे ओष्ठ्य स्पर्श कहते हैं। हिन्दी का पवर्ग इसी में आता है।

अल्पप्राण,* महाप्राण और अनुनासिक

उपर्युक्त पाँच प्रकार के स्पर्शों के और भी भाग किए जाते हैं। हम आरम्भ में ही कह चुके हैं, कि स्पर्शों के उच्चारण के लिये आने वाला श्वास स्वर-तंत्रियों के प्रभाव से घोष या अघोष होकर आता है। अतः इन पाँचों में प्रत्येक के मोटे-मोटे दो भेद हो गए—१. घोष स्पर्श, २. अघोष स्पर्श। अघोष स्पर्श के भी प्राणत्व के आधार पर दो भेद होंगे। १. अघोष अल्पप्राण स्पर्श (जिसमें ह् ध्वनि न हो। जैसे क्, त्) २. अघोष महाप्राण स्पर्श (जिसमें ह् ध्वनि हो। जैसे ख् (क्+ह्), थ् (त्+ह्)। दूसरी ओर घोष स्पर्श के तीन भेद होते हैं। दो तो अघोष की भाँति प्राणत्व के आधार पर। १. घोष अल्पप्राण स्पर्श (ग्, द्, आदि), २. घोष महाप्राण स्पर्श (घ (ग्+ह्), ध् (द्+ह्) आदि)। तीसरा भेद अनुनासिक है (ङ् ण् आदि), जिसे घोष अनुनासिक कह सकते हैं। इनके उच्चारण में कौवा बीच में रहता है, जिसके फलस्वरूप थोड़ा-थोड़ा श्वास मुँह और नाक दोनों ही से निकलता है। इन पाँच अनुनासिकों के अतिरिक्त उपर्युक्त २० स्पर्शों के उच्चारण में कौवा नासिका-विवर को बन्द किये रहता है, अतः श्वास केवल मुँह से निकलता है।

इस प्रकार ऊपर के कंठ्य, मूर्द्धन्य, तालव्य, दंत्य और ओष्ठ्य इन पाँचों स्पर्श वर्गों में से प्रत्येक वर्ग के निम्न पाँच भेद हुए :—

१. अघोष अल्पप्राण (क् त् प् आदि)

२. अघोष महाप्राण (ख् थ् फ् आदि)

३. घोष अल्पप्राण (ग् द् ब् आदि)

४. घोष महाप्राण (घ् ध् भ् आदि)

५. अनुनासिक या घोष अल्पप्राण अनुनासिक (ङ् न् म् आदि)

* जिन ध्वनियों के उच्चारण में श्वास कम परिमाण में निकलता है उन्हें अल्पप्राण और जिनके उच्चारण में अधिक परिमाण में निकलता है उन्हें महाप्राण कहते हैं।

पार्श्विक, लुंठित और संघर्षी

ऊपर हम उन ध्वनियों पर विचार कर रहे थे, जिनके उच्चारण में श्वास को बिल्कुल रोक कर छोड़ा जाता है। यहाँ उस दूसरे वर्ग पर विचार किया जायेगा, जिसके उच्चारण में रुकावट पूर्ण नहीं रहती।

पार्श्विक ध्वनि का इस वर्ग में प्रथम स्थान है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक को उपर्युक्त वर्त्स्य अनुनासिक ध्वनि न् की भाँति ऊपर के मसूढ़े से मिलाते तो हैं, पर दोनों ओर रास्ता खुला रहता है, जिसके कारण दोनों ओर से श्वास निकलता रहता है। हिन्दी की 'ल्' ध्वनि इसके उदाहरणस्वरूप ली जा सकती है। अंग्रेजी के 'ल्' ध्वनि की भी प्रकृति लगभग यही है।

लुंठित ध्वनि में भी जीभ की नोक मसूढ़े पर जाती है, पर वहाँ दो-तीन बार जल्दी-जल्दी श्वास को रोक कर छोड़ देती है। हिन्दी या अंग्रेजी की र् ध्वनि इसके अंतर्गत है।

इस श्रेणी का तीसरा विभाग संघर्षी ध्वनियों का है। इसमें मुख-द्वार को इतना सँकरा कर देते हैं, कि, श्वास संघर्ष करके या रगड़ खाकर निकलता है। संघर्षी के अंतर्गत प्रथम श्रेणी ऊष्मों की है। हिन्दी के स् श् (ष्) आदि ऊष्म हैं। इनके उच्चारण में जीभ मसूढ़े या कठोर तालु के पास रास्ता सँकरा करती है। ऊष्म ध्वनियों की एक विचित्र विशेषता यह है कि बिना स्वर के भी इनका उच्चारण चाहे जितनी भी देर तक किया जा सकता है। संस्कृत में स् श् ष् तीन ऊष्म हैं, जो अपने संघर्ष-स्थान के कारण दन्त्य, तालव्य और मूर्द्धन्य कहलाते हैं। आज हिन्दी में इनके उच्चारण में पर्याप्त परिवर्तन आ गया है। दन्त्य वर्त्स्य हो गया है और मूर्द्धन्य तालव्य हो गया है। इस प्रकार हिंदी में स, और श् का ही उच्चारण होता है, ष् का नहीं।

अरबी की फ़् थ़् द़् आदि, फारसी की ख़् ग़् आदि तथा अंग्रेजी की फ़् व़् भ़् आदि ध्वनियाँ भी संघर्षी हैं।

ह् ध्वनि भी संघर्षी है, पर इसका संघर्ष मुख-द्वार में न होकर स्वर-यंत्र मुख में होता है।

अर्द्धस्वर

कुछ ध्वनियाँ ऐसी हैं, जिनके उच्चारण में मुखद्वार सँकरा तो करते हैं, पर, इतना अधिक नहीं कि रगड़ हो। इस प्रकार ये ध्वनियाँ अर्द्धस्वर या अर्द्धव्यंजन कही जा

सकती हैं, क्योंकि ये दोनों के बीच में पड़ती हैं। इसमें य् और व् दो ध्वनियाँ हैं। य् में मुख-द्वार तालु के पास जीभ के ऊपरी भाग से सँकरा किया जाता है। व् में कोमल तालु और ओष्ठ दोनों के पास पथ सँकरा किया जाता है। अमूमन इन्हें कहा तो जाता है अर्द्धस्वर पर इनकी गणना व्यंजनों में होती है।

यहाँ तक हम जितनी ध्वनियों पर विचार कर चुके, व्यंजन कही जाती हैं। व्यंजन की पुरानी परिभाषा यह थी कि जिसका उच्चारण बिना स्वर की सहायता के न हो सके। पर, यह नितान्त अशुद्ध है। हिन्दी के अधिकतर शब्दों के अन्त के अकारान्त व्यंजन बिना स्वर के उच्चरित होते हैं। जैसे राम् दाल् आदि। इसकी दूसरी परिभाषा यह हो सकती है कि जिसका उच्चारण देर तक न हो सके, (देर तक किसी व्यंजन का उच्चारण करने से स्वर का उच्चारण सुनाई पड़ने लगता है।) पर ऊपर हम कह चुके हैं कि ऊष्मों का उच्चारण देर तक बिना स्वरों की सहायता के किया जा सकता है, अतः यह परिभाषा भी ठीक नहीं।

व्यंजन-ध्वनियों के अध्ययन में हम देख चुके हैं कि उनके उच्चारण में श्वास के बाहर आने में कुछ न कुछ व्याघात अवश्य उपस्थित होता है। स्पर्श में तो व्याघात पूर्ण होता है पर शेष में अधूरा। अतः उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि

'व्यञ्जन वह अघोष या घोष ध्वनि है, जिसके निकलते समय मुख-विवर में पूर्ण या अपूर्ण बाधा उपस्थित हो।'

स्वर

स्वर-तन्त्रियों से वायु के चलने पर बीच में जिन ध्वनियों के उच्चारण में बाधा होती थी, उन पर विचार करने के उपरांत ऐसी ध्वनियाँ बँच जाती हैं, जिनके उच्चारण में मुख-विवर में बाधा नहीं उपस्थित की जाती। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वरतन्त्री से अघोष और घोष दोनों ध्वनियाँ निकलती हैं। *मुख-विवर से अबाध रूप से निकल जाने वाली अघोष ध्वनि को स्वर कहते हैं।* फुसफुसाहट वाले स्वरों का महत्वपूर्ण स्थान नहीं है, अतः यहाँ केवल स्वरों पर विचार किया जायेगा।

प्रश्न यह उठता है कि स्वरतन्त्री से निसृत घोष ध्वनि तो एक ही प्रकार की होती होगी, आगे चलने पर मुख-विवर में कोई रुकावट होती नहीं तो फिर भिन्न-भिन्न स्वरों की भिन्न-भिन्न ध्वनि कैसे बनती है। साथ ही अपनी भिन्नता के आधार पर इनके कितने वर्ग हो सकते हैं। यहाँ वर्गीकरण में किसी विशेष भाषा के स्वरों पर विचार न करके प्रधान स्वर (Cardinal Vowels) पर विचार किया जावेगा।

स्वरों का वर्गीकरण तीन दृष्टियों से किया जाता है :—

(१) जीभ का कौन सा भाग ऊपर उठता है ?

स्वरों को भिन्नता प्रदान करने में जीभ का बहुत बड़ा हाथ है। इस दृष्टिकोण से जीभ को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। १. अग्र, २. मध्य और ३. पश्च। जिन स्वरों के उच्चारण में जीभ का अग्र भाग ऊपर उठता है उन्हें 'अग्र-स्वर' कहते हैं। इसी प्रकार पश्च भाग उठाकर बोले जाने वाले स्वरों को 'पश्च-स्वर' कहते हैं। 'मध्य स्वर' में कोई भाग नहीं उठता अपितु, बीच का भाग कुछ धँस जाता है।*



इस प्रकार जीभ के विशिष्ट भागों के उठने के आधार पर स्वरों के अग्रस्वर, पश्चस्वर और मध्यस्वर, ये तीन वर्ग बने।

(२) जीभ का ऊपर उठने वाला भाग कितना उठता है ?

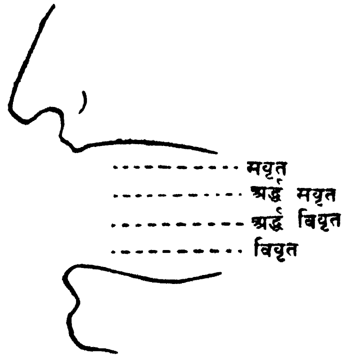
ऊपर के तीन वर्गों में से प्रत्येक के उपवर्ग इस आधार पर हो सकते है कि जीभ का उठने वाला भाग कितना उठता है।

जब जीभ कम से कम उठती है और इस कारण मुख-विवर अधिक विवृत रहता है तो स्वर को 'विवृत स्वर' कहते हैं।

जब जीभ अधिक से अधिक ऊपर उठती है पर इतना अधिक नहीं कि श्वास को बाहर निकलने में संघर्ष करना पड़े तो मुख-विवर बहुत पतला या संवृत हो जाता है और उस समय के उच्चरित स्वर को 'संवृत स्वर' कहते हैं। स्वरों के उच्चारण की ये दोनों दो अंतिम सीमाएँ हैं। बीच में अर्द्धसंवृत और अर्द्धविवृत दो और दशाएँ हो सकती हैं।

---

* बीच में धँसने का कारण यह है कि मध्यस्वर के उच्चारण में अग्र और पश्च दोनों ही भाग कुछ ऊपर उठ जाते हैं।



इस प्रकार संवृत, अर्द्धसंवृत, अर्द्धविवृत और विवृत ये चार उपवर्ग बने।

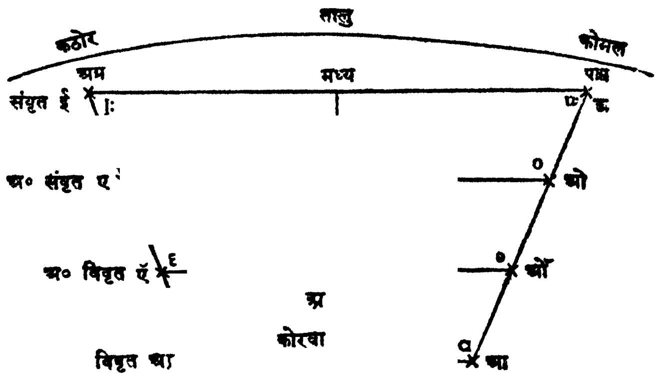
(३) ओष्ठों की बनावट कैसी है ?

यह दृष्टिकोण अपना बहुत महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखता। विभिन्न स्वरों के उच्चारण में ओष्ठों की बनावट परिवर्तित होती रहती है। जिनके कहने में ओष्ठ गोल हो जाते हैं उनको वृत्तमुखी (Rounded) और जिनमें गोल नहीं होते उनको अवृत्तमुखी (Unrounded) कहते हैं। ऊ तथा ओ आदि वृत्तमुखी और इ तथा ए आदि अवृत्तमुखी हैं। इस प्रकार इस आधार पर स्वरों के वृत्तमुखी और अवृतमुखी दो उपवर्ग हुए।*

प्रधान स्वर

ध्वनिशास्त्र के प्रसिद्ध मनीषी प्रो० डैनियल जोन्स ने इन्हीं आधारों पर प्रधान स्वरों (Cardinal Vowels) को निश्चित किया है। इन्हें कुछ लोग मान स्वर भी कहते हैं। इनका चित्र इस प्रकार है--

* इन तीन के अतिरिक्त स्वरों के कुछ अन्य आधारों पर और भी वर्ग बनाए जा सकते हैं। जैसे (क) फुसफुसाहट के आधार पर—१. बिना फुसफुसाहट वाले स्वर, २. फुसफुसाहट वाले। (ख) अनुनासिकता के आधार पर—१. अनुनासिक स्वर जैसे अँ, आँ, ऊँ आदि, २. निरनुनासिक स्वर जैसे अ, आ, ऊ आदि। (ग) ह्रस्वत्व और दीर्घत्व के आधार पर—१. ह्रस्व स्वर जैसे अ, इ। २. दीर्घ स्वर जैसे आ, ई ऊ आदि। (घ) मौलिकता और संयुक्तता के आधार पर—१. मूल स्वर जैसे अ, आ आदि। २. संयुक्त स्वर जैसे ऐ औ आदि।



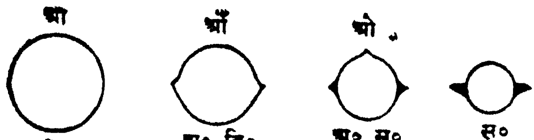
मध्य को छोड़कर इनकी संख्या आठ है। ये किसी विशेष भाषा में नहीं पाये जाते। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से सभी भाषाओं के स्वरों का स्थान निश्चित करने में मान के रूप में इनसे सहायता मिलती है। स्वर-वर्गीकरण के लिए दिए गए ऊपर के प्रथम दो सिद्धान्तों (१. जीभ का कौन सा भाग उठता है। २. वह कितना उठता है।) पर ही ये आधारित हैं।

प्रधान स्वरों में ओठों का स्वरूप

इस संबंध में जीभ तथा तालु की अवस्था पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं। यहाँ ओठों पर विचार किया जायेगा। अग्र स्वरों में विवृत से संवृत की ओर हम ज्यों-ज्यों



बढ़ते हैं, ओठ अधिकाधिक फैलते जाते हैं। इनमें प्रथम तो वृत्तमुखी हैं और शेष



अवृत्तमुखी। दूसरी ओर पश्चस्वरों में विवृत से संवृत की ओर जाने में वे अधिकाधिक गोल होते जाते हैं, अतः इनमें लगभग सभी वृत्तमुखी हैं।

वर्गीकरण पर एक दृष्टि

उपर्युक्त अध्ययन को सार रूप में कहा जा सकता है कि ध्वनियों के वर्गीकरण के मुख्य सिद्धान्त निम्न हैं—

१. स्वर-तन्त्रीय प्रयत्न—इसके अनुसार ध्वनियों के घोष और अघोष दो वर्ग हो जाते हैं। हिन्दी ध्वनियों में सभी स्वर, पाँच स्पर्श वर्गों के अंतिम ३ व्यंजन (ग् घ् ङ्, ज् झ् ञ्, ड् ढ् ण्, द् ध् न्, ब् भ् म्) तथा ह् य् र् ल् व् घोष हैं*। शेष सभी (फुसफुसाहट वाले स्वर, क् ख्, च् छ्, ट् ठ्, त् थ्, प् फ्, श् और विसर्ग) अघोष हैं।

२. आभ्यन्तर प्रयत्न (degree of openness)—इसके अनुसार ध्वनियों के स्वर और व्यंजन दो वर्ग हो जाते हैं। इसके बाद स्वर के अग्र, मध्य, पश्च; तथा संवृत, अर्द्धसंवृत, अर्द्धविवृत और विवृत आदि भाग हो जाते हैं। दूसरी ओर व्यंजन के स्पर्श, स्पर्श-संघर्षी, अनुनासिक, पार्श्विक, लुंठित, उत्क्षिप्त (जिसमें मुख-द्वार को जीभ की नोक उलट कर झटके के साथ कुछ दूर तक छूकर खोलते हैं। जैसे हिन्दी के ड़् ढ़्) और संघर्षी आदि भेद होते हैं।

३. उच्चारण स्थान—इस आधार पर ध्वनियों के स्वर-यंत्रमुखी, जिह्वामूलीय (फारसी के ख़ ग़ आदि, जिनका उच्चारण जिह्वामूल और कोमल तालु के बीच में हवा को संघर्ष के साथ निकाल कर किया जाता है।), कंठ्य, मूर्द्धन्य, तालव्य, वर्त्स्य, दंत्य, दंत्योष्ठ्य (फारसी के फ़ आदि) और द्वयोष्ठ्य आदि भेद होते हैं।

४. प्राणत्व के आधार पर स्पर्श और स्पर्श संघर्षी के अल्पप्राण और महाप्राण दो भेद होते हैं।

५. लगभग सभी स्वरों तथा व्यंजनों का अनुनासिक रूप भी हो सकता है। साधारणतया अननुनासिक व्यंजनों तथा स्वरों के उच्चारण के समय कौआ सीधा खड़ा होकर नासिका-विवर की ओर श्वास नहीं जाने देता, अतः पूरा श्वास मुँह से आता है। स्वरों तथा व्यंजनों को अनुनासिक रूप देने के लिए कौआ इस प्रकार बीच में आ जाता है कि थोड़ा श्वास नासिका से तथा थोड़ा मुख से निकलता है। इस प्रकार उनके उच्चारण में अनुनासिकता आ जाती है।

---

* बहुत सूक्ष्मता से विचार करने पर घोष व्यंजनों को दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक तो पूर्ण घोष (जिसमें व्यंजन का उच्चारण जब तक होता है घोष जारी रहता है) और दूसरा अपूर्ण घोष (इसमें घोष बराबर नहीं जारी रहता)। हिंदी 'ब' पूर्ण घोष तथा अंग्रेजी B अपूर्ण घोष है।

क्लिक (Clicks) ध्वनियाँ

क्लिक ध्वनियाँ क्या हैं ?

अब तक हम उन ध्वनियों के वर्गीकरण पर विचार कर रहे थे, जिनका उच्चारण श्वास को भीतर से बाहर निकाल कर किया जाता है। पर इसके उलटे संसार में कुछ ऐसी भी भाषाएँ हैं, जिनमें श्वास को भीतर खींचते समय उच्चारण किया जाता है। ऐसी ध्वनियाँ क्लिक कहलाती हैं। ये ध्वनियाँ अफ्रीका की कई भाषाओं में कुछ-कुछ पाई जाती हैं, पर बुशमैन भाषा परिवार (दक्षिणी अफ्रीका) की भाषाओं में तो इनका प्राधान्य है। एक पादरी ने, जिसे इनके अध्ययन का अवसर प्राप्त हुआ इनके विषय में लिखा है कि ऐसी ध्वनियों का प्रयोग करने वाले बोलते समय भूँकते हुए ज्ञात होते हैं।

भारोपीय भाषाओं में क्लिक ध्वनियाँ

यह सुनकर हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये कि भारोपीय परिवार की भाषाओं में भी कुछ क्लिक ध्वनियाँ हैं। कुछ विद्वानों का तो ऐसा मत है कि प्रागैतिहासिक काल में भारोपीय कुल में और भी अधिक क्लिक ध्वनियाँ थीं। धीरे-धीरे उनका लोप हो गया।

आज एक ऐसी भी ध्वनि है जो प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक जाति में लगभग एक ही प्रकार से उच्चरित की जाती है और उसका अर्थ भी सर्वत्र एक ही है। यह ध्वनि चुम्बन की है, जिसका अर्थ प्यार होता है। यह भी एक प्रकार की क्लिक ध्वनि है। दुःख है कि मानव की इस सर्वमान्य एवं सर्वप्रिय ध्वनि का भाषा में स्थान नहीं है, और न तो इसके लिए कोई लिपि-चिन्ह ही है।

भारोपीय कुल की अनेक भाषाओं में घृणा, संतोष और दुःख आदि के प्रदर्शन के लिये क्लिक ध्वनियों का अब भी प्रयोग होता है, यद्यपि भाषा में उसको स्थान नहीं दिया गया है।

आधुनिक ब्रिटन में 'हम प्यार करते हैं' के लिये एक शब्द केरोम (Karom) का केरोम्प (Karomp) हो गया है। वेन्द्रिय का कहना है कि यह पी (p) का बढ़ना क्लिक ध्वनि के कारण है। फ्रान्सीसी भाषा में संदेह प्रकट करने के लिये टी (t) की एक प्रकार की क्लिक ध्वनि प्रचलित है। टी (t) की ही वर्त्स्य क्लिक ध्वनि का प्रयोग वहाँ आश्चर्य प्रकट करने के लिये होता है।

हिन्दी में भी क्लिक ध्वनियाँ कम नहीं हैं। काँटा गड़ जाने पर या साधारण

चीड़-फाड़ में जिसमें बेहोश नहीं किया जाता हम 'सी' ध्वनि द्वारा अपना दुःख प्रकट करते हैं। किसी की दर्दनाक कहानी सुनकर हम करुणापूरित होकर सहसा 'च् च् च् च्' कह पड़ते हैं। इक्का वाला घोड़े को टिक्-टिक् ध्वनि उच्चरित करके आगे बढ़ाता है। जब कोई वस्तु हमें पसंद नहीं आती तो अनमनस्कता के साथ अपना भाव प्रकट करने के लिए एक प्रकार की 'टक' या 'टिक' ध्वनि करते हैं। ये सभी ध्वनियाँ क्लिक हैं।

क्लिक ध्वनियों का वर्गीकरण

कुछ लोगों का कहना है कि सभी ध्वनियों का क्लिक उच्चारण हो सकता है। दो एक ध्वनियों को छोड़ कर यह बात ठीक भी है। स्पर्श ध्वनियों के क्लिक उच्चारण में स्पर्श बिन्दु तो साधारण ध्वनि का ही रहेगा अंतर केवल इतना पड़ेगा कि यों भीतर से आती हुई हवा रुकती है और फिर उसका स्फोट होता है पर क्लिक स्पर्श में बाहर से जाने वाली हवा स्पर्श बिन्दु पर रुकेगी और फिर उसका स्फोट भीतर की ओर होगा। इसी कारण क्लिक स्पर्शों का उच्चारण साधारण स्पर्शों की भाँति इच्छानुसार ऊँचे स्वर से नहीं किया जा सकता। उनकी लहरें भीतर बनेगी न कि बाहर। अन्य ध्वनियों को क्लिक बनाने में भी कुछ यही कठिनाई है।

बुशमैन परिवार की भाषाओं में क्लिक ध्वनियों का बाहुल्य है, अतः उनका वर्गीकरण भी किया है। ये छः हैं, जिसमें से १. मूर्द्धन्य, २. तालव्य, ३. पार्श्विक, ४. दन्त्य, तथा ५, ओष्ठ्य ही प्रधान हैं, और इनके लिये क्रम से !, ‡, ||, |, तथा ⊙ ध्वनि-चिह्नों का प्रयोग होता है।

संयुक्त ध्वनियाँ

संयुक्त ध्वनियाँ और ध्वनि-संयोग

ऊपर हम लोग ध्वनियों के वर्गीकरण पर विचार कर चुके हैं। वर्गीकृत ध्वनियों में से जब एक ध्वनि दूसरे से मिलती है तो उसे संयुक्त ध्वनि कहते हैं। ध्वनि-संयोग इससे कुछ भिन्न है। संयुक्त ध्वनि में दो ध्वनियाँ एक में मिलती है, जैसे-जैसे पक्का (क्+क्)। पर ध्वनि-संयोग में ध्वनियाँ केवल पास-पास आ जाती हैं, जैसे आदमी (आ और द् पास-पास हैं)।

संयुक्त ध्वनियाँ और ध्वनि-संयोग इन दोनों ही पर यहाँ कुछ वर्गों में बाँटकर विस्तार से विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

व्यंजन और व्यंजन

व्यंजन-संयोग में उच्चारण के संबंध में कोई विशेष बात नहीं कहनी है, क्योंकि दोनों व्यंजनों का उच्चारण बीच के स्वर के कारण अलग किया जाता है*। जैसे कमल में क् और म् बीच के अ के कारण अलग-अलग हैं। संयुक्त व्यंजन की समस्या अवश्य विचारणीय है। इसके मोटे रूप से दो भेद हो सकते हैं। १. एक ही व्यंजन का संयुक्त होना, जैसे पक्का। ऐसी दशा में दोनों 'क्' का उच्चारण अलग-अलग नहीं होता, (व्यंजनों के उच्चारण में साधारणतया तीन स्पष्ट अवस्थाएँ होती हैं—(क) श्वास का स्वरयंत्र से आना, (ख) स्पर्श-बिन्दु पर आकर रुकना या अस्पर्श ध्वनियों में मुख-विवर के विकार पैदा करने वाले स्थान पर विकृत होना, तथा (ग) स्पर्श ध्वनियों में स्फोट या श्वास का स्पर्श बिन्दु से आगे बढ़ना, तथा अन्य ध्वनियों में विकारी स्थल पार कर जाना।) केवल उसके उच्चारण की तीन अवस्थाओं में मध्य या बीच की अवस्था कुछ अधिक हो जाती है ('पक्का' में संयुक्त व्यंजन 'क्क' के उच्चारण में स्वरयंत्र से उतना ही और उसी प्रकार श्वास चलेगा जैसे एक क् के उच्चारण में। तीसरी अर्थात् स्फोट की अवस्था भी एक क् की भाँति ही होगी। पर दूसरी अवस्था की अवधि कुछ बढ़ जायेगी। अर्थात् श्वास को स्पर्श-बिन्दु पर अपेक्षाकृत अधिक देर तक रुकना पड़ेगा।)। अस्पर्श व्यंजनों के संयोग में भी इसी प्रकार केवल दूसरी अवस्था ही कुछ लम्बी हो जाती है।

दो भिन्न व्यंजनों का भी संयोग होता है, जैसे चक्र। यहाँ उच्चारण में संयुक्त व्यंजन में प्रथम व्यंजन की प्रथम अवस्था तो साधारणतः पूरे व्यंजन की भाँति होती है और दूसरी अवस्था भी लगभग स्वतंत्र और पूर्ण होती है, पर तीसरी अवस्था दूसरे व्यंजन में मिल जाती है। यहाँ क् के उच्चारण की तीसरी अवस्था र् में मिल गई है। र् के उच्चारण की तीनों अवस्थाएँ पूर्ण होती हैं।

भिन्न व्यंजनों में सभी का सयोग नहीं होता। सघोष और अघोष का संयुक्त होना कम देखा जाता है अगर कभी ऐसी दशा आती भी है तो उनमें से कोई एक परिवर्तित हो जाता है। दो महाप्राण ध्वनियों का संयोग भी बहुत कम होता है।

दो भिन्न ध्वनियों के संयोग से यदि कुछ ऐसा हुआ कि उच्चारण में असुविधा पड़ रही है तो या तो एक का उच्चारण ही नहीं होता, या बीच में या पहले कुछ

* सत्य यह है कि व्यंजन-संयोग होता ही नहीं। दो व्यंजन पास-पास आते हैं तो संयुक्त व्यंजन के ही रूप में।

और आ जाता है। अंग्रेजी के टाक (Talk) नो (know) का पुराना उच्चारण 'टाल्क' और 'क्नो' था। इसी कठिनाई से लोग 'टाक' और 'नो' कहने लगे। प्राकृत में इसी कारण समीकरण की प्रवृत्ति का बाहुल्य पाया जाता है।

व्यंजन और स्वर

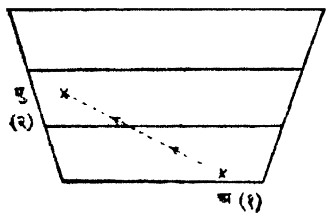
इनका संयोग तो ऊपर की भाँति साधारण है। इनके उच्चारण आदि के संबंध में कोई असुविधा नहीं होती। जैसे 'आय' में 'आ' और 'य' का स्वतन्त्र उच्चारण है। हाँ इनके संयुक्त होने के विषय में कुछ बातें अवश्य विचारणीय हैं। किसी व्यंजन के पूर्व स्वर नहीं जोड़ा जा सकता। यदि व्यंजन के पूर्व स्वर रहेगा तो 'आय' की भाँति अलग-अलग रहेगा। व्यंजन के बाद में आने वाला स्वर ही जोड़ा जाता है। जैसे 'गया' में अंत में 'य्' में 'आ' जोड़ा गया है। उच्चारण के संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि व्यंजन और स्वर के संयुक्त होने में व्यंजन की पहली और दूसरी अवस्थाएं स्पष्टतः स्वतन्त्र रहती है, पर, तीसरी अवस्था स्वर में मिलकर स्वर का रूप धारण कर लेती है। 'का' और 'की' के 'क्' की प्रथम और द्वितीय अवस्थाएँ एक सी रहेंगी पर 'तीसरी' (स्फोटावस्था) क्रम से 'आ' और 'ई' से मिलकर तदनुरूप हो जायगी।

स्वर और स्वर

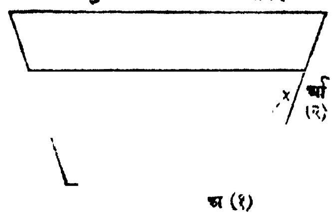
स्वरसंयोग (Vowel Combination) औरों की भाँति साधारण है। हिन्दी में तीन-तीन स्वरों तक के संयोग के उदाहरण मिलते हैं—आइएगा, पिआऊ। संयुक्त स्वर (Diphthong) में दो स्वर मिल जाते हैं। इनके उच्चारण में मुख-अवयव को प्रथम स्वर के उच्चारण स्थान से दूसरे के उच्चारण स्थान की ओर शीघ्रता से ले जाते हैं। इस प्रकार शीघ्रता के साथ उच्चारण दोनों का होता है, पर, जैसा कि टकर ने लिखा है दोनों ही वहाँ मिलकर एक तीसरा रूप धारण कर लेते हैं। हिन्दी में अ और ए का शीघ्रता से इस प्रकार उच्चारण करने से 'ऐ' की सृष्टि होती है। इसी प्रकार अ और ओ से औ हो जाता है।

ऐसा भी देखा जाता है कि संयुक्त स्वर कभी-कभी कुछ समय व्यतीत होने पर मूल स्वर हो जाते हैं। 'ए' और 'ओ' पहले संयुक्तस्वर थे पर आज हिंदी में ये मूल स्वर हो गए हैं।

संयुक्त स्वर 'ऐ' का उच्चारण



संयुक्त स्वर 'औ' का उच्चारण



ध्वनियों के गुण

(१) मात्रा-काल

किसी ध्वनि विशेष के उच्चारण में काल या समय की जो मात्रा लगती है उसे उस ध्वनि का मात्रा-काल कहते हैं। प्राचीन वैयाकरण केवल स्वर का ही मात्रा-काल मानते थे। इसका कारण कदाचित् यह था कि उनका विश्वास था कि बिना स्वर की सहायता से व्यंजन का उच्चारण नहीं हो सकता। और जब उसका अलग उच्चारण ही नहीं हो सकता, तो उसके मात्रा-काल का प्रश्न ही नहीं उठता। पर अब, जब यह सिद्ध हो चुका है कि, स्वर से अलग व्यंजन का भी उच्चारण हो सकता है, और जो ध्वनि उच्चरित होगी उसमें कुछ न कुछ समय अवश्य लगेगा, अतः स्वर और व्यंजन दोनों ही के मात्रा-काल होते हैं।

मात्रा-काल की माप

संस्कृत व्याकरणों में तीन प्रकार के मात्रा-कालों का उल्लेख मिलता है। ह्रस्व दीर्घ और प्लुत। अ, इ, उ आदि की मात्राएँ ह्रस्व समझी जाती हैं और लोगों का यह अनुमान है कि एक बार चिटकी बजाने में जितना समय लगता है उतना ही समय ह्रस्व के उच्चारण में लगना चाहिए। आ, ई, ऊ आदि की मात्राएँ दीर्घ समझी जाती हैं और इनमें दो बार चिटकी बजाने में जितना समय लगा समझा जाता है। इस प्रकार दीर्घ ह्रस्व का दूना समझा जाता है, यद्यपि ऐसी बात है नहीं। दीर्घ में ह्रस्व से कुछ ही अधिक समय लगता है। प्लुत मात्रा ह्रस्व से तीन गुना समय लगने वाली समझी जाती है और तीन बार चुटकी बजाने से इसकी माप होती है। संस्कृत में साधारणतः तो इसका प्रयोग नहीं होता था, पर जहाँ होता था वहाँ ध्वनि या स्वर विशेष के आगे ३ लिखकर इसे प्रकट करते थे। आज भी कुछ लोग 'ओ३म्' लिखते हैं, जिसमें प्लुत की पुरानी परंपरा अक्षुण्ण है। आज की जन भाषाओं में जब दूर से

किसी आदमी को पुकारना हो तो अब भी प्लुत ही नहीं बल्कि ऐसी मात्राओं का भी प्रयोग चलता है, जिनमें स्वर उतनी देर तक एक ही प्रकार से खींचा जाता है जब तक श्वास रहे। भोजपुरी में यदि भोला नाम के किसी आदमी को दूर से बुलाना हुआ और चुटकी उसकी माप रखी जाय तो लिखने में 'भोला १०' तो कम से कम लिखना ही पड़ेगा। आजकल नाटकों में इसे 'भोला SSSSSS' रूप में प्रकट किया जाता है। इस प्रकार मात्रा-काल के अनेक भेद हो सकते हैं, पर भाषा में साधारणतः अर्द्धह्रस्व, ह्रस्व, और दीर्घ का प्रयोग होता है।

व्यंजनों में मात्रा-काल

ऊष्म व्यंजनों (श्, ष्, तथा स्) के उच्चारण में छोटा से छोटा और बड़ा से बड़ा मात्रा काल लग सकता है, क्योंकि बिना किसी स्वर की सहायता के भी इनका उच्चारण बहुत स्पष्ट रूप से देर तक किया जा सकता है। शेष व्यंजन (क् त् प् आदि) बिना किसी स्वर के अर्द्धह्रस्व ही रहते हैं, क्योंकि ह्रस्व और दीर्घ मात्रा काल तो साथ के स्वर के उच्चारण में लगता है। पर इसका आशय यह नहीं कि बिना स्वर के ये शेष व्यंजन अर्द्धह्रस्व से ऊपर उठ ही नहीं सकते। 'परिपक्व' में क और व मिलकर ह्रस्व हो गए हैं। आशय यह है कि दो व्यंजन मिलकर ह्रस्व हो सकते हैं। तीन व्यंजन मिलकर दीर्घ भी हो सकते हैं, जैसे ज्योत्स्ना में त्+स्+न्।

स्वरों में मात्रा-काल

स्वरों के ह्रस्व और दीर्घ दो भेद आसानी से किए जा सकते हैं, जिसके अनुसार अ, इ, उ, ह्रस्व हैं और आ, ई, ऊ, ए, ओ, दीर्घ। संयुक्त स्वर ऐ और औ भी दीर्घ माने जाते हैं। अर्द्धह्रस्व का उदाहरण अधिक नहीं मिलता। 'स्कूल' 'स्काउट' या 'स्टेशन' के उच्चारण करने में सुविधा के लिए आधे स के पूर्व 'इ' का हलका उच्चारण किया जाता है। मात्रा-काल की दृष्टि से यह ध्वनि अर्द्धह्रस्व या अर्द्ध मात्रा वाली कही जा सकती है। अंग्रेज़ी शब्द गोल्डस्मिथ का उच्चारण सौकर्य के लिए गोल्डिस्मिथ किया जाता है। यहाँ ल्ड की 'इ' अर्द्धह्रस्व है। प्लुत ध्वनि पर हम विचार कर चुके हैं। कोई भी स्वर खींचकर प्लुत बनाया जा सकता है।

मात्रा-काल का अंकन

लिखते समय मात्रा-काल व्यक्त करने के लिए कोई सर्वमान्य चिह्न नहीं है। कविता में ह्रस्व के लिए '।' तथा दीर्घ के लिए 'S' का प्रयोग होता है। अंतर्राष्ट्रीय लिपि चिन्ह में ह्रस्व के आगे एक बिन्दु (·) और दीर्घ के आगे दो बिंदु (:) देते हैं।

हिन्दी में तो स्वरों में स्वयं इस विषय में काफी स्पष्टता है। अ का दीर्घ आ, इ का दीर्घ ई, उ का दीर्घ ऊ आदि, अतः यहाँ किसी विशिष्ट प्रकार के अंकन की कोई खास आवश्यकता नहीं है। हाँ, प्लुत आदि में आवश्यकता होती है तो ३ (जैसे ओ३म्) या 'ऽ' से प्रकट कर लेते हैं।

(२) स्वराघात (Accent)

बोलने में ऐसा देखा जाता है कि वाक्य के किसी एक शब्द पर या शब्द के किसी एक भाग पर हम शेष से अधिक जोर या बल देते हैं। ऐसा करने से अर्थ में परिवर्तन भी कभी-कभी देखा जाता है। इस ज़ोर या आघात को स्वराघात कहते हैं। हाँ के उच्चारण करने में विशेष प्रकार से ज़ोर देने पर स्वीकृत (हाँ, जा सकते हो), आश्चर्य (हाँ ! यह क्या कर डाला ?), और निषेधात्मकता (हाँ, मत बोलो) का बोध होता है। 'तुम घर अभी जावोगे' का साधारण अर्थ तो सीधा है पर 'तुम' पर ज़ोर देने से अर्थ होगा कि तुम्हीं जाओगे कोई दूसरा नहीं। 'घर' पर ज़ोर देने पर अर्थ होगा कि तुम्हें घर ही जाना पड़ेगा कहीं और नहीं। इसी प्रकार 'अभी' या 'जाओगे' पर ज़ोर देने पर भी अर्थ में समय या जाने के संबंध में कुछ विशिष्टता आ जायगी।

स्वराघात प्रधानतः दो तरह का होता है। (क) संगीतात्मक या गीतात्मक, और (ख) बलात्मक।

(क) संगीतात्मक स्वराघात (pitch accent)

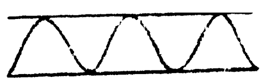
इसमें संगीत के सरगम की भाँति सुर ऊँचा या नीचा होता है। इसका सीधा संबंध स्वर-तन्त्रियों से है। जब स्वर-तन्त्रियाँ ढीली रहेंगी तो संगीतात्मक स्वराघात नहीं हो सकता। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे तार के पूर्णतः ढीले रहने पर वीणा आदि बाजे व्यर्थ हो जाते हैं। इससे एक बात यह भी स्पष्ट है कि संगीतात्मक स्वराघात केवल घोष ध्वनियों में ही संभव है, क्योंकि अघोष ध्वनियों में स्वरतंत्रियों में तनिक भी तनाव नहीं रहता।

यों तो दोनों ही प्रकार के स्वराघात लगभग सभी भाषाओं में थोड़े-बहुत होते हैं, पर प्रधानता के अनुसार एक ही स्वराघात किसी भाषा की प्रकृति की विशेषता माना जाता है। इसी आधार पर कुछ भाषाएँ संगीतात्मक स्वराघातयुक्त कही जाती हैं और कुछ बलात्मक स्वराघातयुक्त।

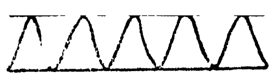
संगीतात्मक स्वराघात वाली भाषाओं को यदि कोई विभाषाभाषी सुने तो उसे ऐसा

लगेगा, जैसे बोलने वाला गा रहा हो। आज हम जब किसी चीनी या फ्रांसीसी या कुछ अंशों में ईरानी को बोलते सुनते हैं तो कुछ ऐसा ही लगता है।

इन भाषाओं में ध्वनियों का उच्चारण सप्तक (स र ग म प ध नि) की भिन्न-भिन्न ध्वनियों में होता है। यह भेद निश्चित काल में लहरों की संख्या पर निर्भर करता है। यदि काइमोग्राफ* मशीन पर 'अ' ध्वनि को 'स' सप्तक पर उच्चरित करें और मान लें कि तीन लहरें बनती हैं तो उसी 'अ' ध्वनि को यदि 'ग' सप्तक पर उच्चरित करेंगे तो उतनी ही ऊँचाई की उतनी ही लम्बी जगह में और अधिक लहरें



बनेगी। और यदि मान लें कि ५ लहरें बनेगी तो चित्र कुछ इस प्रकार होगा। इस लहर की वृद्धि से आघात या बल में वृद्धि प्रकट होती है।



वैदिक संस्कृत संगीतात्मक थी। उसमें संगीतात्मकता की शुद्धि पर इतना अधिक ध्यान था कि लिखने में भी इस स्वराघात के निशान लगा दिए जाते थे। अशुद्ध रूप में पढ़ना बड़ा भारी पाप समझा जाता था। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इसके तीन भेद थे (उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः)। लिखने के लिए प्रमुख चार प्रणालियाँ थीं। उनमें भी सबसे अधिक प्रचलित ऋग्वेद की थी, जिसके अनुसार उदात्त (ऊँचा स्वर) के लिए कोई चिह्न नहीं बनाया जाता था, अनुदात्त (नीचा स्वर) के लिए नीचे बेड़ी लकीर (—) दी खींच जाती थी और स्वरित (समस्वर) के लिए ऊपर खड़ी पाई (।)। उदाहरणार्थ

अ॒ग्निना॑ दे॒व॑य

प्राचीन ग्रीक भी संगीतात्मक भाषा थी और उसमें उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित के लिए क्रम से ऐक्यूट (Acute), ग्रेव (Grave) तथा सरकम्फ्लेक्स (Circumflex) शब्द थे।

* देखिए परिशिष्ट।

आज की जीवित भाषाओं में चीनी सब से अधिक सुरयुक्त या संगीतात्मक स्वराघातयुक्त भाषा है। इसमें प्रमुख रूप से ४ सुर या संगीतात्मक स्वराघात हैं, जिन्हें अंग्रेजी में even, rising, sinking और entering कहते हैं और जिनके हिंदी पर्याय सम, उर्ध्वमुखी, अधोमुखी और प्रवेशमुखी हो सकते हैं। कुछ लोगों ने इन चारों को कुछ ऊँचा, साधारण प्रश्नात्मक, तेज़ प्रश्नात्मक तथा उत्तरात्मक भी कहा है। चीनी की कुछ बोलियों में इन चारों के ही उच्च और निम्न दो-दो भेद हैं। उनमें आठ सुर हैं। कैंटनी बोली में तो एक और सुर बढ़ गया है और इस प्रकार वहाँ ९ सुर प्रयोग में आते हैं। मंदारिन बोली में ६ सुर हैं पर पेकिङ की बोली में केवल चार। एक ही शब्द का अर्थ भिन्न सुरों में बदलता रहता है। उदाहरणार्थ 'येन' शब्द का कुछ ऊँचे सुर में 'धूम्र', साधारण प्रश्नात्मक सुर में 'नमक', तेज़ प्रश्नात्मक में 'आँख' और उत्तरात्मक में 'हंस होता है। या 'ब' का धीमे सुर में अर्थ स्त्री, ऊँचे सुर में उमेठना, और तेज़ सुर में राजा का कृपा पात्र अर्थ होता है।

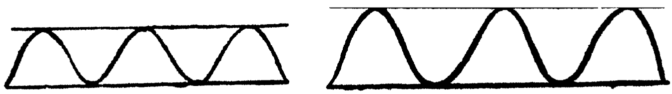
हैमिटिक परिवार के भाषा-वर्गों में एक फुलफुल्डे वर्ग है। इस वर्ग की भाषाएँ बन्तू से मिलती-जुलती हैं। इनमें भी संगीतात्मकता का आधिक्य है और उसका अर्थ पर भी यथेष्ट प्रभाव है। वहाँ 'मिवरत' का एक सुर में अर्थ होगा 'मैं मारूँगा', पर यदि 'त' को कुछ ऊँचा करके कहा जाय अर्थात् उसके कहने में लहरों की संख्या बढ़ जाय तो 'मैं नहीं मारूँगा' अर्थ हो जायगा।

आधुनिक भारत की भाषाओं में बँगला, तथा हिन्दी की बिहारी वर्ग की लोक भाषा भोजपुरी भी कुछ-कुछ संगीतात्मक है।

(ख) बलात्मक स्वराघात (Stress Accent)

संगीतात्मक स्वराघात का संबंध स्वरतंत्री से है, अतः उसमें सुर ऊँचा-नीचा किया जा सकता है पर बलात्मक स्वराघात का संबंध फेफड़े से है। इसमें केवल बल के साथ उच्चारण होता है, अर्थात् फेफड़ा तेज़ी से हवा फेंकता है, अतः जिस पर बलात्मक स्वराघात होता है वह ध्वनि शेष से केवल अधिक जोर की सुनाई पड़ती है। पुरानी भाषाओं में अवेस्ता तथा लैटिन और आधुनिक में आधुनिक ग्रीक, फ़ारसी, वेल्श तथा अंग्रेजी अपने बलात्मक स्वराघात के लिये प्रसिद्ध हैं। डॉ० तारापोरवाला ने लिखा है कि इनमें, विशेषतः ग्रीक बोलने वालों को सुनना ठीक हथौड़े की चोट जैसा लगता है। आशय यह है कि संगीतात्मक भाषाओं जैसा सुहावना नहीं लगता।

संगीतात्मक की भाँति बलात्मक स्वराघात में लहरों की संख्या में वृद्धि नहीं होती, बल्कि उनकी संख्या उतनी ही रहती है और ऊँचाई में वृद्धि हो जाती है। जितनी



तेज़ी से फेफड़े वायु फेंकेंगे लहरों की ऊँचाई उतनी ही अधिक होगी। इसे भी काइमोग्राफ़ पर देखा जा सकता है।

अंग्रेज़ी में इसके कारण शब्दों के अर्थ में भी कुछ परिवर्तन हो जाता है। कनडक्ट (Conduct) शब्द में यदि बलाघात या बलात्मक स्वराघात आरंभ में होगा तो यह संज्ञा होगा और यदि बीच में डी (d) के अ पर कर दें तो क्रिया हो जायेगा। अंग्रेज़ी में इसका इतना अधिक ध्यान रखा जाता है, कि कोष (Dictionary) में प्रत्येक शब्द पर यह स्पष्टता के साथ अंकित रहता है। इसके अंकन के लिए तिरछी पाई (/) काम में लाई जाती है।

हिन्दी में बलात्मक स्वराघात प्रायः शब्दों के उपान्त पर होता है, इसी कारण अंतिम अक्षर हल हो गए हैं। जैसे दाल्, कमल् या राम् आदि।

(ग) रूपात्मक स्वराघात

प्रधानतः उपर्युक्त दो ही स्वराघात माने जाते हैं। एक में स्वर ऊँची-नीची आवाज़ में बोले जाते हैं और दूसरे में अधिक बल से बोले जाते हैं। यह तीसरा स्वराघात (रूपात्मक) दोनों से भिन्न है। यदि दो आदमी एक ही बलात्मक और संगीतात्मक स्वराघात से बोलें तो भी उनकी आवाज़ एक न होगी। पहचाननेवाला दूर से सुनकर बतला देगा कि एक राम की आवाज़ है और दूसरी श्याम की। यह अंतर रूपात्मक स्वराघात के कारण है। रूपात्मक स्वराघात स्वरतंत्रियों की बनावट पर आधारित रहता है। किसी की स्वरतंत्री बड़ी रहती है किसी की छोटी। किसी भी दो आदमी की स्वरतंत्री ठीक एक प्रकार की नहीं हो सकती।

रूपात्मक स्वराघात की लहरों में न तो संख्या में वृद्धि होती है और न ऊँचाई



राम श्याम मोहन

में। यहाँ उनके रूप में ही परिवर्तन हो जाता है और इसी कारण इसका नाम रूपात्मक

स्वराघात है। इस स्वराघात का संबंध भाषा से न होकर बोलने में आवाज़ मात्र से है, इसी कारण इसका अध्ययन साधारणतया नहीं किया जाता पर काइमोग्राफ के चित्रों पर यह देखा अवश्य जा सकता है।

यहाँ एक बात और कही जा सकती है। स्वराघात का संबंध केवल स्वरों से है अतः स्वराघात के आधार पर ऊपर के वर्गीकृत स्वरों में प्रत्येक के और भी भेद-विभेद किए जा सकते हैं। और ऐसे किए गए भेदों की संख्या अगणित होगी। केवल रूपात्मक स्वराघात के आधार पर ही किसी भी स्वर के उतने भेद हो सकते हैं, जितने संसार में आदमी हैं, क्योंकि प्रत्येक की स्वरतंत्री कुछ भिन्न होगी, अतः लहरों के रूप में अन्तर पड़ेगा। और फिर इन अगणित भेदों में से प्रत्येक के संगीतात्मक के आधार पर कम से कम तीन या चार भेद हो जावेंगे। आगे उनमें से भी प्रत्येक के बलात्मक के आधार पर और वर्ग होंगे। असाध्य और व्यर्थ समझ कर इस वर्गीकरण की पराकाष्ठा की ओर न जाना ही उचित होगा।

ध्वनि-परिवर्तन और उसके कारण

ध्वनि-परिवर्तन

किसी भी जीवित सत्ता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रतिपल उसमें परिवर्तन होता रहता है। कहा जा सकता है कि परिवर्तन ही जीवन है। जीवित भाषा के लिए भी यह बात पूर्णतः सत्य है। भाषा के जीवन की निशानी, इस 'परिवर्तन' को कुछ लोग 'विकार' और कुछ लोग 'विकास' कहते हैं। कुछ भी हो, इस झगड़े में न पड़कर इतना तो सभी स्वीकार करेंगे कि परिवर्तन होता है। परसों के 'कृष्ण' कल 'क्रिश्न' हो गए थे और, आज 'किशुन' या 'किसुन' हो गए हैं। बेचारे 'गोपेन्द्र' तो कभी 'गोविन्द' हो गए और अब 'गोबिन' ही रह गए हैं। इसी प्रकार भाषा की लगभग सभी ध्वनियों के संबंध में देखा जा सकता है।

ध्वनि-परिवर्तन के कारण

यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न हमारे सामने आ जाता है कि इस परिवर्तन के कारण क्या हैं। कारण की खोज में जब हम किसी शब्द की छानबीन करते हैं तो दो प्रकार के कारण दिखाई पड़ते हैं। पहले कारण तो वे हैं जो शब्द के बाहर वातावरण में हैं, और धीरे-धीरे ध्वनि पर प्रभाव डालते हैं। इनको बाह्य कारण कहा जा सकता है। समाज की राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक अवस्थाएँ तथा भौगोलिक वातावरण

इसी के अंतर्गत आते हैं। दूसरा कारण आंतरिक है। यह प्रयोगाधिक्य, घिसने या स्वराघात आदि से संबंध रखता है। इसमें भीतर से ही परिवर्तन का कारण उपस्थित होता है।

पर इसका यह आशय नहीं कि ध्वनियों को लेकर हम बाँट सकते हैं कि अमुक ध्वनि केवल आंतरिक या केवल बाह्य कारण से ही परिवर्तित हुई है। तथ्य यह है कि एक ध्वनि के परिवर्तन में अधिकतर एक से अधिक कारण कार्य करते हैं। और इसीलिए स्पष्ट रूप से कारणों की ओर सर्वत्र संकेत करना सम्भव नहीं होता। इस प्रसंग में एक और बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है। इन कारणों के आधार पर भविष्य के विषय में निश्चितता के साथ हम कुछ नहीं कह सकते। यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक ध्वनि कल अमुक रूप धारण करेगी या अमुक ध्वनि में परिवर्तित हो जायेगी। यह तो अतीत की सामग्री के अध्ययन के आधार पर अतीत का विश्लेषण-मात्र है। यह आवश्यक नहीं कि आने वाले परिवर्तन भी इसी पथ पर चलें। साथ ही भूत के सम्बन्ध में भी यह नहीं कहा जा सकता कि जहाँ-जहाँ अमुक कारण उपस्थित होगा, वहाँ-वहाँ अमुक परिवर्तन अवश्य होगा। इसका कारण यह है कि ध्वनियों के पथ में अनेकों व्याघात आते रहते हैं और उन सभी का ध्वनि के विकास या परिवर्तन पर प्रभाव पड़ता रहता है। इसीलिए हम देखते हैं कि एक ओर तो संस्कृत 'कर्म' से प्राकृत 'कम्म' और हिन्दी 'काम हो गया, पर दूसरी ओर 'धर्म' से 'धम्म' होकर 'धाम' न हो सका और बेचारे को 'धरम' हो जाना पड़ा।

ध्वनि-परिवर्तन के कारण यहाँ कुछ विस्तार से दिए जा रहे हैं।

[१] वाक् यंत्र की विभिन्नता

रूपात्मक स्वराघात पर विचार करते समय ऊपर हम कह चुके हैं कि किसी भी दो व्यक्ति का वाक् यन्त्र ठीक-ठीक एक ही प्रकार का नहीं होता, इसी कारण किसी एक ध्वनि का उच्चारण भी दो व्यक्ति ठीक एक तरह से नहीं कर सकते। एक से दूसरे में और दूसरे से तीसरे में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य पड़ेगा। ये ही छोटे-छोटे अन्तर कुछ दिन में जब बड़े हो जाते हैं, तो स्पष्ट हो जाते हैं। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे कोई बच्चा कल से आज कितना बड़ा हो गया या बढ़ गया इसका अनुमान हम नहीं लगा सकते पर एक-दो वर्ष बाद उस थोड़े-थोड़े बढ़ने का अनुभव हम कर लेते हैं और अपनी आँख से उसकी ३६० या ७२० दिन की निश्चित बढ़ाई भी देख लेते हैं। 'ऋ' और 'री' तथा 'श' और 'ष' के उच्चारण इसी प्रकार धीरे-धीरे एक हुये

होंगे। 'ऋ' का उच्चारण संभवतः इसी कारण धीरे-धीरे परिवर्तित होकर 'रि' और 'ष' का उच्चारण 'श' हो गया है और आज हम लोग 'ऋषि' लिखते ही भर हैं, उच्चरित करते हैं 'रिशि'।

[२] श्रवणेन्द्रिय की विभिन्नता

भाषा कोई गर्भ में से सीख कर नहीं आता। यहाँ आने के पश्चात् कुछ चेतना होने पर कान से सुनकर हम इस धीरे-धीरे इसे सीखना आरम्भ करते हैं। वाक्-यंत्र की भाँति श्रवणेन्द्रिय की विभिन्नता भी धीरे धीरे ध्वनि-परिवर्तन में सहायक होती है। यह कारण भी पहले की ही भाँति इतना सूक्ष्म है कि ऊपर से देखने में हास्यास्पद ज्ञात होता है। पर है सत्य। हाँ, यह अवश्य है कि अकेले यह कार्य नहीं करता और न पहला कारण ही अकेले कार्य करता है। दोनों साथ साथ चलते हैं, क्योंकि हम सुनकर ही सीखते और कहते हैं और फिर हमारा कहना सुनकर ही दूसरा सीखता है। इस प्रकार थोड़ा कहने में अन्तर और थोड़ा सुनने में अन्तर। ये अन्तर आपस में मिलते और बढ़ते जाते हैं। अन्त में एक या दो या और भी अधिक सदियों-में ध्वनि में घटित परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है।

[३] अनुकरण की अपूर्णता

उपर्युक्त दोनों कारणों के बीच की कड़ी अनुकरण की है। किसी का बोलना सुनकर हम अनुकरण करके बोलना सीखते हैं। पर यह अनुकरण पूर्ण नहीं हो पाता। या तो हम कुछ आगे बढ़ जाते हैं या कुछ पीछे रह जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हम ठीक उसी प्रकार नहीं बोलते हैं जैसे दूसरा बोलता है, जिसका कि हम अनुकरण करते हैं। बच्चों में यह अपूर्णता स्पष्ट रहती है, जब वह रोटी को लोटी या रुपया को नुपया कहते हैं। बड़े होने पर यह अन्तर ठीक हो जाता है। बड़े लोगों में इसी प्रकार की सूक्ष्म गड़बड़ी होती है। कभी-कभी तो यह एक ध्वनि को धीरे-धीरे स्थानान्तरित करती है और कभी-कभी विदेशी शब्दों में ध्वनि को आगे पीछे कर देती है। दूसरे प्रकार के परिवर्तनों में अज्ञान भी कार्य करता है पर अनुकरण की अपूर्णता का भी हाथ कम नहीं रहता। भोजपुर प्रदेश के मुक़दमेबाज़ लोगों में वकीलों के अनुकरण से 'कनेक्शन' शब्द प्रचलित हो गया है पर उसका रूप बदलकर 'कनस्कन' हो गया है। इसमें अज्ञान के साथ अनुकरण की अपूर्णता भी एक कारण है। कुछ देशीय शब्दों का भी अनुकरण उच्चारण कठिन होने के कारण ठीक नहीं हो पाता। 'ब्राह्मण' का 'बाह्मन' हो जाना इसका सुन्दर उदाहरण है। 'ऊं नमःसिद्धम्' का लोक

भाषाओं में 'ओनामासीधम' हो जाना भी अनुकरण की अपूर्णता के कारण ही हुआ है। अनुकरण की अपूर्णता प्रायः अज्ञान पर आधारित रहती है। अर्थात् जिन्हें शब्दों का ठीक ज्ञान नहीं रहता वे हो पूर्ण या ठीक अनुकरण नहीं कर पाते। नीचे 'अज्ञान' शीर्षक में इसके कुछ और उदाहरण दिए गए हैं।

[४] अज्ञान

अज्ञान के कारण भी कभी-कभी ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। अनुकरण की अपूर्णता के साथ इसका योग हम ऊपर देख चुके हैं। देशी या विदेशी किसी भी प्रकार के शब्द, जिनके विषय में हमें निश्चित ज्ञान नहीं है, अधिकतर अशुद्ध उच्चरित होने लगते हैं और ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। अज्ञान के कारण लोग शब्दों का ठीक रूप समझ नहीं पाते और फल यह होता है कि उच्चारण का ठीक अनुकरण नहीं हो पाता और इस प्रकार ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। अपरिचित तथा विदेशी शब्दों में प्रायः इसी कारण ध्वनियों में परिवर्तन विशेष दिखाई पड़ता है। लोक भाषाओं में इसी से इंजीनीयर का इंजियर एक्सप्रेस का इस्प्रेस, ओवरसियर का ओर्सियर या ओसियर, कंपाउडर का कंपोडर या कंपोटर तथा डिस्ट्रिक्टबोर्ड का डिस्टीबोट हो गया है।

इन परिवर्तनों में अज्ञान तथा अनुकरण की अपूर्णता के अतिरिक्त मुखसुख या इस प्रकार के अन्य कारणों का भी कुछ प्रभाव हो सकता है।

[५] भ्रामक-व्युत्पत्ति (Popular Etymology)

भ्रामक-व्युत्पत्ति का संबंध भी अज्ञान या अशिक्षा से है। पर, साथ ही इसमें दो मिलते-जुलते शब्दों का होना भी आवश्यक है। भ्रामक-व्युत्पत्ति में होता यह है कि लोग किसी अपरिचित शब्द के संसर्ग में जब आते हैं और यदि उससे मिलता-जुलता कोई शब्द उनकी भाषा में पहले से रहता है तो उस अपरिचित शब्द के स्थान पर उस परिचित शब्द का ही उच्चारण करने लगते हैं और इस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। अरबी का 'इंतिक़ाल' शब्द इसी कारण हिंदी में 'अंतकाल' हो गया है। लोगों ने इसे अंत (=आख़िरी)+काल (=समय) समझ लिया और अर्थ में साम्य था ही, अतः उसे 'अंतकाल' कहने लगे। इसी प्रकार लोक भाषाओं में 'लाइब्रेरी' (=पुस्तकालय) का 'रायबरेली', 'एडवांस' का 'अडवांस' या 'अठवांस' (आठवाँ अंश), 'हू कम्स देयर' का 'हुकुम सदर', तथा पाउरोटी का पावरोटी (वह रोटी जो पाव भर की या बड़ी हो) हो गया है। मेकेंज़ी का 'मक्खन जी', बनर्जी का

'बानर जी', क्वार्टर गार्ड का 'कोतल गारद', तथा चार्ज शीट का 'चार शीट' भी भ्रामक-व्युत्पत्ति के कारण ही कहते सुना जाता है।

जब हम लोग मिडिल में पढ़ रहे थे तो चेम्सफोर्ड को चिलमफोड़ कहा करते थे। हम लोगों ने सुन रखा था कि उसे धुएँ का शौक नहीं था। एक बार एक देहाती ने मुझसे पूछा था, 'क्यों बाबू मद्रास में कोई 'आन्हर' (आंध्र) देश है, क्या वहाँ के लोग अधिकतर 'आन्हर' (अंधे) हैं जो उसका यह नाम है ?' आनरेरी मैजिस्ट्रेट के लिये देहात में 'अन्हेरी क साहब' और आनरेरी कोर्ट के लिए 'अन्हेरी' प्रचलित है। उन लोगों का विश्वास है कि यहाँ पूरी अंधेर (अन्हेर) होती है या अँधेरा (अन्हार) रहता है। बात कुछ है भी वैसी ही। वे लोग तनख्वाह तो लेते नहीं अतः घूस आवश्यक हो जाता है और जहाँ घूस महाराज की सवारी आई, अँधेरा (अन्हेरा) का आना आवश्यक ही है। भ्रामक-व्युत्पत्ति में ध्वनि-साम्य के साथ यदि कुछ अर्थ-साम्य हो तो इसके घटित होने की संभावना और भी अधिक रहती है।

[६] बोलने में शीघ्रता

बोलने में शीघ्रता के कारण भी ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है। साहित्य में लिखा तो जाता है 'पंडित जी' पर इसका शीघ्रता के कारण सर्वत्र ही और विशेषतः प्राइमरी स्कूलों में उच्चारण 'पंडी जी' होता है। देहाती पत्रों में तो यह लिखा भी जाने लगा है। इसी प्रकार 'उन्होंने' का 'उन्ने' हो गया है। जैनेन्द्र जी ने अपने उपन्यासों में ऐसे शब्दों का स्थान दिया है। किन्ने, जिन्ने आदि भी प्रचलित हैं। जब ही, कब ही, अब ही तथा तब ही के जभी, कभी, अभी और तभी भी इसी के उदाहरण हैं। 'दूध दो' का 'दुद्दो', 'मास्टर साहब' का 'मास्साब', और 'मार डाला' का 'माड्डाला' हो गया है। सुना है इधर इंगलैण्ड में 'थैंक्यू' (आपको धन्यवाद है) बेचारा व्यस्त जीवन की शीघ्रता में घिस-घिस कर केवल 'क्यू' रह गया है। अंग्रेजी के ओंट, डोंट, शांट तथा संस्कृत की स्वर, व्यंजन तथा विसर्ग-संधियों में होने वाले ध्वनि-परिवर्तन भी इसी के उदाहरण हैं।

[७] मुख-सुख, उच्चारण-सुविधा या प्रयत्न-लाघव

ध्वनि-परिवर्तन का सबसे प्रधान कारण यही है। भाषा साध्य न होकर विचारों को व्यक्त करने का साधन मात्र है। अतः यह स्वाभाविक है कि हम कम से कम प्रयास से अपने भाव व्यक्त करने की चेष्टा करें। मुख को सुख देने के प्रयास में कभी हम किसी ध्वनि का कठिन होने के कारण शब्द विशेष में उच्चारण करना

ही छोड़ देते हैं। अंग्रेजी में talk, walk, know, knife, night आदि में कुछ ध्वनियों का उच्चारण इसीलिये नहीं किया जाता वहाँ उनके उच्चारण में जीभ को द्राविड़ प्राणायाम करना पड़ता है। कभी-कभी नई ध्वनि भी उच्चारण-सुविधा के लिए जोड़ लेते हैं। इसीलिए स्कूल, तथा स्टेशन को कुछ लोग तो इस्कूल तथा इस्टेशन और कुछ लोग सकूल, तथा सटेशन कहते हैं। कभी-कभी ध्वनियों का स्थान भी परिवर्तित कर देते हैं जैसे वाराणसी से बनारस, मुकल्चह् से मुचलका और चिह्न से चिन्ह आदि। कभी-कभी प्रयत्न-लाघव के प्रयास में शब्दों को काट-छाँट कर इतना छोटा बना लिया जाता है, कि पहचानना भी कठिन हो जाता है। गोपेन्द्र से गोबिन, सपत्नी से सौत तथा उपाध्याय से झा इसके अच्छे उदाहरण हैं।

बोलने की इस सुविधा के विषय में कुछ निश्चय नहीं है। कहीं तो किसी एक ध्वनि को हटाने से सुविधा होती है, कहीं उसी को जोड़ना सुविधाजनक हो जाता है। कहीं संयुक्त ध्वनि में दो भिन्न ध्वनि को अनुरूप करना (धर्म = धम्म) पड़ता है और कहीं अनुरूप ध्वनि को भिन्न बना देना पड़ता (काक = काग, मुकुट = मउर) है।

इसी को कुछ लोगों ने आलस्य नाम से भी भी पुकारा है। आलस्य नाम उचित नहीं जान पड़ता। शक्ति की मितव्ययता को आलस्य नहीं कहा जा सकता और न धन की मितव्ययता को कंजूस'।

[८] भावुकता

भावुकता के कारण भी शब्दों में पर्याप्त ध्वनि-परिवर्तन देखा गया है। विशेषतः लोक प्रचलित व्यक्तिवाचक नाम तो अधिकांशतः इसी ध्वनि-परिवर्तन के परिणाम हैं। दुलारी का दुल्लो या दुल्ली, सुखराम का सुक्खू बच्चा का बचाऊ, मुन्ना का मुन्नू तथा कुमारी का कुम्मो आदि इसी के उदाहरण हैं। संबंध-सूचक संज्ञाएँ अम्मा, चाची, बेटी प्यारपूर्ण भावुकता में ही अम्मी, चची या चचिया तथा बिट्टी या बिट्टो आदि हो गई हैं।

[९] बनकर बोलना

बनकर बोलने का भी ध्वनि पर अस्थायी प्रभाव पड़ता है। बहुत से लोग कहना का 'केना' बैठो का 'बेटो' बहनों का 'बेनों' बहुत का 'बोत', आज का 'आज़', खाना का 'ख़ाना', शुमेच्छु, का 'शुमेच्छु', छात्र का 'छात्र' तथा सुमिरना का 'शुमिरना' आदि बोलते हैं, पर इसका भाषा की ध्वनि पर स्थायी प्रभाव संदिग्ध है। यों ऐसा अनुमान लगता है कि हिंदी का अखरोट और मखतूल शब्दों का अख़रोट और मख़तूल हो जाना संभव है, इसी से हुआ हो। इन दोनों ही शब्दों को 'ख़' ध्वनि के कारण ही

प्रायः अरबी या फारसी का समझते हैं* पर यथार्थतः ये दोनों ही हिंदी शब्द हैं और इनमें 'ख' ध्वनि परिवर्तित होकर 'ख़' हो गई है।

[१०] विभाषा का प्रभाव

एक राष्ट्र जाति या संघ, दूसरे के संपर्क में आता है तो विचार-विनिमय के साथ ध्वनि-विनिमय भी होता है। एक दूसरे की विशेष ध्वनियाँ एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। अफ्रीका के बुशमैन परिवार की भाषाओं की क्लिक ध्वनियाँ समीप के अन्य भाषा वर्गों को प्रभावित कर रही हैं। कुछ लोगों का विचार है कि भारोपीय भाषा में टवर्ग नहीं था। अनार्यों के प्रभाव से भारत में आने पर आर्यों के ध्वनि-समूह में उसका प्रवेश हो गया। इसी कारण आरम्भिक वैदिक मंत्रों में इसका प्रयोग बहुत कम है, पर आज हिन्दी आदि में इसका प्रयोग बहुत अधिक हो गया है।

[११] भौगोलिक प्रभाव

ध्वनियों पर भौगोलिक प्रभाव के संबंध में सभी विद्वान् एक मत नहीं है। कुछ लोगों के अनुसार यदि कोई जाति किसी स्थान से हटकर अधिक ठंडे स्थान पर बस जाती है, तो उसमें विवृत ध्वनिओं का विकास नहीं होता और जो विवृत रहती है, उनका भी संवृत की ओर झुकाव होने लगता है। गर्म देश में जाने पर ठीक इसके उलटा ध्वनि-परिवर्तन होता है।

जो लोग कहीं ऐसी जगह जाकर बस जाते हैं जहाँ चारों ओर पहाड़ हो तो बहुधा अन्य लोगों से उनका संपर्क नहीं होता और स्वतन्त्र रूप से वातावरण के अनुकूल, बिना बाहरी व्याघात के उनकी ध्वनियों का धीरे-धीरे विकास होता है। इस संबंध में निश्चय के साथ कुछ कहना या उदाहरण देना तो संभव नहीं है, पर, जब मानसिक विकास, शारीरिक विकास, धर्म तथा संस्कृति आदि सभी पर भौगोलिक प्रभाव पड़ता है तो असंभव नहीं है कि भाषा तथा भाषा-ध्वनि के विकास पर भी इसका प्रभाव पड़ता हो।

[१२] सामाजिक प्रभाव

समाज की अवस्था के अनुसार भी ध्वनियों में परिवर्तन होता रहता है। यदि किसी कमी के कारण अप्रसन्नता और दुःखपूर्ण वातावरण रहा तो सामान्यतः लोग धीरे से बोलते हैं। ऐसी दशा में भी संवृत की ओर झुकाव रहता है और अनेक प्रकार की

---

* हिंदी के एक प्रथम श्रेणी के विद्वान् के प्रथम श्रेणी के प्रबंध (थीसिस) में इन दोनों को इसी भ्रम से विदेशी शब्द कहा गया है।

असावधानियाँ होती हैं, इसी प्रकार यदि समाज में युद्ध का वातावरण रहा तो बोलने की गति बढ़ जाती है। अधिकतर, शब्दों के कुछ ही भाग पर ज़ोर दिया जाता है, जिससे कुछ ध्वनियों का लोप संभव होता है। कुछ लोगों का कहना है कि युद्ध के समय भाषा के परिवर्तन की गति बहुत अधिक हो जाती है।

इसके विरुद्ध यदि समाज में सुख-शान्ति रही तो विद्या का प्रचार रहेगा और इसके कारण लोग अधिक शुद्ध बोलने का प्रयास करेंगे। नवीन ध्वनियाँ जो अशुद्ध समझी जाती हैं, विकसित न हो सकेंगी। साथ ही जो थोड़ी विकसित हैं उनका लोप भी संभव है। इसी स्थिति में सांस्कृतिक पुनरुत्थान भी होते हैं और इनका भी अपवाद स्वरूप कभी-कभी ध्वनि पर प्रभाव पड़ता है। 'वाराणसी' बेचारा सदियों की यात्रा करके 'बनारस' बना था, पर, सांस्कृतिक जागरूकता के प्रवाह में उसे फिर पीछे लौटकर २५ मई १९५६ को 'वाराणसी' हो जाना पड़ा।

[१३] लिखने के कारण

कुछ शब्दों के लिखने में किसी कारण गड़बड़ी हो जाती है फिर उच्चारण भी लिखने के अनुसार हो जाता है। मध्ययुग में ख में 'र' 'व' अक्षरों का संदेह होने से उसके स्थान पर 'ष' का प्रयोग चला। कुछ दिन में ऐसा हुआ कि ष का उच्चारण ही ख हो गया। इसके प्रभाव से 'बरखा' 'भाखा' पाखंड' 'खट' आदि शब्द वर्षा, भाषा, पाषंड, षट आदि के स्थान पर चल पड़े। अंग्रेज़ी में गुप्त, मित्र, मिश्र आदि लिखने में अंत में ए (a) लिखने का प्रभाव यह पड़ा है कि लोग न केवल गुप्ता, मित्रा, मिश्रा आदि कहने लगे हैं अपितु हिंदी में भी है यही लिखने लगे हैं। आश्चर्य तो यह है कि इसी से प्रभावित होकर विश्वविद्यालय के विद्यार्थी 'बुद्धा' और 'अशोका' का भी बातचीत में 'बुद्ध' और 'अशोक' के स्थान पर प्रयोग करते सुने जाते हैं।

(१४) शब्दों की असाधारण लंबाई

यह कारण अकेले कार्य न करके स्वराघात, शीघ्रता तथा उच्चारण-सुविधा आदि के साथ कार्य करता है। पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि लंबे शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन अधिक होते हैं। असाधारण लंबाई को सँभाल न सकने से लोग उसे छोटा कर देते हैं। 'उपाध्याय' महाराज 'झा' का रूप धारण करने को अपनी लंबाई के कारण भी बाध्य हुए हैं। 'जयरामजी की' का 'जैराम' हो गया है। स्टेशनों पर चाय वाले 'चाय गरम' को 'चारम' कहते हैं। इसी कारण संक्षिप्त रूप भी चल पड़ते हैं। पाकिस्तान का 'पाक' युनाइटेड स्टेट ऑव अमेरिका का 'यू० एस० ए०' या इन्टा,

इप्टा, यूनेस्को आदि उदाहरण-स्वरूप लिए जा सकते हैं। भारत यूरोपीय का 'भारोपीय' तो अपना ही उदाहरण है। शुक्ल दिवस के लिए 'सुदि' या 'सुदी' (उजेला पक्ष) तथा बहुल कृष्ण दिवस के लिए 'बदी' के प्रयोग भी ऐसे ही हैं।

[१५] बलहीन व्यंजन का आधिक्य

बल के विचार से व्यंजनों के दो वर्ग* बनाए जा सकते हैं। (१) बली, (२) बलहीन। जिन शब्दों में बलहीन व्यंजन अधिक होते हैं, उनमें ध्वनि-परिवर्तन अधिक शीघ्रता से होता है। फ्रांसीसी विद्वान् वेन्द्रिये के अनुसार तो शब्द विशेष में अपने स्थान विशेष के कारण भी कुछ ध्वनियाँ बलहीन हो जाती हैं और बली व्यंजनों से उनका युद्ध आरम्भ हो जाता है और अंत में बली ध्वनि परास्त करके उस बलहीन ध्वनि को निकाल बाहर करती है। इसका कारण कदाचित् यह है कि बलहीन व्यंजनों का उच्चारण अधिक अनिश्चित होता है।

[१६] स्वाभाविक विकास या परिवर्तन

कुछ शब्दों की ध्वनियों में घिस कर स्वाभाविक विकास हो जाता है। प्रयोग में आने पर जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु घिसती है उसी प्रकार शब्द भी। ध्वनियों के इस विकास को स्वयंभू (Unconditional) विकास कहा जाता है। 'मया' से 'मैं' या 'वर्तते' से 'बा' या 'बाटे' का विकास ऐसा ही है। संस्कृत के कुछ शब्दों के 'स' फारसी में 'ह' हो गया है (सिंध का हिंद), इसे भी कुछ लोग स्वयंभू परिवर्तन मानते हैं। अकारण अनुनासिकता (सर्प से साँप या कूप से कूआँ) भी प्रायः स्वयंभू विकास है।

[१७] कविता में मात्रा, तुक या कोमलता के लिए परिवर्तन

मात्रा या तुक के लिए जानबूझ कर कवि लोग शब्दों में मनमाना ध्वनि-परिवर्तन ला देते हैं। रीतिकाल (हिन्दी साहित्य) के कवियों में यह बात अधिक पाई जाती है। संत साहित्य में भी इसकी कमी नहीं है।

मात्रा ठीक करने के लिए किम्मति (कीमत), छेक उकुति (छेकोक्ति), हथ्यार (हथियार) तथा सत्थ (साथ) आदि का प्रयोग मिलता है।

तुक के लिए धंका (धक्का), चंका (चक्का), नाँदिया (नंदी) तथा विकरार (विकराल) आदि जैसे प्रयोग भी प्रचलित रहे हैं।

* बली = पंचवर्गों के प्रथम चार स्पर्श व्यंजन
बलहीन = पाँच अनुनासिक, अन्तस्थ और ऊष्म।

कुछ कवियों ने शब्दों को कोमल बनाने के लिए अपभ्रंश वाली पद्धति का अनुसरण किया है और अन्तिम अकार को उकार में परिवर्तित कर दिया है। जैसे कमलु (कमल), डरियतु (डरयत) और बहतु (बहत) आदि।

तुलसी में 'राय' का 'राया' तथा 'राई' आदि भी तुक के लिए ही किया गया है।

[१८] सादृश्य (analogy)

कुछ शब्द किसी दूसरे के सादृश्य के कारण अपनी ध्वनियों का परिवर्तन कर लेते हैं। पैंतिस के सादृश्य पर सैंतिस में अनुनासिकता आ गई है। संस्कृत में द्वादश के सादृश पर एकदश भी एकादश हो गया। मुझ (=मह्यं) का उकार तुझ (=तुभ्यं) के सादृश्य से है। 'देहात' से 'देहाती' के सादृश्य पर 'शहरी' 'शहराती' हो गया है।

सच पूछा जाय तो सादृश्य स्वयं कारण न होकर कार्य है। इसका भी प्रधान कारण सुगमता ही है, पर यहाँ पर सुगमता की प्राप्ति किसी विशेष शब्द के आधार पर होती है, अतः इसे अलग रख दिया गया है।

और भी उदाहरण लिए जा सकते हैं। सुक्ख का क् दुक्ख (दुःख) के सादृश्य के कारण आ गया है।

[१६] स्वराघात

स्वराघात के कारण भी ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। ऊपर स्वराघात पर विचार करते समय इसके दो प्रमुख भेद हम कर चुके हैं। दोनों का ध्वनि-परिवर्तन में अलग-अलग हाथ है।

(क) संगीतात्मक स्वराघात

इसके लिए जितना ही ऊँचा सुर देना हो हमें मुँह फैलाना पड़ता है, जिसका परिणाम यह होता है कि संवृत स्वरों का कभी-कभी विवृत में परिवर्तन हो जाता है। इ का ए और उ का ओ हो जाता है। ग्रीक और संस्कृत में इसके उदाहरण प्रायः मिलते हैं। हिन्दी में कुष्ठ=कोढ़, कुक्षि=कोख, बिल्व=बेल तथा शिम्बा=सेम आदि में यह स्पष्ट है।

(ख) बलात्मक स्वराघात

किसी ध्वनि पर बल देने में श्वास का अधिक भाग उसी के उच्चारण में व्यय

करना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि आस-पास की ध्वनियाँ कमज़ोर पड़ जाती हैं और उनका लोप हो जाता है। 'आभ्यंतर' में बीच में बल है अतः आरंभ का 'आ' समाप्त हो गया और 'भीतर' बन गया। डाइरेक्टर और फाइनैन्स का उच्चारण बल के कारण ही डिरेक्टर और फिनैन्स हो गया है। अलाबु का लाउ और लौ (की) भी बलात्मक स्वराघात के कारण ही हुआ है।

इसी प्रकार 'अस्ति' से 'है', 'तत्स्थाने' से 'तहाँ' आदि भी इसके उदाहरण हैं।

[२०] किसी विदेशी ध्वनि का अपनी भाषा में अभाव

जब कोई भाषाभाषी किसी दूसरी भाषा के संपर्क में आता है और उस विदेशी भाषा में यदि कुछ ऐसी ध्वनियाँ रहती हैं जो उसकी अपनी भाषा में नहीं रहतीं तो प्रायः वह उधार लिए गए शब्दों में उन ध्वनियों के स्थान पर अपनी भाषा की उनसे मिलती-जुलती या निकटतम ध्वनियों का प्रयोग करता है और इस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। भारतीय भाषाओं में समय-समय पर यूनानी, इब्रानी, जापानी, चीनी, तुर्की, अरबी, फ़ारसी, अंग्रेज़ी तथा पुर्तगाली आदि भाषाओं के बहुत से शब्द लिए गए हैं और इन सभी में ऐसा हुआ है। कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। अंग्रेजी में ट तथा ड ध्वनि हिंदी के ट, ड के समान न तो मूर्द्धन्य है और न त, द के समान दंत्य। ये वर्त्स हैं। अतः स्वभावतः उन अंग्रेज़ी शब्दों में जो हिंदी में आए हैं ये ध्वनियाँ या तो मूर्द्धन्य में परिवर्तित हो गई हैं जैसे—

रिपोर्ट	से	रपट
डेस्क	से	डिकस या डेक्स

या दंत्य में जैसे --

आगस्ट	से	अगस्त
डेसेंबर	से	दिसंबर

फ़ारसी का न उच्चरित होने वाला 'ह्' हिंदी में 'आ' हो गया है, जैसे—

किनारह्	से	किनारा

इसी प्रकार अंग्रेज़ी के दंत्य-स्पर्शी 'थ' तथा 'द' हिंदी उर्दू में दंत्य स्पर्श थ, द तथा अरबी, फ़ारसी और अंग्रेज़ी आदि के क़ क, ख़ ख, ग़ ग, तथा ज़ ज, हो गए हैं।

[२१] **अंध-विश्वास**

अंध-विश्वास के कारण भी कभी-कभी ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। इसके उदाहरण अपवाद-स्वरूप ही कुछ मिलते हैं। हिन्दी का एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है।

'गोभी' एक प्रसिद्ध तरकारी है। इसके आरंभ में गो (=गाय) की ध्वनि है, अतएव पूर्वी ज़िलों में बहुत से धार्मिक लोग खाने वाली चीज़ होने के कारण इसे गोभी न कहकर 'कोभी' या कभी-कभी 'कोबी' कहते हैं।

परिवर्तन की दिशाएँ

कारणों पर विचार करने के बाद उनके कार्य पर विचार करना होगा। कार्य से यहाँ आशय ध्वनि-परिवर्तन से है। ध्वनि-परिवर्तन मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं।

प्रथम को स्वयंभू (Unconditional, spontaneous या incontact) कहते हैं। इनके संबंध में कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता। अधिकतर ये भाषा के प्रवाह में हो जाते हैं और कहीं भी घटित हो सकते हैं। इनके लिये किसी विशेष अवस्था या परिस्थिति (Condition) की आवश्यकता नहीं। अकारण अनुनासिकता नाम का ध्वनि-परिवर्तन इसी में आता है। यद्यपि अकारण संसार में कोई कार्य नहीं होता पर अज्ञात कारण होने से इसे अकारण कहा जाता है।

दूसरे प्रकार का ध्वनि-परिवर्तन परोद्भूत (conditional या contact) कहा जाता है। इस वर्ग में आने वाले ध्वनि-परिवर्तन ऊपर दिए गए कारणों से प्रभावित होकर घटित होते हैं। यद्यपि भविष्य के लिए इनके विषय में भी कुछ नहीं कहा जा सकता पर, पहले वर्ग की अपेक्षा इनका अधिक विश्लेषण संभव हो सकता है। यहाँ प्रमुख रूप से इन्हीं पर विचार किया जायगा। प्रथम वर्ग के केवल दो-एक ही आनुषंगिक रूप से लिए जा सकेंगे।

[१] लोप (Elision)

कभी-कभी बोलने में मुखसुख, शीघ्रता या स्वराघात आदि के प्रभाव से कुछ ध्वनियों का लोप हो जाता है। लोप तीन प्रकार का संभव है। १. स्वर-लोप, २. व्यंजन-लोप, तथा ३. अक्षर लोप। आगे इनके और भी भेद-विभेद होते हैं। यहाँ इन सब पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

अ. स्वर-लोप

(क) आदि स्वर-लोप (Aphesis)

अनाज = नाज उपायन = बायन अगर = गर

अहाता = हाता	अमीर = मीर
आभ्यंतर = भीतर	एकादश = ग्यारह
अरघट्ट = रहँट	अतिसी = तीसी
esquire = squire	amuck = muck

(ख) मध्य स्वर-लोप (syncope)

शाबाश = शाब्स	do not = don't
Storey = Story	

उच्चारण में हिन्दी के बहुत से शब्दों में मध्य स्वर का लोप हो गया है, पर अभी लिखा नहीं जाता। उदाहरणार्थ कुछ लिए जा सकते हैं—

बलदेव = बल्देव	तरबूज = तर्बूज	लगभग = लग्भग
कृप्या = कृप्या	कपड़ा = कप्ड़ा	हरदम = हर्दम

इन लुप्त हो जाने वाले स्वरों को अंग्रेजी में Syncopic Vowel कहते हैं।

(ग) अन्त्य स्वर-लोप

मध्य की ही भाँति बोलने में हिन्दी के अधिकतर अकारांत शब्दों का 'अ' स्वर भी लुप्त हो गया है, पर लिखने में अभी नहीं आता। इसके कारण धीरे-धीरे हिन्दी के शब्द व्यंजनांत होते जा रहे हैं। कुछ उदाहरण हैं—

आम = आम्	तिल = तिल्	राम = राम्	परीक्षा = परख्
दिल = दिल्	मार = मार्	दाम = दाम्	शिला = सिल्
हम = हम्	चल = चल्	कमल = कमल्	

अंग्रेजी से इसके स्पष्ट उदाहरण लिए जा सकते हैं। लैटिन और फ्रेंच के बहुत से शब्दों में अंग्रेजी में आने पर अंत्य स्वर का लोप हो गया है।

फ्रेंच	affaire = अंग्रेजी	affair
,,	bombe = ,,	bomb
लैटिन	differo = ,,	differ
,,	assisto = ,,	assist

आ. व्यंजन-लोप

(क) आदि व्यंजन-लोप

अंग्रेजी में उच्चारण की कठिनाई के कारण अनेक आदि-व्यंजनों का बोलने

में लोप हो चुका है, पर लिखने में अभी वे चल रहे हैं। अमेरिका वालों ने तो कुछ ऐसी अनुच्चरित ध्वनियों को लिखना भी छोड़ दिया है—

Knife = nife	Know = now	write = rite
gnaw = naw	Knight = night	

हिन्दी में भी अनेक संस्कृत शब्द अपने आदि-व्यंजन खोकर आए हैं—

स्थाली = थाली	स्थान = थान	स्थापना = थापना
श्मशान = मसान	स्तम्भ = थामना।	स्कंध = कंधा

(ख) मध्य व्यंजन-लोप

सूची = सूई	घरद्वार = घरबार	कपित्थ = कैथ
उत्तान = उतान	कोकिल = कोइल	कुलत्थ = कुलथी

प्राकृतों की तो यह एक विशेषता थी, अतः उनमें अनेक उदाहरण मिल सकते हैं।

वचन = वअण	सागरः = साअरो
नगर = णअर	प्रिय = पिअ

हिन्दी की ग्रामीण बोलियों में भी पर्याप्त संख्या में इसके उदाहरण मिलते हैं।

बुद्ध = बुध	भूमिहार = भुँइहार	ज्वर = जर
डाकिन = डाइन	कायस्थ = कायथ	उपवास = उपास
ब्राह्मण = बाम्हन	गर्भिणी = गाभिन	कार्तिक = कातिक
		सन्देश = सनेस

अंग्रेज़ी में भी उच्चारण में कुछ व्यंजनों का लोप हो गया है, यद्यपि वर्तनी (spelling) में अभी वे लिखे जाते हैं—

walk,	talk,	right,	night,	daughter
वाक	टाक	राइट	नाइट	डाटर

(ग) अन्त्य-व्यंजन-लोप

सत्य् = सत्	उष्ट्र् = ऊँट्
आम्र् = आम्	निम्ब् = नीम्
	ज़िद्द् = जिद्

अंग्रेज़ी में र (water, father) तथा ब (Bomb) का उच्चारण कुछ शब्दों में नहीं होता। फ़ारसी में भी 'जोशश्' से 'जोश' और 'शरारह्' से 'शरार' हो गया है।

६. अक्षर* लोप (Syllabic elision)

(क) आदि अक्षर-लोप (apheresis)

शहतूत = तूत	त्रिशूल = शूल
अबरेशम = रेशम	defence = fence

(ख) मध्य-अक्षर-लोप

वेस्टकोट = आस्कट, वास्कट	गेहूँजव = गोजई
शादबाश = शाबाश	वितस्ति = बीता
भंडागार = भंडार	गेहूँचना = गोचना
बरुजीवी = बरई	राजकुल्य = राउर
फलाहारी = फलारी	किंचिलक = केंचुआ

(ग) अंत्य-अक्षर-लोप (apocope)

माता = माँ	गुह्य = गूँ
विज्ञप्तिका = विनती	भ्रातृजाया = भावज
मौक्तिक = मोती	कर्तरिका = कटारी
निम्बुक = नीबू	जीव = जी
दीपवर्तिका = दीवट	कुंचिका = कुंजी
सपादिक = सवा	यज्ञोपवीत = जनेऊ

(घ) समाक्षर-लोप (Haplology)

अक्षर-लोप के अंतर्गत उपर्युक्त तीन के अतिरिक्त एक और लोप आता है, जिसे अंग्रेजी में Haplology कहते हैं। यह नाम अमेरिकन भाषाविज्ञानी श्री ब्लूमफ़ील्ड का दिया हुआ है। Haplology में दो शब्द हैं : (१) ग्रीक शब्द haploos, जिसका अर्थ Single या एक है। (२) ग्रीक शब्द logos जिसका अर्थ है जानना। इस प्रकार इसका अर्थ है 'एक को जानना'।

इसमें होता यह है कि किसी शब्द में यदि एक ही अक्षर या अक्षर-समूह दो बार आवे तो एक का लोप हो जाता है। मानव-मस्तिष्क संभवतः एक ही अक्षर या अक्षर-समूह का एक साथ दो बार उच्चारण नहीं करना चाहता, अतः एक को छोड़ देता है। इस छोड़ने को ही समाक्षर-लोप कहते हैं। सभी भाषाओं में इसके उदाहरण मिलते हैं।

नाककटा = नकटा	खरीददार = खरीदार

* अक्षर का अर्थ व्यंजन + स्वर अर्थात् 'सिलेबुल' है।

शेववृधः = शेवृधः

camelleopard = cameleopard
Parttime = Partime
तुवीरववान् = तुवीरवान्
शष्पपिंजर = शष्पिंजर
जहीहि = जहि
Cinemamatinee = Cinematinee

कभी-कभी अक्षर पूर्णतः एक ही न होकर उच्चारण में मिलते-जुलते हों तब भी एक का लोप हो जाता है।

कृष्णनगर = कृष्नगर
मधुदुध = मदुध
पर्यंकग्रंथि = पलत्थी
आदत्त = अत्त

[२] आगम

लोप का उलटा आगम है। इसमें कोई नई ध्वनि आ जाती है। उच्चारण-सुविधा ही इसका भी प्रधान कारण है। लोप की भाँति ही इसके भी कई भेद होते हैं।

अ. स्वरागम

(क) आदि-स्वरागम (Prothesis)

इसमें शब्द के आरम्भ में कोई स्वर आ जाता है। बहुधा यह स्वर ह्रस्व होता है। फारसी और फ्रेंच के लगभग सभी ऐसे शब्दों में आदि स्वरागम हो जाता है, जिनके आरंभ में ऊष्म (स, श, ष आदि) ध्वनियाँ होती हैं। हिन्दी और अंग्रेज़ी में भी यह प्रवृत्ति कुछ दिखाई पड़ती है।

स्कूल = इस्कूल लैटिन Schola = फ्रेंच ecole (स्कूल)
स्पोर्ट = इस्पोर्ट स्काट = इस्काट स्टेशन = इस्टेशन
स्नान = अस्नान स्तुति = अस्तुति स्तबल = अस्तबल

कोई आवश्यक नहीं है कि सर्वदा ऊष्म के पूर्व ही स्वर आवें। अन्य उदाहरण भी मिलते हैं।

प्लेटो = अफ्लातून बिरथा = अबिरथा कलंक = अकलंक
प्रबल = अपरबल न्हाना = अन्हाना

आदि स्वरागम को कुछ लोग 'पुरोहिति' भी कहते हैं।

(ख) मध्य-स्वरागम (anaptyxis)

अज्ञान, आलस्य या बोलने के सुभीते के लिये कभी-कभी बीच में भी स्वर आ जाते हैं। इसे स्वर-भक्ति भी कहते हैं। ऐसे शब्द, जिन्हें और लोग आदि स्वरागम द्वारा बोलने के लिये आसान बनाते हैं, पंजाबी लोग उन्हें मध्य-स्वरागम द्वारा।

जिन लोगों ने पंजाबियों को बोलते सुना है वे सकूल, सटूडेंट, सटेसन, सनान, सप्रिंग (Spring) आदि मध्य-स्वरागम वाले शब्दों से अपरिचित नहीं हैं।

संस्कृत में भी पृथ्वी = पृथिवी तथा जैसे कुछ उदाहरण मिलते हैं। आज की ग्रामीण बोलियों में र् के साथ मध्य-स्वरागम खूब मिलता है।

मर्म = मरम	अर्थ = अरथ	शर्म = सरम
प्रकार = परकार	प्रसाद = परसाद	पूर्व = पूरब
धर्म = धरम	कर्म = करम	पर्व = परब
कृपा = किरिपा	ग्रहण = गरहन	उम्र = उमरि
भ्रम = भरम	गर्म = गरम	प्रजा = परजा

अन्य प्रकार के उदाहरण भी मिलते हैं।

जन्म = जनम	स्वाद = सवाद	मंडं = मंडई
दूज = दुइज		भक्त = भगत
युक्ति = जुगुति	हुक्म = हुकुम	रक्त = रकत

(ग) अन्त-स्वरागम

हिन्दी में या संस्कृत में भी व्यञ्जनांत शब्द बहुत कम हैं, अतः अन्त में स्वर के आने का प्रश्न नहीं उठता। हाँ कुछ ऐसे उदाहरण अवश्य हैं, जिनमें अन्त स्वर का उच्चारण नहीं होता और उनके बाद स्वर आ गये हैं।

स्वप्न् = सपना	सुध् = सुधि	प्रिय् = पिया
सोच् = सोचु	करतूत् = करतूति	
जर्मन agon = अँग्रेजी agony		Marl = marle

हिन्दी में कुछ इसके शुद्ध उदाहरण भी मिलते हैं। जैसे दवा = दवाई या पत्र = पतई आदि।

(घ) समस्वरागम (epenthesis) या अपिनिहिति

कुछ विद्वान् अपिनिहित और स्वर-भक्ति को लगभग एक ही मानते हैं। उनके अनुसार इन दोनों में केवल इतना ही अन्तर है कि स्वर-भक्ति मिश्र ध्वनियों के पूर्व आती है और अपिनिहिति अमिश्र के पूर्व। इसके अनुसार प्रथम का उदाहरण 'इस्कूल' है और दूसरे का 'असवारी'। अन्य लोग ऐसा नहीं मानते। सच पूछा जाय तो ऊपर के दोनों ही उदाहरण स्वर-भक्ति के ही हैं। अपिनिहिति या समस्वरागम कुछ और ही है।

कुछ शब्दों में मुख-सुख के लिये शब्द के आरम्भ या मध्य में ऐसे स्वर की आवश्यकता पड़ती है जो बाद में आया हो। अर्थात् एक स्वर पहले से रहता है और फिर वही उसके पूर्व आ जाता है। इस प्रकार समस्वर का आगम होता है। संस्कृत और अवेस्ता की तुलना करने पर अवेस्ता में अपिनिहिति की विशेषता स्पष्ट हो जाती है। सुविधा के लिये यहाँ उदाहरण रोमन लिपि में दिए जा रहे हैं।

संस्कृत	अवेस्ता
भवति bhavati	bavaiti
अरुषः arusah	auruso
तरुण taruna	tauruna

यहाँ आगत स्वर (epenthetic vowel) i, u, u हैं। यह स्पष्ट है कि उन्हीं स्वरों का आगम हुआ है जो वहाँ पहले से हैं। पूर्वी बंगाल में Karia का Kairia भी ऐसा ही उदाहरण है। अँग्रेजी के भी कुछ शब्दों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है, यद्यपि लिखने में उसका प्रयोग नहीं होता। Goldsmith का उच्चारण Goldismith हो गया है। हिन्दी के शब्द स्थिति (isthiti) तथा स्त्री (istri) आदि की भी यही दशा है और इनका उच्चरित रूप इस्थिति तथा इस्त्री है।*

कभी-कभी स्वर ठीक वही न आकर उसी प्रकृति का (अग्र या पश्च) आता है। जैसे स्टेशन (इस्टेशन)।*

कुछ साधारण उदाहरण और लिए जा सकते हैं।

अस्तबल, अस्तम्भ, अस्तर, अस्तवक, असवारी, अस्मसान, इस्टील, तथा इस्प्रिंग* आदि।

आदि स्वरागम में शब्द के आदि में स्वर आते हैं। यदि वे स्वर वही हैं जो आगे के व्यञ्जन के साथ हैं, या उसी प्रकृति के हैं तो आदि-स्वरागम का वह उदाहरण समस्वरागम (या अपिनिहिति) का भी उदाहरण हो सकता है। इन दोनों में अन्तर केवल दो हैं—

(१) आदि-स्वरागम में स्वर का आगम केवल आदि में होगा पर समस्वरागम में कहीं भी हो सकता है।

(२) समस्वरागम में जिस स्वर का आगम होगा, वही या उसी प्रकृति का दूसरा

* इनमें कुछ आदि-स्वरागम के उदाहरण भी हो सकते हैं

स्वर उस शब्द में पहले से उपस्थित रहेगा पर आदि, स्वरागम में यह आवश्यक नहीं है।

स्वर-भक्ति में भी कोई भी स्वर आ सकता है, अतः वह भी अपनिहिति से अलग है। स्वर-भक्ति में एक विशेषता यह भी है कि स्वर आकर किसी व्यञ्जन को अक्षर (पर्कार (प्रकार) = परकार या धर्म (धर्म) = धरम) बनाता है, पर अपिनिहिति में आधा को पूरा बनाने की यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती।

आ. व्यंजनागम

(क) आदि व्यञ्जनागम

इस आगम के उदाहरण कम मिलते हैं। इसकी कमी का स्पष्ट कारण यह है कि नए व्यञ्जनों को आदि में लाने से प्रयत्न-लाघव या मुख-सुख की दृष्टि से कोई सुविधा नहीं होती। कुछ उदाहरण अवश्य हैं—

ओष्ठ = होंठ (ग्रामीण) अस्थि = हड्डी
(फारसी) आरंज = नारंज (अरबी) Amazon = फारसी हमाजन
औरंगबाद = नौरंगाबाद

(ख) मध्य-व्यञ्जनागम

इसके उदाहरण पर्याप्त संख्या में मिलते हैं।

आलसी = आलकुसी जेल = जेह्ल
समन = सम्मन टालटूल = टालमटोल
लाश = लहाश Panel = Pannel
सुनरी = सुन्दरी शूप = श्राप
सुनर = सुन्दर (गुजराती) अमदाबाद = (हिन्दी) अह्मदाबाद

(ग) अंत-व्यंजनागम

चील = चिल्ह् कल = कल्ह लघु = हलुक्
भौं = भौंह् उमरा = उमराव् राधाकृष्ण = राधाकृष्णान्
(फ्रेंच) Cautio = (अंग्रेजी) caution (अरबी) तिलस्म = (अंग्रेजी) talisman
(फारसी) देह = (हिन्दी) देहात् रंग = रंगत् (अरबी) करिया (गाँव) = करियात् (भोजपुरी)
तारा = (कश्मीरी) तरुख्

३ अक्षरागम

(क) आदि-अक्षरागम

गुंजा = घुंगुची

(ख) मध्य-अक्षरागम

खल = खरल   शबेकद = शबुलक़द   गरीबनिवाज़ = गरीबुलनिवाज़

आलस = आलकस

(ग) अन्त-अक्षरागम

आँख = आँखड़ी   (अरबी) फ़ना = (कश्मीरी) फनायि   बधू = बधूटी

जीभ = जीभड़ी   आँक = आँकड़ा   (अरबी) बला = (भोजपुरी) बलायि

[३] विपर्यय (Metathesis)*

किसी शब्द में स्वर, व्यंजन या अक्षर जब एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं और उस दूसरे स्थान के प्रथम स्थान पर आ जाते हैं तो विपर्यय कहते हैं। जैसे महाराष्ट्र से मरहठा। इसमें ह और र में विपर्यय हो गया है।

इसके प्रधान दो भेद हैं। १. पार्श्ववर्ती, २. दूरवर्ती। अमरूद से अरमूद में पार्श्ववर्ती है, क्योंकि र् और म् पास-पास हैं। लखनऊ से नखलऊ में दूरवर्ती हैं क्योंकि ल और न दूर-दूर हैं।

इन दोनों के ही स्वर, व्यंजन और अक्षर के आधार पर तीन-तीन भेद हो सकते हैं।

अ. स्वर-विपर्यय

(क) पार्श्ववर्ती स्वर-विपर्यय

पुरानी हिन्दी कछु = कुछ   अम्लिका = इमली   जानवर = जनावर

इक्षु = उखि   बिन्दु = बूँदी   खुजली = खजुली

कभी-कभी विपर्यय में थोड़ा सा परिवर्तन भी हो जाता है।

सन्धि = सेंध   पशु = पोस

(ख) दूरवर्ती स्वर-विपर्यय

फाटक = फटका   टाटक = टटका   पागल = पगला

आ. व्यंजन-विपर्यय

(क) पार्श्ववर्ती व्यंजन विपर्यय

चिह्न = चिन्ह   सिग्नल = सिगल   ब्राह्मण = बाम्हन

---

* इसे कुछ लोग 'परस्पर-विनिमय' भी कहते हैं।

(ख) दूरवर्ती व्यंजन-विपर्यय

नारिकेल = नालिकेर
(फ़ारसी) मुकलचा = मुचलका (हिंदी)
उसकाना = उकसाना
वाराणसी = बनारस
बीमार = बेराम
पिशाच = पिचास
डूबना = बूड़ना
लघु = हलुक
(अवेस्ता) बफ़्र = (फ़ारसी) बरफ़
अमरूद = अरमूद
तमगा = तगमा

इ. अक्षर-विपर्यय

(क) पार्श्ववर्ती अक्षर-विपर्यय

इसके उदाहरण कम मिलते हैं।

(अरबी) अज़्रक़ = (उर्दू) अरज़क़ = (नीला) मेहनत = मेनहत (आरा ज़िला)

(ख) दूरवर्ती अक्षर-विपर्यय

लखनऊ = नखलऊ पहुँचना = चहुँपना

ई. एकांगी विपर्यय

वेन्द्रिये ने ऐसे परिवर्तनों को भी विपर्यय माना है, जिनमें कोई एक स्वर, व्यंजन या अक्षर अपना स्थान छोड़कर दूसरी जगह पर चला जाता है, पर उसके स्थान पर कोई दूसरा नहीं आता। इसके भी स्वर, व्यंजन और अक्षर के आधार पर तीन भेद हो सकते हैं, पर उदाहरणों की कमी के कारण उस ओर जाना उचित नहीं। कुछ विदेशी उदाहरण दिए जा रहे हैं —

पुर्तगाली भाषा में Festra का Fresta (खिड़की) हो गया है। इसी प्रकार ब्रिटन की बोली में Debri (खाना) Drebi हो गया है।

उ. आद्य शब्दांश-विपर्यय (Spoonerism)

कभी-कभी साथ के दो शब्दों के आरम्भ के अंशों में विपर्यय हो जाता है। जैसे घोड़ा-गाड़ी का गोड़ा-घाड़ी। बोलने में कुछ लोगों की ऐसी आदत-सी पड़ जाती है। आक्सफोर्ड के डा० डब्लू० ए० स्पूनर (१८४४-१६०३) से यह विपर्यय अधिकतर हो जाता था, अतः उन्हीं के नाम पर इसे स्पूनरिज़्म कहते हैं। स्पूनर साहब के कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं—

Loving Shepherd के स्थान पर Shoving Leopard

Two bags and a rug के स्थान पर Two rags and a bug.

एक बार स्पूनर साहब ने बिगड़ कर एक विद्यार्थी से कहा-you have tasted whole worm (wasted a whole term) । हिंदी उदाहरण के लिए 'कड़ी बिताब' (बड़ी किताब), 'चाल दावल' (दाल चावल) आदि लिए जा सकते हैं।

इसे ध्वनि-सम्मिश्रण (Phonetic Contamination) भी कहा जाता है।

इसमें कभी-कभी तो केवल स्वर-विपर्यय ही होता है। जैसे चूल्हा-चौका से चौल्हा चूका या नून-तेल का नेन-तूल आदि। यह केवल बोलने में हो जाता है। भाषा पर इसका स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता।

[४] समीकरण* (Assimilation)

इसमें एक ध्वनि दूसरी ध्वनि को प्रभावित कर अपना रूप दे देती है, जैसे संस्कृत चक्र से प्राकृत चक्क हो गया है। समीकरण दो प्रकार का होता है, १. व्यंजन का और २. स्वर का। आगे इन दोनों के ही दो-दो भेद होते हैं—(क) पुरोगामी (ख) पश्चगामी। इनमें से प्रत्येक के पार्श्ववर्ती और दूरवर्ती विभेद भी हो सकते हैं।

अ. व्यंजन

(क) दूरवर्ती पुरोगामी समीकरण (Incontact Progressive Assimilation)

इसमें दो ध्वनियाँ पास न रह कर दूर-दूर रहती हैं और पहली ध्वनि दूसरी को प्रभावित करती है। इसके उदाहरण अधिक नहीं मिलते। कचबच या कचपच से कचकच या खटपट से खटखट समझने के लिए माना जा सकता है। 'बिलपना' का आजकल का उच्चारण 'बिलबना' की ओर जा रहा है। संस्कृत का शब्द 'भ्रष्ट' कुछ ग्रामीण बोलियों में 'भरभट' हो गया है।

(ख) पार्श्ववर्ती पुरोगामी समीकरण (Contact Progressive Assimilation)

इसमें ध्वनियाँ पास-पास होती हैं। इसके उदाहरण प्राकृत में पर्याप्त संख्या में मिलते हैं।

चक्र=चक्क, पद्म=पद्द, व्याघ्र=बग्घ, मुक्त=मुक्क
लग्न=लग्ग, यस्य=जस्स, तक्र=तक्क, वक्र=वक्क

हिंदी में चक्र से चक्का तथा पत्र से पत्ता इसके अच्छे उदाहरण हैं।

* सावर्ण्य, सारूप्य तथा अनुरूपता भी इसके नाम हैं।

(ग) दूरवर्ती पश्चगामी समीकरण (Incontact regressive Assimilation)

इसमें दूसरी ध्वनि पहली ध्वनि को प्रभावित करती है। इसके उदाहरण भी अधिक नहीं मिलते।

लैटिन Pequo = Quequo खरकट = करकट, नील = लील
,, Pique = Quique लकड़बग्घा = बगड़बग्घा

(घ) पार्श्ववर्ती पश्चगामी समीकरण (Contact regressive Assimilation)

इसके उदाहरण प्राकृत में बहुत अधिक मिलते हैं।

कर्म = कम्म, धर्म = धम्म, सर्प = सप्प, दुग्ध = दुध्ध (दुद्ध)
भक्त = भत्त, श्रेष्ठ = सेठ्ठ, दुर्गा = दुग्गा

हिंदी में भी शर्करा = सक्कर या कलक्टर = कलट्टर जैसे कुछ उदाहरण मिल जाते हैं।

आ. स्वर

ऊपर हम व्यंजन सम्बन्धी समीकरणों पर विचार कर रहे थे। स्वरों में भी यह प्रवृत्ति देखी जाती है।

(क) दूरवर्ती पुरोगामी समीकरण

ऊपर के व्यंजन-नियम की भाँति इसमें भी प्रथम स्वर दूसरे को प्रभावित करता है।

जुल्म = जुलुम सूरज = सुरुज
खुरपी = खुरुपी विपीलिका = पिपिलिका

इस (is) = इज (iz) इसमें 'इ' घोष थी उसने अघोष व्यंजन (स) को प्रभावित करके घोष (ज) बना लिया।

(ख) पार्श्ववर्ती पुरोगामी समीकरण

साधारणतया शब्द में स्वर पास-पास नहीं रहते। अधिकतर दो स्वरों के बीच में एक व्यंजन पाया जाता है। प्राकृत की अंतिम अवस्था में अधिकतर शब्दों में स्वर-प्राधान्य था। यदि खोज हो तो इसके उदाहरण उस काल के साहित्य में मिल सकते हैं। समझने के लिए कल्पित उदाहरण लिए जा सकते हैं।

अउर = अअर, आइए = आइइ

(ग) दूरवर्ती पश्चगामी समीकरण

अंगुलि = उँगुली इक्षु = उक्खु

असूया = उसूया आदमी = अदमी आदिमी = इदिमी

(घ) पार्श्ववर्ती पश्चगामी समीकरण

पुरोगामी की ही भाँति इसके उदाहरण भी नहीं मिलते। भोजपुरी में शीघ्रता से बोलने में 'कब अइल ह' का 'कब इइल ह' हो जाता है। इसे हम उदाहरण मान सकते हैं।

इ. पारस्परिक व्यंजन समीकरण (Mutual Assimilation)

उपर्युक्त आठ प्रकार के समीकरणों के अतिरिक्त एक प्रकार का और समीकरण होता है। इसे हम अधिकतर व्यंजनों में पाते हैं। दो पार्श्ववर्ती व्यंजन एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और इस पारस्परिक प्रभाव के कारण दोनों ही परिवर्तित हो जाते हैं और एक तीसरा व्यंजन वहाँ आ जाता है।

विद्युत = बिजली सत्य = सच, साच कर्तरिका = कटारी बुद्धि = बूझ

सार्द्ध = साढ़े अनाद्य = अनाज युद्ध = जूझना वाद्य = बाजा

[५] विषमीकरण (Dissimilation)

यह समीकरण का उलटा है। इसमें दो ध्वनियाँ एक सी ही रहती हैं और एक के प्रभाव से या यों ही मुख-सुख के लिए एक ध्वनि अपना स्वरूप छोड़ कर दूसरी बन जाती है। इसके भी व्यंजन तथा स्वर दो भेद तथा कई विभेद हैं।

अ. व्यंजन

इसके दो भेद किए जा सकते हैं :—

(क) पुरोगामी विषमीकरण

जब प्रथम व्यंजन ज्यों का त्यों रहता है और दूसरा परिवर्तित हो जाता है तो उसे पुरोगामी कहते हैं।

लांगूल = लंगूर काक = काग

कंकण = कंगन लैटिन Turtur = अंग्रेजी Turtle

लैटिन Marmor = Marble

(ख) पश्चागामी विषमीकरण

इसमें प्रथम व्यंजन में विकार होता है।

नवनीत = लयनू पुर्तगाली lelloo = नीलाम

दरिद्र = दलिद्दर   सावस (शाबाश) = चाबस

आ. स्वर

व्यंजन की भाँति स्वरों में भी विषमीकरण देखा जाता है।

(क) पुरोगामी विषमीकरण

तिलक = टिकली   पुरुष = पुरिस

(ख) पश्चगामी विषमीकरण

मुकुट = मउर   नूपुर = नेउर

*Kaleb (कुत्ता) = Keleb   मुकुल = बउर

[६] संधि

संस्कृत में इस सम्बन्ध में विस्तार के साथ नियमों का विवेचन किया गया है। ये नियम स्वर और व्यंजन दोनों ही के सम्बन्ध में बने हैं। हिन्दी में भी कुछ संधियों की प्रवृत्ति बोलने में दिखाई पड़ रही है। 'दूध दो' को 'दुद्दो' कहा जाता है पर इसे समीकरण कहना अधिक समीचीन होगा।

इन सबके अतिरिक्त भी भाषा के स्वाभाविक विकास में एक प्रकार की संधियाँ दिखाई पड़ती है। कुछ व्यंजन (प, व, म, य आदि) उच्चारण में स्वर के समीप होने के कारण स्वर में परिवर्तित हो जाते हैं और फिर अपने से पहले के व्यंजन में मिल जाते हैं। कभी-कभी इससे ध्वनियों में इतना परिवर्तन हो जाता है कि साधारणतया समझ में नहीं आता। कुछ उदाहरण विस्तार के साथ लिए सकते हैं।

सपत्नी = सवत = सउत = सौत

शत = सअ = सव = सउ = सौ

नयन = नइन = नैन

चामर = चँवर = चँउर = चौर

समर्पयति = सअँप्पेइ = सवँप्पेइ = सौंपे

अब कुछ ऐसे परिवर्तन लिए जा सकते हैं, जिनके लिये किसी विशेष परिस्थिति की आवश्यकता नहीं होती। ये भाषा के प्रवाह में यों ही आ जाते हैं। इन्हें स्वयंभू कहा जा सकता है। हाँ कभी-कभी स्वराघात अवश्य इनमें कार्य करता है।

[७] ऊष्मीकरण (assibilation)

कभी-कभी कुछ ध्वनियाँ ऊष्म में परिवर्तित हो जाती है। केन्टुम वर्ग की भाषाओं की 'क' ध्वनि सतम् वर्ग में इसी दशा को प्राप्त हो गई हैं। इसी आधार पर केन्टुम और शतम् दो वर्ग भी भारोपीय भाषाओं के बनाए गये हैं।

[८] अनुनासिकता (Nazalization)

कुछ ध्वनियों में अनुनासिकता आ जाती है। जैसे सर्प से साँप में। यहाँ मूल शब्द में अनुनासिकता नहीं थी पर 'साँप' में है। इसका कारण कुछ लोग द्रविड़ भाषाओं का प्रभाव मानते हैं, पर कुछ लोग इसे अकारण मानते हैं। उनका कहना है कि भाषा के स्वाभाविक विकास में ऐसा हो गया है। यों तो इसका कारण मुख-सुख भी हो सकता है। अनुनासिक ध्वनि ही हमारे लिए स्वाभाविक अतः आसान है और इसी लिए कहीं-कहीं उसका अनजाने विकास हो जाता है। कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं।

सर्प = साँप	उष्ट्र = ऊँट	सत्य = साँच	यूक = जूँ
कूप = कुआँ	अश्रु = आँसू	श्वास = साँस	भ्रू = भौं

आज भी कुछ शब्दों में अनुनासिकता आ रही है, यद्यपि लिखने में अभी हमने उन्हें स्वीकार नहीं किया है।

आम = आँम	राम = राँम	हनूमान = हँनूँमाँन	काम = काँम

[९] मात्रा भेद

इसमें स्वर कभी ह्रस्व से दीर्घ और कभी दीर्घ से ह्रस्व हो जाते हैं। इन्हें पूर्णतः स्वयंभू नहीं कहा जा सकता। स्वराघात का इन पर कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। इसके भी कई भेद हो सकते हैं।

(क) दीर्घ से ह्रस्व

नारंगी = नवरंगी, नरंगी	आलाप = अलाप
शून्य = सुन्न	आषाढ़ = असाढ़
आभीर = अहिर	पाताल = पताल
आवाँ = अवाँ	वानर = बन्दर
आगस्ट (August) = अगस्त	आफिसर = अफ्सर
आराम = अराम	आकाश = अकास
आश्चर्य = अचरज	बादाम = बदाम

(ख) ह्रस्व से दीर्घ

प्रिय = पीव	अक्षत = आखत	चिह्न = चीन्हा
अंकुश = आँकुस	कल = काल्ह	कंटक = काँट
लज्जा = लाज	स्कंध = कंधा	पुत्र = पूत

अद्य = आज	जिह्वा = जीभ	भक्त = भात
काक = कागा	हरिण = हिरना	गुरु = गुरू

[१०] घोषीकरण (Vocalization)

कुछ अघोष ध्वनियाँ घोष हो जाती हैं। कभी-कभी ऐसा करने में उच्चारण-सुविधा होती है।

सकल = सगल, सगरो	प्रकट = परगट	मकर = मगर
शाक = साग		एकादश = इगारह
पिपति = पिबति	प्रकाश = परगास	घूक = घुग्घू
कंकण = कंगन	काक = काग, कागा	शर्ती = सर्दी

[११] अघोषीकरण (Devocalization)

इसमें घोष ध्वनियाँ अघोष हो जाती हैं।

साधारणतः इसके उदाहरण अधिक नहीं मिलते।

अदद = अदत	मदद = मदत	ख़र्ज = ख़र्च

पैशाची प्राकृत की यह प्रधान विशेषता थी। उसमें इसके उदाहरण मिलते हैं।

नगर = नकर	गगन = गकन
वारिद् = वारित	मेघ = मेख

भोजपुरी में डंडा और खूबसूरत के स्थान पर कहीं-कहीं 'डंटा' और 'खपसूरत' कहते हैं। ये भी अघोषीकरण के सुंदर उदाहरण हैं।

[१२] महाप्राणीकरण (aspiration)

कभी-कभी अल्पप्राण ध्वनियाँ महाप्राण हो जाती हैं।

वाष्प = बाफ	पृष्ट = पीठ	वृश्चिक = बिच्छू	किश्मिश = मराठी
गृह = घर	ग्रहण = घिरना	धृष्ट = ढीठ	खिसमिस
शुष्क = सूखा	हस्त = हाथ	वेष = भेष	

कश्मीरी भाषा में अरबी, फ़ारसी तथा संस्कृत 'क', 'त', 'द' 'प' प्रायः 'ख' 'थ' 'ध' 'फ' हो गए हैं। जैसे तख़्त का तख़्थ्

इसको भी पूर्णतः स्वयंभू नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अधिकतर ऐसा परिवर्तन उन्हीं शब्दों में होता है जिनमें 'ह' या ऊष्म ध्वनि हो। यों इसके अपवाद भी मिलते हैं।

कल्य = काल्ह	परशु = नेपाली फर्सा	तप = कश्मीरी तफ
ताक = ताखा	तंत्र = कश्मीरी तंथ्	तुज़ुक = कश्मीरी तुज़ुख

[१३] **अल्पप्राणीकरण** (Deaspiration)

कुछ शब्दों में महाप्राण का अल्पप्राण भी हो जाता है। ग्रैसमैन नियम में भी जिसका आगे ध्वनि-नियम शीर्षक के अन्तर्गत वर्णन है, ये ही बातें पाई जाती हैं।

भोधामि = बोधामि	सिन्धु = हिन्दु	व्याधि = कश्मीरी वोद
धधामि = दधामि	विधि = कश्मीरी व्यद	युद्ध = कश्मीरी य्वद्

[१४] **अभिश्रुति** (Umlaut or Vowel Mutation)

किसी स्वर, अर्द्धस्वर या भाषा की प्रवृत्ति के कारण जब किसी शब्द में अपिनिहित के कारण आया हुआ स्वर परिवर्तित हो जाता है तो उसे अभिश्रुति कहते हैं। यह सर्व प्रथम जर्मैनिक भाषाओं में देखा गया।

Mani = maini = men

यहाँ maini में की प्रथम i अपिनिहित के कारण है फिर उसका परिवर्तन men में हो गया है।

इसी प्रकार बँगला में करिआ (Karia) = कैरिआ (Kairia)
= कोरे (Kore) है।

'umlaut' नाम ग्रिम महाशय का दिया हुआ है। उनके अनुसार किसी स्वर के प्रभाव से पहले आए स्वर के परिवर्तन को ही 'Umlaut' कहते हैं। इसमें प्रभावित करने वाला स्वर बहुधा i होता है।

अभिश्रुति भारोपीय परिवार के अतिरिक्त कुछ यूराल-अल्टाइक में भी मिलती है।

(१५) **अपिश्रुति** (Ablaut या Vowel gradation)

बहुधा ऐसा देखा जाता है, कि व्यंजन ज्यों के त्यों रहते हैं और केवल स्वर में अन्तर से अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। इसी को अपिश्रुति या स्वरीय अपिश्रुति (Vocalic Ablaut) कहते हैं। रूप-विचार के अंतर्गत संबंध-तत्त्व के प्रकारों पर विचार करते समय इस पर कुछ प्रकाश डाला गया है।

अपिश्रुति, सेमिटिक परिवार की प्रधान भाषा अरबी की प्रधान विशेषता है और इसके बहुत से शब्दों में पायी जाती है। धातु (माद्दा) प्रायः तीन व्यंजनों की होती है और उसमें विभिन्न स्वरों को जोड़कर अर्थ में में विभिन्नता लाते हैं। जैसे क् त् ल से क़त्ल, क़ातिल आदि, या क् त् ब् (= लिखना) से किताब, कुतुब, कातिब आदि।

सेमिटिक के अतिरिक्त यह भारोपीय परिवार में भी पाया जाता है।

हिन्दी—करना, करनी, कराना।

मेल, मिली, मिला, मिलो, मिले।

संस्कृत—भृतः, भरति,

अंग्रेज़ी—sing, sang, sung.

Man, Men.

अपिश्रुति का कारण प्रधानतः स्वराघात होता है ध्वनि के गुणों पर विचार करते समय हम संगीतात्मक और बलात्मक स्वराघातों पर विचार कर चुके हैं। इन दोनों का ही प्रभाव शब्दों के स्वरों में परिवर्तन लाकर अपिश्रुति उपस्थित करता है।

यह स्वर-परिवर्तन दो प्रकार का होता है, जिसे क्रम से गुणीय परिवर्तन (qualitative) और परिमाणीय परिवर्तन (quantitative change) कहते हैं। एक में तो स्वर पूर्णतः बदल कर दूसरा हो जाता है और दूसरे में ह्रस्व का दीर्घ या दीर्घ का ह्रस्व हो जाता है।

'ablaut' का पता सर्वप्रथम १८७१ में चला था।

ध्वनि-नियम (Phonetic law)

पीछे हम लोग ध्वनि-संबंधी परिवर्तन पर विचार कर चुके हैं। उनमें से बहुत से परिवर्तन तो किसी विशेष नियमानुसार नहीं चलते पर अन्य कुछ ऐसे भी होते हैं जो नियमों पर आधारित होते हैं। यहाँ नियमों का आशय यह है कि उनके घटित होने की परिस्थितियों में बहुधा एकरूपता रहती है। उस एकरूपता को ही एक नियम कहा जाने लगा है।

नियम की परिभाषा

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि 'नियम' कहते किसे हैं। नियम का अधिकतर प्रयोग प्राकृतिक नियम के लिये होता है, जो किसी विशेष वस्तु आदि के संबंध में लागू होते हैं। यदि विशेष परिस्थितियों में पड़कर कोई क्रिया समय और स्थान की सीमा तोड़ कर सर्वदा घटित हुआ करती है, तो उसे नियम की संज्ञा देते हैं। जैसे कोई संख्या एक से कम की संख्या से गुणा करने पर घटती और अधिक से गुणा करने पर बढ़ती है।

प्राकृतिक नियम और भाषा-संबंधी नियम में अन्तर

(१) प्राकृतिक नियम किसी काल विशेष की अपेक्षा नहीं रखते। चार और चार जोड़ने से सर्वदा आठ होता है, होता था, और आगे भी होगा, पर भाषा के ध्वनि-नियम में यह बात नहीं है। भारतीय आर्यभाषा के इतिहास में प्राचीन काल से मध्य में आने में जो परिवर्तन घटित हुए हैं, मध्य से आधुनिक काल में आने में नहीं हुए हैं। भविष्य के लिये भी हम निश्चित नहीं हैं कि वे परिवर्तन घटित होंगे या नहीं।

(२) प्राकृतिक नियम काल की भाँति ही दशा या स्थान की भी अपेक्षा नहीं रखते। न्यूटन का नियम प्रायः सर्वत्र लागू होता है पर ध्वनि-नियम की इस संबंध में भी सीमाएँ हैं,जिनको वह लाँघ नहीं सकता।

(३) प्राकृतिक नियम अंधे की भाँति काम करते हैं और कोई अपवाद नहीं छोड़ते पर इसके विरुद्ध ध्वनि-नियम अपवाद छोड़ते चलते हैं। संस्कृत कर्म का मध्य काल में कम्म होकर आज काम हो गया, इसी प्रकार घर्म = घम्म = घाम हो गया पर धर्म = धम्म होकर 'धाम' न हो सका और वह 'धरम' हो गया।

ध्वनि-नियम नाम की अशुद्धि

ऊपर प्राकृतिक नियम और ध्वनि-नियम के अन्तर पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि नियम की स्थिरता ध्वनि-नियमों में नहीं पाई जाती। इसीलिये कुछ विद्वानों का मत है, कि ध्वनि-नियम नाम ही भ्रामक और अशुद्ध है। वे इसे ध्वनि-प्रवृत्ति (Phonetic Tendency) या ध्वनि-फ़ारमूला कहना अधिक और शुद्ध समझते हैं।

ध्वनि-नियम और ध्वनि-प्रवृत्ति

दूसरी ओर कुछ अन्य विद्वान ध्वनि-नियम और ध्वनि-प्रवृत्ति में अन्तर मानते हैं। उनके अनुसार जो ध्वनि-विकार या ध्वनि-परिवर्तन आरम्भ होता है पर थोड़ी दूर चलने के बाद मर जाता है और सफल नहीं हो पाता, ध्वनि-प्रवृत्ति है, किंतु ऐसे ध्वनि-परिवर्तन जो धीरे-धीरे पूरी सफलता प्राप्त कर लेते हैं, अपने घटित होते रहने के काल में (अर्थात् पूर्ण-रूपेण हो जाने के पूर्व) ध्वनि-प्रवृत्ति कहे जाते हैं पर पूर्ण हो जाने पर उन्हें ध्वनि-नियम कहेंगे। इसी कारण यह भी कहा गया है कि ध्वनि-नियम वर्तमान या भविष्य के संबन्ध न होकर केवल भूत के संबन्ध में होते हैं।

ध्वनि-नियम में अपवाद और उनके कारण

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है ध्वनि-नियमों के अपवाद भी मिलते हैं। इन अपवादों के चार कारण हो सकते हैं। सबसे बड़ा कारण तो सादृश्य है। सादृश्य के नियमानुसार दूसरा रूप धारण करने वाले शब्दों का रूप कुछ और हो जाता है। दूसरा कारण है अन्य भाषा से शब्दों का उधार आना। बहुधा हाल के आए विदेशी शब्दों में ध्वनि-नियम लागू नहीं होते। अपवाद मिलने का तीसरा कारण यह होता है कि कभी-कभी हम अपनी ही भाषा के उस काल से शब्द उधार ले लेते हैं जब वह नियम विशेष लागू नहीं हुआ रहता। चौथा कारण यह भी हो सकता है कि कभी-

कभी अन्य भाषा का मिलता-जुलता शब्द आकर अधिकार जमा लेता है और पुराने ... ही रूप ज्ञात होता है तो उसे भी अपवाद मानना पड़ता है। उदाहरणार्थ ध्वनि-नियम के अनुसार कोट्टपाल को कोट्टाल और फिर कोटाल होना चाहिये, जैसा कि बँगला में प्रचलित भी है, पर बीच में फारसी शब्द कोतवाल मुसलमानों के साथ आ गया और उसने हिन्दी में अधिपत्य जमा लिया। अब आज साधारण दृष्टि से देखने पर कोट्टपाल का विकार

कोट्टपाल = कोट्टाल = कोतवाल

लगता है, पर ऐसे उदाहरण बहुत नहीं मिलते, अतः इसे अपवाद कहा जाता है।

इसी प्रकार कितने ही मानसिक अन्य कारण भी संभव हैं।

ध्वनि-नियम की वैज्ञानिक परिभाषा

किसी विशिष्ट भाषा की कुछ विशिष्ट ध्वनियों में, किसी विशिष्ट काल और कुछ विशिष्ट दशाओं में, हुए नियमित परिवर्तन या विकार को उस भाषा का ध्वनि-नियम कहते हैं।

इस परिभाषा के चार अंग हैं।

(१) ध्वनि-नियम किसी भाषा विशेष का होता है। एक भाषा के ध्वनि-नियम को दूसरी पर नहीं लागू कर सकते। अँग्रेज़ी के अधिकतर शब्दों के अन्तिम आर (R) का उच्चारण नहीं किया जाता। अर्थात् फ़ादर (Father) का उच्चारण फ़ादअ होता है, पर हिंदी में इसे लागू करके हम अम्बर का अम्बअ नहीं कह सकते।

(२) एक भाषा की भी सभी ध्वनियों पर वह नियम न लागू होकर कुछ विशिष्ट ध्वनियों या ध्वनि-वर्ग पर लागू होता है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में आर (R) को अनुच्चरित होते देख हम अन्तिम (N) को भी अनुच्चरित करके मैन (Man) को मैअ नहीं कह सकते और न गन (gun) को गअ कह सकते हैं।

(३) ध्वनि-परिवर्तन का भी एक विशिष्ट काल होता है। इस अन्तिम आर (R) के अनुच्चरित होने का नियम नवीन है। इसे चासर या शेक्सपीयर के काल पर लागू नहीं किया जा सकता।

(४) किसी विशिष्ट भाषा के किसी विशिष्ट काल में कोई विशिष्ट ध्वनि भी यों ही परिवर्तित नहीं हो सकती। उसके लिए विशिष्ट दशा या परिस्थिति की आवश्यकता पड़ती है। उपर्युक्त उदाहरण में ही एक मत के अनुसार ऐसा नियम है कि वाक्य में

किसी शब्द के अन्त में आर (R) हो और उसके पश्चात् आने वाला शब्द किसी व्यञ्जन से आरम्भ होता हो, तब तो यह अनुच्चरित होने का नियम लागू होगा, और यदि स्वर से आरम्भ होता हो तो न होगा। इस प्रकार ध्वनि-नियम परिस्थितियों से प्रायः बँधा रहता है।

कुछ प्रसिद्ध ध्वनि-नियम

(क) ग्रिम-नियम

इस नियम की ओर संकेत करने वाले दो व्यक्ति, इहरे और डैनिश विद्वान रैस्क हैं, पर इन लोगों ने संकेत मात्र किया था। इसकी पूरी विवेचना और छानबीन करने वाले अध्येता, जर्मन भाषा के महान पंडित याकोब ग्रिम हैं। आपने १८१९ में जर्मन भाषा का एक व्याकरण प्रकाशित किया। सन् १८२२ में उसके दूसरे संस्करण में आपने इस नियम का विवेचन किया। इनके ही नाम पर इस नियम का नाम 'ग्रिम नियम' है। इस नियम का सम्बन्ध भारोपीय स्पर्शों से है, जो जर्मन भाषा में परिवर्तित हो गये थे। इसे जर्मन भाषा का वर्ण-परिवर्तन कहते हैं, जिसके लिए जर्मन शब्द 'Lautverschiebung' है। जर्मन भाषा का यह वर्ण-परिवर्तन दो बार हुआ। प्रथम वर्ण-परिवर्तन ईसा के कई सदी पूर्व हुआ था और दूसरा वर्ण-परिवर्तन उत्तरी जर्मन लोगों से ऐंग्लो-सैक्सन लोगों के पृथक् होने के बाद लगभग ७वीं सदी में हुआ। दोनों ही का कारण जातीय-मिश्रण कहा जाता है।

प्रथम वर्ण-परिवर्तन

इस प्रथम वर्ण-परिवर्तन में मूल भारोपीय भाषा के कुछ स्पर्श परिवर्तित हो गए थे, जिन्हें तालिका रूप में यों दिया जा सकता है—

(क) भारोपीय मूल भाषा के घोष महाप्राण स्पर्श घ्, ध्, भ्	जर्मनिक में घोष अल्पप्राण ग्, द्, ब् हो गए।
(ख) भारोपीय मूल भाषा के घोष अल्पप्राण ग्, द्, ब्	जर्मनिक में अघोष अल्पप्राण क्, त्, प् हो गए।
(ग) भारोपीय मूल भाषा के अघोष अल्पप्राण क्, त्, प्	जर्मनिक में सघर्षी अघोष महाप्राण ख़् (ह्), थ़्, फ़् (ख्) (थ्) (फ्) हो गए।

मूल भारोपीय भाषा के ये व्यञ्जन संस्कृत तथा ग्रीक आदि में सुरक्षित हैं। अतः उदाहरण के लिए मूल के स्थान पर संस्कृत* या ग्रीक शब्द लिए जा सकते हैं। इसी प्रकार परिवर्तित स्पर्शों को दिखलाने के लिए जर्मनिक वर्ग की अँग्रेज़ी भाषा के शब्द लिए जा सकते हैं—

	संस्कृत	अँग्रेज़ी
(क)	घ् (ह्) से ग् = हंस, दुहिता ...	गूज़ (goose) डॉ (ग) टर (daughter)
	ध् से द् (ड) = विधवा, धूम ...	विडो (widow), डस्ट (dust)
	भ् से ब् = भू, भ्रातृ ...	बी (Be) ब्रदर (Brother)
(ख)	ग् से क् = गो, योग ...	काउ (cow) योक (yoke)
	द् से त् (ट) = द्वौ, दशन् ...	टू (Two) टेन (Ten)
	ब् से प् = (इसका संस्कृत में उदाहरण नहीं मिलता) आदि-भाषा में *स्लेउब् का अँग्रेजी में Slip	
(ग)	क् से ख् (ह्) = कद्, कः ...	ह्वाट (what), हू (who)
	त् से थ् = दंत, तनु, त्रि ...	टूथ (tooth), थिन (thin) थ्री (Three)
	प् से फ् = पिता, पशु, पाद ...	फादर (Father) फी (Fee) फुट (Foot)

[उपर्युक्त उदाहरणों में कहीं-कहीं एक ही शब्द दो भाषाओं में दो अर्थ रखता दिखाई पड़ रहा है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि दोनों भिन्न-भिन्न शब्द हैं। अर्थ-परिवर्तन के प्रकरण में हम देखेंगे कि किस प्रकार शब्दों का अर्थ कभी-कभी बहुत दूर चला जाता है।]

द्वितीय वर्ण-परिवर्तन

प्रथम वर्ण-परिवर्तन में मूल भाषा से जर्मनिक भाषा भिन्न हुई थी पर इस द्वितीय में जर्मन भाषा के ही दो रूप उच्च जर्मन और निम्न जर्मन में यह अन्तर पड़ा। बात यह हुई कि निम्न जर्मन वाले (अंग्रेज़ आदि) विकास के पूर्व ही वहाँ से हट गये,

* हम लोग संस्कृत और अँग्रेज़ी से ही विशेष परिचित हैं, अतः मूल के स्थान पर संस्कृत और जर्मेनिक के अँग्रेज़ी शब्द उदाहरण में लिये गए हैं।

अतः उनमें तो कोई अन्तर नहीं पड़ा। पर, उच्च जर्मन वाले जो वहीं थे द्वितीय परिवर्तन के शिकार हुए और फल यह हुआ कि उच्च और निम्न जर्मन की कुछ ध्वनियाँ भिन्न-भिन्न हो गईं।

निम्न जर्मन की प्रतिनिधि अँग्रेज़ी को मान हम कुछ उदाहरण ले सकते हैं—

	निम्न जर्मन (अँग्रेज़ी)	उच्च जर्मन
प् का फ्	= डीप (deep), शीप (Sheep)	टीफ (tief), शाफ (Schaf)
ट् का ट्स् य स्स्	= फूट (foot), लेट (let)	फस्स (fuss)), लासेन (lassen)
क् का ख् (ह्)	= योक (yoke)	याख (Joch)
व्ह् का ब्	= डोव्ह (dove)	टाउबे (taube)
ड् का ट्	= डीड (deed)	टाट (tat)
थ् का ड् (द)	= थ्री (three)	द्राय (Drei)

आलोचना

प्रथम और द्वितीय वर्ण-परिवर्तन के सम्बन्ध में ग्रिम ने जो तालिका दी थी वह इस प्रकार है—

मूल भाषा		आदिम जर्मनिक		उच्च जर्मन
घ् ध् भ्	=	ग् द् ब्	=	क् त् प्
ग् द् ब्	=	क् त् प्	=	ख् (ह्) थ् फ्
क त् प्	=	ख् (ह) थ् फ़्	=	ग् द् ब्
प्रथम वर्ण-परिवर्तन				द्वितीय वर्ण-परिवर्तन

हम देखते हैं कि इस प्रकार नियम बहुत सुलझा हुआ दिखाई पड़ता है पर, यथार्थतः बात ऐसी नहीं है। दोनों परिवर्तनों में इस प्रकार की समानता नहीं है जैसी ग्रिम ने दिखलाने की कोशिश की थी। यहाँ तालिका में दिया गया प्रथम वर्ण-परिवर्तन अपवादों के रहते हुए भी ठीक है पर द्वितीय के उदाहरण ठीक इस रूप में नहीं मिलते, साथ ही इसके अपवाद भी बहुत हैं। ग्रिम ने द्वितीय वर्ण-परिवर्तन के उदाहरण इसी

रूप में इकट्ठा करने का प्रयास किया पर उसे अपेक्षित सफलता न मिली। प्रथम वर्ण-परिवर्तन के साथ द्वितीय-परिवर्तन का शुद्ध रूप कुछ इस प्रकार हो सकता है—

मूल भाषा*	निम्न जर्मन या आदिम जर्मन	उच्च जर्मन
gh; dh; bh;	g; d; b;	×; t; ×
g; d; b;	k; t; p;	×, z, ss, sz; f;
k; t, p;	kh (h); th; f,	×; d; st; ×

(ख) ग्रैसमैन नियम

ग्रिम को स्वयं अपने नियम के पर्याप्त अपवाद मिले थे। उसके साधारण नियमानुसार क्रमशः क्, त्, प् का ख् (ह्), थ् फ् होना चाहिये। पर कुछ शब्दों में क् त् प् का ग् द् ब् मिलता है। उदाहरणार्थ ग्रीक किग्वा से हो (ho), तुप्लोस से थम (thump) और पिथास से फाडी (fody) बनना चाहिये पर बनता है गो (go), डम (dumb) बाडी (Body)।

ग्रैसमन ने यह खोज निकाला कि भारोपीय मूल भाषा में यदि शब्द या धातु के आदि और अन्त दोनों स्थानों पर महाप्राण हो तो संस्कृत, ग्रीक आदि में एक अल्पप्राण हो जाता है।

संस्कृत की √ हु (=हवन करना) का रूप बनना चाहिये

हुहोति, हुहुतः, हुह्वति

पर रूप है—

जुहोति, जुहुतः, जुह्वति

इसी प्रकार √ भृ (=डरना) से भिभर्ति आदि न होकर बिभर्ति आदि रूप बनते हैं।

इसका अर्थ यह हुआ कि भारोपीय मूल भाषा की दो अवस्थाएँ रही होंगी। प्रथमावस्था में दो महाप्राण रहे होंगे और दूसरी अवस्था में नहीं, अतः अपवाद स्वरूप क् त् प् आदि के स्थान पर जहाँ ग् द् ब् मिलते हैं; प्राचीन काल में क् त् प् का पुराना रूप ख् (ह्) थ् फ् अर्थात् भारोपीय में घ् ध् भ् रहा होगा और घ् ध् भ् से ग् द् ब् बना होगा जो पूर्णतः नियमानुकूल है।

---

* स्पष्टता के लिये रोमन लिपि का प्रयोग किया गया है। यह टकर की पुस्तक से लिया गया है।

इस प्रकार ग्रिम-नियम में जितने अपवाद इस तरह के थे, जिनमें ग्रिम नियम से एक पग आगे परिवर्तन हो जाता था ग्रैसमैन नियम से समाधानित हो गये। पीछे ध्वनि-परिवर्तन के प्रकरण में अल्पप्राणीकरण पर विचार करते समय इसके कुछ उदाहरण दिये गये हैं।

(ग) वर्नर-नियम

उपर्युक्त दोनों नियमों के बाद भी कुछ अपवाद रह गये थे। वर्नर ने यह पता लगाया कि ग्रिम-नियम स्वराघात (accent) पर आधारित था। मूल भाषा के क्, त्, प् के पूर्व यदि स्वराघात हो तो ग्रिम-नियम के अनुसार परिवर्तन होता है पर यदि स्वराघात क् त् प् के बाद वाले स्वर पर हो तो परिवर्तन एक पग और आगे ग्रैसमैन की भाँति ग् द् ब् हो जाता है।

संस्कृत	गाथी
सप्त	सिबुन
शतम	हुन्द

ग्रिम ने यह भी कहा था कि स् के लिये स् ही मिलता है पर कुछ उदाहरणों में स् के स्थान पर र् मिला। इसके लिये भी वर्नर ने स्वराघात का ही कारण बतलाया। स् के पूर्व स्वराघात हो तो स् रहेगा पर यदि बाद में हो तो र् हो जायेगा।

एक और तीसरी बात वर्नर ने बतलायी कि यदि मूल भारोपीय क् त् प् आदि के पूर्व स् मिला हो (अर्थात् स्क, स्त, स्प) तो जर्मेनिक में आने पर शब्द में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं मिलता।

लैटिन	अंग्रेज़ी	गाथी
piskis	—	fisks
aster	Star	

इसी प्रकार त् यदि क् या प् के साथ हो तो भी कोई परिवर्तन नहीं होता।

इतने पर भी ग्रिम-नियम के अपवाद हैं, जिनके लिए सादृश्य ही मूल कारण माना जाता है।

(घ) तालव्य-नियम (Palatal law)

बहुत निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि सर्वप्रथम इसकी खोज किसने की। सत्य यह है कि कई विद्वान् लगभग एक ही समय यहाँ तक पहुँचने में सफल हुए। इसी कारण किसी एक व्यक्ति को इसका श्रेय देना लोग ठीक नहीं

समझते। १८७५ में विल्हेम थाम्सन ने अपने व्याख्यान में इसकी ओर संकेत किया था, पर इस सम्बन्ध में उनका विस्तृत लेख प्रकाश में आ भी नहीं पाया था कि जोहन्स श्मिट ने अपना लेख तैयार कर लिया। यह लेख इसकी एक पुस्तक में १९२० में प्रकाशित हुआ। इन दोनों के अतिरिक्त एसाय तेंगर की भी एक छोटी-सी पुस्तिका इस विषय पर निकली। पर उस पुस्तक में एसाय तेंगर ने दिया है कि उनके पूर्व भी कालित्ज तथा दे सौशोर ने कुछ ऐसे विचार प्रकट किए थे। उपर्युक्त पाँचों विद्वानों के अतिरिक्त वर्नर भी कुछ इस परिणाम तक पहुँच चुका था। इस प्रकार तालव्य नियम के साथ छः विद्वानों के नाम सम्बद्ध हैं, यद्यपि कुछ लोग इसे 'कालित्ज का तालव्य नियम' भी कहते हैं।

इस नियम के ज्ञात होने के पूर्व तक विद्वानों का विश्वास था कि कुछ शब्दों में संस्कृत अधिक बातों में अन्य सगोत्रीय-भाषाओं की अपेक्षा मूल भारोपीय भाषा के निकट है। कुछ शब्दों में संस्कृत के च् और ज् के स्थान पर अन्य भाषाओं में क् और ग् मिलते थे। इससे लोगों ने यह अनुमान किया था कि वहाँ पर मूलतः च् और ज् ही थे और ध्वनि-परिवर्तन से अन्य भाषाओं में क् और ग् हो गए। इस परिवर्तन का कारण अब तक विद्वानों की समझ में न आ सका था।

तालव्य नियम की खोज के फलस्वरूप यह ज्ञात हुआ कि जिन संस्कृत शब्दों में 'अ' स्वर, ध्वनि की दृष्टि से ग्रीक या लैटिन ओ (o) की भाँति है उसके पूर्व क् या ग् ही व्यंजन पाया जाता है, पर यदि 'अ' स्वर लैटिन या ग्रीक ई (e) की भाँति है, तो कंठ्य क् या ग् न होकर तालव्य च् और ज् मिलता है। उदाहरणार्थ च (च्+अ में अ ग्रीक ई (e) की भाँति है) और क (क+अ में अ ग्रीक ओ (o) की भाँति है) लिए जा सकते हैं। एक ही धातु √पच से बने रूप 'पचति' और 'पकस्' में भी यह बात देखी जा सकती है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि किसी समय संस्कृत में अ के स्थान पर ई (e) और o (ओ) स्वर थे। अग्रस्वर 'इ' के पूर्व का कंठ्य व्यंजन* तालव्य में बदल गया जिसके फलस्वरूप क् का च् और ग् का ज् हो गया। कंठ्य व्यंजन के तालव्य हो जाने से इसे तालव्य-नियम कहा

* मूल भारोपीय भाषा की ध्वनियों पर हम पारिवारिक वर्गीकरण करते समय विचार कर चुके हैं। उसमें जैसा कि हमने देखा ३ श्रेणी के कवर्ग या कंठ्य व्यंजन थे। तालव्य नियम के अनुसार जो क् ग् तालव्य में परिवर्तित हो गए, तृतीय श्रेणी के अर्थात् क्व् तथा ग्व् थे।

जाता है। इस खोज से संस्कृत के मूल से समीप होने की धारणा बदल गई और अब संस्कृत की अपेक्षा ग्रीक लैटिन आदि मूल भारोपीय भाषा के अधिक समीप समझी जाने लगी हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि तालव्य-नियम के अनुसार मूल भारोपीय भाषा का तृतीय* श्रेणी का कवर्ग संस्कृत में कहीं तो कवर्ग ही रहा पर पहले आने वाले स्वर के कारण कहीं-कहीं चवर्ग (तालव्य) में परिवर्तित हो गया।

इन प्रधान ध्वनि नियमों के अतिरिक्त **ग्रीक नियम** [मूल भारोपीय शब्द में दो स्वरों के बीच के 'स्' का ग्रीक भाषा में पहले 'ह्' हो जाना और फिर लुप्त हो जाना, जैसे *Genesos = genehos = geneos] **लैटिन नियम** [मूल भारोपीय शब्द में दो स्वरों के बीच के 'स्' का परिवर्तित होकर 'र्', हो जाना, जैसे* Genesos = generos (Generis)] **फ़ारसी नियम** [संस्कृत की 'स' ध्वनि का फारसी में ह मिलना जैसे सप्त-हफ्त, सिंध-हिंद] **ओष्ठ्य नियम**, तथा **मूर्द्धन्य नियम** आदि अनेक और ध्वनि-नियम भी हैं।

ध्वनि-श्रेणी-विज्ञान (Phonemics)

भाषा-विज्ञान में ध्वनि के अध्ययन की अब तक दो शाखाएँ रहीं हैं—१. ध्वनि-शास्त्र, तथा २. ध्वनि-विज्ञान। एक में ध्वनि-अवयव (ध्वनियंत्र, स्वरतंत्री, मुख-विवर तथा नासिका-विवर), ध्वनि उत्पन्न होने की क्रिया, ध्वनि-तरंग तथा उसके सुने जाने का अध्ययन होता है तो दूसरे में ध्वनि-विकास या ध्वनि-परिवर्तन, उसके कारण, विभिन्न भाषाओं या बोलियों की ध्वनियों का तुलनात्मक अध्ययन तथा इस आधार पर ध्वनि-नियमों का निर्धारण आदि होता है। इधर अमेरिका में एक नवीन या तीसरी शाखा का विकास हुआ है, जिसे ध्वनि-श्रेणी-विज्ञान (Phonemics) कहते हैं।

इस विज्ञान के अमेरिका में ही विकसित होने या किये जाने का भी एक कारण है। इधर अमरीकी भाषाविज्ञान-वेत्ताओं ने वहाँ के मूल निवासियों की भाषा का अध्ययन तथा विश्लेषण शुरू किया तो उन्हें उन भाषाओं को लिपिबद्ध करने में कठि-नाई का अनुभव हुआ। सामान्यतः केवल सुनने से यह ठीक पता नहीं चल पाता कि किसी भाषा या बोली में कितनी ध्वनि-श्रेणियाँ (Phonemes) हैं और बिना यह जाने वैज्ञानिक ढंग से किसी भाषा को लिपिबद्ध नहीं किया जा सकता। अतएव इन

* देखिए पिछले पृष्ठ का फुटनोट।

लोगों ने किसी ऐसी प्रणाली की खोज प्रारंभ की, जिससे किसी भाषा की मूल ध्वनियों या प्रधान ध्वनिश्रेणियों का पता चल सके और फिर उनके लिए लिपिचिह्न बना या मान लिए जायँ तो उस भाषा का शास्त्रीय अंकन संभव हो सके। इस खोज के फल-स्वरूप इन लोगों ने जिस प्रणाली की प्राप्ति की है वही ध्वनि-श्रेणी-विज्ञान या 'फोनेमिक्स' है।

ध्वनि-श्रेणी-विज्ञान की परिभाषा कुछ इस प्रकार दी जा सकती है—

ध्वनिश्रेणी विज्ञान वह विज्ञान है, जिसमें किसी भाषा को लिपिबद्ध करने के उद्देश्य से उसके शब्दों के विश्लेषण द्वारा उसकी ध्वनि-श्रेणियों (Phonemes) तथा उपध्वनि-श्रेणियों (Sub-Phonemes) का पता लगाया जाता है।

ध्वनि श्रेणियों तथा उपध्वनि-श्रेणियों का पता लग जाने पर ध्वनि-श्रेणियों के लिए तो लिपिचिह्न माने या बनाए जाते हैं और उपध्वनि-श्रेणियों को उन ध्वनि-श्रेणियों के आश्रित मान कर या उन्हें अप्रधान या 'उप' मानकर छोड़ दिया जाता है। ध्वनि-श्रेणी-विज्ञान के अनुसार लिखने में उपध्वनि-श्रेणियाँ भी ध्वनि-श्रेणियों के लिए बने चिह्नों द्वारा ही लिखी जाती हैं। उनकी स्वतन्त्र सत्ता न मानी जाने के कारण उनके लिए स्वतन्त्र लिपि-चिह्नों की आवश्यकता नहीं समझी जाती।

ध्वनि-श्रेणी-विज्ञान अभी तक एक अर्द्धविकसित विज्ञान है और केवल अमेरिका के भाषा-विज्ञान-वेत्ता ही विशेष रूप से इसकी उपयोगिता में विश्वास रख रहे हैं। यूरोप के विद्वानों ने अभी तक इसके महत्व को पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं किया है।

ध्वनि-श्रेणी-विज्ञान का प्रयोग अमेरिका, अफ्रीका तथा भारत की कई बोलियों की ध्वनि-श्रेणियों के अध्ययन के लिए किया गया है तथा आज भी किया जा रहा है। इस विज्ञान के अभी तक पूर्ण विकसित न होने के कारण तथा किसी जीवित भाषा के द्वारा इसका अभ्यास सरल एवं व्यवहार्य न होने के कारण इसका अध्ययन एवं अभ्यास करने वाले विद्यार्थियों के लिए ध्वनि-श्रेणी-विज्ञान के पोषकों ने एक काल्पनिक भाषा बनाई है, जिसका नाम कलब, कलबा या कलाबा ((Kalaba) है।

इस विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० केनेथ एल० पाइक ने 'कलबा' नाम पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि विद्यार्थियों को अभ्यास के लिए बोले गए अक्षरों (Syllables) में क ल ब के बार-बार आने से यों ही इसका नाम 'कलबा' पड़ गया। आशय यह है कि इस काल्पनिक भाषा का नाम किसी ने समझ-बूझ कर 'कलबा' नहीं रक्खा। बोले गए उदाहरणों में क ल ब बार-बार आया और लोग इसे 'कलबा' कहने लगे।

ध्वनि-श्रेणी-विज्ञान की प्रणाली बड़ी ही सरल तथा स्पष्ट है। जिस भाषा या बोली की ध्वनि का विश्लेषण कर ध्वनि-श्रेणी का पता लगाना अपेक्षित होता है, उसके शब्दों की एक सूची ले ली जाती है और फिर उनमें से स्वरों तथा व्यंजनों को अलग-अलग छाँट कर उच्चारण-स्थान तथा प्रयत्न आदि के अनुसार उनको वर्गीकृत करते हैं। वर्गीकृत हो जाने पर ध्वनि-श्रेणियों तथा उपध्वनि-श्रेणियों को अलग-अलग कर लेते हैं।

स्वरों के वर्गीकरण के लिए अग्र, मध्य, पश्च तथा संवृत, अर्धसंवृत, अर्धविवृत और विवृत तथा व्यंजनों के वर्गीकरण के लिए काकल्य, जिह्वामूलीय, कंठ्य, मूर्द्धन्य, तालव्य, वर्त्स्य, दंत्य, दंत्योष्ठ्य और ओष्ठ्य एवं स्पर्श, पार्श्विक, लुंठित, संघर्षी तथा अनुनासिक आदि का आधार लिया जाता है।

ध्वनि-श्रेणी-विज्ञान की कार्य प्रणाली के लिए पाइक ने सिद्धान्त रूप में जो बातें कही हैं, उनमें प्रधान तीन यहाँ संक्षेप में दी जा रही हैं।

(१) ध्वनियाँ पास की ध्वनियों से प्रभावित होती हैं—आशय यह है कि आगे और पीछे की ध्वनियों के कारण किसी ध्वनि का उच्चारण भिन्न-भिन्न स्थानों पर कुछ न कुछ परिवर्तित हुआ करता है। उदाहरणार्थ अजगर, मस्जिद, जाड़ा, बजट और जूस, इन पाँचों शब्दों के 'ज' उच्चारण की दृष्टि से पूर्णतः एक नहीं हैं, पर इसका आशय यह नहीं कि मूलतः ये भिन्न-भिन्न ध्वनियाँ हैं। इसका इतना ही अर्थ है कि मूलतः एक होते हुए भी 'ज' के ये विभिन्न रूप आस-पास की ध्वनियों के प्रभाव से बन गए हैं। ध्वनि-श्रेणी-विज्ञान में इन सबको एक ध्वनि-श्रेणी के अंतर्गत ही रक्खा जाता है। पास की ध्वनियों के प्रभाव के कारण उत्पन्न परिवर्तन का वहाँ कोई स्थान नहीं है। इसी प्रकार बलाघात आदि के कारण भी अंतर पड़ता है, पर यह अंतर भी इस दृष्टि से महत्व का नहीं है।

(२) किसी भाषा की ध्वनि-व्यवस्था में ध्वन्यात्मक संतुलन की प्रवृत्ति होती है—आशय यह है कि एक स्थान या प्रकार से उच्चरित ध्वनिवर्ग की, जिस भाषा में कुछ ध्वनियाँ होती हैं, शेष के भी होने की संभावना होती है। ध्वनि-श्रेणी-विज्ञान में इस प्रकार की ध्वनियाँ यदि नहीं मिलती हैं तो अपने पिछले अध्ययन को इस सिद्धांत के प्रकाश में फिर से दुहराना पड़ता है और दुहराने में प्रायः यह भूली कड़ी मिल जाती है।

(३) ध्वनियाँ चिर परिवर्तनशील हैं—कोई भी व्यक्ति एक ध्वनि को बिल्कुल एक ढंग से दो बार उच्चरित नहीं कर सकता। एक वाक्य है—"उस व्यक्ति ने मर-मर कर

काम किया।" विज्ञान का कहना है कि इसमें 'मर' शब्द दो बार आया है और इस वाक्य का कहनेवाला इन दो 'मर' को भी एक प्रकार उच्चरित नहीं कर सकता। बात बिल्कुल ठीक है। सूक्ष्म यंत्रों ने इसकी सत्यता सिद्ध कर दी है, पर ध्वनि-श्रेणी-विज्ञान में इस अंतर का ध्यान नहीं रखा जाता। इस प्रकार के अंतर के आधार पर ध्वनियों को अलग रखकर उनके लिए लिपिचिह्न बनाने की वहाँ आवश्यकता नहीं समझी जाती।*

ध्वनि-श्रेणी-विज्ञान के विद्वानों में पाइक के अतिरिक्त गम्पर्ज़ तथा ग्लीसन के भी नाम आदर के साथ लिए जाते हैं। भारतवर्ष में इसके प्रमुख विद्वान् गुजरात के डॉ० पी० बी० पंडित हैं। आप इस विज्ञान के अध्ययन के लिए दो बार अमेरिका हो आए हैं।

पूना में इधर भाषाविज्ञान के अध्ययन के लिए गर्मी तथा जाड़े में कक्षाएँ लग रही हैं। वहाँ भी इस विज्ञान की प्रारंभिक शिक्षा दी जा रही है और इस प्रकार भारत के विद्वानों तथा भाषाविज्ञान के विद्यार्थियों में धीरे-धीरे इसका प्रचार बढ़ रहा है। भारत में गुजरात, मेरठ तथा आसाम की कुछ बोलियों के अध्ययन के लिए देशी तथा विदेशी विद्वानों द्वारा इस विज्ञान का प्रयोग किया गया है।

* ध्वनि-श्रेणी-विज्ञान को पूर्णतः समझने तथा उसके सभी सिद्धांतों को हृदयंगम करने के लिए इसका प्रयोग तथा अभ्यास आवश्यक है। पाइक द्वारा बताए गए अन्य सिद्धांत यहाँ इसीलिए नहीं दिए जा रहे हैं कि इस विज्ञान की प्रयोग तथा अभ्यास विधि को ठीक से समझे बिना उनको समझना संभव नहीं है।

अध्याय ६

अर्थ-विज्ञान*

(Semantics)

सच पूछा जाय तो भाषा के अध्ययन के आरंभ काल में ही अर्थ के अध्ययन की ओर लोगों का ध्यान गया था। भारत में इस विषय का प्राचीनतम ग्रन्थ यास्क का निरुक्त है। यूरोप में भी प्लेटो के समय तक शब्द और उसमें निहित अर्थ के स्वाभाविक संबंध पर विचार होने लगा था। किन्तु इतना होने पर भी १९वीं सदी के अंतिम चरण के पूर्व तक इस विषय का वैज्ञानिक अध्ययन प्रायः नहीं के बराबर था। इसी कारण अर्थ-विज्ञान को अभी अपने शैशवावस्था में कहा जाता है। है भी यही बात। ध्वनि-विज्ञान आदि की भाँति प्रमुख रूप से इसका संबंध शरीर या बाह्य से नहीं है। यह अध्ययन अपना सीधा संबध मनोविज्ञान से रखता है, अतः बहुत ही सूक्ष्म, गम्भीर और अनिश्चित सा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अपनी इसी अस्पष्ट प्रकृति के कारण मनोरंजक और आकर्षक होने पर भी अर्थ-विचार अपने अध्येताओं को तीव्र गति से बढ़ने नहीं देता। सम्भव है, मनोविज्ञान के अधिक उन्नत हो जाने पर प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में हम अधिक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच सकें।

अर्थ-विज्ञान के क्षेत्र में प्रथम महत्वपूर्ण और वैज्ञानिक ग्रन्थ फ्रान्सीसी विद्वान ब्रील (Michel Breal) का 'अर्थ-विचार' (Essai de Semantique) है। इधर ऑग्डेन तथा रिचर्ड्स का 'मीनिंग आव् मीनिंग' तथा पोस्टेग का 'द हिस्ट्री आव् मीनिंग' अर्थ विज्ञान के बहुत वैज्ञानिक ग्रंथ निकले हैं। भारत में तो अभी इसका श्री गणेश ही हुआ है, और कुछ ही लोगों के नाम इस दृष्टि से लिए जा सकते हैं। 'बंगाली अर्थ-विचार' पर हेमन्त कुमार सरकार ने काम किया है। 'हिंदी अर्थ-विचार' पर कार्य करने वाले विद्वान् डा० हरदेव बाहरी हैं। रवि बाबू का 'अर्थ-तत्व', डॉ० बाबूराम सक्सेना का 'अर्थ-विज्ञान', विजन बिहारी भट्टाचार्य का 'वागर्थ' तथा डॉ० कपिलदेव द्विवेदी का 'अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन' भी अपना विशेष महत्व रखते हैं।

---

* अभी तक भाषा-विज्ञान के इस भाग का निश्चित नाम नहीं है। हिन्दी में अर्थातिशय, अर्थ-विचार, शब्दार्थ-विज्ञान तथा अर्थ-विज्ञान आदि तथा अंग्रेजी में Rhematology, Semantics, तथा Semasialogy आदि नाम प्रचलित हैं।

प्रत्येक सार्थक शब्द अपने साथ अपना एक अर्थ, भाव या विचार रखता है। वही अर्थ उसका प्राण या सार है और उस शब्द का सारा महत्व उस अर्थ पर ही निर्भर है। पारिभाषिक शब्दावली में उस अर्थ को अर्थ-तत्त्व (semanteme) कहते हैं। किसी शब्द का अर्थ-तत्व सर्वदा एक नहीं रहता। धीरे-धीरे उसमें परिवर्तन या विकास होता रहता है। अर्थ-विज्ञान में इसी अर्थ-परिवर्तन या अर्थ-विकास का अध्ययन होता है और हम विकास या परिवर्तन की दिशा तथा उसके मूल में छिपे कारण को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार अर्थ-विज्ञान के अंतर्गत हम किसी शब्द के अर्थ-तत्व में होने वाले परिवर्तन या विकास के कारण तथा उसकी दिशा पर विचार करते हैं। उदाहरण के लिए हम 'गँवार' शब्द ले सकते हैं। 'गँवार' का शाब्दिक अर्थ है 'गाँव का रहने वाला', पर आजकल उसका प्रचलित अर्थ 'असभ्य' या 'असंस्कृत' है। यहाँ भाषा-विज्ञानी के आगे स्वाभाविक रूप से दो प्रश्न उठेंगे : (१) गँवार का अर्थ 'गाँव का रहने वाला' से परिवर्तित होकर या विकसित होकर 'असभ्य' क्यों हो गया है ? (२) यह विकास या परिवर्तन किस दिशा में हुआ है ? या दूसरे शब्दों में अर्थ संकुचित हो गया है या विस्तृत, बुरा हो गया है या अच्छा, या उसमें इतना अधिक परिवर्तन तो नहीं हो गया है कि पुराने अर्थ से कोई सम्बन्ध हो ही नहीं ?

कुछ लोग अर्थ-विचार के अंतर्गत एक तीसरा प्रश्न भी उठाना चाहते हैं। उनका कहना है कि, 'गँवार' का अर्थ 'गाँव का रहने वाला' से विकसित होकर असभ्य क्यों हो गया, और यह परिवर्तन किस दिशा में हुआ; इन दोनों प्रश्नों के पूर्व ही इस प्रश्न का उत्तर भी आवश्यक है कि 'गँवार' शब्द का प्रथम अर्थ 'गाँव का रहने वाला' ही कैसे हुआ। इसे यों भी कह सकते हैं कि किसी वस्तु या व्यापार का नामकरण कैसे और किस आधार पर हुआ। 'ग्राम' को 'ग्राम' ही क्यों कहा गया, उसे 'नगर' क्यों नहीं कहा गया ? यास्क ने अपने ग्रंथ के आरम्भ में कुछ ऐसे प्रश्न उठाए हैं, पर उसका उत्तर उनके पास नहीं है। यथार्थ तो यह है कि वस्तुओं के नामकरण पर आज विचार किया ही नहीं जा सकता। कुछ थोड़े से शब्दों को छोड़कर इस दिशा में हमें अंधकार ही अंधकार दिखाई देता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वस्तु के नामकरण पर विचार करने के लिए नामकरण का समय, उस समय के लोगों की मानसिक दशा तथा वातावरण आदि का सम्यक ज्ञान अनिवार्यतः आवश्यक है और अब इन बातों का पता पाना असम्भव ही है। फिर भी यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि यह विषय भी अर्थ-विचार के अन्तर्गत ही आना चाहिए।

वस्तुओं के नामकरण का आधार

प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण होते हैं। उन गुणों में से किसी एक के आधार पर प्रायः उसका नाम रख दिया जाता है, इसी कारण नाम पूर्णतः उस वस्तु विशेष का परिचय नहीं देता। नामों की सबसे बड़ी कमी यह है कि वे अपूर्ण हैं, और इस प्रकार शुद्ध नहीं हैं। 'सर्प' का 'सर्प' नाम वक्र गति से चलने के कारण रखा गया है, पर और भी कीड़े तो वक्रगति से चलते हैं तो फिर उन्हें भी सर्प क्यों नहीं कहा जाता? यास्क कहते हैं कि यदि चुभने के कारण घास को 'तृण' (तृ=चुभना) कहा गया तो सुई और भाले को भी क्यों नहीं कहा गया? लगभग सभी नामों के विषय में ऐसे प्रश्न उठते हैं। पहाड़ को 'पोरों वाला' होने के कारण 'पर्वत' कहा गया, पर वह केवल पोरों वाला ही तो नहीं है, वह पत्थर का ढेर भी है, तो फिर भी उसका कोई ऐसा भी नाम क्यों नहीं रखा गया, जिसका अर्थ 'पत्थर का ढेर' हो। यहाँ एक बात और स्पष्ट हो जाती है, कि केवल प्रमुख गुण के आधार पर ही नाम नहीं रखा गया है, कुछ नाम ऐसे भी हैं जो अप्रधान गुणों के नाम पर हैं, और यह तो और भी बड़ी अशुद्धि है। 'पर्वत' नाम तो पहाड़ से कहीं अधिक उपयुक्त 'बाँस' और 'ईख' के लिए होता क्योंकि उनके पोर स्पष्ट हैं।

हमारा प्रश्न यहीं नहीं रुकता। यदि गुणों के आधार पर वस्तुओं का नाम पड़ा तो उन गुणों का नाम किस आधार पर पड़ा। यदि प्रभा (प्रकाश) करने वाला होने के कारण सूर्य का नाम 'प्रभाकर' है, तो 'प्रभा' का नाम 'प्रभा' या चमकने के अर्थ में 'भा' का ही प्रयोग क्यों हुआ? कुछ शब्दों या धातुओं पर इस दृष्टिकोण से प्रकाश डाला जा सकता है। जैसे 'पत्ते' के गिरने में 'पत्' का शब्द हुआ और इसलिए 'पत्' धातु का अर्थ गिरना हुआ या पत्ते को 'पत्र' कहा गया। पर, सभी शब्दों पर इस रूप में विचार सम्भव नहीं।

एक बात यहाँ और विचारणीय है। हमें यह कभी नहीं समझना चाहिये कि धातुओं के आधार पर वस्तुओं के नाम आरम्भ में रखे गए। सत्य यह है कि नाम पहले रखे गए, और फिर विकास होने पर उनमें धातुओं की खोज हुई। ऊपर जो गुणों के आधार पर नाम रखे जाने की बात हम कर चुके हैं वह आरम्भिक काल के लिए सत्य नहीं। इसका इतना ही आशय है कि आज हम गुणों के आधार पर नामकरण करते हैं, और पुराने नामों का अर्थ अपनी खोजी हुई धातुओं के आधार पर करके नामों की सार्थकता सिद्ध कर लेते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा के विकसित हो जाने पर नामकरण का जहाँ

तक प्रश्न है, वह गुणों के आधार पर किया जाता है, पर भाषा के आरम्भ में चीजों या कार्यों के नामकरण का प्रश्न भाषा की उत्पत्ति के साथ बँधा है, और उसका गणित की भाँति दो-टूक उत्तर नहीं दिया जा सकता।

अर्थ-विज्ञान और व्युत्पत्ति (Etymology)*

कुछ लोग व्युत्पत्ति-शास्त्र को अर्थ-विज्ञान का अंग मानते हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो दोनों को एक ही मानते हैं। तथा कुछ इसे भाषा-विज्ञान का स्वतंत्र भाग मानते हैं। पर सत्यतः तीनों ही मत अशुद्ध हैं। व्युत्पत्ति भाषा-विज्ञान का कोई अलग विभाग नहीं है और न इसका अर्थ-विज्ञान आदि की भाँति स्वतन्त्र रूप से अध्ययन हो सकता है। तथ्य तो यह है, कि व्युत्पत्ति में, किसी शब्द के आरम्भ तथा धातु आदि पर विचार करते हुए हम ध्वनि, रूप और अर्थ इन तीनों दृष्टियों से उसका इतिहास देते हैं। इस प्रकार किसी शब्द की व्युत्पत्ति के अन्तर्गत हमें शब्द का सब दृष्टियों से जीवन-चरित्र देना होता है। कहा जा सकता है कि व्युत्पत्ति-शास्त्र अलग विज्ञान या भाषा-विज्ञान का विभाग या अर्थ-विज्ञान आदि न होकर ध्वनि-विज्ञान, रूप-विज्ञान और अर्थ-विज्ञान का सम्मिलित प्रयोग मात्र है।

अर्थ-परिवर्तन

ऊपर हम 'गँवार' शब्द को लेकर देख चुके हैं, कि उसके अर्थ में परिवर्तन हो गया है। परिवर्तन का कारण भी विचारणीय है। अनुमानतः कारण यह ज्ञात होता है कि 'गँवार' का अर्थ पहले 'गाँव का रहने वाला' था। गाँव में अधिकतर लोग असंस्कृत होते ही थे। अतः असंस्कृत होने के कारण सांकेतिक रूप में पहले यह प्रयोग चला होगा और बाद में अपने दूसरे अर्थ में रूढ़ि हो गया होगा। विस्तृत रूप से विकास की दिशा और कारणों पर विचार करने के पूर्व अर्थ-परिवर्तन के कुछ और उदाहरणों को ले लेना ठीक होगा।

आज का एक बहुत प्रचलित शब्द 'तेल' है। शब्द पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह 'तिल' से निकला है और आरंभ में केवल तिल के रस को 'तेल' कहते रहे होंगे। पर आज तो इसका अर्थ इतना परिवर्तित हो गया है कि केवल सरसों, नारियल और रेंडी के तेल को ही नहीं, अपितु मिट्टी, साँप और मछली के तेल को भी तेल कहते हैं।

वैदिक संस्कृत में 'मृग' शब्द पशुमात्र का वाचक है। 'मृगराज' (पशुओं का राजा,

---

* व्युत्पत्ति-शास्त्र के सम्बन्ध आगे स्वतन्त्र रूप से विचार किया जायगा।

सिंह) में अब तक भी वह अर्थ सुरक्षित है, पर आज उसका अर्थ हिरन या हिरण हो गया है।

भोजपुरी का एक शब्द 'माहुर' है, जिसका अर्थ 'विष' है। यह देखकर कम आश्चर्य नहीं होता कि यह संस्कृत का 'मधुर' शब्द का ही परिवर्तित रूप है, जिसका अर्थ 'मीठा' होता था। यहाँ अर्थ में इतना अधिक परिवर्तन हो गया है, कि विश्वास भी नहीं पड़ता।

संस्कृत का एक शब्द है 'गुह्य', जिसका अर्थ है 'रहस्य' या 'छिपाने योग्य'। भोजपुरी का 'गूह' शब्द उसी से निकला है, जिसका अर्थ 'पाखाना' या पुरीष होता है। अब यह शब्द इतना अश्लील और घृणित समझा जाता है कि सभ्य समाज में इसका प्रयोग भी वर्जित है।

यदि आज किसी को 'साहसी' कहें तो मारे प्रसन्नता के वह फूला न समायेगा। पर, उसे क्या पता कि संस्कृत में 'साहस' का प्रयोग हत्या और व्यभिचार आदि बुरे कार्यों के लिये होता था!

इन सभी उपर्युक्त उदाहरणों पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जाता है कि अर्थ-परिवर्तन या विकास की दशा एक ही नहीं है। कुछ शब्द पहले संकुचित अर्थ रखते थे और विकास के पश्चात् उनके अर्थ का विस्तार हो गया। इसके उलटे कुछ शब्द और भी संकुचित हो गए। इसी प्रकार कुछ के अर्थ नीचे गिर गए और कुछ के ऊपर उठ गए। यही विकास की विभिन्न दिशाएँ हैं।

अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ

लगभग सभी विद्वान् अर्थ परिवर्तन की ३ दिशाएँ मानते हैं :—

१. अर्थ-विस्तार,
२. अर्थ-संकोच,
३. अर्थादेश

ऊपर के उदाहरणों में इन तीन के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी शब्द लिए गए हैं, जिनमें अर्थ का अपकर्ष और उत्कर्ष हुआ है। यों तो ये दोनों अपकर्ष और उत्कर्ष भी उपर्युक्त ३ दिशाओं में से ही किसी न किसी के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं, पर स्पष्टता के लिए यहाँ इन पर भी अलग विचार किया जायेगा।

(१) अर्थ-विस्तार (Expansion of meaning)

शब्दों का अर्थ जब सीमित क्षेत्र से निकल कर विस्तार पा जाता है तो उसे अर्थ-

विस्तार कहते हैं। ऊपर 'तेल' शब्द के अर्थ-विस्तार को हम देख चुके हैं। पहले उसका प्रयोग केवल तिल के तेल के लिए होता पर अब सभी वस्तुओं के तेल के लिए होता है। भाषा में अर्थ-विस्तार के उदाहरण अधिक नहीं मिलते, क्योंकि भाषा में ज्यों-ज्यों विकास होता है, उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म और सीमित से सीमित वस्तुओं और भावनाओं के प्रकटीकरण की शक्ति आती जाती है। इस प्रकार अर्थ-संकोच ही स्वाभाविक है, अतः वही अधिक पाया जाता है। टकर ने तो यहाँ तक कहा है कि यथार्थ रूप में अर्थ-विस्तार होता ही नहीं। जिसे हम अर्थ-विस्तार कहते हैं वह एक प्रकार का अर्थादेश मात्र है। खैर, यह तो नहीं कहा जा सकता कि अर्थ-विस्तार होता ही नहीं। हाँ, कम अवश्य होता है। पर, जो होता है वह शुद्ध अर्थ-विस्तार है, उसे हम अर्थादेश नहीं कह सकते जैसा कि टकर महोदय ने कहा है।

कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। संस्कृत के 'कल्य' शब्द का प्रयोग आने वाले कल के लिए तथा 'परश्वः' का आने वाले परसों के लिए होता था, पर अब हिन्दी में दोनों का अर्थ-विस्तार हो गया है। दोनों ही—कल और परसों—बीते हुए तथा आने वाले, दोनों ही दिनों के लिए प्रयुक्त होते हैं। 'अभ्यास' शब्द का प्रयोग पहले केवल बार-बार बाण आदि फेंकने के लिये होता था पर अब तो बुरे से बुरे कार्यों से लेकर अच्छे-अच्छे कार्यों तक का अभ्यास किया जा सकता है। 'गवेषणा' शब्द प्रारम्भ में केवल गाय को ढूढ़ने के प्रयोग में आता था, पर आज किसी भी विषय पर गवेषणा-पूर्ण लेख लिखे जा सकते हैं। 'स्याह' का अर्थ काला है, और आरम्भ में लोग काले रंग से लिखते थे इसलिए उसे स्याही कहा गया। पर आज नीली, लाल और हरी आदि सभी रंगों की रोशनाइयाँ 'स्याही' नाम से अभिहित की जाती हैं। 'पुण्य' करने वाला पहले 'निपुण' था। आज तो श्याम को श्वेत और श्वेत को श्याम सिद्ध करने वाला वकील भी अपने कार्य में निपुण है। इतना ही क्यों? सिद्धहस्त चोर भी निपुण कहा जाता है। इसी प्रकार कभी 'वीणा' बजाने में कुशल व्यक्ति 'प्रवीण' कहा जाता था, पर आज किसी को भी किसी कार्य में प्रवीण कह सकते हैं, चाहे उसने वीणा का नाम भी न सुना हो। 'गोहार' पहले गायों के चुराये जाने पर की गई पुकार के लिए प्रयुक्त होता था पर अब सभी प्रकार की पुकार 'गोहार' है। 'गोहार' से ही 'गोहराना' क्रिया है जो पुकारने के अर्थ में अवधी तथा भोजपुरी में प्रयुक्त होती है।

इतना ही नहीं, व्यक्ति-वाचक संज्ञाओं में भी अर्थविस्तार हो जाता है। जयचंद कभी एक व्यक्ति मात्र था, पर इधर २० वीं सदी में भारत के स्वतंत्र होने के पूर्व तक

पुलिस और फ़ौज विभाग के सारे कर्मचारी जयचन्द कहे जाने लगे थे। विभीषण और नारद भी अपने अर्थ को विस्तृत कर चुके हैं। एक घर का भेदिया है तो दूसरा लड़ाई लगाने वाला। बहुत संभव है ना० वि० गोडसे भी निकट भविष्य में अपना नाम अर्थ-विस्तार के उदाहरणों में पाने लगे। इसी प्रकार गंगा एक विशिष्ट नदी का नाम है पर मराठी में यह 'नदी' का पर्याय हो गया है। गुजराती में भी इसका इस विस्तृत अर्थ में प्रयोग मिलता है।

(२) **अर्थ-संकोच** (Contraction of Meaning)

भाषा के विकास में अर्थ-संकोच का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा के आरम्भ काल में सभी शब्द सामान्य रहे होंगे। सभ्यता के विकास के साथ विशिष्टता की भावना आती गई होगी और शब्दों में अर्थ-संकोच होता गया होगा। इसी लिए ब्रील ने कहा है कि राष्ट्र या जाति जितनी ही अधिक विकसित होगी उसकी भाषा में अर्थ-संकोच के उदाहरण उतने ही अधिक मिलेंगे। अर्थ-संकोच के कारण किसी शब्द का प्रयोग सामान्य या विस्तृत अर्थ से हटकर विशिष्टि या सीमित अर्थ में होने लगता है। अंग्रेजी के deer तथा संस्कृत के 'मृग' शब्द का प्रयोग पहले जानवर के लिए होता था पर क्रमशः वर्तमान अंग्रेज़ी तथा हिन्दी में इनका प्रयोग 'हरिण' के लिए हो रहा है। 'गो' शब्द गम् धातु से निकला है, जिसका अर्थ है 'गमन करने वाला' पर अब उसका प्रयोग केवल गाय के लिए होता है। इसी प्रकार 'भार्या' का मूल अर्थ है 'जिसका भरण पोषण किया जाय', पर अब यह केवल पत्नी के लिए प्रयुक्त होता है, यद्यपि आज की बहुत सी पत्नियाँ भरण-पोषण की अपेक्षा बिल्कुल ही नहीं रखती। कुछ उदाहरण तो ऐसे भी हैं, जिनमें स्त्रियाँ अपने पतियों का भी भरण-पोषण करती हैं। श्रद्धा से किया जाने वाला प्रत्येक कार्य कभी 'श्राद्ध' कहा जाता था पर अब केवल मृत्यु के बाद ही श्राद्ध का प्रयोग होने लगा है। 'वेदना' शब्द का प्रयोग पहले दुःख-सुख दोनों के लिये होता था। दुखद वेदना और सुखद वेदना। पर अब वह केवल दुःख के लिए प्रयुक्त होता है। 'घृणा' का पुराना अर्थ दया और घृणा दोनों था, पर अब यह केवल एक अर्थ-नफरत—है। गंध का प्रयोग अब भी खड़ी बोली आदि में अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की गंधों के लिए होता है, पर अवधी में इसका प्रयोग केवल बहुत बुरी और असह्य दुर्गंधि के लिए करते हैं। 'वास' का संस्कृत में अर्थ गंध है पर उसी से बनी 'बसायल' क्रिया का भोजपुरी में अर्थ 'बुरी गंध देना' है। अंग्रेजी के 'हाउंड' शब्द का पुराना अर्थ कुत्ता था पर अब यह केवल शिकारी कुत्ते के लिए प्रयोग में आता है। 'घृत' घृ धातु से बना

है जिसका अर्थ है सींचना। इसीलिये पहले इसका अर्थ पानी भी होता था, पर अब तो यह केवल घी के लिए प्रयुक्त होता है। 'मुर्ग' का फ़ारसी अर्थ 'चिड़िया' है, [शाहमुर्ग (=पक्षियों का राजा=शुतुरमुर्ग) शुतुरमुर्ग तथा मुर्गाबी (= जल का पक्षी) में अभी वह अर्थ सुरक्षित है] पर उर्दू, हिन्दी में एक विशेष पक्षी के लिए मुर्ग, मुर्गी का प्रयोग होता है। वत्स, बाछा, बछेड़ा, पाड़ा, छौना, मेंमना, पोत्रा, पिल्ला आदि सभी शब्दों का अर्थ बच्चा है, पर अब अर्थ संकुचित हो जाने के कारण क्रमशः ये मनुष्य, गाय, घोड़ा, भैंस, सूअर, भेंड़, साँप और कुत्ते के बच्चे के लिए प्रयोग में आते हैं।

(३) अर्थादेश (Transference of Meaning)

भाव-साहचर्य के कारण कभी-कभी शब्द के प्रधान अर्थ के साथ एक गौण अर्थ भी चलने लगता है। कुछ दिन में ऐसा होता है कि प्रधान अर्थ का धीरे-धीरे लोप हो जाता है और गौण अर्थ में ही शब्द प्रयुक्त होने लगता है। इस प्रकार एक अर्थ के लोप होने तथा नवीन अर्थ के आ जाने को अर्थादेश कहते हैं। ऊपर हम गँवार शब्द ले चुके हैं। इस संबन्ध में दूसरा उदाहरण 'असुर' का दिया जा सकता है। ऋग्वेद की आरम्भ की ऋचाओं में यह देववाची शब्द है, पर बाद में राक्षसवाची हो गया। 'वर' का अर्थ श्रेष्ठ था पर अब इसका प्रयोग 'दुलहे' के लिए होता है। स्वयं 'दुलहा' शब्द भी इसी प्रकार का है, इसका मूल अर्थ 'जो जल्द न मिले' (=दुर्लभ) था पर अब यह 'वर' के नवीन अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। ईरानी शब्द 'दिहकान' का मूल अर्थ देहात का बड़ा तालुकेदार है, पर पारसी-गुजराती में 'देहकानी' का अर्थ मूर्ख होता है। अशोक 'देवानां प्रियः' कहा जाता था पर बाद में इसका अर्थ 'मूर्ख' हो गया। संस्कृत का वाटिका शब्द बँगला में बाड़ी हो गया है और उसका अर्थ बगीचे से हट कर 'घर' हो गया है। बौद्ध धर्म के अनुयायी बौद्ध कहलाते हैं पर 'बुद्धू' (जो उसी का रूपांतर है) का अर्थ मूर्ख होता है।

'मेये' बँगला में पहले 'माई' के अर्थ में आता था। धीरे धीरे अर्थादेश होने लगा, और आज रानीगंज के आस-पास इसका अर्थ पत्नी हो गया है। माता का पत्नी में परिवर्तन किस भाव-साहचर्य से हुआ, यह बतलाना कठिन ही नहीं असम्भव सा है। इस प्रकार अर्थादेश के कारणों के संबन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

कुछ और उदाहरण भी लिए जा सकते हैं, जिनके कारणों पर भी विचार किया जा सकता है। 'मौन' शब्द मुनि से बना है, और आरम्भ में इसका प्रयोग मुनियों के

निशद्ध आचरण के लिए होता था। मुनि लोग अधिकतर शान्त्यर्थ मौन (चुप) रहते थे अतः धीरे-धीरे मौन शब्द का प्रयोग उस चुप्पी के लिए होने लगा। आज यह केवल मुनियों की चुप्पी के लिये ही न होकर साधारण चुप्पी के लिए भी प्रयुक्त होने लगा है, और कभी-कभी स्वीकार का लक्षण भी माना जाता है (मौनं स्वीकृति लक्षणम्)। 'पाषंड' नाम का एक संप्रदाय अशोक के समय में था। बड़ी सराहना के साथ अशोक ने उसके साधुओं को दान दिया था। बाद में वे साधु या उनके शिष्य भ्रष्टाचारी हो गये, अतः पाषंड में अर्थादेश होने लगा और आज दुष्टता, ढोंग, दिखावट आदि के लिए इसका प्रयोग होता है। 'तारतम्य' शब्द का पहले अर्थ न्यूनाधिक या कम ज्यादा था। धीरे-धीरे इसका अर्थ 'क्रम' हो गया और आज 'ताँता बँधने' के अर्थ में भी इसका प्रयोग हो रहा है। बँगला भाषा में गृह से निकले शब्द घर का अर्थ हिंदी की भाँति घर न होकर 'कमरा' होने लगा है। यह अर्थादेश तो स्पष्टतः भाव-साहचर्य के कारण हुआ है। इसे अर्थ-संकोच का भी उदाहरण मान सकते हैं पर अर्थादेश का उदाहरण मानना ही कदाचित अधिक उचित होगा।

(४) अर्थापकर्ष

जैसा कि ऊपर कह हम चुके हैं, यह कोई अर्थ-परिवर्तन की स्वतन्त्र दिशा नहीं है। ऊपर की तीन दिशाओं में अर्थ-परिवर्तन होने पर कभी-कभी अर्थ बुरा हो जाता है, उसी का विवेचन यहाँ किया जायगा। ऊपर हम देख चुके हैं कि, गुह्य शब्द भोजपुरी में ध्वनि-परिवर्तन के कारण 'गूह' बना है, उसमें अर्थ-सकोच भी हो गया है और साथ ही अर्थ की अपकर्षता भी आ गई है। अब वह इतना अश्लील समझा जाता है कि सभ्य समाज में व्यवहृत नहीं होता। 'आबदस्त' का पुराना अर्थ नमाज पढ़ने के पहले जल या मिट्टी आदि से मंत्र पढ़कर अपनी शुद्धि करना है पर अब यह शब्द अवधी 'सौचने' या भोजपुरी 'पानी छूने' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'जुगुप्सा' शब्द गुप् धातु से बना है, जिसका पहले छिपाने तथा पालने के अर्थ में प्रयोग होता था। अर्थादेश से इसका अर्थ धीरे-धीरे 'घृणा' हो गया। आज भी इसका प्रयोग यही है। पालन से गिरकर घृणा अर्थ में प्रयुक्त होना 'जुगुप्सा' का अर्थापकर्ष है। आजकल काम-शास्त्र, तथा पाखाना-पेशाब संबन्धी अनेक शब्द इतने घृणित समझे जाने लगे हैं कि एकांत में भी उनका उच्चारण नहीं किया जा सकता। उन सभी शब्दों का अर्थापकर्ष हुआ है। लिंग शब्द का पुराना अर्थ 'लक्षण' था, धीरे धीरे इसमें अपकर्ष हो रहा है और संभव है कि कुछ दिन यह सभ्य समाज से निकाल दिया जाय।

अर्थापकर्ष का भाषा के शब्द-समूह पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जिन

शब्दों में अर्थापकर्ष अधिक हो जाता है वे धीरे-धीरे अश्लील होने के कारण 'शब्द-समूह' से निकाल दिये जाते हैं और उनका स्थान नए शब्दों द्वारा पूरा किया जाता है। इस प्रकार किसी भाषा के शब्द-समूह में परिवर्तन होता है।

कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि तत्सम शब्द तो अपने ठीक अर्थ में प्रयोग में आता है, पर उससे निकले तद्भव या अर्द्धतद्भव शब्द का अर्थापकर्ष हो जाता है और उसका हीन अर्थ में प्रयोग होने लगता है। 'नग्न' और 'लुंचित' शब्द पहले जैन साधुओं के लिए आदर के साथ प्रयुक्त होते थे पर, अब उनका तद्भव रूप 'नंगा लुच्चा' बदमाश के लिए प्रयोग में आता है। 'गर्भिणी' और 'गाभिन' शब्दों में भी यह बात स्पष्टतः परिलक्षित होती है। पहले शब्द का सभी के लिए प्रयोग होता है पर, दूसरे का केवल पशुओं के लिए। 'प्रणाली' (रास्ता, युक्ति) तथा पनारी या पनारा (गंदी नाली) भी इसी के उदाहरण हैं।

किसी भाषा के शब्दों के अर्थापकर्ष के अध्ययन से उसके बोलने वालों के मनोविज्ञान पर विशेष प्रकाश पड़ सकता है।

(५) अर्थोत्कर्ष

यह अर्थापकर्ष का विलोम है। कभी-कभी शब्दों के अर्थ परिवर्तित होने में पहले से अधिक उन्नत हो जाते हैं, इसी को अर्थ का उत्कर्ष कहते हैं।

'साहस' शब्द पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं। संस्कृत में इसका प्रयोग बुरे अर्थ में (व्यभिचार, हत्या) होता था पर अब अधिकतर अच्छे अर्थ में और तारीफ़ के लिए होता है।

संस्कृत के 'कर्पट' (पटच्चरं जीर्णवस्त्र समौ लक्तककर्पटौ। अमर०) और पाली के 'कप्पट' का प्रयोग केवल 'फटे वस्त्र' के लिये होता था पर आजकल अच्छे से अच्छे वस्त्र के लिए 'कपड़े' का प्रयोग होता है। इसी प्रकार मुग्ध का प्रयोग संस्कृत में मूढ़ के लिए भी होता था, पर आज उसमें मूढ़ता की तनिक भी गंध नहीं है। फिरंगी शब्द पहले केवल पुर्तगाली डाकू के लिए आता था बाद में इसका हमारे यहाँ अर्थ यूरोपियन हो गया। यद्यपि नवीन अर्थ में भी यह बहुत उच्च नहीं हो सका है, पर पहले अर्थ की अपेक्षा उसमें उत्कर्ष अवश्य हुआ है। भारत के स्वतंत्र होने के पूर्व तक इंडियन (Indian) शब्द का प्रयोग विदेशी लोग प्रायः गुलाम* के अर्थ में करते थे, पर अब इंडियन होना गौरव की बात है और विश्व के शान्त मनीषियों को यह

* एक बार क्रिश्चियन कालेज इलाहाबाद में एक अमेरिकन प्रोफेसर ने अभी सन् १६४१ में एक लड़के पर बिगड़ते हुये 'ओ यू इंडियन' कहा था।

विश्वास है कि संसार को यथार्थ प्रकाश केवल भारत दे सकता है। बंदी शब्द भी पहले केवल बुरे अर्थ में आता था क्योंकि केवल चोर आदि ही कारागार में जाते थे, पर इधर राष्ट्र के देवताओं ने इसे इतना पवित्र बना दिया कि कम से कम १५ अगस्त सन् ४७ तक बंदी होना कम गौरव की बात नहीं थी। आज भी वह विशिष्ट योग्यता (special qualification) समझी जाती है। 'अछूत' शब्द भी धीरे धीरे ऊपर उठ रहा है। इन शब्दों के उत्कर्ष में देश के मनोविज्ञान का कितना सुन्दर प्रतिबिंब है! सचमुच भाषा-विज्ञान के ही प्रकाश में मानव-समाज के मनोविज्ञान के विकास का शुद्ध इतिहास तैयार किया जा सकता है।

अर्थ-परिवर्तन के कारणों का आधार

मनुष्य के मनोविज्ञान में सर्वदा परिवर्तन होता रहता है, जिसके फलस्वरूप उसके विचार भी एक से नहीं रह पाते। भाषा विचारों की बालिका है, अतः उसे भी विचारों का साथ देना पड़ता है। इस साथ देने के प्रयास में ही उसके शब्दों में अर्थ-परिवर्तन आ जाता है। इस परिवर्तन के मूल में कार्य करने वाले कारणों पर विचार करना आसान नहीं है, क्योंकि वे इतने संयुक्त और गुथे रहते हैं कि निश्चित स्वरूप दिखाई ही नहीं पड़ता। एक शब्द के अर्थ परिवर्तन पर विचार करते समय कभी एक कारण दिखाई पड़ता है तो कभी दूसरा। फिर भी एक बात तो निश्चित सी है कि भाव-साहचर्य ही घूम-फिर कर अधिक अर्थ-परिवर्तनों में कार्य करता दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त कुछ सामाजिक और भौगोलिक कारण भी होते हैं, पर इनका भी प्रभाव सीधा न पड़कर उसी रास्ते से पड़ता है। कभी-कभी व्यक्ति या संप्रदाय में विचार-विभिन्नता के कारण भी अर्थ-परिवर्तन हो जाता है।

नीचे इस संबन्ध में कुछ कारणों पर हम लोग विस्तृत रूप से विचार करेंगे, पर एक बात ध्यान में रखे रहना आवश्यक है कि किसी भी शब्द में एक ही कारण नहीं काम करता, इस कारण उदाहरणों पर विचार करते समय अर्थ-परिवर्तन में यदि किसी और कारण की भी गंध मिले तो उसे अशुद्ध समझने का प्रयास न करना चाहिए। कारणों के इस संयुक्त कार्य के कारण ही एक ही प्रकृति के उदाहरण दो भिन्न कारणों में भी यहाँ दिए गए हैं पर अपने-अपने स्थान पर कारणों का अपना पक्ष स्पष्ट दिया गया है।

अर्थ-परिवर्तन के कारण

[१] बल का अपसरण (Shift of emphasis)

किसी शब्द के उच्चारण में यदि केवल एक ध्वनि पर बल देने लगें तो धीरे-

धीरे शेष ध्वनियाँ कमज़ोर पड़कर लुप्त हो जाती हैं। उपाध्याय जी परिवर्तित होकर 'झा' इसी बल के अपसरण के कारण हुये हैं। ध्वनि की ही भाँति अर्थ में यह कार्य करता है। किसी शब्द के अर्थ के प्रधान पक्ष से हटकर बल यदि दूसरे पर आ जाता है तो धीरे-धीरे वही अर्थ प्रधान हो जाता है और प्रधान अर्थ बिल्कुल लुप्त हो जाता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि बल कैसे प्रधान पक्ष से हटकर गौण पर जाता है। इसका निश्चित् उत्तर नहीं दिया जा सकता। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भाव साहचर्य का ही यह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव है, जिसमें समीपवर्ती दो भावों में एक भाव विजयी बन जाता है। यहाँ कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं।

'गोस्वामी' शब्द का आरम्भ का अर्थ था 'बहुत सी गायों का स्वामी'। बहुत से गायों का स्वामी 'धनी' होगा अतः 'माननीय' भी होगा। इस प्रकार धीरे-धीरे इसका अर्थ माननीय हुआ। वहीं एक और भावना कार्य करने लगी। वह भावना यह कि जो अधिक गायों की सेवा करेगा वह धर्म-परक भी होगा। इस प्रकार बल के अपसरण से 'गोस्वामी' शब्द 'गायों के स्वामी' के अर्थ से चलकर 'माननीय धार्मिक व्यक्ति' का वाचक हो गया। इसी अर्थ में यह मध्ययुगीन संतों के नाम (गोसाईं तुलसीदास) से साथ प्रयुक्त होता है। अब तो गोस्वामी या गोसाईं नाम की एक जाति भी हो गई है।

'जुगुप्सा' शब्द का अर्थ-परिवर्तन भी इसका अच्छा उदाहरण है। यह शब्द गुप् धातु से बना है, जिसका आरम्भ का अर्थ था गाय का पालन करना। कुछ दिन बाद बल केवल 'पालने' पर गया और इसमें अर्थ-विस्तार हुआ। इस प्रकार इसका प्रयोग केवल पालने के अर्थ में होने लगा। पालन छिपाकर किया जाता है। अतः इसमें छिपाने का भाव आने लगा और कुछ दिनों में यही भाव-प्रधान हो गया। पुराने अर्थ बिल्कुल लुप्त हो गये और इस शब्द का अर्थ फिर आगे बढ़ने लगा। अधिकतर वही क्रिया या वस्तु छिपाई जाती है जो घृणित होती है, अतएव घृणा के लिए इसका प्रयोग चल पड़ा। आज भी जुगुप्सा का प्रयोग घृणा के लिए होता है। आश्चर्य यह है कि जुगुप्सा का अर्थ इतनी लम्बी यात्रा करके और इतना नीचे गिरकर भी शान्त नहीं हो सका है, उसमें फिर परिवर्तन हो रहा है और उसका प्रयोग घृणा के साथ-साथ निन्दा के लिए भी होने लगा है।

अरबी का शब्द 'गुलाम' तथा अँग्रेजी का 'नेव' (Knave), ये दोनों भी इसी वर्ग में आते हैं। दोनों का आरम्भ का अर्थ 'लड़का' है पर बल के अपसरण के कारण दोनों का अर्थ अब बहुत नीचे गिर गया है।

[२] पीढ़ी-परिवर्तन

मनुष्य अनुकरण-प्रिय प्राणी है, पर स्वयं अपूर्ण होने के कारण वह शुद्ध और पूर्ण अनुकरण नहीं कर पाता। यही कारण है कि पीढ़ी-परिवर्तन के समय जब पुरानी पीढ़ी चिता की ओर चल पड़ती है और नई पीढ़ी मुकुलित होने लगती है तो प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन होने लगते हैं। नई पीढ़ी अनुकरण ठीक न कर सकने के कारण अनजान में ही नए रास्ते पर आ खड़ी होती है। यही परिवर्तन का मूल है। यह परिवर्तन ध्वनि के विषय में तो स्पष्टतः देखा जाता है पर अर्थ के विषय में भी इसका घटित होना असंभव नहीं है। अधिक अस्पष्ट अर्थ रखने वाले शब्दों के विषय में तो यह परिवर्तन और भी स्वाभाविक हो जाता है, क्योंकि आवश्यक नहीं है कि नई पीढ़ी प्रत्येक शब्द को उतनी ही गहराई तक समझे। इसी न समझने में नया अर्थ विकसित हो जाता है। मेरा अपना विचार तो यह है कि वे सभी शब्द जिनमें अर्थ परिवर्तन हुआ है कुछ न कुछ प्रस्तुत कारण से प्रभावित अवश्य हैं। अर्थात् सभी अर्थ-परिवर्तनों के मूल में किसी न किसी अंश में इस कारण ने भी कार्य किया है। यह अवश्य है कि यह बात सभी शब्दों में स्पष्ट नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार तो सभी अर्थ-परिवर्तन इसके उदाहरण हो सकते हैं, पर यहाँ केवल एक स्पष्ट उदाहरण ही दिया जा रहा है।

'पत्र' शब्द का इतिहास इस दृष्टिकोण से बड़ा मनोरंजक है। आरंभ में लोगों ने पत्र या पत्ते पर लिखना आरम्भ किया। कुछ समय तक पत्ते पर लिखा जाता रहा। दूसरी पीढ़ी आई और उसने यही सोचा कि जिस पर लिखा जाता है उसे पत्र कहते हैं। नई पीढ़ी यह नहीं सोच सकी कि पत्र पर लिखे जाने से ही उसे पत्र कहते हैं। यह गलती वहाँ और भी स्पष्ट हो जाती है जब इस नई पीढ़ी को भोज वृक्ष की छाल को भी लिखने के काम में आने के कारण भोजपत्र या भूर्जपत्र कहते हम पाते हैं। धीरे-धीरे लिखने के काम में और भी बराबर, चपटी और पतली चीजें (खाल, पत्थर, काठ इत्यादि) आने लगी और पत्र का अर्थ आगे आने वाली पीढ़ियों ने इन्हीं गुणों को मान लिया और किसी भी चीज का बराबर, चपटा और पतला रूप पत्र कहा जाने लगा। आज भी सोने, चाँदी और तांबे के 'पत्तर' सोनार तथा लोहे के लोहार बनाते हैं। इतना ही नहीं, 'पत्तर' में पतला होने का प्रधान गुण देखकर किसी पीढ़ी ने तो आलंकारिक प्रयोग में इस संज्ञा को विशेषण बना दिया और यही 'पत्र' या 'पत्तर' भोजपुरी में 'पातर' और खड़ीबोली में 'पतला' भी हो गया।

अंग्रेजी का टाउन (Town) शब्द भी इसी प्रकार के परिवर्तन से होकर आया है।

[३] विभाषा से शब्दों का उधार लेना

कभी-कभी संसर्ग या आवश्यकता के कारण एक भाषा का शब्द दूसरी भाषा में उधार ले लिया जाता है। ऐसा करने में शब्द का शरीर तो आ जाता है। (परिवर्तित होकर भी कभी-कभी आता है), पर आत्मा ठीक उसी प्रकार नहीं आती। फल यह होता है कि उधार लेकर प्रयोग करने वाले लोग उस शरीर में पिछली आत्मा से मिलती-जुलती कोई आत्मा डाल कर उसे अपना लेते हैं। इस प्रकार शब्द की आत्मा अर्थात् अर्थ में कुछ परिवर्तन हो जाता है। फारसी में 'मुर्ग' का अर्थ था 'पक्षी'। 'मुर्गाबी' शब्द में अब भी वह अर्थ सुरक्षित है, जिसका अर्थ है 'पानी की चिड़िया'। हिन्दुस्तानी बोलियों में या भाषाओं में मुर्ग का अर्थ पक्षी न रहकर पक्षी विशेष हो गया। इस अर्थ-परिवर्तन की दिशा अर्थ-संकोच है। फारसी का दूसरा शब्द 'दरिया' (नदी) गुजराती में जाकर 'समुद्र' का अर्थ देने लगा है। इसी प्रकार अंग्रेज़ी का क्लाक (Clock) शब्द अंग्रेजी में दीवाल घड़ी या घड़ी के लिये प्रयुक्त होता है पर गुजराती में उसका अर्थ 'घंटा' हो गया है। अंग्रेजी का ग्लास शब्द, जिसका अर्थ शीशा है हिन्दी में गिलास बनकर एक विशिष्ट प्रकार के बर्तन का अर्थ देने लगा है।

कुछ शब्द हमारे यहाँ से अरबी भाषा में गए हैं। अधिक तो नहीं पर कुछ परिवर्तन उनमें भी हुआ है। संस्कृत का भक्त या भत्त (भात, पका चावल) अरबी में 'बहत' हो गया है, जिसका वहाँ अर्थ 'खीर' या 'तस्मई' है। यहाँ का 'विष' शब्द वहाँ 'वेश' हो गया है, जो एक ज़हरीली जड़ी का नाम है। संस्कृत का उच्च शब्द अरबी में 'ओज' हो गया है जिसका प्रयोग वहाँ ज्योतिष के पारिभाषिक शब्द 'ऊर्ध्वविन्दु' के लिए होता है।

सच तो यह है कि विभाषाओं में जाने पर कम शब्द अपने ठीक पुराने अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

[४] एक भाषा-भाषी लोगों का तितर-बितर होकर विकसित होना

जब एक भाषा बोलने वाले लोगों का समूह कई वर्गों में विकसित होने लगता है और अन्त में अलग-अलग वर्ग बन जाते हैं तो उन विभिन्न वर्गों में एक ही शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ देने लगता है। इसके पीछे उन लोगों का अलग-अलग विकास कार्य करता है। इसी कारण एक परिवार की विभिन्न भाषाओं में कभी-कभी एक ही शब्द अलग-अलग अर्थ देता दिखाई देता है।

अधिकतर यह अर्थ-परिवर्तन बहुत साधारण होता है, पर कुछ ऐसे भी उदाहरण

मिलते हैं, जिनमें यह इतना अधिक हो जाता है कि पहचाना भी नहीं जाता। 'वाटिका' का संस्कृत में अर्थ बगीचा था। भोजपुरी में इसी से विकसित शब्द 'बारी' बगीचा का अर्थ देता है, पर बँगला में यह शब्द 'बाड़ी' हो गया है, जिसका अर्थ घर है। संस्कृत का 'नील' शब्द हिन्दी में नीला है और अपना मूल अर्थ देता है पर गुजराती में यह 'लीलो' होकर हरे का अर्थ देने लगा है। अंग्रेजी और हिन्दी दोनों ही एक ही भारोपीय परिवार की भाषाएँ हैं, पर कितना आश्चर्य है, कि, इनके फ़ी (fee) और 'पशु' शब्दों के अर्थ में इतना महान अन्तर हो गया है, यद्यपि ये दोनों मूलतः एक ही शब्द हैं। इसी प्रकार संस्कृत के युग (दो) तथा अंग्रेजी के योक (yoke) एवं संस्कृत का मृग (=जानवर) और फ़ारसी का 'मुर्ग़' (=पक्षी) भी मूलतः एक ही शब्द है।

ऐसे परिवर्तन बहुत अधिक शब्दों में नहीं मिलते।

[४] वातावरण में परिवर्तन

वातावरण में परिवर्तन हो जाने के कारण भी कुछ शब्दों में अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। ऊपर हम लोगों ने जिस कारण पर अभी विचार किया है, वह भी इससे मिलता-जुलता है। अंतर केवल यह है कि उसमें दो वर्गों के अलग-अलग विकास से परिवर्तन हुआ है, अतः वह अधिक भीतरी या मानसिक है, पर यहाँ यह कारण वातावरण या बाह्य पर पूर्णतया आधारित है, यद्यपि उस पर भी बाह्य या वातावरण का कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है, और दूसरी ओर प्रस्तुत कारण से होने वाले अर्थ-परिवर्तन भी मानसिक स्थिति से पूर्णतया दूर नहीं रखे जा सकते। वातावरण कई प्रकार के हो सकते हैं, अतः सभी को अलग-अलग लेना अधिक सुन्दर होगा।

(क) भौगोलिक वातावरण

इसके अंतर्गत नदी, पर्वत, पेड़ आदि लिए जा सकते हैं। सब जगह एक ही प्रकार के पेड़ नहीं मिलते। थोड़ी देर के लिए मान लें कि हम एक ऐसे स्थान पर रह रहे हैं जहाँ 'क' नाम का पेड़ अधिक है और उससे हमें लाभ है। थोड़े दिन बाद हम किसी कारणवश वहाँ से हटकर कहीं और चले आए जहाँ वह पेड़ तो नहीं है, पर एक दूसरा पेड़ उसी प्रकार बहुतायत से मिलता है साथ ही उसी पेड़ की भाँति लाभकर भी है। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक है, कि हम उसी पुराने नाम से नए पेड़ को भी पुकारने लगें। यह ठीक उसी प्रकार है, जैसे छोटे लड़के यदि कहीं बाहर जाकर कोई नदी देखते हैं तो उसे अपने गाँव या नगर की ही नदी समझते हैं,

और उसे उसी नाम से पुकारने भी लगते हैं। अंग्रेजी में कार्न (Corn) का अर्थ गल्ला है, पर अमेरिका में भौगोलिक वातावरण के परिवर्तन के कारण इसका प्रयोग मक्का के लिए होता है, जो वहाँ का प्रधान अन्न था और जिसे पहले वहाँ के मूल निवासी खाते थे। जानवरों के विषय में भी यह बात देखी जाती है। वेदों की प्राचीन-तम ऋचाओं में उष्ट्र का प्रयोग जंगली बैल के लिए हुआ है, पर बाद में संभवतः जब आर्य मरुभूमि में आ गए थे, इसका प्रयोग ऊँट के लिए होने लगा।

(ख) सामाजिक वातावरण

एक ही भाषा में एक ही समय में समाज के वातावरण के अनुसार शब्दों का अर्थ-परिवर्तित होता रहता है। अंग्रेजी के मदर (Mother) और सिस्टर (Sister) शब्दों का अर्थ साधारणत: कुछ और है, गिरजाघरों में कुछ और है तथा अस्पतालों में और है। इसी प्रकार सभा में व्याख्यान देने वाले का भाई और बहन कुछ दूसरा अर्थ रखता है और घर में भाई-बहन का प्रयोग कुछ दूसरा अर्थ रखता है। किसी आफ़िस में काम करने वाले को रविवार के दिन देर तक सोते रहने पर जब उसकी पत्नी 'अरे भाई उठिए' कहकर जगाती है, तो उसका आशय उन महाशय से भाई का संबंध जोड़ने का कभी नहीं रहता। इस प्रकार वातावरण के अनुसार शब्दों का अर्थ परिवर्तित होता रहता है। नाई का 'खत काटना' और शिशु-कक्षा के लड़के का सरकंडे की कलम में 'खत काटना' भी एक अर्थ नहीं रखते। विद्यार्थी के प्रयोग में आने वाला 'कलम' शब्द तथा माली का 'कलम' शब्द भी एक नहीं है। इस प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण मिल सकते हैं।

(ग) प्रथा-संबंधी वातावरण

लौकिक प्रथाएँ तथा रस्मरिवाज भी समय के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। इस वातावरण के परिवर्तन में ऐसा होता है कि पुरानी प्रथाओं के कुछ शब्द तो लुप्त हो जाते हैं, पर कुछ शब्द नए अर्थ में प्रयुक्त होने लगते हैं। वैदिक शब्द 'यजमान' यज्ञ करने वाले के लिए प्रयुक्त होता था। यज्ञ की प्रथा के लुप्त होने के साथ-साथ उसका वह अर्थ भी समाप्त हो गया। आज किसी ने यदि एक पैसा भी किसी ब्राह्मण को दे दिया तो तुरत ब्राह्मण देवता 'जजमान, तुम्हारा भगवान भला करें', कह कर आशीर्वाद देते हैं। इतना ही नहीं। देहातों में नाई लोग आपस में गाँवों की हजामत बनाने के लिए क्षेत्र बाँट लेते हैं और अपने हिस्से के गाँव या घरों को अपनी 'जज-मानी' कहते हैं। इसी प्रकार स्वयंवर की प्रथा आज नहीं रही, पर 'वर' का प्रयोग

'दुलहे' के लिए चल रहा है। अब 'वर' शब्द से चुने जाने का अर्थ निकल गया है। ऐसे अर्थ-परिवर्तन देहात में प्रयुक्त होने वाले अनेकानेक शब्दों में मिलते हैं।

[६] नवीन वस्तुओं का निर्माण तथा प्रचलन

जब नवीन वस्तुएँ बनती हैं तो उनके नाम की समस्या हमारे समक्ष आती है। अधिकतर ऐसा किया जाता है कि जिस सामग्री से वह वस्तु बनती है उसी के नाम का प्रचलन वस्तु के लिए हो जाता है और इस प्रकार उस शब्द में एक नवीन अर्थ प्रवेश कर जाता है। भारतवर्ष में गिलासें पहले शीशे की बनीं। शीशे को अंग्रेज़ी में ग्लास (Glass) कहते हैं, अतः यहाँ उससे बनी वस्तु को भी ग्लास या गिलास कहने लगे। अंग्रेजी का पेन (Pen) शब्द भी इसका अच्छा उदाहरण है। पहले कलमें पंख की बनती थीं, अतः पंख (Pinna) का ही प्रयोग उनके लिए भी होने लगा। और अब लोहे के कलम को भी पेन कहते हैं। यह किसी को भी ध्यान नहीं कि 'पेन' का यथार्थ अर्थ 'पंख' है।

नवीन वस्तुओं के निर्माण में नाम सर्वदा सामग्री पर ही आधारित नहीं रहते। कभी-कभी बनाने की क्रिया पर भी उसका नाम रख दिया जाता है और थोड़े दिनों में नाम के आधार को भूल कर उस शब्द का अर्थ ही उस वस्तु को समझ लेते हैं। पुस्तकें ग्रंथन कर या गूथ कर बनाई जाती थीं, अतः उनका नाम 'ग्रंथ' पड़ गया। अब हम ग्रथ का सीधा अर्थ पुस्तक ही समझते हैं।

भोजपुरी का 'डाँड़' शब्द जो जुर्माने के अर्थ में प्रयुक्त होता है इसी का उदाहरण है। पहले दंड या डंडे से सज़ा दी जाती थी, पर आज तो रुपये के जुर्माने को भी 'डाँड़' या 'डंड' कहते हैं।

[७] नम्रता प्रदर्शन

नम्रता-प्रदर्शन के कारण भी शब्द के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। जब उत्तरी भारत का कोई ऐसा आदमी जिसका शीन-काफ़ दुरुस्त है, किसी से पूछता है, कि आपका दौलतख़ाना कहाँ है तो उसका 'दौलतख़ाने' से आशय 'धन का भंडार' न होकर 'घर' होता है। यहाँ दौलतखाने का अर्थ परिवर्तित होकर घर हो गया है। इसी प्रकार अपने घर को लोग 'गरीबख़ाना' कहते हैं। हिन्दी में किसी का नाम पूछने के लिए पूछा जाता है 'श्रीमान किन-किन अक्षरों को सुशोभित करते हैं?' संस्कृत साहित्य में कहीं कहीं ऐसा मिलता है कि 'आप कहाँ से आ रहे हैं?' पूछने के लिए 'आप किस देश या स्थल की श्री को क्षीण करके आ रहे हैं?' का प्रयोग हुआ है।

भारोपीय परिवार की लगभग सभी भाषाओं में नम्रता-प्रदर्शन का विशेष स्थान है। उर्दू राज-दरबारों में विकसित होने के कारण संभवतः इन सब में आगे है। उसमें 'आप' के लिए 'ग़रीबपरवर', 'जहाँपनाह' आदि का प्रयोग चलता है। रीवाँ आदि राज्यों में सारी प्रजा तथा राज्य-कर्मचारी राजा से बात करते समय 'अन्नदाता' कह कर संबोधित करते हैं। उर्दू में यदि स्वयं कुछ कहना हो तो कहा जाता है 'कुछ अरज़ करना चाहता हूँ।' लेकिन दूसरे से कहने के लिए कहा जाता है 'अब आप कुछ फ़रमाने की तक़लीफ़ गँवारा करें।' कोई अफ़सर जब किसी बाबू या क्लर्क को बुलाना चाहता है तो चपरासी से यह न कहकर कि 'अमुक बाबू को बुला लाओ' 'अमुक बाबू को सलाम बोलो' कहता है।

भोजपुरी मे आदर के लिये 'राउर' शब्द प्रयुक्त होता है जो 'राजकुल्य' का रूपान्तर है। हिन्दी तथा अंग्रेजी में मध्यम पुरुष एक वचन (तू- thou) का प्रयोग बहुत कम होता है। उसके स्थान पर आदर के लिए बहुवचन (तुम, you) का प्रयोग ही अधिक चलता है। पर, उस अनादरसूचक तू और thou का प्रयोग ईश्वर तथा अपने घनिष्ट के लिए बड़े प्यार से किया जाता है। इसी प्रकार भोजपुरी में माता के लिए 'ते' का प्रयोग होता है जो साधारणतः अनादरसूचक समझा जाता है।

नम्रता-प्रदर्शन में भाषा-संसार में जापानी भाषा सबसे आगे है। उनके यहाँ साधारण प्रयोग से पूर्णतया पृथक एक आदरसूचक भाषा का विकास हो गया है। राजघराने के प्रयोग के लिए कुछ वस्तुओं के नाम वहाँ सर्वथा अलग हैं। कुछ दिन पहले तक ऐसा था कि साधारण पुराने विचार के आदमी यदि ग़लती से उस शब्द का प्रयोग कर देते थे तो हाराकिरी (आत्महत्या) कर लेते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि इससे पाप लगता है। इस संबंध में चेम्बरलेन की 'हैन्डबुक ऑव कलोकिअल जापानीज़' (Hand-book of Colloquial Japanese) पुस्तक पढ़ने योग्य है।

कुछ ऐसे प्रयोग हिन्दी में भी हैं। साधुओं या राजाओं के आने को 'आना' न कहकर 'पधारना' कहते हैं। संतों से 'भोजन कर लीजिये' न कहकर 'भोजन पा लीजिये' कहा जाता है। यदि किसी आदमी से उसके लड़के के लिये पूछा जाय कि यह किसका लड़का है तो वह यह न कह कर कि मेरा लड़का है, 'आप ही का लड़का है' कहेगा। देवताओं के भोजन को 'भोग' और बड़ों के देखने को 'दर्शन' कहते हैं।

उपर्युक्त सभी प्रयोगों में नम्रता-प्रदर्शन के कारण शब्दों के अर्थों में विशेषता या कुछ परिवर्तन आ गया है।

[८] अशोभन के लिए शोभन भाषा का प्रयोग

संसार में अशोभन बातें, भावनाएँ, कार्य हैं, पर यथासाध्य मनुष्य का मस्तिष्क उनसे दूर रहना चाहता है। विडंबना यह है कि चाह कर भी दूर नहीं रह पाता, इसलिए उन भावनाओं को शोभन शब्दों से ढक कर वह संतोष की साँस लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि वे शोभन शब्द अपने शोभन अर्थों को छोड़कर अशोभन अर्थ ढोने लगते हैं। इसे कई भागों में बाट कर विचार किया जा सकता है।

(क) अशुभ या बुरा

अशुभ कार्यों, बातों या घटनाओं को हम घुमाफिरा कर कुछ अच्छा बनाकर कहना पसन्द करते हैं। 'हुजूर की तबीअत खराब है', न कहकर 'हुजूर के दुश्मनों की तबीअत नासाज़ है' कहने की प्रथा है। किसी के मर जाने पर मरना न कहकर गंगालाभ होना, स्वर्गवासी होना, पंचत्व को प्राप्त होना, असार संसार छोड़ना, मुक्त होना, तथा गोलोक जाना आदि कहते हैं। किसी के विधवा होने पर चूड़ी फूटना, सोहाग लुटना, सिन्दूर धुलना, माँग सफेद होना इत्यादि कहा जाता है। लाश को मिट्टी या माटी; दुकान बंद करना को दुकान बढ़ाना तथा चिराग बुझाना को चिराग बढ़ाना कहते हैं। अंग्रेज़ी में भी मरने को 'टु गिव अप द गोस्ट' (to give up the ghost) कहते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों से हमारे मनोविज्ञान पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसका सीधा अर्थ यह है कि इन अवश्यंभावी बातों से हम इतना अधिक डरते हैं कि सीधे इनका नाम लेना भी पसंद नहीं करते।

(ख) अश्लील

कुछ लोग तो संसार में कुछ भी अश्लील नहीं मानते। उनका कहना है कि जब ईश्वर उन कार्यों या वस्तुओं को पृथ्वी पर लाने में नहीं लज्जित हुआ तो हम उनके उच्चारण या प्रयोग में क्यों लज्जित हों। पर, विश्व के सभी लोग इसे नहीं मानते। अधिक लोग ऐसे ही हैं जो बहुत से नामों को तथा उनसे संबंधित कार्यों या शब्दों को अश्लील मानते हैं, और इसलिए अश्लीलता को छिपाने के लिए घुमा-फिरा कर अच्छे शब्दों द्वारा उन्हें प्रकट करते हैं।

पाखाना जाने को 'मैदान जाना', 'पोखरे जाना', 'नदी जाना', 'दिशा जाना', 'टट्टी जाना', 'शौच जाना' तथा 'विलायत जाना' कहा जाता है। इधर सन १९३० के बाद से भारतीयों को अपनी गुलामी अधिक खलने लगी थी और वे इंगलैण्ड के

प्रति घृणा की भावना रखने लगे थे। इसी कारण कुछ छात्रावासों में पेशाब करने जाने को 'छोटी विलायत जाना' और पाखाना जाने को 'बड़ी विलायत जाना' अभी हाल तक कहा जाता रहा है। इसमें अश्लीलता छिपाने की तथा घृणा-प्रदर्शन की भावनाएँ साथ-साथ काम कर रही हैं।

गर्भिणी होना न कह कर 'पाँव भारी होना' कहते हैं। अंग्रेजी में इसे 'टू बी इन फेमली वे' (to be in family way) कहा जाता है। पाखाना जाने को टू अटेन्ड द नेचर्स काल (to attend the nature's call) तथा पेशाबघर को 'बाथरूम' कहते हैं।

काम-शास्त्र से संबंधित अवयवों, तथा कार्यों के विषय में भी प्रयोग प्रायः बहुत घुमा-फिरा कर किए जाते हैं।

(ग) कटुता या भयंकरता

अशुभ और अश्लील की भाँति कटु और भयंकर भी मनुष्य को अप्रिय हैं। भोजपुरी प्रदेश में साँप को 'कीरा', 'जेवर' या 'रसरी' तथा उसके काटने को 'छूना' या 'सूँघना' कहते हैं। बिच्छू को 'टेढ़की' कहा जाता है। संपूर्ण उत्तरी भारत में चेचक निकलने को 'माता माई या महरानी ने कृपा की है' कहा जाता है। चेचक की बीमारी कई प्रकार की होती है और प्रत्येक में तरह-तरह के दाने निकलते हैं। जिस चेचक में गर्मी अधिक होती है उसे 'सीतला' तथा जिसमें त्वचा पर कष्ट अधिक होता है उसे 'दुलारो' कहने की प्रथा है।

हैज़ा में कै और दस्त होने को 'मुँह और पेट चलना' कहा जाता है।

(घ) अंधविश्वास

बहुत लोगों में ऐसा अन्धविश्वास है कि पति, स्त्री, गुरु और बड़े लड़के का नाम लेना पाप है। इसका परिणाम यह होता है कि उनका नाम नहीं लिया जाता। पति के विषय में तो यह नियम इतना कड़ा है कि ऐसे अन्य शब्दों का भी उच्चारण नहीं किया जाता, जिनमें पति के नाम का कोई अक्षर आता हो। मेरे गाँव में मेरी एक दादी लगती हैं जिनके पति का नाम 'हनुमान' था। हनुमान तो हनुमान वे हलुआ भी नहीं कहतीं और उसके लिए 'लपसी' शब्द का प्रयोग करती हैं। परिणाम यह हुआ है कि आसपास के लड़कों में हलुआ के लिए 'लपसी' शब्द प्रचलित हो गया है।

इसी प्रकार 'पंडितजी', 'ऊ लोग', 'बिटिया के बाबू', 'आदमी' और 'मलिकार'

आदि शब्द का अर्थ पति हो गया है, क्योंकि स्त्रियाँ अपने पति के लिए इन शब्दों का प्रयोग करती हैं। पति लोग भी 'मालकिन' या अपने लड़के-लड़की के नाम के साथ माँ या चाची आदि शब्द लगाकर अपनी स्त्री को बुलाते हैं। कहीं-कहीं इसी कारण 'घर वाली' का अर्थ पत्नी हो गया है। कुछ लोग अपना नाम भी नहीं लेते, अतः अपने नाम वाले साथी को मितान कहकर बुलाते हैं। मितान का अर्थ मित्र था पर अब 'अपने नाम का आदमी' हो गया है।

कुछ बीमारियों को भी अंधविश्वास के कारण लोग देवी मान बैठे हैं। चेचक काली मानी जाती है। कटुता के संबंध में ऊपर हम लोगों ने विचार करते हुए चेचक को देवी या माता की दया कहे जाने को कटुता छिपाने के लिए कहा गया माना है। इसमें अंधविश्वास की भावना भी कुछ अवश्य है।

(ङ) गंदे या छोटे कार्य

गंदे कार्यों को भी हम अच्छे शब्दों द्वारा प्रकट करना चाहते हैं। पाखाना साफ करने के लिए 'कमाना' शब्द का प्रयोग होता है। भंगी को 'जमादार', 'हलालखोर' या मेहतर (महत्तर) कहा जाता है। चोर को संस्कृत में तस्कर (वह करने वाला) कहते हैं। चोरी बुरा कार्य है, अतः उसका नाम लेना ठीक नहीं। चमार को रयदास कहते हैं।

खाना पकाना बुरा या गंदा कार्य तो नहीं है पर पकाने वाले नौकर के लिए कष्ट-प्रद नौकरी को छोड़कर यह कुछ नहीं है। इसी कारण उसे महराज (महाराज) जैसी बड़ी पदवी दी गई है। बँगला में नौकर या रसोइये को ठाकुर (मालिक या बड़ा) तथा उत्तरी भारत में अफसर लोग साधारण क्लर्कों को बाबू भी कुछ इसी भावना से कहते हैं।

[६] अधिक शब्दों के स्थान पर एक शब्द का प्रयोग

मनुष्य में आलस्य अधिक है और इसीलिए कम से कम परिश्रम से वह अपना काम निकालना चाहता है। बोलने में भी वह चाहता है कि कम से कम शब्दों में अपने अधिक से अधिक भाव व्यक्त कर सके। इस प्रयास में अधिक प्रयोग में आए शब्दों के कुछ अंश तथा शब्द-समूह के एक-दो शब्द वह छोड़ देता है। ऐसा करने से शेष अंश ही पूरे का अर्थ देने लगता है और इस प्रकार अर्थ-परिवर्तन हो जाता है।

रेल (ट्रेन की पटरी) पर चलने के कारण ट्रेन को रेलगाड़ी कहा गया। अब

गाड़ी शब्द हटा दिया गया है, और केवल रेल का अर्थ रेलगाड़ी हो गया है। पढ़े-लिखों को छोड़कर अब तो कम लोग इसे जानते भी हैं, कि रेल पटरी को कहते हैं। इस प्रकार रेल के अर्थ में काफ़ी परिवर्तन हो गया है।

इसी तरह तार का प्रयोग अब तार द्वारा भेजी गई ख़बर के लिये होने लगा है।

पहले हाथी को 'हस्तिन् मृग' [ऐसा जानवर जिसके हाथ (सूँड़) हो] कहा जाता था, बाद में मृग छोड़ दिया गया और केवल हस्तिन् ही पूरे का अर्थ देने लगा। रेलवे स्टेशन के लिये स्टेशन, मोटरकार के लिए मोटर या कार, जिनरिकशा के लिये रिकशा, साइकिल रिकशा के लिये रिकशा, प्रिंसपल टीचर के लिये प्रिंसपल, कैपिटल सिटी (Capital City) के लिये कैपिटल (Capital) तथा पोस्टल स्टैम्प (Postal stamp) के लिये स्टैम्प (stamp) का प्रयोग अब सर्वत्र हो रहा है। टिन धातु से बने पीपे को 'टिन का पीपा' न कहकर 'टिन' या 'पीपा' कहा जाता है।

दो पहियों का होने के कारण बाइसिकिल नाम पड़ा। अब केवल साइकिल कहा रहा है, जिसका अर्थ पहिया मात्र है। विद्यार्थी लोग तो 'बाइक' कहते हैं। इस प्रकार के रोज के प्रयोग में आने वाले बहुत से शब्द मिलते हैं, जिनका अर्थ परिवर्तित हो गया है।

[१०] सादृश्य (analogy)

सादृश्य के कारण भी कभी-कभी अर्थ-परिवर्तन होता है, पर इसके उदाहरण अधिक नहीं मिलते। पीछे हम लोग गोस्वामी शब्द पर विचार करते हुए देख चुके हैं कि इसका अर्थ 'गायों के स्वामी' से 'माननीय धार्मिक पुरुष' तक आया। इसी बीच में एक 'गोस्वामी' शब्द लोगों के सामने आया जिसका अर्थ था 'गो' अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी अर्थात् ईश्वर। दोनों गोस्वामी बिल्कुल रूप तथा ध्वनि में एक थे, अतः नए गोस्वामी के अर्थ के सादृश्य में पुराने गोस्वामी या गोसाईं का भी अर्थ ईश्वर हो गया। सादृश्य के कारण शीघ्रता से यह शब्द माननीय धार्मिक व्यक्ति से कूद कर ईश्वर के पास जा पहुँचा। गोसाईं तुलसीदास के नाम के साथ तो उसका अर्थ माननीय धार्मिक व्यक्ति है, पर उनके मानस में 'धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं' में वह शब्द ईश्वर का वाचक है। आज धार्मिक व्यक्ति या जाति विशेष के लिये तो गोस्वामी या गोसाईं शब्द का प्रयोग होता है, पर ईश्वर के वाचक के रूप में उसमें ध्वनि और रूप संबंधी परिवर्तन हो गया है। भोजपुर प्रदेश में वह 'गोसैंयाँ' कहा जाता है। एक बात आश्चर्यजनक यह है कि भोजपुरी की एक प्रचलित शपथ में इस शब्द का साथ

पुनः अपने साथी शब्द गाय से हो गया है। लोग 'गऊ-गौसैयाँ जाने' कहते हैं, जिसका अर्थ है—'गऊ (गाय) और गोसैयाँ (ईश्वर) की साक्षी देकर कह रहा हूँ।' कहना न होगा कि यहाँ भी सादृश्य परिवर्तन में एक साधन मात्र है, जिसके मूल में भाव का साहचर्य छिपा है।

[११] कलाकारों की निरंकुशता

कलाकार लोग नए शब्द तो गढ़ते ही हैं, शब्दों को नए अर्थ में व्यवहार करना भी पसन्द करते हैं। ऐसा वे लोग इसीलिये नहीं करते कि भाव-प्रकाशन में कठिनाई पड़ती है, अपितु केवल अपनी शैली को चटकीली और आकर्षक बनाने के लिये। ऐसे प्रयोग श्री बेचन शर्मा 'उग्र' तथा श्री निराला में यथेष्ट मात्रा में मिलते हैं। अज्ञेय जी की किसी पुस्तक पर उनका परिचय छपा था। परिचय के अन्त में भावी पुस्तक के संबंध में लिखा था कि अमुक पुस्तक के निकलने की 'आशंका' है। यहाँ प्रयोग तो 'आशा' का होना चाहिये पर वहाँ आकर्षण के लिये 'आशंका' का आगमन हो गया। इस एक ही प्रयोग से आशंका के अर्थ पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ सकता पर दो चार जगह भी ऐसा छपा तो फिर अनुकरण की धारा में सर्वत्र इसका प्रयोग चल पड़ेगा और फिर अवश्य ही अर्थ में परिवर्तन होने लगेगा। शिवदत्त जी शर्मा की एक पुस्तक की भूमिका में श्री क० म० मुन्शी ने लिखा है कि यह पुस्तक मेरी सूचना से लिखी गई है। वहाँ सूचना का भी असाधारण प्रयोग है।

विद्यापति, कबीर और सूर के पदों में तथा आज के रहस्यवाद, छायावाद और प्रयोगवाद के कवियों में निरंकुश प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिल सकते हैं। आधुनिक कलाकारों की निरंकुशता के कारण ही विनय, शिष्टता, आदर और प्रेम का अर्थ देने वाला शब्द प्रश्रय, आश्रय के लिये प्रयुक्त होने लगा है।

[१२] पुनरावृत्ति

कभी-कभी शब्दों का दुहरा प्रयोग चल पड़ता है और इसके कारण भी उनके आधे भाग के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। अब 'विन्ध्याचल पर्वत' का प्रयोग चल पड़ा है। ऐसा प्रयोग करने वाले 'विन्ध्याचल' का अर्थ विंध्य पर्वत न लेकर उसे पर्वत का नाम समझते हैं। मलयगिरि के विषय में भी यही बात है। द्राविण भाषा में मलय शब्द ही पहाड़ का अर्थ रखता है, पर हम लोगों ने मलय को नाम समझ कर उसके साथ गिरि जोड़ लिया है। कुछ लोग तो मलयागिरि पर्वत भी कहते हैं। इसी प्रकार कुछ लोग हिमाचल पर्वत भी कहते हैं।

डबल रोटी को पावरोटी भी कहते हैं। इस दुहरे प्रयोग का परिणाम यह हुआ कि लोग पाव का अर्थ डबल लगाने लगे हैं जब कि पाव का अर्थ रोटी होता है। आजकल 'दरअसल में' का प्रयोग भी चल रहा है। एक सज्जन के प्रयोग पर मैंने उनसे दर का अर्थ पूछा तो उन्होंने 'बिलकुल' बतलाया। इस प्रकार दर में अर्थ-परिवर्तन हो रहा है। 'किन्तु फिर भी' या 'पर फिर भी' का भी दुहरा प्रयोग चल रहा है, यद्यपि किसी अंश में अर्थ-परिवर्तन की आशा निकट भविष्य में नहीं है। हाँ इतना अवश्य है कि दोनों को मिलाकर भी एक का ही अर्थ समझा जाता है। यह ठीक उसके उलटा है जिसमें दो शब्दों के लिए एक का प्रयोग (रेलगाड़ी के लिए रेल) होता है क्योंकि यहाँ एक शब्द के लिए दो का प्रयोग है। 'सज्जन व्यक्ति' का प्रयोग भी इसी श्रेणी का है।

(१३) एक शब्द के दो रूपों का प्रचलन

किसी ने कहा है कि जीवित भाषा में एक वस्तु या कार्य के लिए ठीक एक अर्थ रखने वाले दो शब्द नहीं रह सकते। भाषा यह व्यर्थ का बोझ स्वीकार नहीं करती। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक तत्सम शब्द के साथ-साथ उसके तद्भव या अर्द्ध तद्भव शब्द का भी प्रचलन हो जाता है और दोनों एक अर्थ रखते हैं। ऐसी दशा में दो बातों में से कोई एक घटित होती है। या तो दोनों में से कोई एक लुप्त हो जाता है। या फिर किसी एक का अर्थ कुछ भिन्न हो जाता है। यहाँ हमें दूसरी बात पर विचार करना है।

हिन्दी में कुछ शब्दों के दो रूप चल रहे हैं और भाषा यह बोझ स्वीकार नहीं कर सकती अतः दोनों के अर्थ में भेद हो गया है। इस प्रकार दो रूप के प्रचलन में भी अर्थ-परिवर्तन अवश्यंभावी हो जाता है। इन दो अर्थों में प्रायः देखा जाता है कि तत्सम प्राचीन शब्द तो कुछ उच्च अर्थ रखते हैं पर तद्भव शब्द कुछ हीन अर्थ।

स्तन और थन एक ही हैं पर दोनों के अर्थ में अब भेद है। एक का प्रयोग मनुष्य के लिए होता है तथा दूसरे का पशु के लिए। इसी प्रकार स्थान और थान शब्द हैं। स्थान का प्रयोग देवी देवताओं के लिए होता है और थान का प्रयोग हाथी या घोड़े के लिए। जैसे—'यह ब्रह्म जी का स्थान है।' या 'हाथी का थान यहाँ है।' इस प्रकार के और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं—

गर्भिणी (स्त्री), गाभिन (गाय भैंस); ब्राह्मण (शिक्षित ब्राह्मण), बाम्हन (निरक्षर); साधु, साहु; भोज, भोजन; परीक्षक, पारखी; तिलक, टिकुली (स्त्रियों के ललाट पर लगाने की काँच आदि की बिन्दी); सौभाग्य, सोहाग तथा वार्ता, बात इत्यादि।

अर्थ-विचार के प्रसिद्ध मनीषी ब्रील ने इसे भेद-भाव का नियम (Law of-differentiation) कहा है । उनका भी यही कहना है कि सामान्य जनता का मस्तिष्क एक साथ एक ही अर्थ के दो शब्द नहीं ढो सकता। एक शब्द दो विचारों को व्यक्त करे यह ठीक हो सकता है पर एक विचार के लिए दो शब्द हों यह व्यर्थ है। साहित्य में एक वस्तु या विचार के लिए कई शब्द चलते हैं, पर उनका बिल्कुल एक ही अर्थ नहीं होता। उनका प्रयोग अपना अलग-अलग महत्व रखता है। पंत जी ने 'पल्लव' की भूमिका में पवन, प्रभंजन, वायु, श्वसन तथा समीर आदि का अंतर दिखलाया है। खैर इनमें अंतर हो या न हो प्रचलित भाषा में एक शब्द के दो रूपों में तो प्रायः अंतर हो ही जाता है जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं।

[१४] अज्ञान और शब्दों के प्रयोग में असावधानी

बहुत से लोगों को बड़े तथा अप्रचलित शब्दों के प्रयोग का शौक होता है। ऐसा करने में बहुधा वह ठीक से अर्थ समझे बिना लोग अशुद्ध प्रयोग करने लगते हैं। उनको सुनकर कुछ दूसरे लोग भी उसी प्रकार प्रयोग आरम्भ कर देते हैं और इस प्रकार एक नवीन और अशुद्ध अर्थ उस शब्द पर आरोपित कर दिया जाता है। अंग्रेजी में ऐसा करने को 'मैलाप्रापिज्म (Malapropism)* कहते हैं।

इस प्रकार आलस्य, असावधानी, अज्ञान तथा मनोयोग के अभाव के कारण शब्दों में अर्थ-परिवर्तन प्रत्येक भाषा में मिलते हैं। 'धन्यवाद' शब्द संस्कृत में प्रशंसा के लिए प्रयुक्त होता था पर अब उसका प्रयोग शुक्रिया (thanks) के स्थान पर चल पड़ा है। इधर कुछ लोग शब्दों को सुन्दर तथा गंभीर बनाने के प्रयास के व्यर्थ के उपसर्ग लगाने लगे हैं। ऐसा करने में उसी प्रकार की अशुद्धि हो रही है। ज्ञान के साथ 'अभि' लगाकर ज्ञान के लिए अभिज्ञान का प्रयोग हो रहा है पर अभिज्ञान का यथार्थ अर्थ पुनर्ज्ञान या स्मृति होता है। इसी प्रकार क्रांति के लिए उत्क्रान्ति का प्रयोग भी देखा जा रहा है, यद्यपि उत्क्रांति का अर्थ मृत्यु होता है। अशोककालीन एक साधुवर्ग के नाम 'पाषंड' का धूर्तता, ढोंग और दुष्टता के अर्थ में प्रयोग भी कुछ इसी कारण हुआ है। तारतम्य का प्रयोग अब ताँता बाँधने के लिए होता है पर इसका यथार्थ अर्थ क्रम है। गुजराती में 'जरूरत' के लिए जरूर, अवधी में 'बूढ़' के लिए बुढ़ापा, भोजपुरी में कलंक के लिए अकलंक भी इसी के उदाहरण हैं।

---

* इस पर विशेष परिशिष्ट में देखिये।

हम देख रहे हैं कि अज्ञान या प्रयोग की असावधानी के कारण उपर्युक्त शब्दों में कितना अधिक अर्थ-परिवर्तन हो रहा है।

[१५] शब्दों का अधिक प्रयोग

अधिक प्रयोग से शब्द घिस जाते हैं और उनसे परिचय इतना अधिक बढ़ जाता है कि उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है। श्रीयुत, श्रीमान या श्री का प्रयोग आरंभ में काफी सुन्दर तथा सार्थक लगता था पर अब वे प्रयोग से इतने घिस गये हैं कि निरर्थक से जान पड़ते हैं। पुरानी शक्ति अब उनमें तनिक भी नहीं है। बाबू शब्द भी अब अपना पुराना अर्थ (बड़प्पन और जमींदारी का शान) नहीं देता। आफिस के सभी क्लर्क और दूकानों पर जाने वाले सभी ग्राहक आज बाबू हो गये हैं। मज़ाक में अपने देर करने वाले मित्र से भी लोग कहते हैं 'बाबू ज़रा जल्दी करो।' इतना ही नहीं संयुक्त प्रान्त के पूर्वी जिलों में तो इसका अर्थ गुंडा या छैला भी लिया जाने लगा है।

विशेषणों और क्रिया-विशेषणों में यह बात और भी अधिक घटती है। 'बहुत' शब्द अब कुछ व्यर्थ हो रहा है। उसके स्थान पर अत्यन्त या अतिशय आदि का प्रयोग अधिक ज़ोरदार ज्ञात होता है। अधिक के शिथिल पड़ने पर अत्यधिक, अत्यन्ताधिक या अधिकाधिक के प्रयोग होने लगे हैं।

संस्कृति, साम्यवाद, नेता, आदि शब्द भी घिसकर साधारण हो गये हैं। राजा शब्द तो बनारस में उतना ही नीचे गिर गया है जितना ऊपर था। पंडित शब्द की भी यही दशा है। प्रयोग के कारण अब पंडित का अर्थ विद्वान् न रहकर पुराने विचार वाला, या १०वीं सदी का आदमी हो गया है। एक बार एक विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर महोदय ने एक विद्यार्थी से बिगड़ते हुए कहा भी था, 'क्या प्राइमरी स्कूल के लड़कों की तरह पंडित जी पंडित जी कहते हो, क्या तुमसे डाक्टर साहब कहते नहीं बनता!'

[१६] किसी राष्ट्र, जाति या संप्रदाय के प्रति सामान्य मनोभाव

किसी जाति, राष्ट्र या जन समुदाय के प्रति जब जैसी भावना होती है उसकी छाया उनके शब्द के अर्थों पर भी पड़ती है। इस संबंध में कभी-कभी तो ऐसा भी देखा गया है कि अर्थ पूर्णतः उलटा हो जाता है। असुर का पहले हमारे यहाँ देवता अर्थ था उस समय तक संभवतः ईरानवालों के प्रति हम लोगों के विचार बुरे नहीं थे, पर ज्योंही विचार बदले हमने उस शब्द का अर्थ राक्षस इसलिए कर लिया कि वह

नाम ईरानियों के प्रधान देवता (अहुर मज़्दा) का था। यही बात वहाँ भी हुई। हमारे देव शब्द का अर्थ उन लोगों ने अपने यहाँ अदेव या राक्षस कर लिया।

सांप्रदायिक दंगों तथा पाकिस्तान के बँटवारे के समय से मुसलमान शब्द का अर्थ यहाँ कुछ गिर गया है! फारसी में हिंदू का अर्थ तो बहुत पहले से 'गुलाम' और 'नापाक' आदि है। इतना ही नहीं शायद हिंदू का अर्थ 'कुफ्र करने वाला' या 'काफ़िर' भी है।

अनार्यों के कुछ शब्दों का अर्थ भी आर्यों ने घृणा के कारण गिरे अर्थ में अपने यहाँ रखा। आर्येतर परिवार का 'पिल्ला' शब्द मूलतः लड़का का समानार्थी है, पर आर्यों ने उसे कुत्ते के बच्चों के लिए प्रयोग करना आरम्भ किया। यह आज तक उसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

आर्यसमाजियों का सनातनधर्मियों के प्रति श्रद्धा का भाव नहीं है। वे उन्हें धर्म की दुर्दशा करने वाले तथा ढोंगी मानते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि आर्य-समाजियों के मस्तिष्क में व्रत, कथा, श्राद्ध, माला, मूर्ति आदि का वह उच्च अर्थ नहीं है जो सनातनधर्मियों में है। कुछ त्यौहारों के विषय में शिया और सुन्नी मुसलमानों में भी यही अंतर है, जिसके कारण उनसे संबंधित शब्दों के अर्थ पर भी प्रभाव पड़ा है।

जब से श्रेणी-संघर्ष (Class Struggle) का सिद्धान्त समाज के लिए आव-श्यक समझा गया है, फ्रेंच शब्द बुरजुआ; हिंदी का धनिक, पूँजीवादी, सामंत, राजा, उर्दू के ज़मीदार, तालुकेदार, इलाकेदार आदि का अर्थ कितना नीचे गिर गया है?

स्वयं कांग्रेस शब्द में जो उच्चता और पवित्रता की भावना थी, आज समाज-वादियों और कम्यूनिस्टों के प्रभाव के कारण या कांग्रेसियों की बेईमानी के कारण कम से कम मजदूरों और किसानों के मस्तिष्क में नहीं रह गई है। संभव है, आगे यह शब्द और भी गिरे।

[१५] एक वर्ग के एक शब्द में अर्थ-परिवर्तन

शब्द अधिकतर वर्गों में रहते हैं। यदि वर्ग में किसी एक भी शब्द के अर्थ में परिवर्तन हुआ तो उसका प्रभाव शेष शब्दों के अर्थ पर भी पड़ता है।

वर्ग कई प्रकार के होते हैं। यहाँ कुछ प्रधान पर विचार किया जा सकता है।

एक धातु से बनने वाले सारे शब्द व्याकरण की दृष्टि से एक वर्ग के हैं। उनमें एक में परिवर्तन उपस्थित होते ही अन्य पर प्रभाव पड़ जाता है। यदि 'करना' का प्रयोग आज बुरे कार्यों के लिए ही किसी प्रकार सीमित हो जाय तो कराना, करवाना,

क्रिया, करवाना, क्रिया आदि के अर्थ पर भी उसकी छाया अवश्य पड़ेगी। दुर्लभ से दूल्हा शब्द बना और उसका प्रयोग वर के लिये होने लगा। इसका प्रभाव दुर्लभ, दुलही या दुलहिन पर भी पड़ा और अंतिम दो का प्रयोग वधू के लिये चल पड़ा।

दुहिता का अर्थ 'गाय दुहने वाली' था। बाद में जब इसका अर्थ लड़की हो गया तो इससे बनने वाले दौहित्र, दौहित्री, दौहित्रायण आदि शब्दों का अर्थ भी उसी के अनुसार परिवर्तित हो गया।

कुछ शब्दों का वर्ग प्रयोग या संदर्भ के साथ के कारण भी होता है। अहिंसा, सत्य, कांग्रेस, आदि एक वर्ग के शब्द हैं। धर्म-कर्म पूजा-पाठ, जप-तप, ईश्वर-आत्मा आदि भी एक वर्ग के शब्द हैं। इधर धर्म के प्रति क्षोभ होने के कारण उसकी पवित्रता अधिक लोगों के मस्तिष्क से निकल गई है। इसका प्रभाव पूजा, जप, माला, भजन, तीर्थ, कथा तथा व्रत आदि पर इतना पड़ा है कि ये सभी प्रायः ढोंग समझे जाने लगे हैं।

शब्दों के अर्थ की समीपता के आधार पर भी वर्ग बनाये जा सकते हैं। उनमें भी उपर्युक्त बातें पाई जायँगी।

[१८] अनजाने नवीन अर्थ का साहचर्य आदि के कारण प्रवेश

ऐसी दशा में अधिकतर अर्थादेश हो जाता है। सिन्धु का अर्थ बड़ी नदी या समुद्र था। आर्यों ने सिन्धु नदी को भारत में आने पर सिंधु कहा। कुछ दिन में नदी के आस-पास की भूमि भी सिंधु कही जाने लगी। सिंधु से सैंधव शब्द बना जिसका अर्थ है, 'सिंधु का' या 'सिन्धु देश में होने वाला'। उस समय सिंधुदेश की प्रधान वस्तु 'घोड़ा' और 'नमक' होने के कारण, सैंधव का प्रयोग इन दोनों के लिए होने लगा। उधर बाद में सिंधु के निवासियों को भी सिंधु कहा जाने लगा। जिसका फारसी रूप हिन्दु या हिन्दू हो गया। इस प्रकार अनजाने धीरे-धीरे सिंधु शब्द का अर्थ जड़ से चेतन हो गया।

पत्र शब्द का प्रयोग अब पत्र पर लिखे विचारों या शब्दों के लिए भी होने लगा है। 'पत्र में अशुद्धियाँ बहुत हैं' का अर्थ कागज की अशुद्धियाँ न होकर शब्द या वाक्य की अशुद्धियाँ हैं। 'पत्र रुला देने वाला है' में पत्र का अर्थ विचार है। आज ये अर्थ प्रधान तो नहीं हैं पर आ गये हैं, संभव है और कि प्रधान भी हो जायँ और अर्थ-परिवर्तन और भी स्पष्ट हो जाय।

[१९] किसी शब्द, वर्ग या वस्तु में एक विशेषता का प्राधान्य

एक विशेषता के प्राधान्य के कारण वही उस वस्तु या वर्ग आदि का प्रतीक समझा जाने लगती है। इसमें अर्थ-विस्तार और अर्थ-संकोच दोनों ही होता है। कम्युनिस्टों की प्रधान निशानी 'लाल झंडा' है, अतः वे चारों ओर इस नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हो रहे हैं। देहात में तो इन्हें 'लाल झंडा' की ही जैसे संज्ञा दे दी गई है। 'लाल झंडा की सभा है' का अर्थ है 'कम्युनिस्टों की सभा है'। यहाँ लाल झंडा के अर्थ का विस्तार हो गया है। वह अब कम्युनिस्टों के पूरे समूह का अर्थ रखता है। इसी प्रकार गांधी टोपी का अर्थ कांग्रेस से लिया जाता है। लाल पगड़ी का प्रयोग पुलिस के लिए बहुत पहले से चल रहा है। 'सफेद पगड़ी' पारसी पुरोहित का प्रतीक है।

इन सब में अर्थ-विस्तार हो गया है, जिसका कारण है किसी एक विशेषता का प्राधान्य।

कुछ इस कारण अर्थ-संकोच के भी उदाहरण मिलते हैं। गैस को साधारणतः एक प्रकार का हलका ईंधन समझा जाता है, अतः गैस शब्द सर्वसाधारण के लिए केवल उसी का बोध कराता है। पर ऐसी भी गैसे हैं जो जलाने के काम नहीं आतीं। यहाँ गैस की एक विशेषता सर्व-विदित होने के कारण उसके विस्तृत अर्थ में संकोच हो गया है।

फूल प्रायः सुन्दर, कोमल और सुगंधित होते हैं, अतः सर्वसाधारण में फूल नाम से इन्हीं तीनों गुणों का भाव जाग्रत होता है। यों संसार में ऐसे फूलों* की भी कमी नहीं है, जो बदसूरत और दुर्गंधिपूर्ण होते हैं। पर फूल नाम या शब्द में उनके गुणों या दुर्गुणों को स्थान नहीं है। यहाँ फूल में अर्थ-संकोच है।

[२०] व्यंग्य

व्यंग्य के कारण शब्दों में अधिकतर अर्थादेश हो जाता है और फिर वे उसी नए अर्थ में प्रचलित हो जाते हैं। बोलचाल की भाषा में इनकी संख्या सौ से कम न होगी। नीचे के उदाहरणों में सभी का शाब्दिक अर्थ बुद्धिमान है पर व्यंग्य के कारण प्रचलन में वे मूर्ख के लिए भी प्रयुक्त होते हैं।

'तीन हाथ की बुद्धि वाले', 'अक्ल के ख़ज़ाना', 'अक्ल की पुड़िया', 'अक्ल की

---

* कारियारी के फूल की गंध बड़ी बुरी होती है। घृतकुमारी का फूल तो और भी बुरा महकता है।

मोटरी' आदि का प्रयोग तो साहित्य में भी चलता है। कुछ भोजपुरी के भी उदाहरण लिए जा सकते हैं। 'अक्किल के समुन्दर' 'बुद्धी क पूर' 'दिमाग का दोहरा' तथा 'ढेर चल्हाँक' आदि।

साहित्य में या बोलचाल में 'पूरे पंडित' या 'पूरे देवता' आदि का अर्थ भी मूर्ख लिया जाता है।

गुजराती में 'दोढ़ चतुर' (चतुर का डेढ़ा) का अर्थ भी मूर्ख ही है।

इसी प्रकार 'पूरे युधिष्ठिर के अवतार' का अर्थ असत्यवादी, 'भाग्य के सबसे बड़े साथी' का अर्थ अभागा, 'लक्ष्मी के पति' का अर्थ दीन और 'धर्मावतार' का अर्थ अधर्मी लिया जाता है। गंदे आदमी को 'सफाई का अवतार' कहते हैं, और भद्दे आदमी को 'कामदेव के भाई'।

इस प्रकार अच्छे गुणों के व्यंग्य-प्रयोग द्वारा हम दुर्गुणों को प्रकट करते हैं। कभी-कभी इसके विपरीत भी होता है, पर बहुत कम। कभी-कभी अपने साथी को अधिकतर बहुत साफ कपड़े पहने देखकर हम कह उठते हैं "कहो भाई आजकल धोबी तुम्हें नहीं मिल रहा है क्या?" भोजपुरी में किसी आदमी को दिन पर दिन अधिक स्वस्थ होते देख हम लोग कह उठते हैं, 'दुनियाँ भर क दुबराई तोहरे इहाँ आइल बा का हो?'

स्वाध्य, भोजन, धन, बुद्धि, सौंदर्य तथा दशा के विषय में ही ऐसे प्रयोग अधिक मिलते हैं।

[२१] भावावेश

भावावेश में बहुत से शब्दों के विषय में हम असावधान हो जाते हैं और बहुधा बढ़ा-चढ़ाकर या विचित्र अर्थ में प्रयोग करते हैं। कभी-कभी तो इसके उदाहरण भी व्यंग्य से मिलते-जुलते और यथार्थतः एक प्रकार के व्यंग्य ही दिखाई पड़ते हैं। जब पिता प्रेम के आवेश में अपने लड़के को 'अरे तू तो बड़ा पाजी है।' कहता है तो पाजी का अर्थ वहाँ बुरा न होकर केवल प्यार होता है। इसी प्रकार लोग प्रेम में शैतान, नालायक, बेहूदा तथा गदहा आदि का प्रयोग करते हैं। आजकल के मित्र लोग प्रेम के आवेश में एक दूसरे को 'साले' ही नहीं, जाने और क्या-क्या भी कह जाते हैं। कभी-कभी तो यह कहना (जैसे कहो बेटा!) इतनी बड़ी गाली होती है कि कहने के पीछे यदि प्यार या समीपता की एक चादर न रहे तो खून की नदी बह जाय।

क्रोध के भावावेश में भी लोग इतने पागल हो उठते हैं कि शब्दों का विचित्र प्रयोग कर देते हैं। उसमें भी अर्थ-परिवर्तन दिखाई पड़ता है। 'अच्छा बच्चू फिर आना तो पता चलेगा' में 'बच्चू' शब्द प्यार में लिपटा हुआ 'बच्चा' शब्द का वाचक नहीं है। यहाँ बच्चू केवल इतना बतला रहा है कि क्रोध करने वाला क्रोध में अपने विपक्षी को नाचीज़ समझ रहा है। इसी प्रकार करुणा और घृणा के आवेश में भी शब्दों का अर्थ विचित्र हो जाता है। 'राम राम' ऐसे पवित्र शब्द का अर्थ घृणा के भावावेश के कारण 'छिः छिः' हो गया है। दूसरी ओर किसी दुःखी आदमी के मुँह से निकलता 'राम' शब्द जैसे करुणा का प्रतीक और रुला देने वाला है।

कुछ लोग, विशेषतः कलाकार बड़े भावुक होते हैं और किसी चीज़ का वर्णन बढ़ा-चढ़ाकर करते हैं। इसी से यह होता है कि पढ़ने वाला अतिशयोक्ति को निकाल कर समझता है और इस प्रकार शब्दों के अर्थ धूमिल पड़ जाते हैं।

कुछ जातियाँ अन्य से अधिक भाव-प्रवण होती हैं; इस कारण उनके यहाँ के ज़ोरदार शब्दों का अर्थ अन्य शब्दों से कम शक्तिमान हो जाता है, क्योंकि वे भाव-प्रवणता में सर्वदा उसे इधर-उधर खींचते रहते हैं। फ्रेंच और बँगला में यह बात विशेष पाई जाती है। इस प्रकार भाव-प्रवणता के कारण कुछ भाषाओं के कुछ शब्दों के अर्थ बड़ी शीघ्रता के साथ परिवर्तित होते रहते हैं।

[२२] व्यक्तिगत योग्यता

व्यक्तिगत योग्यता के अनुसार भी शब्दों के अर्थ में परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति शब्दों को एक ही संदर्भ में नहीं समझता। चोर ने 'अच्छा' शब्द चोरी के बारे में यदि सीखा हो तो उसके मस्तिष्क में अच्छा का अर्थ वही नहीं होगा जो एक साधु के मस्तिष्क में। सच तो यह है कि प्रतिदिन के काम में आने वाली स्थूल वस्तुओं को छोड़कर किसी एक चीज़ का या एक कार्य का अर्थ दो मस्तिष्क में बिल्कुल एक नहीं रहता। एक सुयोग्य दार्शनिक के लिए ब्रह्म शब्द कुछ और है, एक साधारण पढ़े-लिखे के लिये कुछ और है, और एक देहाती के लिये तो रुष्ट होकर आत्म-हत्या करने वाले ब्राह्मण की समाधि या 'चउर' मात्र ही ब्रह्म है।

टकर ने ठीक ही कहा है कि शब्द तो एक प्रकार का सिक्का है, पर ऐसा सिक्का जिसका मूल्य निश्चित नहीं। बोलने वाला उसे दो रुपये का समझ सकता है और सुनने वाला अपनी योग्यतानुसार उसे तीन या एक रुपये का समझ सकता है।

सूक्ष्म विचारों, तथा नैतिक भावनाओं के शब्दों के विषय में यह और अधिक सत्य है। धर्म, ईश्वर, पाप, पुण्य, अच्छा-बुरा आदि शब्द उदाहरण-स्वरूप लिये जा सकते हैं।

[२३] शब्दों में अर्थ का अनिश्चय

ऊपर के कारण से यह मिलता-जुलता कारण है। कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिनका निश्चित अर्थ होता ही नहीं। अहिंसा शब्द को हम लें। इसका एक ओर तो केवल यह अर्थ है कि किसी को जान से न मारना चाहिये पर दूसरी ओर जीना भी हिंसा है क्योंकि साँस के द्वारा या पैर से कुचलकर प्रायः हमसे जाने कितने जीव मरते रहते हैं। इन दोनों अर्थों के अतिरिक्त ऐसी कोई बात कहना भी हिंसा है, जिससे किसी का जी दुखे। और शायद ही कोई ऐसी बात होगी जो संसार में सबको अच्छी लगे। तो यहाँ सर्वदा मौन रहना भी अहिंसा पर चलने के लिए आवश्यक है। इस प्रकार हिंसा और अहिंसा शब्द का निश्चित अर्थ नहीं। सत्य और कर्तव्य का अर्थ भी इसी तरह अनिश्चित है।

टकर साहब की ऊपर कही गई बात यहाँ भी लागू होती है।

'व्यक्तिगत योग्यता' तथा 'शब्द के अर्थ का अनिश्चय' इन दोनों कारणों में यथेष्ट एकता है। अंतर केवल इतना है कि एक व्यक्ति पर ज़ोर देता है कि उसके मानसिक एवं मनोवैज्ञानिक स्तर के अनुसार शब्दों का अर्थ परिवर्तित होगा, पर दूसरा शब्द पर ही ज़ोर देता है। दूसरे के अनुसार एक शब्द का अर्थ जितना ही अधिक अनिश्चित होगा उसमें अर्थ-परिवर्तन का रूप भी उतना ही अधिक विचित्र होगा। इतना ही नहीं, अपितु, अनिश्चित् शब्दों में अर्थ परिवर्तन होने की संभावना निश्चित शब्दों से अधिक होगी।

आर्य, ब्राह्मण, दुबे, चौबे, तिवारी, जेन्टिलमैन (gentleman), सेठ, साहु, पाप तथा पुण्य आदि अनेक शब्द लिए जा सकते हैं।

[२४] वर्ग की एक वस्तु का नाम वर्ग को देना

वर्ग की किसी एक वस्तु से अधिक परिचित होने पर उसी नाम से हम पूरे वर्ग को पुकारने लगते हैं। इससे उस शब्द में अर्थ-विस्तार हो जाता है। अब 'स्याही' का अर्थ केवल काली स्याही न रहकर सभी रंग की स्याही हो गया है, यद्यपि यह शब्द 'स्याह' से बना है जिसका अर्थ काला है। पहले केवल काली स्याही थी, अतः स्याही कहा गया। बाद में और रंग की भी स्याहियों का प्रचलन हुआ पर अधिक परिचित

होने से वही नाम चलता रहा। हिंदी का 'साग' (शाक) शब्द पहले केवल उन हरे पत्तों के लिए प्रयुक्त था जिनकी तरकारी बनती थी पर अब साग का अर्थ तरकारी हो गया है। उर्दू का सब्जी शब्द सब्ज़ से बना है, जिसका अर्थ हरा है। इसका भी प्रयोग पहले केवल शाक के लिए होता था पर अब आलू (भूरा) कोहड़ा (पीला) प्याज (सफेद या लाल) और टमाटर (लाल) भी सब्जी हो गये हैं।

कुछ जानवरों या कीड़ों के लिये हम एक ही लिंग का नाम प्रयुक्त करते हैं। घोड़ा-हाथी में यह प्रयोग अधिक नहीं चलता पर छोटे जानवरों में तो प्रायः सभी में चलता है। कुत्ता और कुतिया के लिये कुत्ता, गीदड़ और गीदड़िन के लिये गीदड़, लोमड़ी और लोमड़ा के लिये लोमड़ी, तोता तोती के लिये तोता, मैना-मैनी के लिये मैना इत्यादि। इस एक लिंग का प्रयोग उभय लिंग के लिए होने के कारण उसका अर्थ भी विस्तार पाकर उभयलिंगी हो गया है।

हिन्दी में तो इससे एक विचित्र समस्या खड़ी हो गई है। कुछ जानवर चाहे नर हों या मादा भाषा में उनका 'नर-प्रयोग' चल रहा है। जैसे नर चींटा हो या मादा दोनों के लिये चींटा का प्रयोग चलता है और सर्वदा पुल्लिग में। इसी प्रकार तोता, कौआ, बाज़, बारहसिंहा, गीदड़, तेंदुवा, चीता तथा बनमानुख आदि में हमारी हिन्दी भाषा के अनुसार जैसे केवल नर ही नर होते हैं। दूसरी ओर चींटी, सिघरी, कोयल, लोमड़ी तथा छिपकली में हिंदी के अनुसार नर का एकान्त अभाव है।

इतना ही नहीं। पुकारने की इस विचित्रता के कारण देहात में कुछ लोगों को तो ऐसा भी विश्वास है कि चींटा और चींटी एक ही जाति हैं। अन्तर केवल यह है कि एक नर है और दूसरा मादा। 'तोता-मैना' के प्रसिद्ध किस्से में तोता-मैना के विषय में भी यही धारणा है। इसका प्रभाव यह पड़ा है कि चींटी एक अलग जीव न समझी जाकर चींटा की स्त्री समझी जाती है और इसी प्रकार मैना तोते की स्त्री मानी जाती है।

[२५] भावों को अधिक स्पष्ट करने के लिए अलंकार-प्रयोग

बातचीत या किसी चीज के वर्णन में वक्ता या लेखक का यही प्रयास रहता है कि वह कम से कम शब्दों में अपने को अधिक से अधिक स्पष्ट कर सके। ऐसा करने के लिए अलंकारों (उपमा, रूपक आदि) का प्रयोग किया जाता है। आरम्भ में तो प्रयोग आलंकारिक रहता है पर कुछ दिनों में अलंकार का ध्यान किसी को रहता। उस नवीन अर्थ में शब्द का प्रयोग चल पड़ता है। 'तुम गदहे हो' में गदहे का सीधा अर्थ मूर्ख है। ऐसा कहने में हम यह कभी नहीं सोचते कि अलंकार का प्रयोग कर रहे हैं।

अलंकार अधिकतर सादृश्य पर आधारित रहता है। परिचित रूपों या वस्तुओं के द्वारा हम अपरिचित के विषय में बतलाना चाहते हैं।

सूक्ष्म वस्तुओं या व्यापारों का साधारण शब्दों में प्रकटीकरण आसान नहीं है। अतः उनके लिए अलंकारों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। उदाहरण-स्वरूप गहरी बात, सजीव चित्रण, मीठे बोल, रूखी हँसी, सरस बात, कठिनाई पार करना, दुःख काटना तथा आपत्तियों से घिर जाना आदि को ले सकते हैं। आज बिना ध्यानपूर्वक विचार किए इनके अलंकारों का पता नहीं चलता, जिसका एक मात्र-कारण है अर्थ-परिवर्तन।

कभी-कभी स्थूल या प्रत्यक्ष वस्तुओं या उनके अवयवों के चित्र को स्पष्ट करने के लिए हम अपने अवयवों के आधार पर अलंकार बना डालते हैं। घड़े की गर्दन, चने की नाक, सूई का मुँह, लोटे का मुँह, नारियल की जटा, ईख की आँख, सितार के कान, कुर्सी के पैर, घड़ी के हाथ तथा कागज की पीठ आदि उदाहरण लिए जा सकते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ इन नामों का ठीक वही अर्थ नहीं है, जो मनुष्य के साथ होता है।

मानव के स्वभाव को स्पष्ट करने के लिए हमें पशुओं, जातियों तथा बेजान वस्तुओं के सहारे अलंकार बनाना पड़ता है। ये प्रयोग भी इतने प्रचलित हैं कि साधारणतया अलंकार नहीं समझे जाते। अपने आलंकारिक अर्थ में ये प्रतीक रूढ़ि हो चुके हैं। उदाहरण-स्वरूप पत्थर (कड़े हृदय का), पानी (नरम दिल), बिना पेंदी का लोटा (जिसका कुछ निश्चय न हो), काँटा (क्रूर), गदहा (मूर्ख), उल्लू (मूर्ख या दिन के लिये अंधा), भैंस (बेवकूफ़), बैल (मूर्ख), गाय (सज्जन और सीधा), सियार (होशियार और छली), कौआ (चालाक), कालानाग (जिसके काटने से लहर तक नहीं आती और मृत्यु हो जाती है अतः खतरनाक) बनिया (कंजूस), कसाई (क्रूर), चमार (गंदा) क्रिस्तान (भक्ष्याभक्ष्य का ध्यान न रखने वाला) तथा अहिर (उजड्ड) आदि के लिए जा सकते हैं। बोल-चाल की भाषा के तो जैसे ये प्राण हैं। आलंकारिक प्रयोग में ये शब्द अपना यथार्थ अर्थ न देकर अपने गुण का अर्थ देते हैं।

ब्रील का कहना है कि अन्य सभी कारणों से शब्दों में अर्थ-परिवर्तन शनैः-शनैः होता है पर अलंकारों के कारण एक क्षण में (on the spur of the moment) अर्थ-परिवर्तन हो जाता है।

अलंकारों के कारण अर्थ-परिवर्तन लगभग सभी दिशाओं में होते हैं। इसके

अंतर्गत काव्यशास्त्र के सभी अलंकार लिये जाते हैं। इस सम्बन्ध में कुछ और उदाहरण देकर विषय को समाप्त किया जा सकता है। काला दिल, अंधा कुआँ, नदी की गोद, पतंग की पूँछ, मधुर गीत, मधुर गंध, ठोस कार्य, खोखला आदमी, टेढ़ी बात, पहाड़ की चोटी, कड़ुई बात, आरी के दाँत, बंदूक का घोड़ा, कलम की जीभ, लकड़ी का हीर, कविता की आत्मा, कुर्सी के हाथ, चारपाई के पैर, नदी का शाखा, पहाड़ की जड़ तथा फिटकिरी के फूल आदि।

इन समता-मूलक अलंकारों के अतिरिक्त भी कुछ अलंकार हैं। 'आज-कल रोटी (खाना) मिलना आसान नहीं है।' 'प्रसाद को (प्रसाद की कृतियों को) पढ़ रहा हूँ।' तथा 'आप गांधी (गान्धी जी जैसे महान) नहीं हैं।' उदाहरण पर्याप्त होंगे। ऊपर के कुछ अन्य कारण भी अलंकार के अंतर्गत रखे जा सकते हैं, पर यहाँ स्पष्टता के विचार से उन्हें अलग रखा गया है।

इन पच्चीस प्रधान कारणों के अतिरिक्त विशेषण का संज्ञा रूप में प्रयोग, संज्ञा का क्रिया रूप में प्रयोग आदि अनेक और भी अर्थ-परिवर्तन के कारण हो सकते हैं।

अर्थ-परिवर्तन संबन्धी कुछ विशेषताएँ

(क) अनेकार्थता (Polysemia)

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि शब्द अपने नवीन अर्थ के धारण करने पर पुराने अर्थ को नहीं छोड़ता और ऐसी दशा में कभी-कभी तीन-चार अर्थ एक ही समय में चलते रहते हैं। कभी वह सीमित अर्थ में प्रयुक्त होता है, तो कभी विस्तृत में और कभी स्थूल में तो कभी सूक्ष्म में। ऊपर हाथ, पैर तथा कान आदि के कुछ उदाहरण दिए जा चुके हैं।

'जड़' शब्द का 'पेड़ की जड़', 'रोग की जड़', 'झगड़े की जड़' आदि में आज प्रयोग चल रहा है। इसी प्रकार 'मूल' शब्द भाषा-विज्ञान, दर्शन-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, गणित, तथा अर्थशास्त्र में प्रयुक्त हो रहा है। 'धातु' और 'योग' की भी यही दशा है। अंग्रेजी का शब्द की (Key) या हिन्दी का 'कुंजी' असल में यंत्रशास्त्र से संबद्ध हैं, पर अब किताब की कुंजी, समस्या की कुञ्जी आदि प्रयोग भी साथ-साथ चल रहे हैं।

संस्कृत में कुछ अनेकार्थी शब्द तो ऐसे हैं, कि इस बात का विश्लेषण आज असंभव सा है कि उनका इतने अधिक अर्थों में प्रयोग का प्रचलन कैसे हो गया है। उनके अर्थ-परिवर्तन बिल्कुल असाधारण से हैं। उदाहरण के लिये हम लोग कुछ ले सकते हैं—

सारंग—बाज़, कोयल, मोर, पपीहा, चातक, भ्रमर, खंजन, सूर्य, चंद्रमा, कृष्ण, विष्णु, कामदेव, हाथी, घोड़ा, मृग, साँप तथा पृथ्वी आदि ५० से भी अधिक अर्थ हैं।

हरि—विष्णु, इन्द्र, बंदर, घोड़ा, सिंह, चन्द्रमा, पानी साँप तथा अग्नि आदि पचीसों अर्थ हैं।

हिन्दी तथा संस्कृत के कुछ कूट छन्दों में एक ही पंक्ति में ऐसे एक शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग मिलता है। ये प्रयोग भाषा में स्वाभाविक विकास के कारण अवश्य नहीं हैं, पर इनके इतने अधिक अर्थों के होने की समस्या अवश्य ही भाषा-विज्ञान के अर्थ-विज्ञान के अंतर्गत आती है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि या तो इन विभिन्न अर्थों का कुछ न कुछ संबंध शब्द की धातु से होगा या फिर बलात् ही इतने अर्थ शब्द पर लाद दिये गए होंगे। अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में भी कुछ शब्द ऐसे मिलते हैं, पर उनके एक दूसरे से इतने असंबद्ध अर्थों की संख्या पचास तक नहीं पहुँच सकती।

स्पष्टता के लिए जीवित भाषा से कुछ अनेकार्थी शब्दों के प्रचलित प्रयोग लिए जा सकते हैं।

पत्त

१. पत्नी के पत्त सुन्दर हैं।
२. चुनाव में कांग्रेस पत्त की हार हुई।
३. कृष्णपत्त की रात डरावनी होती है।

घर

१. धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का।
२. गाँव में सत्तर घर हैं।
३. मकान में पाँच घर हैं।
४. वह बड़े घर का है।
५. अब तो यह बुराई उसमें घर कर गई है।

रोटी

१. आजकल रोटी का क्या प्रबन्ध है?
२. बिना नमक की रोटी पर कौन काम करेगा?

३. गेहूँ की रोटी।

४. धनिक गरीबों के खून की रोटी खाते हैं।

प्रचलित प्रयोगों में अलंकार का हाथ अधिक है। संक्षेप में कहने की प्रवृत्ति ही इतने अर्थों को जन्म देती है और संभवतः इसी कारण वे एक ही समय में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त भी होते रहते हैं।

(ख) एकमूलीय भिन्नार्थक शब्द (Doublets)

कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि एक ही मूल से निकले या एक ही शब्द के ध्वनि की दृष्टि से दो भिन्न रूपों का अर्थ भिन्न हो जाता है। ऐसे बहुत से उदाहरण ऊपर अर्थ-परिवर्तन के कारणों के विवेचन में आ चुके हैं।

कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि मूल या शुद्ध शब्द तो अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होता है और विकसित या विकृत शब्द कुछ नीचे या बुरे अर्थ में स्थान, थान; गर्भिणी, गाभिन; ब्राह्मण, बाम्हन; भोग, भोजन; तथा कर्तव्य, करतब आदि।

कुछ शब्दों में अर्थ बहुत दूर चला जाता है। पक्षी का अर्थ चिड़िया है, पर उसी से निकले पंखी शब्द का अर्थ हवा करने वाला पंखा है। क्षीर, खीर; कोण, गोनिया; पर्ण, पान, पन्ना तथा पत्र, पत्रा, पतई, पातर आदि भी ऐसे ही एकमूलीय भिन्नार्थक शब्द हैं।

(ग) समध्वनीय भिन्नार्थक शब्द (Homonym)*

कुछ शब्द ध्वनि की दृष्टि से बिल्कुल एक से रहते हैं पर उनका मूल भिन्न होता है इसीलिए अर्थ में बहुत अंतर रहता है। जब तक वाक्यों में ये प्रयुक्त न रहें इनके अर्थ के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। हिन्दी के कुछ ऐसे प्रचलित शब्द उदाहरण के लिये लिए जा सकते हैं।

	संस्कृत	अरबी
आम (फल)	आम्र	आम (साधारण)
सहन (बर्दाश्त)	सहन	सहन (आँगन)
कुल (परिवार)	कुल	कुल (समस्त)

अंग्रेजी में भी hare, hair; I, eye; all, awl, आदि शब्द इसी के उदाहरण हैं।

---

* अंग्रेज़ी में इसे Homophone भी कहते हैं।

शब्दों के अर्थ के अध्ययन का महत्व

अर्थ स्वयं भाषा का मानसिक या आंतरिक पक्ष है, अतः उसके अध्ययन से किसी जाति या राष्ट्र के मानसिक पक्ष पर प्रकाश पड़ता है। एक शब्द अर्थ की दृष्टि से कहाँ से चल कर किस समय कहाँ आया इससे भी सभ्यता के विकास को समझने में सहायता मिलती है। धार्मिक प्रवृत्ति के प्रधान होने पर ही गोस्वामी का अर्थ धनी या गायों के स्वामी से हट कर धार्मिक व्यक्ति हुआ होगा। संभवतः उस समय धनी लोग धार्मिक होते रहे होंगे। इस प्रकार के निष्कर्ष अर्थ-अध्ययन से निकाले जा सकते हैं।

पिल्ला का द्रविड़ भाषा में अर्थ पुत्र होता है, पर हिन्दी में या आर्य भाषाओं में कुत्ते का बच्चा। इससे इतना तो स्पष्ट है कि द्रविड़ों के प्रति आर्यों के हृदय में आदर भाव नहीं था। असुर का देववाची से राक्षसवाची अर्थ होना भी ईरानियों के प्रति आर्यों का कुछ ऐसा ही भाव प्रदर्शित करता है।

यहाँ इस विषय को सविस्तर हम नहीं ले सकते, पर इतने से ही अनुमान लगा सकते हैं कि अर्थ-परिवर्तन के आधार पर राष्ट्र या समाज के अंतःकरण एवं स्तर का सुन्दर विश्लेषण किया जा सकता है। अभी तक इस क्षेत्र में काम होना बाकी है।

———

अध्याय ७

शब्द-समूह

(Vocabulary)

किसी भाषा में प्रयुक्त होने वाले समस्त शब्दों के समूह को उस भाषा का शब्द-समूह कहते हैं। किसी भाषा के पूरे शब्द-समूह का ठीक-ठीक अनुमान संभव नहीं है। अंग्रेज़ी भाषा अन्य क्षेत्रों की भाँति शब्द-समूह के क्षेत्र में भी सबसे धनी कही जाती है। वेब्स्टर कोष के १९३४ के संस्करण में ५५०,००० से कुछ अधिक शब्द हैं। इधर २२ वर्षों में अधिक नहीं तो ५,००० शब्द तो अवश्य ही बढ़े होंगे। इस प्रकार अंग्रेज़ी भाषा में इस समय लगभग ५५५,००० शब्द होंगे। मोनियर विलियम्स के संस्कृत कोष के आधार पर संस्कृत भाषा में १२५,००० शब्दों के होने का अनुमान लगाया जा सकता है। शब्द-समूह की दृष्टि से हिंदी का सबसे बड़ा कोष 'बृहत् हिंदी कोष' है। इसमें लगभग १३६,००० शब्द हैं। इसके आधार पर इस समय हिंदी में लगभग १½ लाख शब्दों के होने का अनुमान लगाना अनुचित न होगा।

भाषा की भाँति ग्रंथ तथा व्यक्ति का भी अपना शब्द-समूह होता है। पुरानी बाइबिल में ५६४२, नई बाइबिल में ४८००, होमर के ग्रंथों में ९,०००, मिल्टन में ८,०००, शेक्सपीयर में १५,००० और तुलसीदास में लगभग १६,००० शब्द प्रयुक्त हुए हैं। बिना पढ़े-लिखे सामान्य व्यक्ति का शब्द-समूह ५००-८०० के बीच या कभी-कभी इससे भी कम होता है। चर्चिल के शब्द-समूह में लगभग ६०,००० शब्द कहे जाते हैं, जिनमें ३०,००० का तो वे प्रयोग करते हैं। अनेक वकीलों का शब्द-समूह ५०,००० के लगभग का होता है पर सबसे अधिक शब्द वैज्ञानिकों को ज्ञात रहते हैं। इसका कारण यह है कि अन्य लोगों के प्रयोग के सामान्य शब्द तो वे जानते ही हैं, साथ ही विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों को भी उन्हें जानना होता है। लोगों का ख्याल है कि अच्छे विज्ञान-वेत्ता ८०,००० शब्द जानते हैं।

जीवन के आरंभ से लेकर अंत तक व्यक्ति के शब्द-समूह में परिवर्तन होता रहता है। और ठीक इसी प्रकार भाषा का शब्द-समूह भी परिवर्तित होता रहता है। ऊपर हम अर्थ-विचार में इस बात पर विचार कर रहे थे कि शब्दों का

अर्थ किस भाँति और क्यों बदलता है। उसके भी पूर्व ध्वनि के प्रकरण में हम शब्द के शरीर या बाह्य रूप के परिवर्तन पर विचार कर चुके हैं। यहाँ न तो शब्द की आत्मा (अर्थ) के परिवर्तन पर विचार करना है, और न शरीर (ध्वनि) पर, अपितु हमें यह देखना है कि शब्द अपनी आत्मा एवं शरीर के साथ किस भाँति भाषा के शब्द-समूह से निकल जाता है। ऐसी अवस्था में कभी-कभी तो उस अर्थ में भाषा किसी दूसरे शब्द का स्वागत करती है, पर, कभी-कभी तो वह भावना या विचार ही वह त्याग देती है। इस प्रकार शब्द-समूह में परिवर्तन दो कारणों से होता है :—

१. प्राचीन शब्दों का लोप,

२. नवीन शब्दों का आगमन।

[१] प्राचीन शब्दों का लोप

शब्दों के लोप के संबंध में हम जितने कारणों पर यहाँ विचार करेंगे उनके दो पक्ष हो सकते हैं। प्रथम है 'वैयक्तिक पक्ष'। इसमें कारण बोलने वाले के मस्तिष्क में रहता है। जैसे शब्द कभी-कभी घिस जाने के कारण अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं कर पाता तो बोलने वाले उसे व्यर्थ समझकर छोड़ देते हैं। दूसरा है 'सामाजिक पक्ष'। समाज की कुछ रीतियों के समाप्त हो जाने के कारण उनसे संबंधित शब्द भी छूट जाते हैं। कभी-कभी ये दोनों पक्ष साथ-साथ भी देखे जाते हैं। पर, इन दोनों पक्षों के साथ-साथ होने में भी कुछ में एक का प्राधान्य रहता है और कुछ में दूसरे का।

अब हम लोप के कारणों पर अलग-अलग विचार कर सकते हैं।

(क) रीति या कर्मों का लोप

परिवर्तनशील समाज में सर्वदा एक ही प्रकार के कार्य नहीं होते और न तो उसमें एक प्रकार की रस्मों या रीतियों का ही प्रचलन सर्वदा रहता है। ऐसी अवस्था में रीतियों या कर्मों के लुप्त होने पर उनसे संबंधित शब्द भी भाषा के शब्द-समूह से प्रायः निकल जाते हैं।

उदाहरणार्थ प्राचीन काल में भारत में प्रचलित 'यज्ञ' को लें। उस समय देश में भाँति-भाँति के यज्ञ होते थे, अतः उस काल की भाषा में यज्ञ से संबंधित सुब्रह्मण्या, न्यूङ्ख, यज्वा, यायजूक, स्थण्डिल, आवसथिक, अहीन, अभिप्लव, संचाय्य, सुत्या तथा आनाय्य आदि सैकड़ों शब्द प्रचलित थे, जो बाद में 'यज्ञों' की परंपरा लुप्त हो

जाने के कारण शब्द-समूह से निकल गए। यदि यज्ञ-कर्म आज तक होते आते तो तत्सम या तद्भव रूप में ये शब्द अवश्य वर्तमान होते।

(ख) रहन-सहन तथा खान-पान आदि में परिवर्तन

खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा या इस प्रकार की अन्य चीजों में परिवर्तन का भी शब्द-समूह पर प्रभाव पड़ता है। परिवर्तन होने पर पुरानी चीजें नहीं रह जातीं, अतः उनसे संबंधित शब्द भी लुप्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ प्राचीन काल में भक्त, अभ्यूष, अपूप तथा सक्तुक का प्रचार खाने में था और आज भी है। अतएव ये शब्द लुप्त नहीं हुए हैं और तद्भव रूप में (भात, हाबुस, पूआ या मालपूआ और सत्तू) आज भी शब्द-समूह में हैं, पर दूसरी ओर मंथ (धान का मथकर बनाया गया सत्तू), यावक (जौ से बना एक खाद्य) तथा संयाव (एक प्रकार का हलुवा) का प्रयोग बहुत पहले से बंद हो गया है, अतः ये शब्द भी शब्द-समूह से निकल गए हैं।

इसी प्रकार पुराने ढंग के कपड़ों, गहनों, शृंगार की अन्य सामग्रियों, वाहनों, अस्त्रों तथा बर्तनों आदि जिन-जिन भी चीज़ों का प्रयोग समाप्त हो जाता है, उनसे संबंधित शब्द भी शब्द-समूह से लुप्त हो जाते हैं।

(ग) अश्लीलता

सामाजिक रूढ़ियों तथा परम्पराओं के अनुसार मैथुन या शौच विषयक बहुत से शब्द अश्लील स्वीकार कर लिए जाते हैं। इसका फल यह होता है कि शिक्षित तथा सभ्य समाज में उनका प्रयोग नहीं होता और इस प्रकार वे लुप्त हो जाते हैं। आश्चर्य यह है कि ठीक वही अर्थ रखने वाले अन्य शब्द समय और क्षेत्र विशेष में अश्लील नहीं माने जाते।

पाखाना और गुह, पेशाब और मूत आदि में यह बात स्पष्ट है। इन दोनों जोड़ों में प्रथम शब्द प्रचलित हैं पर दूसरे सभ्य-समाज के शब्द-समूह से निकल चुके हैं। इसी प्रकार लिंग, उपस्थ, सहवास, वीर्य, शौच तथा गुदा आदि शब्द प्रचलित हैं, पर इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त कुछ अन्य शब्द अब बिलकुल ही अश्लील तथा सभ्य समाज के लिए त्याज्य समझे जाते हैं। वे शब्द हमारे शब्द-समूह से निकल गए हैं।

(घ) ध्वनि की दृष्टि से शब्दों का घिस जाना

ध्वनि-परिवर्तन होते-होते कभी-कभी शब्द इतने घिस जाते हैं, कि उन्हें शब्द-

समूह से निकल जाना पड़ता है और उनके स्थान पर भाषा में फिर से उनके मूल तत्सम शब्द या अन्य शब्द ले लिए जाते हैं। प्राकृत तथा अपभ्रंश तक आते-आते बहुत से शब्द इस प्रकार के हो गए थे। कुछ में केवल स्वर ही स्वर रह गए थे। कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं, जिनमें घिसते-घिसते कई शब्द एक रूप धारण कर चुके थे और उनमें प्रयोगकर्ता के लिए परेशानी थी। फल यह हुआ कि इस प्रकार के बहुत से शब्द निकल गए। यहाँ कुछ इस प्रकार के उदाहरण लिए जा सकते हैं, जो स्पष्ट रूप से घिसे लगते है और जिनको प्राकृत-अपभ्रंश के बाद हम प्रयोग में नहीं पाते और उनके स्थान पर उनके मूल तत्सम शब्दों को फिर से अपना लिया गया है।

(क) ऐसे शब्द जिनमें घिसने से केवल स्वर ही स्वर शेष थे—

संस्कृत	प्राकृत-अपभ्रंश
अति	अइ
इति	इइ
उदर	उअअ
ऋतु	उउ
उचित	उइअ
एक	एअ

(ख) अन्य घिसे शब्द—

संस्कृत	प्राकृत-अपभ्रंश
ऋण	अण
उदास	उआस
राज	राअ
चरित	चरिउ
अजगर	अअगर
अतिथि	अइहि
वर्ष	वास
रजत	रयय
भरत	भरह
साधक	साहय
शाखा	साहा

अंतर	अंतो
अध्ययन	अहिज्जण
इत्यादि	इच्चाइ
स्त्री	इत्थि
प्रयोग	पओग
प्रदेश	पएस
शब्द	सद्द
धर्म	धम्म

(ग) ऐसे शब्द जिन्होंने घिसकर एक रूप धारण कर लिया था और भ्रम की आशंका थी—

संस्कृत	प्राकृत-अपभ्रंश
अवतार	ओआर
अपकार	ओआर
उपकार	ओआर

(ग) के अंतिम दो उदाहरणों में हम देखते हैं कि दो विरोधी भावों के शब्द भी घिसकर एक हो चुके थे। यहाँ भ्रम की कितनी अधिक गुन्जाइश थी, कहने की आवश्यकता नहीं।

(क) अंधविश्वास

यह विशेषतः जंगली या अर्द्धसभ्य लोगों की भाषाओं में पाया जाता है। वे लोग अंधविश्वास से शब्दों का प्रयोग बिल्कुल बन्द कर देते हैं। यदि किसी भी कारण से उन्हें इसका आभास मिल गया कि अमुक शब्द अशुभ है या उसके कहने से कोई देवता रुष्ट होगा तो वे उसका प्रयोग छोड़ देते हैं। कुछ सभ्य लोगों में भी इस प्रकार के अंध-विश्वास मिलते हैं। जापान में राजा या उसके परिवार में बोली जाने वाली भाषा में ऐसे बहुत से शब्द हैं, जो वहाँ की सामान्य भाषा से निकल गए हैं, क्योंकि सामान्य जनता उनका प्रयोग पाप समझती है।

भारत में पति का नाम पत्नी या पत्नी का नाम पति नहीं लेता। कहीं-कहीं बड़े लड़के का नाम नहीं लिया जाता। एक संस्कृत का श्लोक भी है, जिसमें अपना नाम, गुरु का नाम, राजा का नाम तथा इसी प्रकार के कुछ और नामों को लेने का निषेध है। कहीं-कहीं रात में लोग साँप-बिच्छू का नाम न लेकर साँप को जेवर,

करियवा या पौढ़ा तथा बिच्छू को टेढ़की कहते हैं। पर, इस प्रकार के वैयक्तिक या विशिष्ट समय (जैसे रात में बिच्छू आदि का नाम न लेना) के टैबू शब्दों का भाषा के शब्द-समूह पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सकता।

(च) पर्याय

कभी-कभी यह देखा जाता है कि जन-मस्तिष्क व्यर्थ में एक भावना के लिये कई शब्दों का भार ढोना पसन्द नहीं करता। ऐसा होता है कि कई शब्दों के अर्थ में यदि कुछ भी अंतर न हो तो उसमें कुछ लुप्त हो जाते हैं। मुसलमानों के आगमन के बाद मध्य युग में जन भाषा में 'सहस' (सं० सहस्र) शब्द 'हज़ार' की प्रतियोगिता में खड़ा न हो सका और उसे मैदान छोड़ना ही पड़ा। इसी प्रकार 'इशारा' की प्रतियोगिता में संकेत, आईना या शीशा की प्रतियोगिता में दर्पण, शकल की प्रतियोगिता में आकृति, शराब की प्रतियोगिता में मदिरा या मद्य, शहर की प्रतियोगिता में नगर या पुर, शिकार की प्रतियोगिता में मृगया या आखेट तथा खाली की प्रतियोगिता में रिक्त या रीता भी जन भाषा में नहीं ठहर सके। हाँ, अब अवश्य सांस्कृतिक पुनरुत्थान के साथ फिर धीरे-धीरे ये लुप्त शब्द प्रयोग में आ रहे हैं।

बेइमान, ईमान, तथा ईमानदार आदि ऐसे बहुत से शब्द हैं, जिनके लिए यह तो नहीं कहा जा सकता कि मुसलमानों के संपर्क में आने के पूर्व भारत में ये भाव व्यक्त नहीं किए जाते थे, पर हाँ आज इनके उपयुक्त भारतीय पर्याय इतनी बुरी तरह लुप्त हो गए हैं कि बिना समुचित शोध किए उन्हें जान पाना भी कठिन हैं।

[२] नवीन शब्दों का आगमन

भाषा में एक ओर तो कुछ प्राचीन शब्दों का लोप होता है पर दूसरी ओर कुछ नए शब्दों का आगमन भी होता है। आगम के लिये निम्नांकित कारण सम्भव हैं—

(क) सभ्यता में विकास

सभ्यता के विकास के साथ तरह-तरह की नवीन चीजों का निर्माण होता है और उनसे संबंधित शब्दों का निर्माण करना पड़ता है। अंग्रेजी भाषा में तरह-तरह के वैज्ञानिक विकास के कारण ही तरह-तरह की चीज़ों तथा विचारों के लिए प्रति वर्ष हजारों नए शब्द अन्य भाषाओं से लेने या बनाने पड़ते हैं।

(ख) चेतना

राजनीतिक या सांस्कृतिक चेतना के कारण भी नवीन शब्दों का आगमन होता

है। स्वतन्त्रता के बाद भारत में बहुमुखी चेतना दृष्टिगत हो रही है। फल यह हुआ है कि उन विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित विचार की अभिव्यक्ति के लिए हजारों शब्द संस्कृत के आधार पर बनाए जा रहे हैं, या संस्कृत, प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं या कभी-कभी अंग्रेज़ी आदि विदेशी भाषाओं से लिए जा रहे हैं।

(ग) भिन्न भाषा-भाषी शब्दों या क्षेत्रों का संपर्क

जब दो भिन्न भाषा-भाषी राष्ट्र, प्रांत या क्षेत्र एक दूसरे के संपर्क में आते हैं तो दोनों ही एक दूसरे से कुछ न कुछ शब्द लेते हैं। भारत के संपर्क में समय-समय पर अरब, ईरानी, पुर्तगाली तथा अंग्रेज आदि आये और फल यह हुआ कि एक ओर तो भारतीय भाषाओं ने इन सभी की भाषाओं (अरबी, फारसी, पुर्तगाली तथा अंग्रेजी) से शब्द लिये, तथा दूसरी ओर अरबी, फ़ारसी, पुर्तगाली तथा अंग्रेजी आदि ने भी भारतीय भाषाओं से अनेकानेक शब्द लिये। संसार की सभी भाषाओं ने संपर्क के कारण कुछ न कुछ शब्द इस प्रकार ग्रहण किये हैं। जर्मन में विदेशी शब्दों की संख्या लगभग १०,००० है। अंग्रेज़ी ने केवल भारतीय भाषाओं से लगभग २,५०० शब्द लिए हैं। हिन्दी ने तुर्की से लगभग ७०, फारसी-अरबी से लगभग ७,००० अंग्रेजी से लगभग २५०० तथा पुर्तगाली से लगभग ८० शब्द लिये हैं। फ़ारसी में भारत से लगभग १५० शब्द गये हैं। डॉ० चटर्जी के अनुसार बंगला में अरबी-फ़ारसी-तुर्की शब्द २४००, अंग्रेजी शब्द ७०० तथा पुर्तगाली शब्द लगभग १०० हैं।

(घ) दृश्यात्मकता

कुछ चीजों के विशिष्ट रूप से दिखाई पड़ने के कारण भी कभी-कभी कुछ शब्द उनकी दृश्यात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए आ जाते हैं। बगभग, जगमग, चमचम, लकदक आदि हिन्दी शब्द इसी श्रेणी के हैं।

(ङ) ध्वन्यात्मकता

कुछ वस्तुओं की ध्वनि के कारण भी नए शब्द उन ध्वनियों के आधार पर आ जाते हैं। मोटर ध्वनि के कारण पों-पों, कुत्ते के कारण भों-भों शब्द हिंदी में आए हैं। चरमर, भड़भड़, हड़हड़, कल-कल, छल-छल तथा खल-खल आदि शब्द भी ऐसे ही हैं।

(च) साम्य या नवीनता लाने के लिये

साम्य या नवीनता लाने के लिये कभी-कभी लोग बलात् नए शब्दों को लाते हैं

और वे शब्द चल पड़ते हैं। हिन्दी में साम्य के लिये पाश्चात्य के साथ नवीन शब्द पौर्वात्य आ गया है। नवीनता के लिये उपसर्गों आदि को जोड़ कर भी इधर कितने ही नवीन शब्द बनाए गए हैं। १९१५ से १९४५ तक के हिंदी साहित्य में ऐसे बहुत से शब्द खोजे जा सकते हैं।

नवीन शब्दों का स्रोत

नवीन शब्दों के प्रमुखतः दो स्रोत हैं—

१. निर्माण

२. उधार

कुछ शब्द तो (क) दो शब्दों के मेल से, (ख) व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के आधार पर, (ग) ध्वनि के आधार पर, (घ) दृश्य के आधार पर, (ङ) सदृशता के आधार पर, (च) व्याकरण के नियमों के आधार पर या (छ) स्वतंत्र, निर्मित कर लिए जाते हैं और कुछ (क) दूसरी भाषाओं से, (ख) अपने प्राचीन साहित्य से, या (ग) ग्रामीण बोलियों से उधार ले लिए जाते हैं। यहाँ इन सभी पर अलग-अलग संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

[१] निर्माण

(क) दो शब्दों के मेल से

आवश्यकतानुसार हम कभी-कभी दो शब्दों को मिलाकर एक तीसरा शब्द बना लेते हैं। यह क्रिया सभी समुन्नत भाषाओं में हुआ करती है। यह मिलाना आवश्यकतानुसार प्राचीन शब्द+प्राचीन शब्द, प्राचीन शब्द+नवीन शब्द, नवीन शब्द+नवीन शब्द, विदेशी शब्द+विदेशी शब्द, विदेशी शब्द+देशी शब्द तथा देशी शब्द+देशी शब्द आदि कई प्रकार का हो सकता है। फ़ारसी भाषा में फारसी और अरबी के मेल से बनाए गए शब्द कई हज़ार हैं। कुछ उदाहरण हैं।

अरबी	फारसी	मेल से बने शब्द
अक़्द (विवाह)	नामा	अक़्दनामा (विवाह का इकरारनामा)
अक़्ल	मंद	अक़्लमंद
अरक़	रेज़ी	अरक़रेज़ी (बहुत परिश्रम)
अर्ज़ी	नवीस	अर्ज़ीनवीस
जमा	बंदी	जमाबंदी

हिंदी में भी इस प्रकार मेल से बनाए गए शब्दों की संख्या कम नहीं है। कुछ उदाहरण हैं—

अंग्रेजी 'रेल'	+	हिंदी 'गाड़ी'	=	रेलगाड़ी
अरबी 'अजायब'	+	हिंदी 'घर'	=	अजायबघर
हिंदी 'चिड़िया'	+	फ़ारसी 'खाना'	=	चिड़ियाखाना
संस्कृत 'दल'	+	फ़ारसी 'बंदी'	=	दलबंदी
हिंदी 'रसोई'	+	हिंदी 'घर'	=	रसोईघर
संस्कृत 'देश'	+	हिंदी 'निकाला'	=	देशनिकाला
हिंदी 'अब'	+	हिंदी 'ही'	=	अभी
पुर्तगाली 'पाव'	+	हिंदी 'रोटी'	=	पावरोटी
हिंदी 'कब'	+	हिंदी 'ही'	=	कभी
हिंदी 'जब'	+	हिंदी 'ही'	=	जभी

(ख) व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के आधार पर

व्यक्तिवाचक शब्दों के आधार पर भी उनके कार्य, गुण या विशेषता को लेकर शब्द बना लिए जाते हैं। 'सैंडो बनियाइन' में का सैंडो शब्द एक अमेरिकन पहलवान के नाम से लिया गया है, जिसने इस प्रकार की बनियाइन का सर्व प्रथम प्रयोग किया था। अंग, बंग, कुरु, पंचाल, भारत तथा अमेरिका आदि भी व्यक्तिवाचक नामों पर ही आधारित हैं। अंग्रेज़ी के बॉयकाट, एटलस, मर्सराइज़, इको तथा क्विसलिंग एवं हिंदी के जयचंद (देशद्रोही), सावित्री (पतिव्रता), हरिश्चंद्र (सच्चा) तथा विभीषण (घर का भेदिया, देशद्रोही) आदि शब्द भी ऐसे ही हैं।

स्थानों के नाम के आधार पर भी शब्द बनते हैं। सुर्ती (सूरत नगर से आने वाली), चीनी (चीन की), मिश्री (मिस्र की), तथा मोरस (मारिशस की) ऐसे ही शब्द हैं। लखनौवा (छैला, नाज़ुक) तथा बनारसा (चतुर, ठग) आदि विशेषण भी इसी के उदाहरण हैं।

(ग) ध्वनियों के आधार पर

कुछ शब्द ध्वनियों के आधार पर भी बनते हैं। धड़-धड़, तड़-तड़, पड़-पड़, चरमर, चू-चू, मर मर तथा खर-खर आदि शब्द ऐसे ही हैं।

(घ) दृश्य के आधार पर

कुछ वस्तुओं के देखने से ही उनके दिखाई पड़ने के संबंध में शब्द बन जाते हैं। चम-चम, जग-मग, बग-बग तथा दग-दग आदि इसी प्रकार के शब्द हैं।

(ङ) दूसरे शब्दों के रूप के आधार पर (औपम्य या सादृश्य के आधार पर)

दूसरे शब्दों के वज़न या औपम्य पर भी कुछ शब्दों से नए शब्द बनाए जाते हैं।

कुछ इस प्रकार के विचित्र उदाहरण भी मिलते हैं। उस्मानिया यूनिवर्सिटी से एक कोष (A Concise English-Hindi Dictionary) प्रकाशित हुआ है, जिसमें 'करना' 'कराना' आदि के सादृश्य पर अंग्रेज़ी शब्द Canvass से हिंदी 'कन्वसना', acknowledge के लिए रसीद से 'रसीदियाना' तथा alienate के लिए विपक्ष से 'विपक्षियाना' जैसे बहुत से शब्द बनाए गए हैं। कहना न होगा कि योग्य संपादकों ने धन, श्रम और बुद्धि का यह जो दुरुपयोग किया है, दयनीय है और इसका अधिकांश कभी प्रयुक्त नहीं होगा। पर, सादृश्य के आधार पर बने ऐसे शब्द भी बहुत हैं जो खूब चलते हैं और अच्छे हैं। शहर से शहरी और देहात से देहाती शब्द थे पर बाद में 'देहाती' के सादृश्य पर 'शहराती' शब्द बना जो आज धड़ल्ले से प्रयुक्त होता है। बहुत से संज्ञा शब्दों से (करना, मरना आदि के) सादृश्य के आधार पर क्रिया शब्द बने हैं, जैसे संस्कृत टंकार से टंकारना, फ़ारसी दाग़ से दागना या लालच से ललचाना। लोक भाषाओं में भी यह प्रवृत्ति है और बरध से बरधाना, पाड़ी से पड़ियाना, भैंस से भैंसाना तथा लात से लतियाना आदि इसके अच्छे उदाहरण हैं।

(च) व्याकरण के नियमों के आधार पर

व्याकरण के नियमों के आधार पर पुराने या नए, देशी या विदेशी शब्दों में उपसर्ग या प्रत्यय आदि लगाकर बहुत अधिक शब्दों का निर्माण होता है। जैसे हिंदी में 'अ' उपसर्ग लगाकर 'अथाह', 'दु' लगाकर 'दुकाल', 'नि' लगाकर 'निकम्मा' या 'अक्कड़' प्रत्यय लगाकर 'भुलक्कड़', 'आऊ' लगाकर 'दिखाऊ', 'चलाऊ', 'उड़ाऊ'; 'आका' लगाकर 'पड़ाका', 'धड़ाका' तथा 'आरी' लगाकर 'भिखारी', 'पुजारी' आदि।

संस्कृत में कृत में 'अप' उपसर्ग लगाकर अपकृत, 'उप' लगाकर 'उपकृत' 'वि' लगाकर विकृत, या 'ता' प्रत्यय लगाकर 'सुंदर' से 'सुन्दरता', 'मृदु' से मृदुता आदि। अंग्रेज़ी में डिविज़न में 'सब' उपसर्ग लगाकर 'सबडिविज़न' या 'अल' प्रत्यय लगाकर 'डिविज़नल'। अरबी-फ़ारसी में 'ला' उपसर्ग लगाकर 'वारिस' से 'लावारिस' या

'कम' लगाकर 'कमज़ोर' और 'खोर' प्रत्यय लगाकर 'चुग़लख़ोर' या 'कार' लगाकर 'पेशकार' आदि।

(छ) स्वतंत्र रूप से निर्मित शब्द

बिना किसी आधार के स्वतंत्र रूप से शब्दों का निर्माण होता है या नहीं यह प्रश्न विवादग्रस्त है। अधिकतर विद्वान् इसी पक्ष में हैं कि स्वतंत्र रूप से शब्दों का निर्माण नहीं होता। कुछ लोग अंग्रेज़ी शब्द 'कोडक' तथा 'गैस' को स्वतन्त्र रूप से निर्मित शब्द मानते रहे हैं, पर अब यह सिद्ध हो चुका है कि इन दोनों में कोई भी स्वतत्र नहीं है। ऐसी स्थिति में यही मानना उचित है कि शब्दों का निर्माण स्वतंत्र रूप से बिना किसी आधार के नहीं होता है।

[२] उधार

(क) दूसरी भाषाओं से

देश या विदेश की दूसरी भाषाओं के संपर्क में आने पर शब्द उधार ले लिए जाते हैं। पीछे कहा जा चुका है कि तुर्की, फ़ारसी, अंग्रेज़ी आदि के बोलने वालों के सपर्क में आने के कारण हिंदी आदि भारतीय भाषाओं ने बहुत से शब्द लिए हैं। ये शब्द कभी-कभी तो ज्यों के त्यों ले लिए जाते हैं जैसे अँग्रेज़ी निब, पिन, टिन आदि और कभी-कभी ध्वनि-परिवर्तित होकर जैसे दिसंबर, अगस्त, पैटमैन तथा वास्कट आदि।

(ख) अपने प्राचीन साहित्य से

सभी भाषाओं के प्राचीन साहित्य या वहाँ की प्राचीन भाषाओं के साहित्यों में ऐसे अनेकानेक शब्द मिलते हैं जो अब प्रचलित नहीं हैं और आवश्यक होने पर वे वहाँ से ले लिए जाते हैं। राष्ट्रभाषा हिंदी को पारिभाषिक शब्दों की दृष्टि से संपन्न बनाने के लिए संस्कृत साहित्य से बहुत से पुराने शब्द लिए जा रहे हैं। अंग्रेज़ी तथा फ्रेंच आदि यूरोपीय भाषाएँ आवश्यकता पड़ने पर ग्रीक तथा लैटिन से इसी प्रकार शब्द लेती हैं।

(ग) ग्रामीण बोलियों से

ग्रामीण बोलियों से भी आवश्यकतानुसार, भाषा को जीवंत बनाने के लिए या यों भी शब्द लिए जाते हैं। हिंदी के मध्ययुगीन साहित्य में तत्कालीन बोलियों से काफ़ी शब्द लिए गए हैं। आधुनिक युग में भी विशेषतः आंचलिक उपन्यासों में इस प्रकार

के शब्द पर्याप्त मिलते हैं। नागार्जुन का 'बलचनमा' या रेणु का 'मैला आँचल' इस दृष्टि से दर्शनीय हैं। हिंदी के चिपोंग, झाँपी, झाम, लहबर, लँहड़ा, ठड्ढा, ढोंका, ढुकना, टट्टू, ठर्रा, ठेठ, टेंट, टंटा तथा डोल आदि शब्द ग्रामीण बोलियों से ही लिए गए हैं।

शब्द-समूह का वर्गीकरण

किसी भाषा के शब्द-समूह के वर्गीकरण का प्रश्न भी विचारणीय है। प्रायः शब्द-समूह को तत्सम, तद्भव, विदेशी और देशज इन चार वर्गों में विभाजित किया जाता है, पर यह पद्धति वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती। यथार्थतः शब्द-समूह के इससे अधिक वर्ग हैं। यहाँ अत्यंत संक्षेप में इन वर्गों को लिया जा रहा है। उदाहरण हिंदी से लिए गए हैं।

(१) तत्सम—जैसे पुस्तक, पत्र, वस्त्र, भवन।

(२) तद्भव—जैसे पोथी, पत्तर, थाली, ठग।

(३) स्वदेशीय अन्य भाषाओं के शब्द, जैसे हिंदी में बंगला शब्द 'उपन्यास', मराठी 'चलतू', तथा द्रविड़ 'पिल्ला' आदि।

(४) विदेशी शब्द—जैसे हिंदी में तुर्की, फ़ारसी, अरबी तथा अंग्रेज़ी आदि के शब्द।

(५) देशज शब्द—जैसे हिंदी में टंटा, ठर्रा, टेंट तथा ठेठ आदि।

(६) ध्वन्यात्मक शब्द—जैसे भड़भड़, हड़हड़ आदि।

(७) दृश्यात्मक शब्द—जैसे जगमग, बगबग आदि।

(८) इनमें किसी एक वर्ग के शब्दों या एक से अधिक वर्ग के शब्दों से मिल कर बने शब्द या शब्द के आधार पर बनाए गए शब्द—जैसे रेलगाड़ी (विदेशी+तद्भव), कारखाना (विदेशी+विदेशी) या शहराती (देहाती के औपम्य पर) आदि।

यदि और सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो इनमें कई वर्गों को उपवर्गों में भी बाँटा जा सकता है। जैसे तीसरे तथा चौथे वर्गों को तत्सम और तद्भव में विभाजित किया जा सकता है। यदि चौथे वर्ग को उदाहरणार्थ लें तो हिंदी में 'पिन' तत्सम विदेशी शब्द है तो वास्कट तद्भव विदेशी शब्द (अंग्रेज़ी वेस्टकोट)। आठवें वर्ग के तो बहुत से उपवर्ग हो सकते हैं, जैसे तत्सम+तत्सम के योग से बने शब्द या इसी प्रकार तत्सम+तद्भव, तद्भव+तद्भव, तत्सम+विदेशी तथा तद्भव+विदेशी आदि।

अध्याय ८

भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज

(Linguistic Palaeontology)

भाषा-विज्ञान की यह शाखा अत्यन्त ही नवीन है। इसमें इतिहास के उस अंध युग पर, जिसके संबंध में कोई सामाग्री प्राप्त नहीं है, भाषा के सहारे प्रकाश डाला जाता है। जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने इसकी नींव रखी। जर्मन में इसका नाम उर्गशिश्ते (Urgeschichte) है।

खोज की प्रणाली

इस खोज के लिए किसी भाषा के प्राचीन शब्दों को लिया जाता है, फिर उस परिवार की अन्य भाषाओं के प्राचीन शब्दों की तुलना के आधार पर यह निश्चित किया जाता है कि प्राचीनतम काल के कौन-कौन शब्द थे। इन शब्दों को इकट्ठा कर इनका विश्लेषण कई दृष्टियों से किया जाता है। सामाजिक, धार्मिक आदि वर्गों में शब्दों को अलग-अलग करके अनुमान लगाया जाता है कि उस समय की सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक दशा क्या थी। जानवरों के नामों से यह पता चलता है कि उनके पास कौन-कौन जानवर थे। क्रिया 'शब्दों' से उनके सामाजिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार यथासाध्य उन शब्दों के सहारे जीवन के प्रत्येक अंग की छानबीन की जाती है, और एक पूरा नकशा तैयार करने का प्रयास किया जाता है।

साथ ही प्रकृति, पर्वत, नदी, जानवर, पेड़-पौदे तथा ऋतु से संबन्धित शब्दों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि किस स्थान पर इन सबका इस रूप में पाया जाना संभव है। इससे उनके आदिम स्थान का अनुमान लग जाता है।

खोज में सहायक अन्य शास्त्र तथा विज्ञान

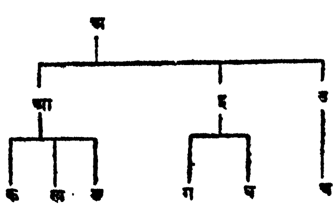
इस खोज का आधार यद्यपि भाषा-विज्ञान है पर पूर्णता के लिए अन्य शास्त्रों एवं विज्ञानों से भी सहायता लेनी पड़ती है। इनमें सबसे प्रथम स्थान मानव-विज्ञान (anthropology) का है। इसके द्वारा उस काल के मानव का सामाजिक प्राणी के रूप में अध्ययन अन्य आधारों से होता है। इसी प्रकार पुरातत्व (archaeology) की सामग्रियों एवं निष्कर्षों से भी हमें भाषा-विज्ञान के आधार पर की गई खोज को

पर्याप्त सहायता मिलती है, साथ ही उनके सत्यासत्य होने की परीक्षा भी कुछ हद तक हो जाती है। भूगर्भविद्या (Geology) भी हमारी कम सहायता नहीं करती है। पर सबसे अधिक सहायता भूगोल (Geography) से मिलती है। विशेषतः उस स्थान विशेष का प्राचीन भूगोल, शब्दों के आधार पर प्राप्त वहाँ की तत्कालीन भौगोलिक दशा को समझने में तथा आदि स्थान को निश्चित करने में बहुत सहायक होता है।

मूल भाषा के शब्दों का निर्णय करते समय कुछ स्मरणीय बातें

(१) जिस कुल के प्राचीन काल की खोज करनी हो उसकी नई-पुरानी सभी शाखाओं-प्रशाखाओं के शब्दों को इकट्ठा करना चाहिए और सभी का अध्ययन बड़ी सावधानी से करना चाहिए। ऐसा करने से कभी-कभी अप्रत्याशित सामग्री मिल जाती है। किसी भी प्राचीन शब्द को व्यर्थ समझ कर छोड़ना उचित नहीं।

(२) एक शब्द एक शाखा की अनेक प्रशाखाओं में और अन्य शाखा की एकाध प्रशाखाओं में मिले तो इससे सीधे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि शब्द मूल भाषा का है। हो सकता है कि एक शाखा में बाद में उसका कहीं और जगह से आगम हुआ हो और दूसरी शाखाओं की एकाध प्रशाखाओं ने उसे उधार ले लिया हो। इस संबन्ध में शब्द यदि दूर की शाखाओं में मिले जिनकी आपस में भौगोलिक दूरी भी अधिक हो और इतिहास के किसी काल उसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबन्ध भी न रहा हो तो वह मूल भाषा का माना जा सकता है। इसे चित्र के द्वारा अधिक सरलता से समझा जा सकता है।



यहाँ अ मूल भाषा है। उससे आरम्भ में आ, इ, उ तीन शाखाएँ हुईं और क्रमशः आ से क, ख, ङ, इ से ग, घ तथा उ से च का जन्म हुआ है। यदि क, ख और ङ में कोई शब्द है तो इसका अर्थ यह नहीं कि अनिवार्यतः वह मूल भाषा अ का शब्द है। पर यदि क और च में एक शब्द मिलता है तो उसके मूल में होने की

अध्याय ८

भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज

(Linguistic Palaeontology)

भाषा-विज्ञान की यह शाखा अत्यन्त ही नवीन है। इसमें इतिहास के उस अंध युग पर, जिसके संबंध में कोई सामाग्री प्राप्त नहीं है, भाषा के सहारे प्रकाश डाला जाता है। जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने इसकी नींव रखो। जर्मन में इसका नाम उर्गेशिश्ते (Urgeschichte) है।

खोज की प्रणाली

इस खोज के लिए किसी भाषा के प्राचीन शब्दों को लिया जाता है, फिर उस परिवार की अन्य भाषाओं के प्राचीन शब्दों की तुलना के आधार पर यह निश्चित किया जाता है कि प्राचीनतम काल के कौन-कौन शब्द थे। इन शब्दों को इकट्ठा कर इनका विश्लेषण कई दृष्टियों से किया जाता है। सामाजिक, धार्मिक आदि वर्गों में शब्दों को अलग-अलग करके अनुमान लगाया जाता है कि उस समय की सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक दशा क्या थी। जानवरों के नामों से यह पता चलता है कि उनके पास कौन-कौन जानवर थे। क्रिया 'शब्दों' से उनके सामाजिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार यथासाध्य उन शब्दों के सहारे जीवन के प्रत्येक अंग की छानबीन की जाती है, और एक पूरा नकशा तैयार करने का प्रयास किया जाता है।

साथ ही प्रकृति, पर्वत, नदी, जानवर, पेड़-पौदे तथा ऋतु से संबन्धित शब्दों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि किस स्थान पर इन सबका इस रूप में पाया जाना संभव है। इससे उनके आदिम स्थान का अनुमान लग जाता है।

खोज में सहायक अन्य शास्त्र तथा विज्ञान

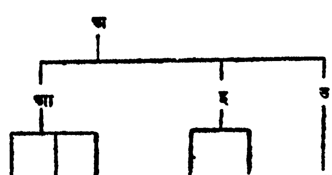
इस खोज का आधार यद्यपि भाषा-विज्ञान है पर पूर्णता के लिए अन्य शास्त्रों एवं विज्ञानों से भी सहायता लेनी पड़ती है। इनमें सबसे प्रथम स्थान मानव-विज्ञान (anthropology) का है। इसके द्वारा उस काल के मानव का सामाजिक प्राणी के रूप में अध्ययन अन्य आधारों से होता है। इसी प्रकार पुरातत्व (archaeology) की सामग्रियों एवं निष्कर्षों से भी हमें भाषा-विज्ञान के आधार पर की गई खोज को

पर्याप्त सहायता मिलती है, साथ ही उनके सत्यासत्य होने की परीक्षा भी कुछ हद तक हो जाती है। भूगर्भविद्या (Geology) भी हमारी कम सहायता नहीं करती है। पर सबसे अधिक सहायता भूगोल (Geography) से मिलती है। विशेषतः उस स्थान विशेष का प्राचीन भूगोल, शब्दों के आधार पर प्राप्त वहाँ की तत्कालीन भौगोलिक दशा को समझने में तथा आदि स्थान को निश्चित करने में बहुत सहायक होता है।

मूल भाषा के शब्दों का निर्णय करते समय कुछ स्मरणीय बातें

(१) जिस कुल के प्राचीन काल की खोज करनी हो उसकी नई-पुरानी सभी शाखाओं-प्रशाखाओं के शब्दों को इकट्ठा करना चाहिए और सभी का अध्ययन बड़ी सावधानी से करना चाहिए। ऐसा करने से कभी-कभी अप्रत्याशित सामग्री मिल जाती है। किसी भी प्राचीन शब्द को व्यर्थ समझ कर छोड़ना उचित नहीं।

(२) एक शब्द एक शाखा की अनेक प्रशाखाओं में और अन्य शाखा की एकाध प्रशाखाओं में मिले तो इससे सीधे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि शब्द मूल भाषा का है। हो सकता है कि एक शाखा में बाद में उसका कहीं और जगह से आगम हुआ हो और दूसरी शाखाओं की एकाध प्रशाखाओं ने उसे उधार ले लिया हो। इस संबन्ध में शब्द यदि दूर की शाखाओं में मिले जिनकी आपस में भौगोलिक दूरी भी अधिक हो और इतिहास के किसी काल उसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबन्ध भी न रहा हो तो वह मूल भाषा का माना जा सकता है। इसे चित्र के द्वारा अधिक सरलता से समझा जा सकता है।



यहाँ अ मूल भाषा है। उससे आरम्भ में आ, इ, उ तीन शाखाएँ हुईं और क्रमशः आ से क, ख, ङ, इ से ग, घ तथा उ से च का जन्म हुआ है। यदि क, ख और ङ में कोई शब्द है तो इसका अर्थ यह नहीं कि अनिवार्यतः वह मूल भाषा अ का शब्द है। पर यदि क और च में एक शब्द मिलता है तो उसके मूल में होने की

अधिक संभावना हो सकती है। इतना ही नहीं यदि अंग्रेजी और हिंदी की भाँति क और च का संबंध हो या रहा हो तो इस प्रकार के एक शब्द का पाया जाना विशेष महत्व नहीं रखता। क्योंकि संभव है संसर्ग के कारण एक ने दूसरे से उधार लिया हो। पर दूसरी ओर दोनों भाषाओं में पाया जाने वाला शब्द यदि इतने पुराने समय से पाया जाता हो जब कि दोनों का आपस में संबन्ध नहीं था तो उसका महत्व हो सकता है। यह बात प्रत्यक्ष संपर्क की है। कभी-कभी अप्रत्यक्ष संपर्क के कारण भी शब्द एक भाषा से दूसरी में आ जाते हैं। उपर्युक्त चित्र में क और घ से सीधा संबन्ध कभी नहीं रहा पर यदि क का ग से और ग का घ से रहा तो यह अप्रत्यक्ष संबन्ध माना जायगा और शब्द के उधार लिए जाने की संभावना हो सकती है। पर यहाँ भी पहले के उदाहरण की भाँति संपर्क के समय पर विचार कर लेना आवश्यक होगा।

(३) दो भाषाओं में एक शब्द मिले पर ध्वनि और अर्थ में कुछ या अधिक अंतर हो तो इस आधार पर शब्द छोड़ा नहीं जा सकता। क्योंकि, संभव है अर्थ एवं ध्वनि-परिवर्तन के कारण यह अंतर पड़ा हो और मूलतः शब्द एक हो।

(४) कोई एक शब्द एकाध प्रशाखा में हो और शेष में न हो तो इससे सीधे यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता है कि मूल भाषा में शब्द नहीं था। क्योंकि यह भी संभावना हो सकती है कि शेष भाषाओं में उस शब्द का लोप हो गया हो। अतः और आधारों से इसकी परीक्षा करनी चाहिये।

(५) किसी शृंखलाबद्ध शब्द-पंक्ति में इधर-उधर के शब्द मिलें तो बीच के शब्द न मिलने पर भी उसकी संभावना की जा सकती है। जैसे नाक, कान, मुँह के लिए शब्द मिलें तो आँख के लिए शब्द मिले या नहीं यह निश्चित रूप से कहा जायगा कि उसके लिए शब्द था। इसी प्रकार १, २, ३, ५, ६, ७, ६ के लिए शब्द हों तो ४ और ८ का होना भी माना ही जायगा, चाहे शब्द मिलें या न मिलें।

शब्दों से निष्कर्ष निकालते समय ध्यान देने योग्य बातें

(१) एक वस्तु के नाम का मूल भाषा में मिलने पर जब तक और शब्द न मिलें, उसके विभिन्न प्रयोगों का उस काल में होना न मान लेना चाहिये। जैसे यदि घोड़ा के लिए शब्द मिल जाय, पर चढ़ने और रथ आदि के लिए शब्द न मिले तो इसका प्रयोग संदिग्ध हो सकता है। क्योंकि यह भी संभव है कि परिचय मात्र रहा हो और रथ में जोतना, चढ़ना आदि प्रचलित न रहा हो। इसी प्रकार दूध के लिए शब्द

मिलने पर दधि और घी होने की संभावना अन्य आवश्यक शब्दों के मिले बिना नहीं हो सकती।

(२) पानी, पर्वत, पेड़ आदि के शब्दों के तथा ऋतु के आधार पर मूल निवासस्थान के निश्चित करने में बहुत सतर्क रहना चाहिये। इसमें प्राचीन भूगोल से विशेष सहायता ली जानी चाहिये। साथ ही कुछ ही शब्दों के आधार पर निष्कर्ष निकालना उचित नहीं।

(३) सामाजिक एवं धार्मिक अवस्था आदि के विषय में भी अन्य शास्त्रों एवं विज्ञानों से सहारा लेकर निष्कर्ष निकालना चाहिये। साथ ही पर्याप्त सामग्री पर अपने परिणाम को आधारित करना चाहिये। उस विषय में शब्द के मिलने पर भी किसी ऐसी परम्परा या ऐसे विधान की कल्पना न की जानी चाहिये जो उस काल के लिए असंभव हो। क्योंकि ऐसी दशा में अधिक संभव यह है कि वह शब्द विशेष उस समय कुछ दूसरा अर्थ रखता रहा हो। उदाहरणार्थ प्राचीन भारोपियों के संबन्ध में खोज करते समय रेल के लिये कोई शब्द मिले तो उसका आशय यह नहीं कि उस समय रेल थी, बल्कि उसका अर्थ यह अवश्य है कि उस शब्द विशेष के ठीक अर्थ से हम अवगत नहीं हैं।

खोज का कार्य

भाषा-विज्ञान के आधार पर ऐसी खोज विशेषतः भारोपीय परिवार के विषय में हुई है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस संबन्ध में प्रथम कार्य मैक्समूलर द्वारा हुआ। उसने और बातों पर प्रकाश डालते हुए मध्य एशिया में आर्यों का आदि स्थान निश्चित किया। तब से लैथन, पीटर गाइल्स, सर देसाई, तिलक, ब्रैंडेस्टाइन, दास, सपूर्णानंद, कीथ आदि अनेक विद्वानों ने इस प्रश्न पर विचार किया। इसमें कुछ विद्वानों का दृष्टिकोण भाषा-विज्ञान के आधार पर नहीं रहा है पर कुछ न कुछ सहारा तो लेना ही पड़ा है।

इस संबन्ध में अन्तिम प्रामाणिक मत श्रेडर का है, जिनके अनुसार वोल्गा के उद्गम के पास आर्यों का स्थान था। अधिकतर विद्वानों के निष्कर्षों के विषय में एक बात विचित्र रही है कि या तो लोगों ने अपने देश को आदि स्थान माना है या फिर उस भाषा के स्थान को माना है, जिसके वे विद्वान रहे हैं। जब तक सभी लोगों का मिश्रित विचार न हो और सभी भाषाओं के द्वारा लोग एक निष्कर्ष पर न पहुँचे कोई निष्कर्ष अंतिम नहीं माना जा सकता। सत्य तो यह है कि अभी तक भारोपीय

परिवार की सभी भाषाओं की पूरी छानबीन कर वैज्ञानिक ढंग पर प्रामाणिक कार्य हुआ ही नहीं। स्वदेश और स्वभाषा की संकुचित सीमा से ऊपर उठकर कार्य करने की आवश्यकता है। साथ ही आदिम स्थान की खोज पर जितना ज़ोर दिया गया है उतना उस समय के जीवन के विश्लेषण पर नहीं। उस ओर उससे भी अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

———

अध्याय ६

लिपि

भाषा की उत्पत्ति भावों को ध्वनियों द्वारा व्यक्त करने के लिए हुई और लिपि की उत्पत्ति उसे चित्रों या चिह्नों द्वारा प्रकट करने के लिए। यह कार्य भाषा के कुछ विकसित हो जाने के बाद हुआ होगा।

लिपि की उत्पत्ति

भाषा की उत्पत्ति की भाँति ही लिपि की उत्पत्ति के विषय में भी पुराने लोगों का विचार था कि ईश्वर या किसी देवता द्वारा यह कार्य संपन्न हुआ। भारतीय पंडित ब्राह्मी लिपि को ब्रह्मा की बनाई मानते हैं और इसके लिए उनके पास सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि लिपि का नाम 'ब्राह्मी' है। इसी प्रकार मिस्री लोग अपनी लिपि का कर्ता थाथ (Thoth) या आइसिस (Jsis) को, बेबिलोनिया के लोग नेबो (Nebo) को, पुराने ज्यू लोग मोज़ेज़ (Moses) को तथा यूनानी लोग हर्मेस (Hermes) या पैलमीडस, प्रामेथ्यूस, आर्फ्युस तथा लिनोज़ आदि अन्य पौराणिक व्यक्तियों को मानते हैं। पर, भाषा की भाँति ही लिपि के संबंध में भी इस प्रकार के मत अंधविश्वास मात्र हैं। तथ्य यह है कि मनुष्य ने अपनी आवश्यकतानुसार लिपि को स्वयं जन्म दिया।

आरंभ में मनुष्य ने इस दिशा में जो कुछ भी किया वह इस दृष्टि से नहीं किया गया था कि उससे लिपि विकसित हो बल्कि जादू-टोने के लिए कुछ रेखाएँ खींची गई या धार्मिक दृष्टि से किसी देवता का प्रतीक या चित्र बनाया गया या पहचान के लिए अपने-अपने घड़े या अन्य चीज़ों पर कुछ चिह्न बनाए गए ताकि बहुतों की ये चीज़ें जब एक स्थान पर रक्खी जायँ तो लोग सरलता से अपनी चीज़ें पहचान सकें, या सुंदरता के लिए कंदराओं की दीवालों पर आस-पास के जीव-जंतुओं या बनस्पतियों को देखकर उनके टेढ़े-मेढ़े चित्र बनाए गए* या स्मरण के लिए किसी रस्सी या पेड़

* इस प्रकार के चिह्न या चित्र आदि या तो रेखा खींचकर या पत्थर या अन्य चीज़ों पर खोदकर या रंगकर बनाए गए।

की छाल आदि में गाँठें लगाई गई और बाद में इन्हीं साधनों का प्रयोग अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए किया गया और वह धीरे-धीरे विकसित होकर लिपि बन गई।

लिपि का विकास

आज तक लिपि के संबन्ध में जो प्राचीनतम सामग्री उपलब्ध है, उस आधार पर कहा जा सकता है कि ४,००० ई० पू० के मध्य तक लेखन की किसी भी व्यवस्थित पद्धति का कहीं भी विकास नहीं हुआ था और इस प्रकार के प्राचीनतम अव्यवस्थित प्रयास १०,००० ई० पू० से भी कुछ पूर्व किए गए थे। इस प्रकार इन्हीं दोनों के बीच, अर्थात् १०,००० ई० पू० और ४,००० ई० पू० के बीच, लगभग ६,००० वर्षों में धीरे-धीरे लिपि का प्रारंभिक विकास होता रहा।

लिपि के विकास-क्रम में आनेवाली विभिन्न प्रकार की लिपियाँ

लिपि के विकास-क्रम में हमें निम्न प्रकार की लिपियाँ मिलती हैं—

१. चित्र लिपि
२. सूत्र लिपि
३. प्रतीकात्मक लिपि
४. भावमूलक लिपि
५. भाव-ध्वनिमूलक लिपि
६. ध्वनिमूलक लिपि

यहाँ इन पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

१. चित्र लिपि

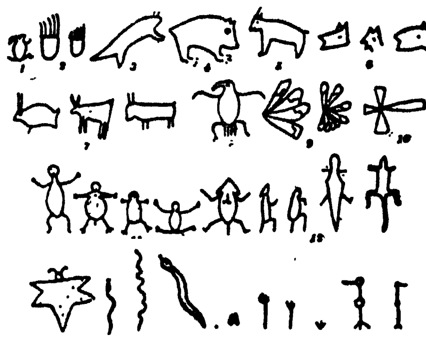
चित्र-लिपि ही लेखन के इतिहास की पहली सीढ़ी है। पर, वे प्रारंभिक चित्र केवल लेखन के इतिहास के आरंभिक प्रतिनिधि थे, यह सोचना गलत होगा। उन्हीं चित्रों से चित्रकला के इतिहास का भी आरंभ होता है, और लेखन के भी इतिहास का। उस काल के मानव ने कंदराओं की दीवालों पर या अन्य चीजों पर पशु, जंतु, वनस्पति, मानव शरीर या अंग तथा ज्यामितीय शक्लों आदि के टेढ़े मेढ़े चित्र बनाए होंगे। यह भी संभव है कि कुछ चित्र धार्मिक कर्मकांडों के हेतु देवी-देवताओं के बनाए जाते रहे हों। इस प्रकार के पुराने चित्र दक्षिणी फ्रांस, स्पेन, क्रीट, मेसोपोटामिया, यूनान, इटली, पुर्तगाल, साइबेरिया, उजबकिस्तान, सीरिया, मिश्र, ग्रेट-

ब्रिटेन, कैलिफोर्निया, ब्राजील, तथा आस्ट्रेलिया आदि अनेकानेक देशों में मिले हैं। ये पत्थर, हड्डी, काठ, सींघ, हाथीदाँत, पेड़ की छाल, जानवरों की खाल तथा मिट्टी के बर्तन आदि पर बनाए जाते थे।



[कैलिफोर्निया में प्राप्त चित्र लिपि, जो प्राचीनतम लिपियों में एक है। चित्र से स्पष्ट है कि कुछ तो मनुष्य, पशु तथा पक्षी आदि के तरह-तरह के चित्र हैं और कुछ ज्यामितीय शकलें।]

चित्र लिपि में किसी विशिष्ट वस्तु के लिए उसका चित्र बना दिया जाता था। जैसे सूर्य के लिए गोला या गोला और उससे चारों ओर निकलती रेखाएँ, विभिन्न पशुओं के लिए उनके चित्र, आदमी के लिए आदमी का चित्र तथा उसके विभिन्न अंगों के लिए उन अंगों के चित्र आदि। चित्र लिपि की परंपरा उस प्राचीन काल से आज तक किसी न किसी रूप में चली आ रही है। भौगोलिक नकशों में मंदिर, मस्जिद, बाग तथा पहाड़ आदि तथा पंचागों में ग्रह आदि चित्रों द्वारा ही प्रकट किए जाते हैं।



[एरिज़ोना (अमेरिका) में प्राप्त चित्र लिपि, जो प्राचीनतम लिपियों में एक है ।]

प्राचीन काल में चित्र लिपि बहुत ही व्यापक रही होगी, क्योंकि इसके आधार पर किसी भी वस्तु का चित्र बनाकर उसे व्यक्त कर सकते रहे होंगे । इसे एक अर्थ में अंतर्राष्ट्रीय लिपि भी माना जा सकता है, क्योंकि किसी भी वस्तु या जीव का चित्र सर्वत्र प्रायः एक सा ही रहेगा और उसे देखकर विश्व का कोई भी व्यक्ति जो उस वस्तु या जीव से परिचित होगा, उसका भाव समझ जायगा और इस प्रकार उसे पढ़ लेगा । पर यह तभी तक संभव रहा होगा जब तक चित्र मूल रूप में रहे होंगे ।

चित्र लिपि की कठिनाइयाँ

(१) व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को व्यक्त करने का इसमें कोई साधन नहीं था । आदमी का चित्र तो किसी भी प्रकार कोई बना सकता था, पर राम, मोहन और माधव का पृथक्-पृथक् चित्र बनाना साधारणतया सम्भव नहीं था ।

(२) स्थूल वस्तुओं का प्रदर्शन तो संभव था, पर भावों या विचारों का चित्र संभव न था । कुछ भावनाओं के लिये चित्र अवश्य बने थे, जिन्हें हम आगे देखेंगे, पर सबका इस प्रकार प्रतीकात्मक चित्र बनाना व्यावहारिक नहीं था ।

(३) शीघ्रता में ये चित्र नहीं बनाए जा सकते थे ।

(४) कुछ लोग ऐसे भी रहे होंगे जो सभी वस्तुओं के चित्र बनाने में अकलाकार प्रवृत्ति के होने के कारण समर्थ न रहे होंगे । ऐसे लोगों को और भी कठिनाई पड़ती रही होगी ।

(५) काल आदि के भावों को व्यक्त करने के साधनों का इस लिपि में एकान्त अभाव था।

चित्र लिपि विकसित होते-होते प्रतीकात्मक हो गई। उदाहरणार्थ यदि आरंभ में पहाड़ इस प्रकार बनता था तो धीरे-धीरे लोग उसे केवल इस तरह बनाने लगे। दूसरे





शब्दों में उसका रूप घिस गया। शीघ्रता में लिखने के कारण संक्षेप में इसी प्रकार लोग लिखने लगे और रूढ़ि रूप में इसी से पहाड़ का भाव व्यक्त होने लगा। चीनी लिपि पर विचार करते समय इस प्रकार चिह्नों के प्रतीक बन जाने के और भी उदाहरण हमें मिलेंगे। इस तरह धीरे-धीरे चित्र लिपि के सभी चित्र प्रतीकात्मक हो गए होंगे। इस रूप में चित्र लिपि की विश्व भर में समझी जाने की क्षमता समाप्त हो गई होगी और विभिन्न सजीव और निर्जीव वस्तुओं के चित्र उन वस्तुओं के स्वरूप के आधार पर बनकर विकसित चिह्नों के रूप में बनने लगे होंगे। यहाँ वह अवस्था आ गई होगी जब इन प्रतीकात्मक या रुढ़ि चिह्नों को याद रखने की आवश्यकता पड़ने लगी होगी।

२. सूत्र लिपि

सूत्र लिपि का इतिहास भी काफ़ी पुराना है। इसकी परंपरा प्राचीन काल से आज-तक किसी न किसी रूप में चली आ रही है। स्मरण के लिए आज भी लोग रूमाल आदि में गाँठ देते हैं। सालगिरह या वर्षगाँठ में भी वही परंपरा अक्षुण्ण है। प्राचीन काल में सूत्र, रस्सी तथा पेड़ों की छाल आदि में गाँठ दी जाती थी। किसी बात को सूत्र रूप में रखने या सूत्र* यादकर पूरी बात को याद रखने की परंपरा का भी संबंध इसी से ज्ञात होता है।

सूत्रों में गाँठ आदि देकर भाव व्यक्त करने की परंपरा भी काफी प्राचीन है। इस आधार पर भाव कई प्रकार से व्यक्त किए जाते रहे हैं, जिनमें प्रधान निम्नांकित हैं—

(क) रस्सी में रंग-बिरंगे सूत्र बाँध कर।

(ख) रस्सी को रंग-बिरंगे रंगों से रँग कर।

(ग) रस्सी या जानवरों की खाल आदि में भिन्न-भिन्न रंगों के मोती, घोंघे, मूँगे या मनके आदि बाँधकर।

---

* व्याकरण या दर्शनशास्त्र आदि के सूत्र।

(घ) विभिन्न लंबाइयों की रस्सियों से।

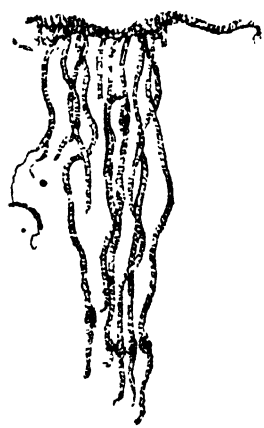
(ङ) विभिन्न मोटाइयों की रस्सियों से।

(च) रस्सी में तरह-तरह की तथा विभिन्न दूरियों पर गाँठें बाँध कर।

(छ) डंडे में भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न मोटाइयों या रंगों की रस्सी बाँध कर।

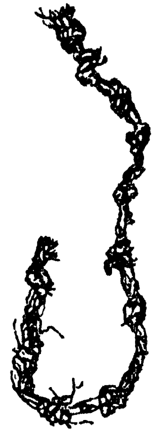
इस तरह के लेखन का उल्लेख, ५ वीं सदी के ग्रंथकार हेरोडोटस (४, ६८) ने किया है। इस प्रकार का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण पीरू की 'क्वीपू' है।

'क्वीपू' में भिन्न-भिन्न लंबाइयों, मोटाइयों तथा रंगों के सूत (जो प्रायः बटे ऊन के होते थे) लटकाकर भाव प्रकट किए जाते थे।।कहीं-कहीं गाँठें भी लगाई जाती थीं। इनके द्वारा गणना की जाती थी तथा ऐतिहासिक घटनाओं का भी अंकन होता था।



[पीरू में प्राप्त 'क्वीपू' नामक सूत्र-लिपि]

पीरू के सैनिक अफसर इस लिपि का विशेष प्रयोग करते थे। इसके माध्यम से सेना का एक वर्णन आज भी प्राप्त है, पर उसे पढ़ने या समझने का कोई साधन नहीं है। चीन तथा तिब्बत में भी प्राचीनकाल में सूत्र लिपि का व्यवहार होता था। बंगाल के संथालों, तथा कुछ जापानी द्वीपों आदि में आज भी सूत्र लिपि कुछ रूपों में प्रयोग में आती है। टंगानिका के मकोन्दे लोग छाल की रस्सियों में गाँठ देकर बहुत दिनों से घटनाओं तथा समय की गणना करते आए हैं।



[टंगानिका की सूत्र लिपि (गाँठें स्पष्ट हैं)]

(३) भावाभिव्यक्ति की प्रतीकात्मक पद्धति या प्रतीकात्मक लिपि

शुद्ध अर्थ में लिपि न होते हुए भी इस रूप में कि आँख के सहारे दूरस्थ व्यक्ति के विचार भी उनके द्वारा भेजी गई वस्तुओं के द्वारा जाने जा सकते हैं, यह पद्धति लिपि कही जा सकती है। कई देशों और कबीलों में प्राचीन काल से इसका प्रचार मिलता है। तिब्बती चीनी सीमा पर मुर्गी के बच्चे का कलेजा, उसकी चर्बी के तीन टुकड़े तथा एक मिर्चा लाल कागज़ में लपेटकर भजने का अर्थ है कि युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। गार्ड का लाल या हरी झंडी दिखलाना, युद्ध में सफेद झंडा फह-राना तथा स्काउटों का हाथ से बात-चीत करना भी इसी के अंतर्गत आ सकता है। गूँगों-बहरों के वार्तालाप का आधार भी कुछ इसी प्रकार का साधन है। फतहपुर ज़िले में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय आदि उच्च जातियों में लड़की के विवाह का निमंत्रण हल्दी भेज कर तथा लड़के के विवाह का निमंत्रण सुपारी भेजकर दिया जाता है। भोजपुर प्रदेश में अहीर आदि जातियों में हल्दी बाँट कर निमंत्रण देते हैं। इलाहाबाद के आस-पास छोटी जाति के लोगों में गुड़ बाँटकर निमंत्रण देते हैं। कुछ स्थानों पर किसी के मृत्यु संस्कार में भाग लेने के लिए आने वाला निमंत्रण-पत्र कोने पर फाड़कर भेजा जाता है। इस प्रकार विचाराभिव्यक्ति के साधन और स्थानों पर भी भिन्न-भिन्न प्रकार के मिलते हैं। कांगो नदी की घाटी में कोई हरकारा जब कोई बहुत महत्वपूर्ण समा-चार लेकर किसी के पास जाता था तो भेजने वाला उसे एक केले की पत्ती दे देता

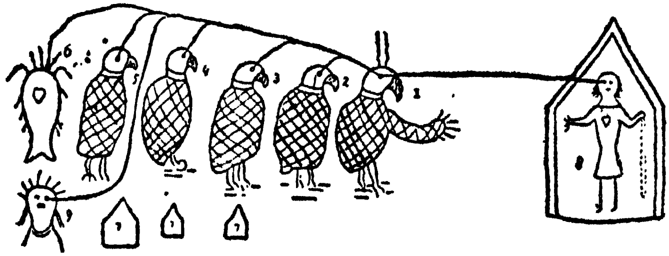
था। यह पत्ती ६ इंच लंबी होती थी और दोनों ओर पत्ती के चार-चार भाग किए रहते थे। कम महत्व के समाचार के साथ चाकू या भाले आदि भेजे जाते थे। सामान्य समाचारों के साथ कुछ भी नहीं भेजा जाता था।

कहना न होगा कि यह लिपि के अन्य रूपों की भाँति बहुत व्यापक नहीं हैं और इसका प्रयोग बहुत ही सीमित है।

(४) भावमूलक लिपि

भावमूलक लिपि चित्र लिपि का ही विकसित रूप है। चित्र लिपि में चित्र वस्तुओं को व्यक्त करते थे, पर भावलिपि में स्थूल वस्तुओं के अतिरिक्त भावों को भी व्यक्त करते हैं। उदाहरणार्थ चित्र लिपि में सूर्य के लिए एक गोला बनाते थे पर भावमूलक लिपि में यह गोला सूर्य के अतिरिक्त सूर्य से संबद्ध अन्य भावों को भी व्यक्त करने लगा, जैसे सूर्य देवता, गर्मी, दिन तथा प्रकाश आदि। इसी प्रकार चित्र लिपि में पैर का चित्र पैर को व्यक्त करता था पर भावमूलक लिपि में यह चलने का भी भाव व्यक्त करने लगा। कभी-कभी चित्र लिपि के दो चित्रों को एक में मिलाकर भी भावमूलक लिपि में भाव व्यक्ति किए जाते हैं। जैसे दुखः के लिए आँख का चित्र और उससे बहता आँसू या सुनने के लिए दरवाज़े का चित्र और उसके पास कान। भावमूलक लिपि के उदाहरण उत्तरी अमरीका, चीन तथा पश्चिमी अफ्रीका आदि में मिलते हैं।

इस लिपि के द्वारा बड़े-बड़े पत्र आदि भी भेजे जाते हैं। इस प्रकार यह बहुत ही समुन्नत रही है। इसका आधुनिक काल का एक मनोरंजक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है। उत्तरी अमेरिका के एक इंडियन सरदार ने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के प्रेसिडेंट के यहाँ एक पत्र अपनी भावमूलक लिपि में भेजा। पत्र मूलतः रंगीन था पर यहाँ उसका स्केच मात्र दिया जा रहा है—



इसमें जो अंक दिए गए हैं वे मूल पत्र में नहीं थे। समझने के लिए ये दे दिए गए हैं।

पत्र पानेवाला (नं० ८) ह्वाइट हाउस में प्रेसिडेंट है। पत्र लिखने वाला (१) उस कबीले का सरदार है, जिसका गणचिह्न (टोटेम) गरुड़ है। उसके सर पर दो रेखाएँ यह स्पष्ट कर रही हैं कि वह सरदार है। उसका आगे बढ़ा हुआ हाथ यह प्रकट कर रहा है कि वह मैत्री-संबंध स्थापित करना चाहता है। उसके पीछे उसी के कबीले के चार सिपाही हैं।

छठाँ व्यक्ति मत्स्य गणचिह्न के कबीले का है। नवाँ किसी और कबीले का है। उसके सर के चारों ओर की रेखाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि पहले सरदार से वह अधिक शक्तिशाली सरदार है। सबकी आँखों को मिलने वाली रेखा उनमें मतैक्य प्रकट करती हैं। नीचे के तीन मकान यह संकेत दे रहे हैं कि ये तीन सिपाही प्रेसिडेंट के तौर-तरीके अपनाने को तैयार हैं।

पत्र इस प्रकार पढ़ा जा सकता है—

'मैं, गरुड़ गणचिह्न के कबीले का सरदार, मेरे कई सिपाही, मत्स्य गणचिह्न के कबीले का एक व्यक्ति, और एक अज्ञात गणचिह्न के कबीले का मुझसे अधिक शक्तिशाली सरदार, एकत्र हुए हैं और आपसे मैत्री-संबंध स्थापित करना चाहते हैं। हमारा आप से सभी बातों में मतैक्य है। हमारे तीन सिपाही आपके तौर-तरीके अपनाने को तैयार हैं।'

इस प्रकार भाव लिपि, चित्र तथा सूत्र लिपि की अपेक्षा अधिक समुन्नत तथा अभिव्यक्ति में सफल है। चीनी आदि कई लिपियों के बहुत से चिह्न आज तक इसी श्रेणी के हैं।

(५) भाव-ध्वनि-मूलक लिपि

चित्रलिपि का विकसित रूप ध्वनि-मूलक लिपि है, जिस पर आगे विचार किया जायगा, पर उसके पूर्व ऐसी लिपि के संबंध में कुछ जान लेना है जो कुछ बातों में तो भावमूलक है और कुछ बातों में ध्वनि मूलक। मेसोपोटामियन, मिस्री तथा हित्ती आदि लिपियों को प्रायः लोग भावमूलक कहते हैं, पर यथार्थतः ये भाव-ध्वनि-मूलक हैं, अर्थात् कुछ बातों में भावमूलक हैं और कुछ बातों में ध्वनिमूलक। आधुनिक चीनी लिपि भी कुछ अंशों में इसी के अंतर्गत आती है। इन लिपियों के कुछ चिह्न चित्रात्मक तथा भावमूलक होते हैं और कुछ ध्वनिमूलक और दोनो ही का इसमें यथा समय उपयोग होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार सिंधु घाटी की लिपि भी इसी श्रेणी की है।

(६) ध्वनिमूलक लिपि

चित्र लिपि तथा भावमूलक लिपि में चिह्न किसी वस्तु या भाव को प्रकट करते हैं। उनसे उस वस्तु या भाव के नाम से कोई संबंध नहीं होता। पर इसके विरुद्ध ध्वनि-मूलक लिपि में चिह्न किसी वस्तु या भाव को न प्रकट कर ध्वनि को प्रकट करते हैं और उनके आधार पर किसी वस्तु या भाव का नाम लिखा जा सकता है। नागरी, अरबी तथा अंग्रेज़ी आदि भाषाओं की लिपियाँ ध्वनि-मूलक ही हैं।

ध्वनि-मूलक लिपि के दो भेद हैं—

(क) अक्षरात्मक (syllabic)

(ख) वर्णात्मक (alphabetic)

(क) अक्षरात्मक लिपि—अक्षरात्मक लिपि में चिह्न किसी अक्षर (syllable) को व्यक्त करता है, वर्ण (Alphabet) को नहीं। उदाहरणार्थ नागरी लिपि अक्षरात्मक है। इसके 'क' चिह्न में क्+अ (दो वर्ण) मिले हैं पर इसके विरुद्ध रोमन लिपि वर्णात्मक है। उसके K में केवल 'क्' है। अक्षरात्मक लिपि सामान्यतया प्रयोग की दृष्टि से तो ठीक है, पर, भाषा-विज्ञान में जब हम ध्वनियों का विश्लेषण करते चलते हैं तो इसकी कमी स्पष्ट हो जाती है। उदाहरणार्थ हिन्दी का 'कक्ष' शब्द लें। नागरी लिपि में इसे लिखने पर स्पष्ट पता नहीं चलता कि इसमें कौन-कौन वर्ण हैं, पर, रोमन लिपि में यह बात (Kaks'a) बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। नागरी में इसे देखने पर लगता है कि इसमें दो ध्वनियाँ हैं पर रोमन में लिखने पर सामान्य पढ़ा-लिखा भी कह देगा कि इसमें पाँच ध्वनियाँ हैं।

अरबी, फ़ारसी, बंगला, गुजराती, उड़िया तथा तमिल-तेलगू आदि लिपियाँ अक्षरात्मक ही हैं।

(ख) वर्णात्मक लिपि—लिपि-विकास की प्रथम सीढ़ी चित्र लिपि है तो इसकी अंतिम सीढ़ी वर्णात्मक लिपि है। वर्णात्मक लिपि में ध्वनि की प्रत्येक इकाई के लिए अलग चिह्न होते हैं और उनके आधार पर सरलता से किसी भी भाषा का कोई भी शब्द लिखा जा सकता है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह आदर्श लिपि है। रोमन लिपि प्रायः इसी प्रकार की है। ऊपर नागरी और रोमन में 'कक्ष' लिखकर अक्षरात्मक लिपि और वर्णात्मक लिपि के भेद को तथा अक्षरात्मक की तुलना में वर्णात्मक लिपि की अच्छाई को हम लोग देख चुके हैं।

लिपि के विकास-क्रम की विभिन्न अवस्थाएँ

लिपि के विकास-क्रम में प्राप्त छः प्रकार की लिपियों का ऊपर परिचय दिया गया है। विकास-क्रम की क्रमिक सीढ़ी की दृष्टि से सूत्र-लिपि तथा भावाभिव्यक्ति की प्रतीकात्मक पद्धति (या प्रतीकात्मक लिपि) का विशेष स्थान नहीं है। वे दोनों भाव प्रकट करने की विशिष्ट पद्धतियाँ हैं, जो किसी न किसी रूप में प्राचीन काल से आज तक चली आ रही हैं। उनका न तो उनकी पूर्ववर्ती चित्र लिपि से कोई संबंध है और न बाद की भावमूलक या ध्वनिमूलक लिपि से। दूसरे शब्दों में न तो ये दोनों चित्र-लिपि से विकसित हुई हैं और न इनसे इनके बाद प्रचलन में आनेवाली भावमूलक या ध्वनिमूलक लिपियाँ।

इन दो को छोड़ देने पर शेष चार प्रकार की लिपियाँ बचती हैं। इनमें जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रारंभिक लिपि चित्र लिपि है। चित्र लिपि का ही विकसित रूप भावमूलक लिपि है। और आगे चलकर भाव मूलक लिपि विकसित होकर भाव-ध्वनि-मूलक लिपि और फिर ध्वनि-मूलक हुई है। ध्वनि-मूलक में भी अक्षरात्मक ध्वनि-मूलक लिपि प्रारंभिक है और वर्णात्मक ध्वनि-मूलक लिपि उससे विकसित तथा बाद की है।

इस प्रकार लिपि के विकास-क्रम में चित्र लिपि प्रथम अवस्था की लिपि है और वर्णात्मक ध्वनि-मूलक लिपि अंतिम अवस्था की।

संसार की प्रमुख लिपियों के दो प्रधान वर्ग

संसार की लिपियाँ प्रमुख रूप से दो वर्गों में रक्खी जा सकती हैं—

१. जिनमें अक्षर या वर्ण नहीं हैं, जैसे क्यूनीफार्म तथा चीनी आदि।

२. जिनमें अक्षर या वर्ण हैं, जैसे रोमन तथा नागरी आदि।

पहले वर्ग की प्रधान लिपियाँ

१. क्यूनीफार्म
२. हीरोग्लाइफ़िक
३. क्रीट की लिपि (या लिपियाँ)
४. सिंधु घाटी की लिपि
५. हिट्टाइट लिपि
६. चीनी लिपि
७. प्राचीन मध्य अमेरिका तथा मेक्सिको की लिपियाँ

सात तथा दूसरे वर्ग की प्रधान लिपियाँ

१, दक्षिणी सामी लिपि
२. हिब्रू लिपि
३. फ़ोनेशियन लिपि
४. खरोष्ठी लिपि
५. आर्मेइक लिपि
६. अरबी लिपि
७, भारतीय लिपि
८. ग्रीक लिपि
९. लैटिन लिपि

नौ हैं। यहाँ इनमें कुछ प्रधान पर (कुछ पर विस्तार से और कुछ पर संक्षेप में) विचार किया जा रहा है। सिंधु घाटी की लिपि तथा खरोष्ठी लिपि पर अलग विचार न करके 'भारतीय लिपियाँ' शीर्षक के अंतर्गत ही भारत की अन्य लिपियों के साथ विचार किया गया है।

क्यूनीफार्म या तिकोनी लिपि*

क्यूनीफार्म विश्व की प्राचीनतम लिपि है। इसकी उत्पत्ति कब और कहाँ हुई, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहने के लिए अभी तक कोई आधार सामग्री नहीं मिली है। यों इसका प्राचीनतम प्रयोग ४,००० ई० पू० के आस-पास मिलता है, साथ ही विद्वानों का अनुमान है कि सुमेरी लोग इसके उत्पत्तिकर्त्ता हैं।

इसके तिकोने स्वरूप के कारण आधुनिक काल में १७०० ई० के आस-पास इसे 'क्यूनीफार्म' नाम दिया गया। इस नाम का प्रयोग सर्वप्रथम थामस हाइड† ने किया।

४,००० ई० पू० से १ ई० पू० तक इसका प्रयोग मिलता है। इसके अध्ययन-कर्त्ताओं का कहना है कि मूलतः यह लिपि चीनी या सिंधु घाटी की मूल लिपि की भाँति चित्रात्मक थी। बेबिलोनिया में गीली मिट्टी की टिकियों या ईंटों पर लिखने के कारण धीरे-धीरे यह तिकोनी रेखात्मक हो गई है। यह कारण ठीक ही है। गीली मिट्टी पर

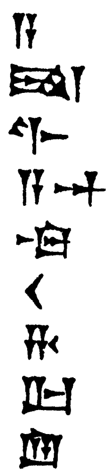
* इसे फन्नी लिपि भी कहते हैं। † कुछ लोगों के अनुसार ई० कैम्फर इस नाम के प्रथम प्रयोगकर्ता हैं।

गोल, धनुषाकार या और प्रकार की रेखा खींचने की अपेक्षा सीधी रेखा बनाना सरल है। इसके अतिरिक्त रेखा का गीली मिट्टी पर तिकोनी हो जाना भी स्वाभाविक है। जल्दी में रेखा जहाँ से बननी आरंभ होगी वहाँ गहरी और चौड़ी होगी और जहाँ समाप्त होगी लिखने की कलम के उठने के कारण कम गहरी और कोणाकार। इस प्रकार उसका स्वरूप त्रिभुजाकार रेखा सा हो जावेगा। इस लिपि में इसी प्रकार की



छोटी रेखाएँ पड़ी, खड़ी और विभिन्न कोणों पर आड़ी मिलती हैं। आरंभ में इसमें बहुत अधिक चिह्न थे, पर बाद में सुमेरी लोगों ने ५७० के लगभग कर दिया और उसमें भी ३०० विशेष प्रयोग में आते थे।

चित्रात्मकता से बढ़कर यह लिपि भाव-मूलक-लिपि हुई। (सूर्य का चित्र = दिन या पैर का चित्र = चलना आदि) तथा और बाद में असीरिया और फारस आदि में यह अर्द्ध अक्षरात्मक हो गई। पहले यह ऊपर से नीचे को लिखी जाती थी पर बाद में दायें से बाएँ और फिर बाएँ से दाएँ भी लिखी जाने लगी थी। सुमेरी, बेबीलोनी, असीरी तथा ईरानी लोगों के अतिरिक्त हिट्टाइट, मितानी, एलामाइट तथा कस्साइट आदि ने भी इस लिपि का प्रयोग किया है।



[क्यूनीफार्म लिपि का उदाहरण]

हीरोग्लाइफिक या पवित्राक्षर लिपि*

विश्व की प्राचीन लिपियों में हीरोग्लाइफिक लिपि का महत्वपूर्ण स्थान है। इसका यह नाम यूनानियों का रक्खा हुआ है, जिसका मूल अर्थ 'पवित्र खुदे अक्षर' है। प्राचीन काल में मंदिर की दीवारों पर लेख खोदने में इस लिपि का प्रयोग होता था। इसी आधार पर इसका यह नाम रक्खा गया।

विद्वानों का अनुमान है कि ४,००० ई० पू० में यह लिपि प्रयोग में आ गई थी। आरम्भ में यह चित्र लिपि थी, बाद में भाव-लिपि हुई और फिर यह अक्षरात्मक हो गई। संभवतः इसी लिपि में अक्षरों का सर्वप्रथम विकास हुआ। इस लिपि में स्वर नहीं थे, केवल व्यंजन थे। पर ये व्यंजन ठीक आज के अर्थ में नहीं थे। एक ध्वनि के लिए कई चिह्न थे और साथ ही एक चिह्न का कई ध्वनियों के लिए भी प्रयोग हो सकता था। सामान्यतः यह दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी पर कभी-कभी इसके उलटे या एकरूपता के लिए दोनों ओर से भी।

हीरोग्लाइफिक लिपि से घसीट लिखे जाने वाले रूप का नाम 'हीराटिक' है, जो पहले ऊपर से नीचे को और बाद में दायें से बायें को लिखी जाने लगी थी। इसक बाद में एक और भी घसीट रूप विकसित हो गया जिसकी संज्ञा 'डेमोटिक' है। यह दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी।

हीरोग्लाइफिक लिपि का प्रयोग ४००० ई० पू० से छठीं ई० तक, हीराटिक का २००० ई० पू० से ३री सदी तक तथा डेमोटिक का ७वीं सदी ई० पू० से ५वीं सदी तक मिलता है।

क्रीट की लिपियाँ

क्रीट में चित्रात्मक तथा रेखात्मक दो प्रकार की लिपियाँ मिलती हैं। इन लिपियों की उत्पत्ति संभवतः वहीं हुई थी, पर इन पर मिश्र की हीरोग्लाइफिक लिपि का प्रभाव पड़ा था। कुछ लोगों के अनुसार इन लिपियों की उत्पत्ति में भी हीरोग्लाइफिक लिपि का हाथ रहा है।

चित्रात्मक लिपि में लगभग १३५ चित्र मिलते हैं। यह बाद में कुछ अंशों में भावमूलक लिपि तथा कुछ अंशों में ध्वन्यात्मक लिपि हो गई थी। इसको कभी तो बाएँ से

* इसे गूढ़ाक्षर, चित्राक्षर या बीजाक्षर आदि भी कहते हैं।

दाएँ और कभी-कभी क्रमशः दोनों ओर से लिखा जाता था। इसका प्राचीनतम प्रयोग ३,००० ई० पू० में होता था। १७०० ई० पू० के लगभग इसकी समाप्ति हो गई।

रेखात्मक लिपि का प्रयोग १७०० ई० पू० के बाद प्रारंभ हुआ। इसमें लगभग ६० चिन्ह थे। इसे बाएँ से दाएँ लिखते थे। यह कुछ अंशों में चित्रात्मक तथा भावात्मक और कुछ अंशों में ध्वन्यात्मक थी। १२०० ई० पू० से पूर्व ही यह समाप्त हो गई।

हिट्टाइट लिपि

हिट्टाइट लिपि को हिट्टाइट हीरोग्लाइफिक लिपि भी कहते हैं। इसका प्राचीनतम प्रयोग १५०० ई० पू० का मिलता है। ६०० ई० पू० के बाद इसका प्रयोग नहीं मिलता। यह लिपि मूलतः चित्रात्मक थी, पर बाद में कुछ अंशों में भावात्मक तथा कुछ अंशों में ध्वन्यात्मक हो गई थी। इसमें कुल ४१९ चिन्ह मिलते हैं। इसे कभी दाएँ से बाएँ और कभी इसके उलटे लिखते थे।

इसकी उत्पत्ति कुछ लोग मिस्री हीरोग्लाइफिक से तथा कुछ लोग क्रीट की चित्रात्मक लिपि से मानते हैं, पर डॉ० डिरिंजर ने इन मतों का विरोध करते हुए इसे वहीं की उत्पत्ति माना है। उनके अनुसार केवल यह संभव है कि इसके आविष्कारकों ने इसके आविष्कार की प्रेरणा मिस्र से ली हो।

चीनी लिपि

चीनी लिपि की उत्पत्ति के संबंध में चीन में तरह-तरह की किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। एक के अनुसार एक आठ प्रकार की त्रिपंक्तीय रेखाओं से यह निकली है। इन विशिष्ट रेखाओं का प्रयोग वहाँ के धार्मिक कर्मकांडों में होता था। एक चीनी कहावत के अनुसार लगभग ३२०० ई० पू० फू-हे नाम के एक व्यक्ति ने चीन में लेखन का आविष्कार किया। कुछ धार्मिक प्रवृत्ति वालों के अनुसार लिपि के देवता 'त्ज़ुशेन' ने चीनी लिपि बनाई। एक मत से त्सं-की नामक एक बहुत ही प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति चीन में २७०० ई० पू० के लगभग पैदा हुआ। इसने एक दिन एक कछुआ देखा और उसी के स्वरूप को देखकर इसने उसके भाव के लिए उसका रेखा-चित्र बनाया। बाद में उसने इस दिशा और सोच-समझ कर सभी आस-पास के जीवों और निर्जीव वस्तुओं का रेखाचित्र बनाया और उसी का विकसित रूप चीनी लिपि हुआ। चीनी भाषा के प्रसिद्ध बौद्ध विश्वकोष 'फा युअन् चु लिन्' (निर्माणकाल सन् ६६८ ई०) में भी 'त्सं-की' को ही चीनी लिपि का आविष्कारक

माना गया है और यह भी लिखा है कि उसने पक्षी के पैरों आदि को देखकर यह लिपि बनाई।

त्स-की का होना और कछुआ या पक्षी के पैर को देखकर लिपि बनाना ठीक हो या नहीं पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि आस-पास के इसी प्रकार के जंतुओं तथा पदार्थों को देखकर लोगों ने उनके चित्र बनाए और उसी से मूल चीनी लिपि (जो चित्रात्मक लिपि थी) का जन्म हुआ।

यों विद्वानों ने चीनी लिपि की उत्पत्ति के बारे में तरह-तरह के अनुमान लगाए हैं, जिनमें से प्रमुख ये हैं—

(१) पीरू की ग्रंथि-लिपि की भाँति की किसी लिपि से यह निकली है।

(२) सुमेरी लोगों की क्यूनीफार्म लिपि से इसका जन्म है।

(३) चीन में हाथ की मुद्रा से भाव-प्रदर्शन की पद्धति के अनुकरण पर इसका जन्म हुआ है।

(४) सजावट या स्वामित्व-चिन्ह रूप में बनने वाले चिन्हों से इसका जन्म है।

(५) मिस्र की हीरोग्लाइफी से इसकी उत्पत्ति हुई है।

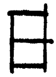
(६) मेसोपोटामिया, ईरान या सिंधु-घाटी की चित्र-लिपि की प्रेरणा से इन लोगों ने अपनी लिपि बनाई है।

इन छः में छठवाँ कुछ ठीक लगता है। क्योंकि इन देशों से चीन का संबंध था और इन देशों में चीन से पहले चित्र-लिपि बनी, अतः, असंभव नहीं है कि इन लोगों की लिपि से प्रेरणा लेकर चीनियों ने अपने यहाँ के जीवों और निर्जीवों के आकार-अनुकरण के आधार पर अपनी लिपि बनाई हो।

चीनी लिपि में भी अन्य अक्षर या वर्ण-विहीन लिपियों की भाँति अक्षर या वर्ण नहीं है। वहाँ अलग-अलग शब्दों के लिए अलग-अलग चिन्ह हैं। अपने मूल-रूप में अधिकतर चिन्ह चित्र रहे होंगे, पर धीरे-धीरे परिवर्तित होते-होते अधिकतर चित्र रूढ़िरूप में चिन्ह मात्र रह गए। उदाहरणार्थ पहले सूर्य के लिये



बनता था, जो सूर्य का चित्र है। पर, बाद में परिवर्तित होते-होते यह



हो गया। या पहाड़ पहले यों



बनता था, जिसे पहाड़ का चित्र कहा जा सकता है। पर बाद में यह घिसते-घिसते या विकसित होते-होते



हो गया।

चीनी लिपि में कुल लगभग ५०,००० चिन्ह हैं। इन्हें मोटे रूप से चार वर्गों में रक्खा जा सकता है :—

(क) **चित्रात्मक चिह्न**—ये चिन्ह चीनी लिपि के आरंभिक काल के हैं। यों अधिकतर चिन्ह जैसा कि ऊपर समझाया जा चुका है चित्र से विकसित होकर अब चिन्ह मात्र रह गए हैं पर इन चिन्हों में भी इनकी चित्रात्मकता देखी जा सकती है। ईश्वर, कुआँ, मछली, सूर्य, चाँद तथा पेड़ आदि के चिन्ह इसी श्रेणी के हैं।

(ख) **संयुक्त चित्रात्मक चिह्न**—ये चिन्ह पहले की अपेक्षा अधिक विकसित अवस्था के हैं। जब बहुत से चित्रात्मक चिन्ह बन गए तो दो या अधिक चित्रात्मक चिन्हों के संयोग से कुछ चीजों के लिए चिन्ह बने। जैसे दो पेड़ के चिन्ह पास-पास बनाकर 'जंगल' का चिन्ह बना। या एक रेखा खींच कर उसके ऊपर सूर्य बनाकर 'सबेरा' का चिन्ह बनाया गया, जिसमें रेखा क्षितिज का प्रतीक है। इसी प्रकार मुँह से निकलती हवा दिखाकर 'शब्द' तथा मुँह से कोई निकलती चीज दिखलाकर 'जीभ' के चिन्ह बनाए गए। चित्रात्मक चिन्हों की भाँति ही आज ये संयुक्त चित्रात्मक चिन्ह भी चित्र रूप में न रहकर चिन्ह मात्र रह गए हैं।

(ग) **भाव-चिह्न**—स्थूल वस्तुओं और जीवों के लिए चित्र बन जाने पर सूक्ष्म भावों को चीनी लिपि में व्यक्त करने का प्रश्न आया। कहना न होगा कि भावों के चित्र खींचना सरल न होने के कारण यह समस्या बड़ी विकट थी पर चीनी लोगों ने बड़ी चतुराई से काम लिया और सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को भी चित्रों द्वारा प्रकट कर

लिया। कुछ मनोरंजक उदाहरण यहाँ दिए जा सकते है। सूर्य और चाँद के चिन्ह एक स्थान पर बनाकर 'चमक' या 'प्रकाश' का भाव प्रकट किया गया। इसी प्रकार स्त्री + लड़का = अच्छा, भला। खेत + शक्ति-पुरुष। पेड़ के बीच सूरज = पूरब। दो हाथ = मित्रता। दो स्त्रियाँ = झगड़ा। आँख में निकलते आँसू = दुःख। दरवाज़ा + कान = सुनना। मुँह + पक्षी = गाना, तथा छत के नीचे स्त्री = शांति इत्यादि। कहना न होगा कि, ये सभी भाव-चित्र बहुत ही उचित और सफल हैं और चीनियों के सूक्ष्म चिंतन के ज्वलंत उदाहरण हैं।

(घ) **ध्वन्यर्थ संयुक्त चिह्न**—चीनी भाषा में एक शब्द के प्रायः बहुत से अर्थ होते हैं। कहते समय वे अर्थ-भेद के लिए विभिन्न सुरों में शब्दों का उच्चारण करते हैं। इस प्रकार उच्चारण करने में तो सुर के कारण अर्थ स्पष्ट हो जाता है पर कोई लिखित चीज़ पढ़ने में इस अनेकार्थता के कारण पहले बहुत कठिनाई होती थी। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए चीनियों ने ध्वनि के संकेत के लिए लिखने में चिह्नों का दोहरा प्रयोग आरंभ किया। उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जावेगी। एक चीनी शब्द 'फैंग' है जिसका अर्थ 'बुनना' तथा 'कमरा' होता है। अब यदि यों कहीं 'फैंग' लिख दें तो पढ़ने वाला यह न जान पावेगा कि यह 'फैंग' बुनने का अर्थ रखता है या 'कमरे' का और यह न जान पाने से उसको ठीक सुर में या ठीक ध्वनि से उच्चरित न कर पावेगा। पर यदि 'फैंग' के साथ कोई और शब्द लिख दें, या किसी और भाव को प्रकट कर देने वाला चिह्न बना दें, जिससे अर्थ तथा ध्वनि स्पष्ट हो जाय तो यह कठिनाई न रहेगी। चीन में यही किया गया है। जहाँ 'फैंग' का बुनना अर्थ अपेक्षित होता है, उसके साथ 'सिल्क' का भाव प्रकट करने वाला चिह्न बना देते हैं और जहाँ कमरा अर्थ अपेक्षित होता है 'दरवाजे' के भाव का चिह्न बना देते हैं, और चूँकि दरवाजे और कमरे तथा सिल्क और बुनने में संबंध है अतः उन शब्दों के संकेत से पढ़ने वाला ठीक अर्थ समझ कर उनका उच्चारण ठीक सुर में करता है। इसीलिए इन दोहरे प्रयोग को ध्वन्यर्थ संयुक्त चिन्ह कहते हैं। कहना न होगा कि इसके कारण चीनी लिपि को शुद्ध पढ़ना संभव है, नहीं तो बड़ी कठिनाई होती।

दोहरे प्रयोगों में केवल उपर्युक्त उदाहरण में दिए गए संबंधित शब्द ही नहीं रक्खे जाते। इसके लिए तीन अन्य तरीके भी अपनाए जाते हैं। एक के अनुसार कभी-कभी उसी चिन्ह को दो बार रख देते हैं। जैसे 'को' के कई अर्थ हैं, जिनमें एक 'बड़ा भाई' भी है। 'बड़े भाई' के भाव तथा सुर की ओर संकेत करने के लिए 'को' का एक चिन्ह न बनाकर दो चिन्ह बना देते हैं। इस प्रकार एक ही चिन्ह का दोहरा

प्रयोग भी सुर और अर्थ स्पष्ट करने का काम दे जाता है। यह परंपरागत रूप से रूढ़ि सा हो गया है कि दो 'को' साथ होने पर बड़े भाई का ही अर्थ लिया जाय, अतः इससे लोग यही भाव समझ जाते हैं। पहले उदाहरण की भाँति इसमें कोई स्वाभाविक संबंध नहीं है।

दूसरे के अनुसार सुर तथा अर्थ की स्पष्टता के लिए दो पर्याय साथ रखते हैं। हिंदी से इसका उदाहरण लेकर स्पष्टता से इसे समझाया जा सकता है। 'हरि' का अर्थ विष्णु, साँप, पानी तथा मेढक आदि होता है। इसी प्रकार 'क्षीर' का अर्थ 'दूध' तथा 'पानी' आदि होता है। अब यदि 'हरि क्षीर' लिखें तो अर्थ में गड़बड़ी न होगी। दोनों शब्दों के अनेक अर्थों में 'पानी' अर्थ उभयनिष्ठ हैं, अतएव स्वभावतः उसी की ओर लोगों का ध्यान जावेगा। चीनी में इस प्रकार के समानार्थी शब्द-चिन्हों को एक स्थान पर रखकर भी उपर्युक्त कठिनाई का निवारण किया जाता है। कुंग-पा (डरना) शु-मु (पेड़) या काओ-सु (कहना) आदि ऐसे ही चिन्ह हैं।

अंतिम प्रकार के प्रयोग में जो दो शब्द-चिन्ह साथ-साथ रखे जाते हैं, उनमें आपस में कोई इस प्रकार का स्पष्ट करने वाला संबंध नहीं होता। उदाहरणार्थ हु (= चीता) के लिए लाव-हु (वृद्ध चीता) लिखते हैं। इस लाव (वृद्ध) का चीते से कोई संबंध नहीं है, पर प्रयोग की रूढ़ि के कारण इन दोनों चिन्हों को एक स्थान पर देखकर लोग समझ जाते हैं कि यह 'चीते' के लिए आया है।

चीनी लिपि में अलग-अलग अक्षर या वर्ण न होने के कारण विदेशी नामों के लिखने में कठिनाई होती है। इसके लिए ये लोग अधिकतर नामों का चीनी भाषा में अनुवाद करके लिखते हैं। उदाहरणार्थ उन्हें 'केशव चंद्र' लिखना होगा तो वे 'इश्वर' और 'चाँद' के भाव प्रकट करने वाले चिन्ह एक स्थान पर रख देंगे। बुद्ध भगवान के पिता 'शुद्धोदन' का चीनी लिपि में लिखा जो रूप मिलता है उसका मूल अर्थ 'शुद्ध चावल' (शुद्ध + ओदन) है। पर, इसके अतिरिक्त यदि किसी नाम से ध्वनि में मिलता जुलता है उन्हें अपनी भाषा में कोई शब्द मिल जाता है तो उसी के चिन्ह से काम चलाते हैं। बुद्ध की स्त्री 'यशोधरा' का नाम उन्होंने इसी पद्धति से लिखा है। सुना है इधर ध्वनि की इस पद्धति पर ही वे लोग अधिकतर विदेशी नाम तथा शब्द लिखने लगे हैं और अनुवाद करके लिखने का तरीका छोड़ा जा रहा है।

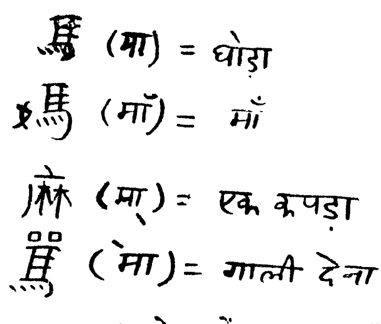
चीनी लिपि दो दृष्टियों से बहुत कठिन है।

एक तो यह कि इसके चिन्ह बहुत टेढ़े-मेढ़े हैं। रेखाओं के भीतर रेखाएँ और

बिंदु आदि इतने घिच-पिच होते हैं कि इन्हें बनाना तथा याद रखना दोनों ही बहुत कठिन है।

दूसरे इसमें लिपि चिह्न बहुत अधिक (४०-५० हज़ार) हैं। इस प्रकार के (कठिन) इतने अधिक चिह्नों को याद रखना कितना कठिन है कहने की आवश्यकता नहीं। चिह्न के कठिन होने की कठिनाई को पार करने के लिए चीनी लोगों ने अपने ५०० बहु-प्रयुक्त चिन्हों का सरल बनाया है और अब उसका प्रयोग ही वहाँ विशेष रूप से चल रहा है। चिन्हों को सरल बनाने के लिए स्ट्रोक या रेखाओं की संख्या घटा दी गई है। उदाहरण के लिए पहले यदि किसी चिन्ह में १६ छोटी-छोटी रेखाएँ थी तो उसके स्थान पर अब ६ या ७ से लोगों ने काम चला लिया है।

इधर चीनी लिपि की तुलना में वर्णात्मक लिपि की उपयोगिता ने भी चीनी लोगों को बहुत आकर्षित किया है और विश्व की सर्वोत्तम वर्णात्मक लिपि 'रोमन' को वे लोग अपनी भाषा की लिपि के लिए अपनाने जा रहे हैं। उनकी भाषा में कुछ ऐसी भी ध्वनियाँ हैं, जिनके लिए रोमन लिपि में चिन्ह नहीं हैं। इसके लिए उन्होंने रोमन लिपि में कुछ नए चिन्ह बढ़ा दिए हैं, जो ल्ह, च्ज़, तथा ङ आदि ध्वनियों के लिए हैं। इस प्रकार की प्रस्तावित रोमन लिपि में, जो चीनी लिपि का स्थान लेना चाहती है, ३० वर्ण हैं, जिनमें २४ व्यंजन और ६ स्वर हैं।



[चीनी लिपि का उदाहरण। कोष्ठक में उच्चारण तथा बाहर हिन्दी में अर्थ दिया गया है।]

अरबी लिपि

अरबी लिपि विश्व की एक बहुप्रचलित लिपियों में है। इसकी उत्पत्ति के संबंध में विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद नहीं है। प्राचीन काल में एक पुरानी सामी लिपि

थी, जिसकी आगे चलकर दो शाखाएँ हो गईं। एक उत्तरी सामी लिपि और दूसरी दक्षिणी सामी लिपि। बाद में उत्तरी सामी लिपि से आर्मेइक तथा फोनीशियन लिपियाँ विकसित हुईं। इनमें आर्मेइक ने विश्व की बहुत सी लिपियों को जन्म दिया, जिनमें हिब्रू, पहलवी तथा नेबातेन आदि प्रधान हैं। नेबातेन से सिनेतिक और सिनेतिक से पुरानी अरबी लिपि का जन्म हुआ। यह जन्म कब और कहाँ हुआ, इस संबंध में निश्चय के साथ कहने के लिए प्रमाणों का अभाव है। अरबी का प्राचीनतम अभिलेख ५१२ ई० का है, अतएव इस आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसके पूर्व अरबी लिपि का जन्म हो चुका था।

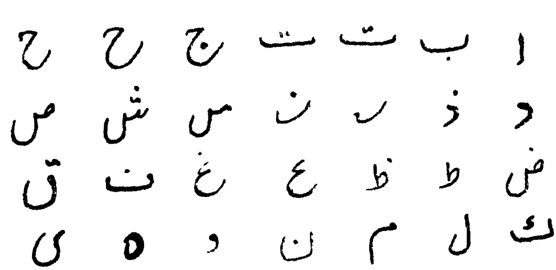
अरबी लिपि का विकास मक्का, मदीना, बसरा, कूफ़ा तथा दमस्कस आदि नगरों में हुआ और इनमें अधिकांश की अपनी-अपनी शैली तथा विशेषताएँ विकसित हो गईं, जिनमें प्रमुख दो थीं—

(क) कुफ़ी (मेसोपोटामिया के कूफ़ा नगर में विकसित)

(ख) नस्ख़ी (मक्का-मदीना में विकसित)

इनमें 'कुफ़ी' का विकास ७ वीं सदी के अंतिम चरण में हुआ। यह कलात्मक लिपि थी और स्थायी मूल्य के अभिलेखों के प्रयोग में तरह-तरह से आती थी। 'नस्ख़ी' का विकास बाद में हुआ और इसका प्रयोग सामान्य कार्यों तथा त्वरा-लेखन आदि में होता था।

अरबी लिपि दाएँ से बाएँ को लिखी जाती है। इसमें कुल २८ अक्षर हैं।



इस लिपि को यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका के कई देशों ने अपना लिया, जिनमें तुर्की,* फ़ारस, अफ़गानिस्तान तथा हिन्दुस्तान प्रधान हैं। इन विभिन्न देशों में जाकर इसलिपि के कुछ चिह्नों तथा अक्षरों की संख्या में परिवर्तन भी आ गये हैं।

* अब तुर्की ने अरबी लिपि को छोड़कर 'रोमन' को अपना लिया है।

उदाहरणार्थ फ़ारसी में 'रे' और 'ज़े' कुछ परिवर्तित ढंग से लिखने लगे तथा उनकी भाषा में अरबी की २८ ध्वनियों के अतिरिक्त प, च, ज़ह तथा ग, ये चार ध्वनियाँ और थीं, अतः इनके लिए ४ नए चिह्न

پ چ ژ گ

अरबी वर्णमाला में सम्मिलित कर लिए गए और इस प्रकार फ़ारसी अक्षरों की संख्या ३२ हो गई।

भारत में उर्दू तथा कश्मीरी आदि के लिए भी अरबी लिपि अपनाई गई। यहाँ, फ़ारस वालों ने जो वृद्धि की थी उसे तो स्वीकार किया ही गया, उसके अतिरिक्त सात चिह्न,

ٹ ڈ ڑ ھ ں ء ے

और बढ़ा लिए गए, इस प्रकार उर्दू आदि भाषाओं की लिपि में अक्षरों की संख्या ३७ हो गई। इन बढ़े अक्षरों में ध्वनि की दृष्टि से केवल तीन ही (टे, डाल, ड़े) नवीन हैं। अन्य चार में (ھ) अक्षर (ہ) का, (ء) अक्षर (ا) का और (ے) अक्षर (ی) का दूसरा रूप मात्र है और (لا) अक्षर (ل) तथा (ا) का योग मात्र है। भारत में 'रे', 'ज़े' आदि की बनावट अरबी की भाँति न होकर प्रायः फ़ारसी की भाँति है। 'काफ़' और 'गाफ़' अक्षर अरबी या फ़ारसी की भाँति के न होकर

ک گ

हैं।

तुर्की, पश्तो तथा मलय आदि भाषा-भाषियों ने भी अरबी में अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तन-परिवर्द्धन कर लिए।

अरबी तथा उससे निकली सभी लिपियाँ पुरानी सामी की भाँति व्यंजन प्रधान हैं। स्वरों के लिए 'ज़ेर', 'ज़बर', 'पेश' तथा 'मद' आदि का सहारा लेकर पूर्ण अंकन का प्रयास किया जाता है, पर वह उतना वैज्ञानिक नहीं है जितना नागरी या रोमन

लिपियों में प्रचार

भारतीय लिपियाँ

सिंधुघाटी की लिपि

भारत में लिखने की कला का ज्ञान लोगों को अत्यंय प्राचीन काल से है। इसके प्राचीनतम नमूने सिंधु घाटी (पंजाब के मांटगोमरी ज़िले के हड़प्पा तथा सिंध के लरकाना ज़िले के मोहन-जो-दड़ो में प्राप्त सीलों पर) में मिले हैं।

हेरास, लैंग्डन, स्मिथ, गैड तथा हंटर ने इसे समझने और पढ़ने का प्रयास किया है पर अभी तक किसी को सफलता नहीं मिल सकी है।

सिंधु घाटी की लिपि की उत्पत्ति

सिंधु घाटी की लिपि की उत्पत्ति के विषय में प्रधानतः तीन मत हैं।

क. द्रविड़ उत्पत्ति—इस मत के समर्थकों में एच० हेरास तथा जान मार्शल प्रधान हैं। इन लोगों के अनुसार सिंधु-घाटी की सभ्यता द्रविड़ों की थी और वे ही लोग इस लिपि के जनक तथा विकास करने वाले थे। इस मत के समर्थकों के तर्क पुरातत्त्व-वेत्ताओं को इतने सशक्त नहीं लगे हैं, कि उन्हें स्वीकार किया जा सके।

ख. सुमेरी उत्पत्ति—एल० ए० वैडेल तथा डॉ० प्राणनाथ के अनुसार सिंधु घाटी की लिपि सुमेरी लिपि से निकली है। वैडेल के अनुसार सिंधु की घाटी में ४००० ई० पू० सुमेरी लोग थे और उन्हीं की भाषा तथा लिपि वहाँ प्रचलित थी। जैसा कि डॉ० राजबली पांडेय ने लिखा है प्राचीन भारतीय, मध्य एशिया, क्रीट तथा इजिप्ट की पुरानी लिपियाँ चित्र-लिपि थीं और व्यापारिक संबंधों के कारण उनमें कुछ साम्य भी है, पर आज इतने दिन बाद यह कहना कठिन है कि इस प्रकार की लिपि के मूल निर्माता कौन थे और किन लोगों ने मूल निर्माताओं से इसे सीखा।

ग. आर्य या असुर उत्पत्ति—कुछ लोगों के अनुसार सिंधु की घाटी में आर्य या असुर (जो जाति तथा संस्कृति में आर्यों से संबद्ध थे) रहते थे और इन्हीं लोगों ने इस लिपि का निर्माण किया*। इन लोगों के अनुसार प्राचीन एलामाइट, सुमेरी तथा मिस्री लिपियों से, इस लिपि का साम्य इस कारण है कि इन तीनों ही देशों में लिपि भारत से ही गई है।*

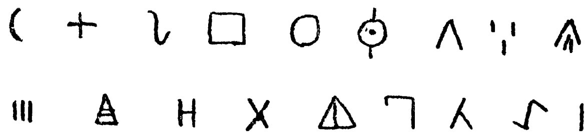
ये तीनों ही मत अपने समर्थकों को ही मान्य हैं। वस्तुस्थिति यह है कि आधार-सूत्र की कमी के कारण इस लिपि की उत्पत्ति या उत्पत्तिस्थान के संबंध में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता।

रेक सिविलाइज़ेशन ऑव् इंडस वैली, पृ० ४६।

सिंधु घाटी की लिपि में कुछ चिन्ह तो चित्र जैसे हैं—



और कुछ अक्षर जैसे—



विद्वानों का कहना है कि यह लिपि यदि शुद्ध भावमूलक होती तो इतने थोड़े चिन्हों से काम नहीं चलता जितने कि वहाँ मिले हैं। इसी आधार पर लोगों ने अनुमान लगाया है कि यह भावमूलकता और अक्षरात्मकता के संधिस्थल पर खड़ी है। अर्थात् यहाँ कुछ चिन्ह चित्रमूलक हैं और कुछ अक्षर से हैं। डिरिंजर ने इसी आधार पर इसे 'ट्रांज़िशनल स्क्रिप्ट', (भाव-ध्वनि-मूलक लिपि) कहा है।

सिंधु घाटी की लिपि में कुल कितने चिन्ह हैं, इस संबंध में भी विद्वानों में मतभेद है। इसका कारण यह है कि वर्गीकरण में कुछ लोग तो कई चिन्हों को एक चिन्ह का ही लेखन के कारण परिवर्तित रूप मानते हैं और कुछ लोग उन्हें अलग चिन्ह मानते हैं। इस संबंध में तीन विद्वानों के मत प्रधान हैं। हंटर के अनुसार चिन्हों की संख्या २५३, लैंग्डन के अनुसार २२८ तथा गैड और स्मिथ के अनुसार ३९६ है।

भारत मे लिपि ज्ञान की प्राचीनता

सिंधु की घाटी की लिपि के प्रकाश में आने के पूर्व विदेशी विद्वानों का यह मत रहा है कि भारत में लिखने का प्रचार बहुत बाद में हुआ है।

मैक्समूलर ने पाणिनि का काल ४थी शताब्दी ई० पू० माना है और उनके अनुसार, पाणिनि के अष्टाध्यायी में लिपि के संबंध में कोई सकेत नहीं है। इस प्रकार मैक्समूलर के अनुसार ४थी शताब्दी ई० पू० के बाद भारत में लिपि का प्रचार हुआ।

बर्नेल के अनुसार भारतवासियों ने ४थी या ५वीं शताब्दी ई० पू० फ़ोनिशियन लोगों से लिखने की कला सीखी।

डॉ० बूलर ने उपर्युक्त दोनों मतों को अस्वीकार करते हुए अपना मत सामने रखा

है। इनके अनुसार ५०० ई० पू० या इसके भी पहले भारतीयों ने सेमिटिक लिपि के आधार ब्राह्मी लिपि का निर्माण किया।

इधर भारत में लिपि या लेखन-ज्ञान की प्राचीनता* के विषय में पर्याप्त सामग्री प्रकाश में आई है। यहाँ इनमें से कुछ प्रधान का संक्षिप्त परिचय दिया जा है।

भारत में लेखन-ज्ञान की प्राचीनता पर प्रकाश डालने वाली सामग्री अधोलिखित वर्गों में रक्खी जा सकती है —

१. ग्रंथों के प्रमाण
   क. विदेशी
   ख. देशी
२. शिलालेख आदि
३. अन्य

१. ग्रंथों के प्रमाण

क. विदेशी

बहुत से विदेशी ग्रंथों में भारत में लिपिज्ञान की प्राचीनता के संबंध में प्रमाण मिलते हैं, जिनमें प्रमुख निम्नांकित हैं :

(अ) एरिअन् ने अपनी पुस्तक 'इंडिका' में सिकंदर के सेनापति निआर्कस (३२६ ई० पू०) द्वारा लिखित भारत के वृत्तांत को संक्षेप में दिया है। उससे स्पष्ट है कि यहाँ लिखने के लिए कागज़ बनाया जाता था।

(आ) मेगस्थनीज (३०५ ई० पू०) ने अपने 'इंडिका' में भारत में सड़कों पर मील के पत्थरों के गड़े होने का उल्लेख किया है। उसने जन्मकुंडली का भी उल्लेख किया है।

(इ) चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारत में लिपिज्ञान अत्यंत प्राचीन काल में होने का उल्लेख किया है।

(ई) प्रसिद्ध चीनी विश्वकोष 'फा-वान-शु-लिन' में ब्राह्मी लिपि का उल्लेख है। उसके अनुसार इस लिपि का ब्रह्मा ने आविष्कार किया था।

ख. देशी

(अ) बौद्ध ग्रंथ सुत्तंत (सूत्रांत)में, जो राइस डेविड्ज़ के अनुसार ४५० ई०

सिंधु घाटी की लिपि को छोड़कर।

पू० के आस-पास का पर डॉ० राजबली पाण्डेय के अनुसार छठीं सदी ई० पू० से भी पूर्व का है, 'अक्खरिका' खेल का उल्लेख है, जिसमें आकाश में या पीठ पर अक्षर लिखे जाते थे।

(आ) विनय पिटक (ओल्डन बर्ग के अनुसार ४०० ई० पू० के भी पूर्व) में लेखन-कला की प्रशंसा की गई है।

(इ) जातकों में अनेक नियमों को सुवर्ण पत्रों पर खुदवाने, व्यक्तिगत तथा सरकारी पत्र लिखने एवं ऋण लेने पर ऋणपर्ण लिखे जाने के रूप में लेखन-कला के उल्लेख हैं। ओझा जी के अनुसार जातकों में ई० पू० छठी सदी या उससे भी पूर्व के समाज का चित्र है।

(ई) रामायण, महाभारत (४०० ई० पू०), अर्थशास्त्र (४थी सदी ई० पू०) तथा अष्टाध्यायी (गोल्डस्टकर के अनुसार बुद्ध के पूर्व, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार ४४०-४३० ई० पू०) आदि में भी लिपि विषयक पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। पीछे मैक्समूलर के अनुसार पाणिनि में लेखन के विषय में प्रमाण न मिलने का उल्लेख किया जा चुका है, पर वह नितांत भ्रामक है। अष्टाध्यायी में लिपि, लिबि, लिपिकर, लिबिकर, ग्रंथ तथा यवनानी आदि के उल्लेख लिपिज्ञान की निश्चितता स्पष्ट कर देते हैं। इस संबंध में डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल का प्रसिद्ध ग्रंथ 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' (पृ० ३०६-७) पठनीय है।

लिपि तथा लेखन विषयक कुछ प्रमाण और भी पहले के मिलते हैं। छांदोग्य उपनिषद् में 'हिंकार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इतित्र्यक्षरं तत्समम्' में स्पष्ट रूप से अक्षर का उल्लेख है। तैत्तिरीय में 'वर्णः स्वरः मात्रा बलम्' में वर्ण, स्वर तथा मात्रा का मिलना भी उसी ओर संकेत करता है। इसी प्रकार यजुर्वेद की वाजसनेयी, संहिता, तैत्तिरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण तथा पंचविंश ब्राह्मण आदि में भी प्रमाण हैं। पर, इतना ही नहीं, प्राचीनतम वेद ऋग्वेद में भी इस प्रकार के संकेत हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि उस समय भी आर्यों को लेखन-ज्ञान था। 'सहस्रम् मे ददतो अष्टकर्ण्यः' से स्पष्ट है कि गायों के कान पर ८ की संख्या लिखी जाती थी।

२. शिलालेख

भारत में लेखन-कला प्राचीन होने पर भी पुराने लेख आदि नहीं मिलते। इसका कारण यह है कि लोग पत्ते, कागज़ तथा भोजपत्र आदि पर लिखा करते थे और ये वस्तुएँ सड़-गल गईं। पुराने लेख केवल पत्थरों पर कुछ मिले हैं। प्राचीनतम शिला-

लेख अजमेर जिले के 'बडली' गाँव तथा नेपाल के 'पिपरावा' में मिले हैं। विद्वानों का अनुमान है कि ये लेख ४८३ ई० पू० के लगभग के हैं। आगे चलकर ४थी सदी ई० पू० के कुछ लेख तथा ३री सदी ई० पू० के खरोष्ठी तथा ब्राह्मी लिपि में अशोक के शिलालेख मिलते हैं।

३. अन्य

कुछ पुराने सिक्कों तथा ब्रह्मा और सरस्वती की मूर्तियों (जिनके हाथ में पुस्तक बनी है) से भी भारत में लेखन-कला के प्राचीन काल से प्रचलित होने के प्रमाण मिलते हैं।

भारत की प्राचीन लिपियाँ

सिंधु-घाटी की लिपि को थोड़ी देर के लिए छोड़ दिया जाय तो भारत के पुराने शिलालेखों और सिक्कों पर दो लिपियाँ

१. ब्राह्मी
२. खरोष्ठी

मिलती हैं। पर पुस्तकों में और अधिक लिपियों के नाम मिलते हैं। जैनों के पन्नवणासूत्र में १८ लिपियों—

१. बंभी, २. जवणालि, ३. दोसापुरिया, ४. खरोट्टी, ५. पुक्खरसारिया, ६. भोगवइया, ७. पहाराइया, ८. उपअंतरिक्खिया, ९. अक्खरपिट्ठिया, १०. तेवणइया, ११. गि [णि] राहइया, १२. अंकलिवि, १३. गणितलिवि, १४. गंधव्वलिवि, १५. आदंसलिवि, १६. माहेसरी, १७. दामिलनी, १८. पोलिंदी

तथा बौद्धों की संस्कृत पुस्तक 'ललित विस्तर' में ६४ लिपियों—

१. ब्राह्मी, २. खरोष्ठी, ३. पुष्करसारी, ४. अंगलिपि, ५. वंगलिपि, ६. मगधलिपि ७. माँगल्यलिपि, ८. मनुष्यलिपि, ९. अंगुलीयलिपि, १०. शकारिलिपि, ११. ब्रह्मवल्ली- लिपि, १२. द्राविड़लिपि, १३. कनारिलिपि, १४. दक्षिणलिपि, १५. उग्रलिपि, १६. संख्यालिपि, १७. अनुलोमलिपि, १८. ऊर्ध्वधनुर्लिपि, १९. दरदलिपि, २०. खास्यलिपि, २१. चीनलिपि, २२. हूणलिपि, २३. मध्याक्षरविस्तरलिपि, २४. पुष्पलिपि, २५. देवलिपि, २६. नागलिपि, २७. यक्षलिपि, २८. गन्धर्वलिपि, २९. किन्नरलिपि, ३०. महोरगलिपि, ३१. असुरलिपि, ३२. गरुडलिपि, ३३. मृगचक्रलिपि, ३४. चक्रलिपि, ३५. वायुमरुलिपि, ३६. भौमदेवलिपि, ३७. अंतरिक्षदेवलिपि, ३८.

उत्तरकुरुद्वीपलिपि, ३६. अपरगौडादिलिपि, ४०. पुर्वविदेहलिपि, ४१. उत्क्षेपलिपि, ४२. निक्षेपलिपि, ४३. विक्षेपलिपि, ४४. प्रक्षेपलिपि, ४५. सागरलिपि, ४६. वज्र-लिपि, ४७. लेखप्रतिलेखलिपि, ४८. अनद्रतलिपि, ४६. शास्त्रावर्तलिपि, ५०. गणावर्त-लिपि, ५१. उत्क्षेपावर्तलिपि, ५२. विक्षेपावर्तलिपि, ५३. पादलिखितलिपि, ५४. द्विरुत्तरपदसन्धिलिखित लिपि, ५५. दशोत्तरपदसन्धिलिखित लिपि, ५६. अध्याहारिणी लिपि, ५७. सर्वरुत्संग्रहणीलिपि, ५८. विद्यानुलोमलिपि ५६. विमिश्रितलिपि, ६०. ऋषितपस्तप्तलिपि, ६१. धरणीप्रेक्षणोलिपि, ६२. सर्वैषधनिष्यनन्दलिपि, ६३. सर्व-सारसंग्रहणीलिपि, ६४. सर्वभूतरुद् ग्रहणीलिपि

के नाम मिलते हैं।

इनमें ब्राह्मी और खरोष्ठी, इन दो का ही आज पता है। ओझा जी के अनुसार इनमें अधिकतर नाम कल्पित हैं।

खरोष्ठी

खरोष्ठी लिपि के प्राचीनतम लेख शहबाज़गढ़ी और मनसेरा में मिले हैं। आगे चलकर बहुत से विदेशी राजाओं के सिक्कों तथा शिलालेखों आदि में यह लिपि प्रयुक्त हुई है। इसकी प्राप्त सामग्री मोटे रूप से ४ थी सदी ई० पू० से ३ री सदी ई० तक मिलती है। इसके इंडोबैक्ट्रियन, बैक्ट्रियन, काबुलियन, बैक्ट्रो-पालि तथा आर्यन आदि और भी कई नाम मिलते हैं, पर अधिक प्रचलित नाम 'खरोष्ठी' ही है, जो चीनी साहित्य में ७वीं सदी तक मिलता है।

नाम पड़ने के कारण

'खरोष्ठी' नाम पड़ने के संबंध में ६ बातें कही जाती हैं—

(१) चीनी विश्वकोष फ़ा-वान-शु-लिन के अनुसार किसी 'खरोष्ठ' नामक व्यक्ति ने इसे बनाया था।

(२) यह 'खरोष्ठ' नामक सीमाप्रान्त के अर्ध सभ्य लोगों में प्रचलित होने के कारण इस नाम की अधिकारिणी बनी।

(३) इस लिपि का केन्द्र कभी मध्य एशिया का एक प्रान्त 'काशगर' था और 'खरोष्ठ' काशगर का संस्कृत रूप है।

(४) सिलवाँ लेवी के अनुसार खरोष्ठ काशगर के चीनी नाम 'किया-लु-शु-ता-ले' का विकसित रूप है और काशगर इस लिपि का केन्द्र रहा है।

(५) गदहे की खाल पर लिखी जाने से इसे इरानी में 'खरपोस्त' कहते थे और उसी का अपभ्रंश रूप 'खरोष्ठ' है।

(६) डॉ० प्रज़िलुस्की के अनुसार यह गदहे की खाल पर लिखी जाने से खरपृष्ठी और फिर खरोष्ठी कहलाई।

(७) कोई आर्मेइक शब्द 'खरोट्ठ' था और उसी का भ्रामकव्युत्पत्ति के आधार पर बना संस्कृत रूप 'खरोष्ठ' है।

(८) डा० राजबली पांडेय के अनुसार इस लिपि के अधिक अक्षर गदहे के ओठ की तरह बेढंगे हैं, अतएव यह नाम पड़ा है।

(९) डॉ० चटर्जी के अनुसार हिब्रू में खरोशेथ (Kharosheth) का अर्थ 'लिखावट' है। उसी से लिया जाने के कारण इसका नाम खरोशेथ पड़ा, जिसका संस्कृत रूप खरोष्ठ और उससे बना शब्द खरोष्ठी है।

इन नवों में कोई भी बहुत पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है, अतएव इस संबंध में पूर्ण निश्चय के साथ कुछ कहना कठिन है। यों अधिक विद्वान् इस लिपि की उत्पत्ति जैसा कि आगे हम लोग देखेंगे आर्मेइक लिपि से मानते हैं, अतएव आर्मेइक शब्द 'खरोट्ठ' से इसके नाम को संबद्ध माना जा सकता है।

खरोष्ठी लिपि की उत्पत्ति के संबंध में सभी लोग एक मत नहीं हैं। इस संबंध में प्रमुख रूप से दो मत हैं।

१. यह आर्मेइक लिपि से निकली है।

२. यह शुद्ध भारतीय लिपि है।

प्रथम मत का संबंध प्रसिद्ध लिपिवेत्ता जी० बूलर से है। इनका कहना है कि—

(१) खरोष्ठी लिपि आर्मेइक लिपि की भाँति दाएँ से बाएँ को लिखी जाती है।

(२) खरोष्ठी लिपि के ११ अक्षर बनावट की दृष्टि से आर्मेइक लिपि के ११ अक्षरों से बहुत मिलते-जुलते हैं। साथ ही इन ११ अक्षरों की ध्वनि भी दोनों लिपियों में एक है। यथा—

खरोष्ठी			आर्मेइक
क	...	...	काफ़्
ज	...	...	ज़ाइन्
द	...	...	दालेथ्

न	...	...	नून
ब	...	...	बेथ्
य	...	...	योध्
र	...	...	रेश्
व	...	...	वाव्
ष	...	...	शिन्
स	...	...	त्साधे
ह	...	...	हे

(३) आर्मेइक लिपि खरोष्ठी से पुरानी है।

(४) तक्षशिला में आर्मेइक लिपि में प्राप्त शिलालेख से यह स्पष्ट है कि भारत से आर्मेइक लोगों का संबंध था।

इन चारों बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि खरोष्ठी लिपि आर्मेइक से ही निकली है।

भारतीय लिपियों के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० गौरी शंकर हीराचंद ओझा भी इस मत से सहमत हैं। आधुनिक युग के लिपि-शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् और अध्येता डिरिंजर ने भी इसी मत को स्वीकार किया है।

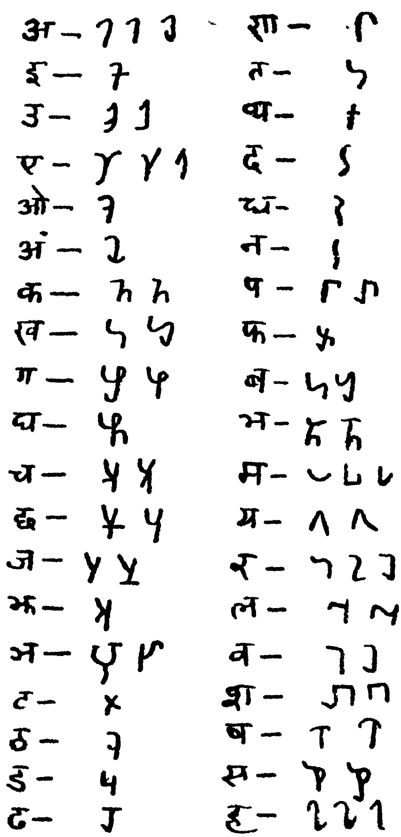
दूसरा मत खरोष्ठी को शुद्ध भारतीय मानने का है। डॉ० राजबली पांडेय ने अपनी पुस्तक 'इंडियन पैलोग्राफी' में इस मत का प्रतिपादन किया है। यह मत केवल तर्क पर आधारित है। पूर्व मत की भाँति ठोस आधारों की इसमें कमी है, अतः जब तक इस मत के पक्ष में कुछ ठोस सामग्री उपलब्ध न हो जाय, पूर्व मत की तुलना में इसे मान्यता नहीं प्राप्त हो सकती।

खरोष्ठी लिपि उर्दू लिपि की भाँति पहले दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी, पर बाद में संभवतः ब्राह्मी लिपि के प्रभाव के कारण यह भी नागरी आदि लिपियों की भाँति बाएँ से दाएँ को लिखी जाने लगी।

डिरिंजर तथा अन्य विद्वानों का अनुमान है कि इस दिशा-परिवर्तन के अतिरिक्त कुछ और बातों में भी ब्राह्मी लिपि ने इसे प्रभावित किया। इसमें मूलतः स्वरों का अभाव था। वृत्त, रेखा या इसी प्रकार के अन्य चिह्नों द्वारा ह्रस्व स्वरों का अंकन इसमें ब्राह्मी का ही प्रभाव है। इसी प्रकार भ, घ तथा ध आदि के चिह्न आर्मेइक में नहीं थे। यह भी ब्राह्मी के ही आधार पर इसमें सम्मिलित किए गए।

खरोष्ठी लिपि को बहुत वैज्ञानिक या पूर्ण लिपि नहीं कहा जा सकता। यह एक काम-चलाऊ लिपि थी और आज की उर्दू लिपि की भाँति इसे भी लोगों को प्रायः अनुमान के आधार पर पढ़ना पड़ता रहा होगा। मात्राओं के प्रयोग की इसमें कमी है, विशेषतः दीर्घ स्वरों (आ, ई, ऊ, ऐ और औ) का तो इसमें सर्वथा अभाव है। संयुक्त व्यंजन भी इसमें प्रायः नहीं के बराबर या बहुत थोड़े हैं। इसकी वर्णमाला में अक्षरों की मूल संख्या ३७ है।

खरोष्ठी लिपि के अक्षर यहाँ दिए जा रहे हैं।



[पहचान के लिए आरंभ में नागरी अक्षर देकर उनके सामने उसी ध्वनि के खरोष्ठी अक्षर दिए गए हैं।]

ब्राह्मी

ब्राह्मी प्राचीनकाल में भारत की सर्वश्रेष्ठ लिपि रही है। इसके प्राचीनतम नमूने बस्ती ज़िले में प्राप्त पिप्रावा के स्तूप में तथा अजमेर ज़िले के बडली या बर्ली गाँव के शिलालेख में मिले हैं। इनका समय ओझा जी ने ५वीं सदी ई० पू० माना है। उस समय से लेकर ३५० ई० तक इस लिपि का प्रयोग मिलता है।

ब्राह्मी नाम का आधार

इस लिपि के 'ब्राह्मी' नाम पड़ने के संबंध में कई मत हैं—

(१) इस लिपि का प्रयोग इतने प्राचीनकाल से होता आ रहा है कि लोगों को इसके निर्माता के बारे में कुछ ज्ञात नहीं है और धार्मिक भावना से विश्व की अन्य चीज़ों की भाँति 'ब्रह्मा' या 'ब्रह्म' को इसका भी निर्माता मानते रहे हैं और इसी आधार पर इसे ब्राह्मी कहा गया है।

(२) चीनी विश्वकोष 'फ़ा-वान-शु-लिन' (६६८ ई०) में इसके निर्माता कोई ब्रह्म या ब्रह्मा (Fan) नाम के आचार्य लिखे गए हैं, अतएव उनके नाम के आधार पर इसका नाम ब्राह्मी पड़ना संभव है।

(३) डॉ० राजबली पांडेय के अनुसार भारतीय आर्यों ने ब्रह्म (= वेद*) की रक्षा के लिए इसको बनाया। इस आधार पर भी इसके ब्राह्मी नाम पड़ने की संभावना हो सकती है।

(४) कुछ लोग साक्षर समाज ब्राह्मणों के प्रयोग में विशेष रूप से होने के कारण भी इसके ब्राह्मी नाम से पुकारे जाने का अनुमान लगाते हैं।

'खरोष्ठी' की भाँति ही ब्राह्मी के विषय में भी व्यक्त ये मत केवल अनुमान पर ही आधारित हैं। ऐसी स्थिति में इनमें किसी को भी सनिश्चय स्वीकार नहीं किया जा सकता। यों पहला मत अन्य की अपेक्षा अधिक तर्क-सम्मत लगता है।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के प्रश्न को लेकर विद्वानों में बहुत विवाद होता आया है। इस विषय में व्यक्त किए गए विभिन्न मत दो प्रकार के हैं। एक के अनुसार ब्राह्मी किसी विदेशी लिपि से संबंध रखती है और दूसरे के अनुसार इसका उद्भव

---

* ज्ञान।

और विकास भारत में हुआ है। यहाँ दोनों प्रकार के मतों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

(क) ब्राह्मी किसी विदेशी लिपि से निकली है

इस संबंध में विभिन्न विद्वानों ने अपने अलग-अलग विचार व्यक्त किए हैं, जिनमें प्रमुख निम्नांकित हैं—

(१) फ्रेंच विद्वान् कुपेरी का विश्वास है कि ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति चीनी लिपि से हुई है।

यह मत सब से अधिक अवैज्ञानिक है। चीनी और ब्राह्मी के चिह्न आपस में सभी बातों में एक दूसरे से इतने दूर हैं कि किसी एक से दूसरे को संबंधित मानने की कल्पना ही हास्यास्पद है। इस मत की व्यर्थता के कारण ही प्रायः विद्वानों ने इस विषय पर विचार करते समय इसका उल्लेख तक नहीं किया है।

(२) डॉ० अल्फ्रेड मूलर, जेम्स प्रिंसेप तथा सेनार्ट आदि ने यूनानी लिपि से ब्राह्मी को उत्पन्न माना है। सेनार्ट का कहना है कि सिकंदर के आक्रमण के समय भारतीयों से यूनानियों का संपर्क हुआ और उसी समय इन लोगों ने यूनानियों से लिखने की कला सीखी। पर, जैसा कि बूलर तथा डिरिंजर आदि ने लिखा है, सिकंदर के आक्रमण (३२५ ई० पू०) के बहुत पहले से यहाँ लेखन का प्रचार था,* अतएव यूनानी लिपि से इसका संबंध नहीं जोड़ा जा सकता।

(३) हलवे के अनुसार ब्राह्मी एक मिश्रित लिपि है, जिसके ८ व्यञ्जन ४थी सदी ई० पू० आर्मेइक लिपि से, ६ व्यञ्जन, दो प्राथमिक स्वर, सब मध्यवर्ती स्वर और अनुस्वार खरोष्ठी से तथा ५ व्यञ्जन एवं तीन प्राथमिक स्वर प्रत्यक्ष या गौण रूप से यूनानी से लिए गए हैं और यह मिश्रण सिकंदर के आक्रमण (३२५ ई० पू०) के बाद हुआ है। कहना न होगा कि ४थी सदी ई० पू० से एवं सिकंदर के आक्रमण से पूर्व ब्राह्मी लिपि का प्रयोग होता था, अतएव यह मत भी अल्फ्रेड मूलर के मत की भाँति ही निस्सार है।

(४) ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति सामी (सेमिटिक) लिपि से मानने के पक्ष में अधिक विद्वान हैं, पर ये सभी इस दृष्टि से पूर्णतः एक मत नहीं रखते। यहाँ कुछ प्रधान मत दिए जा रहे हैं।

---

* पीछे भारत में लेखन की प्राचीनता पर विचार किया जा चुका है।

(अ) वेबर, कस्ट, बेनफे तथा जेनसन आदि विद्वान सामी लिपि की फोनीशियन शाखा से ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति मानते हैं। इस मत का मुख्य आधार है कुछ ब्राह्मी और कुछ फोनीशियन लिपि-चिह्नों का रूप-साम्य।

इसे स्वीकार करने में दो आपत्तियाँ हैं :

(१) जैसा कि डिरिंजर ने अपनी पुस्तक 'द अलफ़ाबेट' में दिखलाया है, जिस-काल में इस प्रकार के प्रभाव की संभावना हो सकती है, भारत तथा फोनीशियन लोगों के प्रत्यक्ष संपर्क के कोई निश्चित और प्रौढ़ प्रमाण नहीं मिलते।*

(२) फोनीशियन लिपि से ब्राह्मी की समानता स्पष्ट नहीं है। इसके लिए सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि यह समानता यदि स्पष्ट होती तो इस संबंध में इस विषय के चोटी के विद्वानों में इतना मतभेद न होता। इस प्रसंग में गौरी शंकर हीराचंद ओझा का मत ही समीचीन ज्ञात होता है कि दोनों में केवल एक अक्षर (ब्राह्मी 'ज' और फ़ोनीशियन 'गिमेल') का ही साम्य है। कहना अनुचित न होगा कि एक अक्षर के साम्य के आधार पर इसने बड़े निर्णय को आधारित करना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

(आ) टेलर तथा सेथ आदि के अनुसार ब्राह्मी लिपि दक्षिणी सामी लिपि से निकली है। डॉ० आर० एन्० साहा ने इसे अरबी से संबंध माना है। पर सत्य यह है कि इन लिपियों में समानता नहीं के बराबर है और ऐसी स्थिति में केवल इस आधार पर कि अरब से भारत का पुराना संपर्क था† यह मान लेना न्याय-संगत नहीं लगता कि ब्राह्मी अरबी या दक्षिणी सामी लिपि से निकली है।

---

* डॉ० राजबली पांडेय का कहना है कि ऋग्वेद में (६-५१, १४; ६१, १) इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि फोनीशी लोग मूलतः भारतीय थे और ब्राह्मी तथा फोनीशी लिपि में जो थोड़ा-बहुत साम्य है, वह इसलिए नहीं है कि ब्राह्मी फोनीशियन से निकली है, अपितु इसलिए है कि ब्राह्मी को ही वे अपने साथ ले गए और उसी का विकसित रूप फोनीशी है। पांडेयजी की इस स्थापना के संबंध में विद्वानों का क्या विचार है मुझे ज्ञात नहीं है। पर, इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि फोनीशी तथा ब्राह्मी लिपि के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने यह निष्कर्ष निकाला है कि दोनों लिपियों में केवल एक ही अक्षर में समता मिलती है और केवल एक अक्षर की समता के आधार पर दो लिपियों को संबद्ध या एक दूसरे से निकली मानना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

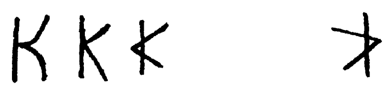
† और यह भी संबंध इतना अधिक पुराना 'नहीं' मिलता जिसके आधार पर यह

डीके के अनुसार असीरिया के कीलाक्षरों (क्यूनीफार्म) से किसी दक्षिणी सामी लिपि की उत्पत्ति हुई थी और फिर उससे ब्राह्मी की। इस संबंध में गौरीशंकर हीराचंद ओझा का मत पूर्णतः न्यायोचित लगता है कि रूप की विभिन्नता के कारण कीलाक्षरों मे न तो किसी सामी लिपि के निकलने की संभावना है और न तो सामी से ब्राह्मी की।

(इ) कुछ लोग उत्तरी सामी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति मानते हैं। इस मत के समर्थकों में प्रधान नाम बूलर का लिया जाता है। यों वेबर, बेनफी, पाट, वेस्टरगार्ड, ह्विटने तथा विलियम जोन्स आदि अन्य लोगों के भी इनसे बहुत भिन्न मत नहीं हैं।

बूलर का कहना है कि हिंदुओं ने उत्तरी सामी लिपि के अनुकरण पर कुछ परिवर्तन के साथ अपने अक्षरों को बनाया।

परिवर्तन से उसका आशय यह है कि कहीं लकीर को कुछ इधर-उधर हटा दिया जैसे 'अलेफ' से 'अ' करने में—



जहाँ लकीर न थी वहाँ नई लकीर बनादी, जैसे ज़ाइन से 'ज' बनाने में, कहीं कहीं लकीरें मिटा दीं जैसे 'हेथ' से 'घ' करने में—



और इसी प्रकार कहीं नीचे लटकती लकीर ऊपर घुमा दी, कहीं तिरछी लकीर सीधी कर दी, कहीं आड़ी लकीर खड़ी कर दी, कहीं त्रिकोण को धनुषाकार बना दिया और कहीं कोण को अर्द्धवृत्त या कहीं लकीर को काटकर छोटी या बड़ी कर दी तो कहीं और कुछ। आशय यह कि जहाँ जो परिवर्तन चाहा कर लिया।

यहाँ दो बातें कहनी हैं :

(१) इतना करने पर भी बूलर को ७ अक्षरों [दालेथ (द) से 'ध', हेथ

कहा जा सके कि ब्राह्मी जो अशोक के समय में इतनी विकसित है अपने मूलरूप में इससे निकली है।

(ह) से 'घ', तेथ (त) से 'थ', सामेख (स) से 'ष', फ़े (फ़) से 'प', त्साधे से 'च' तथा क़ाफ़ (क़) से 'ख'] की उत्पत्ति ऐसे अक्षरों से माननी पड़ी जो उच्चारण में भिन्न हैं।

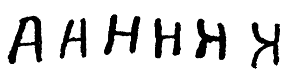
(२) बूलर ने जिस प्रकार के परिवर्तनों के आधार पर 'अलेफ' से 'अ' या इसी प्रकार अन्य अक्षरों की उत्पत्ति सिद्ध की है, यदि कोई चाहे तो संसार की किसी भी लिपि को किसी अन्य लिपि से निकली सिद्ध कर सकता है। उदाहरण के लिए 'क' अक्षर से यदि अँग्रेजी K को निकला सिद्ध करना चाहें तो कह सकते हैं कि बनाने वाले ने क के बाईं ओर के गोले को हटाकर ऊपर की शिरोरेखा तिरछी कर दी और K बन गया या इसी प्रकार ब्राह्मी के अ—



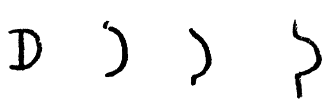
का मुँह फेर कर सीधी रेखा को जरा हटा दिया और उत्तरी सामी का अलेफ—



बन गया। इसी तरह जैसा कि ओझा जी ने लिखा है अंग्रेजी A से ब्राह्मी अ—



या D से ब्राह्मी द



का निकलना सिद्ध किया जा सकता है।

बूलर ने इस द्रविण-प्राणायाम के आधार पर यह सिद्ध किया कि ब्राह्मी के २२ अक्षर उत्तरी सामी से, कुछ प्राचीन फोनीशीय लिपि से, कुछ मेसा के शिलालेख से तथा ५ असीरिया के बाटों पर लिखित अक्षरों से लिए गये।

इधर डॉ० डेविड डिरिंजर ने भी अपनी 'द अलफाबेट' नामक पुस्तक में बूलर का समर्थन करते हुए ब्राह्मी को उत्तरी सामी लिपि से उत्पन्न माना है।

उत्तरी सामी से ब्राह्मी के उत्पन्न होने के लिए प्रधान तर्क ये दिये जाते हैं—

(१) दोनों लिपियों में साम्य है।

(२) भारत में सिंधु घाटी में जो प्राचीन लिपि मिली है वह चित्रात्मक या भाव-ध्वनिमूलक लिपि है और उससे वर्णात्मक या अक्षरात्मक लिपि नहीं निकल सकती।

(३) ब्राह्मी प्राचीन काल में सामी की भाँति ही दायें से बाएँ को लिखी जाती थी।

(४) भारत में ५ वीं सदी ई० पू० के पहले के लिपि के नमूने नहीं मिलते।

यहाँ एक-एक करके इन तर्कों पर विचार किया जा रहा है।

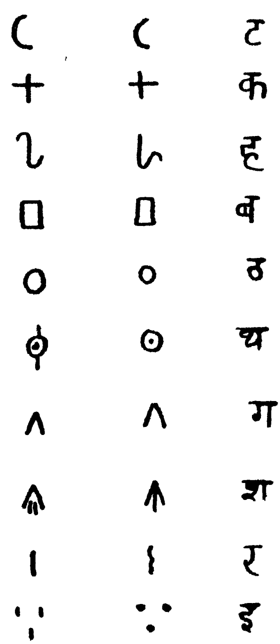
(१) दोनों लिपियों में प्रत्यक्ष साम्य बहुत ही कम है। ऊपर हम लोग देख चुके हैं कि किस प्रकार तरह-तरह के परिवर्तनों तथा द्रविण-प्राणायाम के आधार पर बूलर ने दोनों लिपियों के अक्षरों में साम्य स्थापित किया है। साथ ही हम लोग यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि इस प्रकार यदि साम्य सिद्ध करने पर कोई तुल ही जाय तो संसार की किसी भी दो लिपि में थोड़ा-बहुत साम्य सिद्ध किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह आरोपित साम्य दोनों में सम्बन्ध सिद्ध करने के लिए पूर्णतया अपर्याप्त है।

(२) जहाँ तक दूसरे तर्क का प्रश्न है, दो बातें कही जा सकती हैं। एक तो यह कि यह कहना पूर्णतया भ्रामक है कि चित्रात्मक लिपि या चित्र-भाव-मूलक लिपि या भाव-ध्वनि-मूलक लिपि से वर्णात्मक लिपि का विकास नहीं होता। प्राचीन काल में संसार की सभी लिपियाँ चित्रात्मक थीं और उनसे ही वर्णात्मक लिपियों का विकास हुआ।* दूसरे यह कि सिंधु घाटी की लिपि पूर्णतया चित्र-लिपि नहीं है। पीछे हम देख चुके हैं कि उसमें कुछ तो चित्र हैं पर साथ ही कुछ ऐसे भी चिह्न हैं जिन्हें चित्र न कहकर लिपि-चिह्न कहना अधिक युक्ति-संगत होगा। जैसा कि

* सामी का 'अलेफ' उदाहरणार्थ लें। शब्द का मूल अर्थ बैल है और अलेफ के लिए मूल चिह्न बैल का सर था जिस पर दो सींग थे। उसी चित्र-लिपि से शुद्ध वर्णात्मक लिपि रोमन के A का विकास हुआ है। इस प्रकार अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं। लिपि के विकासक्रम की चित्रात्मक, भाव-ध्वनि-मूलक, अक्षरात्मक तथा वर्णात्मक लिपियाँ सीढ़ियाँ हैं।

डिरिंजर ने लिखा है यह भाव और ध्वनि के बीच में थी अर्थात् भाव-ध्वनिमूलक लिपि थी। ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि सिंधु घाटी की लिपि से ब्राह्मी लिपि का विकास संभव नहीं है। संभव है कल कोई टूटी कड़ी मिल जाय और सिंधु घाटी की लिपि से ही ब्राह्मी की उत्पत्ति सिद्ध हो जाय। यों यदि ध्यान से सिंधु घाटी की लिपि तथा ब्राह्मी को देखा जाय तो दोनों के कई चिह्नों में पर्याप्त साम्य है और वह साम्य बूलर द्वारा उत्तरी सामी और ब्राह्मी में आरोपित साम्य से कहीं अधिक युक्ति-युक्त और तर्क-संगत है। यहाँ कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं—

सिंधु-घाटी की लिपि ब्रह्मी लिपि नागरी लिपि



(३) तीसरे तर्क में उत्तरी सामी से ब्राह्मा को निकली मानने वालों ने कहा है कि सामी दायें से बायें को लिखी जाती है और पुरानी ब्राह्मी के भी कुछ ऐसे उदाहरण हैं, जिनमें वह बायें से दायें न लिखी जाकर दायें से बायें को लिखी गई है। इसका आशय यह है कि सामी से निकली होने के कारण ब्राह्मी मूलतः दायें से बाएँ को लिखी जाती थी।

ब्राह्मी के उदाहरण जो दाएँ से बाएँ लिखे मिले हैं, निम्नाङ्कित हैं—

(क) अशोक के अभिलेखों के कुछ अक्षर ।*

(ख) मध्य प्रदेश के एरण स्थान में सिक्के का लेख।

(ग) मद्रास के यरगुडी स्थान में प्राप्त अशोक का लघु शिलालेख।

बूलर के सामने इनमें केवल प्रथम दो थे। तीसरा बाद में मिला है।

'क' के सम्बन्ध में यह कहना है कि इसके उदाहरण बहुत थोड़े हैं जबकि इसके समकालीन लेखों में बाएँ से दाएँ लिखने के उदाहरण इससे कई गुने अधिक हैं। जैसा कि ओझा जी का अनुमान है यह लेखक की असावधानी के कारण हुआ ज्ञात होता है या संभव है देश-भेद के कारण इस प्रकार का विकास हो गया हो जैसे छठीं सदी के यशोधर्मन के लेख में 'उ' नागरी के 'ड' सा मिलता है, पर उसी सदी के गारुलक सिंहादित्य के दानपत्र में ठीक उसके उलटा। बँगला का 'च' भी पहले बिल्कुल उल्टा लिखा जाता था। अतएव कुछ उलटे अक्षरों के आधार पर लिपि को उल्टी लिखी जाने वाली (दाएँ से बाएँ) मानना उचित नहीं कहा जा सकता।

'ख' का सम्बन्ध सिक्के से है। किसी सिक्के पर अक्षरों का उलटे खुद जाना आश्चर्य नहीं। ठप्पे की गड़बड़ी के कारण प्रायः ऐसा हो जाता है। सातवाहन (आंध्र) वंश के राजा शातकर्णी के भिन्न प्रकार के दो सिक्कों पर ऐसी अशुद्धि मिलती है। इसी प्रकार पार्थिअन् अब्दगसिस के एक सिक्के पर का खरोष्ठी का लेख भी उलट गया है। और भी इस प्रकार के उदाहरण हैं। इसी कारण प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डॉ० हुल्श तथा फ्लीट ने बुलर के इस तर्क को अर्थहीन माना है।

'ग' के सम्बन्ध में विचित्रता यह है कि इसमें एक पंक्ति बाएँ से दाएँ को लिखी मिलती है तो दूसरी दाएँ से बाएँ और आगे भी इसी प्रकार परिवर्तन होता गया है। इससे ऐसा लगता है ही लिखने वाला नए प्रयोग या खेलवाड़ की दृष्टि से यह कर रहा था। यदि वह दाएँ से बाएँ लिखने के किसी निश्चित सिद्धांत का पालन करता तो ऐसा न होता। पूरा लेख एक प्रकार का होता।†

* जौगढ़ और धौली के लेखों में 'ओ' उल्टा है तथा जौगढ़ और देहली के सिवालिक स्तंभ में संभवतः 'ध'।

† सन् १८६५ में डान मार्टिनो डी० जिल्वा विक्रमसिंघे ने एशिआटिक सोसाइटी के जर्नल में (पृ० ६८५) लंका में प्राप्त कुछ ब्राह्मी के शिलालेखों में दो

इन सारी बातों को देखने से यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि इन थोड़े से अपवाद स्वरूप प्राप्त और अशुद्धियों या नए प्रयोगों पर आश्रित उदाहरणों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि पहले ब्राह्मी दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी।

चौथा तर्क भी महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। जब तक उत्तरी भारत के सभी संभाव्य स्थलों की पूरी खुदाई नहीं हो जाती यह नहीं कहा जा सकता कि इससे पुराने शिलालेख नहीं हैं। साथ ही साहित्यिक प्रमाणों से यह सिद्ध हो ही चुका है कि इससे बहुत पूर्व* से भारत में लिखने का प्रचार था। यह बहुत संभव है कि आर्द्र जलवायु तथा नदियों की बाढ़ आदि के कारण पुरानी लिखित सामग्री जो भोजपत्र आदि पर रही हो सड़-गल गई हो।

इस प्रकार उत्तरी सामी से ब्राह्मी का संबंध संभव नहीं है।

ब्राह्मी को किसी विदेशी लिपि से सम्बद्ध सिद्ध करने वालों में प्रधान के मतों का विवेचन यहाँ किया गया और इससे स्पष्ट है कि ऐसा कोई भी पुष्ट प्रमाण अभी तक नहीं मिला है, जिसके आधार पर ब्राह्मी को किसी विदेशी लिपि से निकली सिद्ध किया जा सके।

इसी प्रकार कुछ और लोगों ने कुछ और लिपियों से ब्राह्मी को संबद्ध माना है। संक्षेप में इन विभिन्न विद्वानों के अनुसार ब्राह्मी चीनी, आर्मेइक, फोनीशियन, उत्तरी सेमिटिक, दक्षिणी सेमिटिक, मिस्री, अरबी, हिमिअरेटिक, क्यूनीफार्म, हड़प्पा या ओमेंज की किसी अज्ञात लिपि या सेबिअन आदि से मिलती-जुलती तथा सम्बद्ध है।

इस प्रसंग में सीधी बात यह कही जा सकती है कि इस क्षेत्र में काम करने वाले उच्च श्रेणी के विद्वानों ने ब्राह्मी लिपि से इन विभिन्न प्रकार की लिपियों में समता देखी है और संबद्ध सिद्ध करने का प्रयास किया है। यदि इन विभिन्न लिपियों में किसी एक से भी स्पष्ट और यथार्थ साम्य होता तो इस विषय में इतने मतभेद न होते। इन विद्वानों में इतना अधिक मतभेद यही सिद्ध करता है कि यथार्थतः इनमें

अक्षरों के उलटे होने का उल्लेख अपने एक पत्र में किया था, पर उसका चित्र कहीं प्रकाश में नहीं आया, अतः उनके संबंध में कुछ कहना संभव नहीं है।

* बुद्ध युग से भी पूर्व।

किसी भी लिपि से ब्राह्मी से स्पष्ट और प्रचुर साम्य नहीं है, इसीलिए कष्ट-कल्पना में विद्वानों को दूर-दूर की कौड़ी लानी पड़ी है। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं कहा जा सकता है कि ऊपर गिनाई गई लिपियों में ब्राह्मी किसी से भी नहीं निकली है।

ख. ब्राह्मी की उत्पत्ति भारत में हुई है

इस वर्ग में कई मत हैं, जिन पर यहाँ अलग विचार किया जा रहा है।

१. द्रविड़ीय उत्पत्ति—एडवर्ड थामस तथा कुछ अन्य विद्वानों का यह मत है कि ब्राह्मी लिपि के मूल आविष्कारक द्रविड़ थे। डा० राजबली पांडेय ने इस मत को काटते हुए लिखा है कि द्रविड़ों का मूल स्थान उत्तर भारत न होकर दक्षिण भारत है पर ब्राह्मी लिपि के पुराने सभी शिलालेख उत्तर भारत में मिले हैं। यदि इसके मूल आविष्कर्ता द्रविड़ होते तो इसकी सामग्री दक्षिण भारत में भी अवश्य मिलती। साथ ही उनका यह भी कहना है कि द्रविड़ भाषाओं में सब से प्राचीन भाषा तामिल है और उसमें विभिन्न वर्गों के केवल प्रथम एवं पंचम वर्ण ही उच्चरित होते हैं, पर ब्राह्मी में पाँचों वर्ण मिलते हैं। यदि ब्राह्मी मूलतः उनकी लिपि होती तो इसमें भी केवल प्रथम और पंचम वर्ण मिलते।

किसी ठोस आधार के अभाव में यह कहना तो सचमुच ही संभव नहीं है कि ब्राह्मी के मूल-आविष्कर्ता द्रविड़ ही थे, पर पांडेय जी के तर्क भी बहुत युक्ति-संगत नहीं दृष्टिगत होते। यह संभव है कि द्रविड़ों का मूल स्थान दक्षिण में रहा हो पर यह भी बहुत से विद्वान् मानते हैं कि वे उत्तर भारत में भी रहते थे और हड़प्पा और मोहन-जो-दड़ो जैसे विशाल नगर उनकी उच्च संस्कृति के केन्द्र थे। पश्चिमी पाकिस्तान में ब्राहुई भाषा का मिलना (जो द्रविड़ भाषा ही है) भी उनके उत्तर भारत में निवास की ओर संकेत करता है। बाद में संभवतः आर्यों ने अपने आने पर उन्हें मार भगाया और उन्होंने दक्षिण भारत में शरण ली। पांडेय जी यदि सिंधु-सभ्यता से द्रविड़ों का संबंध नहीं मानते या ब्राहुई भाषा के उस क्षेत्र में मिलने के लिए कोई अन्य कारण मानते हैं, तो उनकी ओर यदि यहाँ संकेत कर देते तो पाठक के लिए इस प्रकार सोचने का अवसर न मिलता।

पांडेय जी की दूसरी आपत्ति तमिल में ब्राह्मी से कम ध्वनि होने के संबंध में है। ऐसी स्थिति में क्या यह संभव नहीं है कि आर्यों ने तमिल या द्रविड़ों से उनकी लिपि ली हो और अपनी भाषा की आवश्यकता के अनुकूल उनमें परिवर्द्धन कर

लिया हो। किसी लिपि के प्राचीन या मूल रूप का अपूर्ण तथा अवैज्ञानिक होना बहुत संभव है और यह भी असंभव नहीं है कि आवश्यकतानुसार समय-समय पर उसे वैज्ञानिक तथा पूर्ण बनाने का प्रयास किया गया हो। किसी अपूर्ण लिपि से पूर्ण लिपि के निकलने की बात तत्त्वतः असंभव न होकर बहुत संभव तथा स्वाभाविक है।

२. **सांकेतिक चिह्नों से उत्पत्ति**—श्री आर० शाम शास्त्री ने 'इंडियन एंटीक्वेरी' जिल्द ३५ में एक लेख देवनागरी लिपि की उत्पत्ति के विषय में लिखा था। इनके अनुसार देवताओं की मूर्तियाँ बनने के पूर्व सांकेतिक चिह्नों द्वारा उनकी पूजा होती थी, 'जो कई त्रिकोण तथा चक्रों आदि से बने हुए यन्त्र, जो 'देवनगर' कहलाता था, के मध्य में लिखे जाते थे। देवनगर के मध्य लिखे जाने वाले अनेक प्रकार के सांकेतिक चिह्न कालांतर में उन-उन नामों के पहिले अक्षर माने जाने लगे और देवनगर के मध्य उनका स्थान होने से उनका नाम देवनागरी हुआ।'*

ओझा जी के शब्दों में शास्त्री जी का यह लेख गवेषणा के साथ लिखा गया तथा युक्तियुक्त है, पर जब तक यह न सिद्ध हो जाय कि जिन तांत्रिक पुस्तकों से अवतरण दिए गए हैं वे वैदिक साहित्य से पहले के या काफी प्राचीन हैं, इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

३. **वैदिक चित्र-लिपि से उत्पत्ति**—श्री जगमोहन वर्मा ने सरस्वती (१९१३-१५) में एक लेख-माला में यह दिखाने का यत्न किया था कि वैदिक चित्र-लिपि या उससे निकली सांकेतिक लिपि से ब्राह्मी निकली है। पर, इस लेख के चित्र पूर्णतया कल्पित हैं और उनके लिए प्राचीन प्रमाणों का अभाव है, अतएव इनका मत स्वीकार नहीं किया जा सकता।

४. **आर्य उत्पत्ति**—डाउसन, कनिंघम, लसन, थामस तथा डॉसन आदि विद्वानों का मत है कि आर्यों ने ही भारत की किसी पुरानी चित्र-लिपि के आधार पर ब्राह्मी लिपि को विकसित किया।

बूलर ने पहले इसका विरोध करते हुए लिखा था कि जब भारत में कोई चित्र-लिपि मिलती ही नहीं तो चित्र-लिपि से ब्राह्मी के विकसित होने की कल्पना निराधार है। पर संयोग से इधर सिंधु की घाटी में चित्र-लिपि मिल गई है, अतएव बूलर की इस आपत्ति के लिए अब कोई स्थान नहीं है और संभव है कि यह लिपि आर्यों की अपनी चीज़ हो।

* प्राचीन लिपि-माला, पृ० ३०।

निष्कर्ष

यह तो किसी सीमा तक माना जा सकता है कि भारतीयों* ने ही इस लिपि को जन्म दिया तथा इसका विकास किया पर यह कार्य आर्यों, द्रविड़ों या किसी अन्य जाति के लोगों द्वारा हुआ, यह जानने के लिए आज हमारे पास कोई साधन नहीं है। ओझा जी का यह कथन—

'जितने प्रमाण मिले हैं, चाहे प्राचीन शिलालेखों के अक्षरों की शैली और चाहे साहित्य के उल्लेख, सभी यह दिखाते हैं कि लेखन-कला अपनी प्रौढ़ावस्था में थी। उसके आरंभिक विकास का पता नहीं चलता। ऐसी दशा में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ब्राह्मी लिपि का आविष्कार कैसे हुआ और इस परिपक्व रूप में ...वह किन-किन परिवर्तनों के बाद पहुँची।...निश्चय के साथ इतना ही कहा जा सकता है कि इस विषय के प्रमाण जहाँ तक मिलते हैं, वहाँ तक ब्राह्मी लिपि अपनी प्रौढ़ अवस्था में और पूर्ण व्यवहार में आती हुई मिलती है और उसका किसी बाहरी स्रोत और प्रभाव से निकलना सिद्ध नहीं होता।'

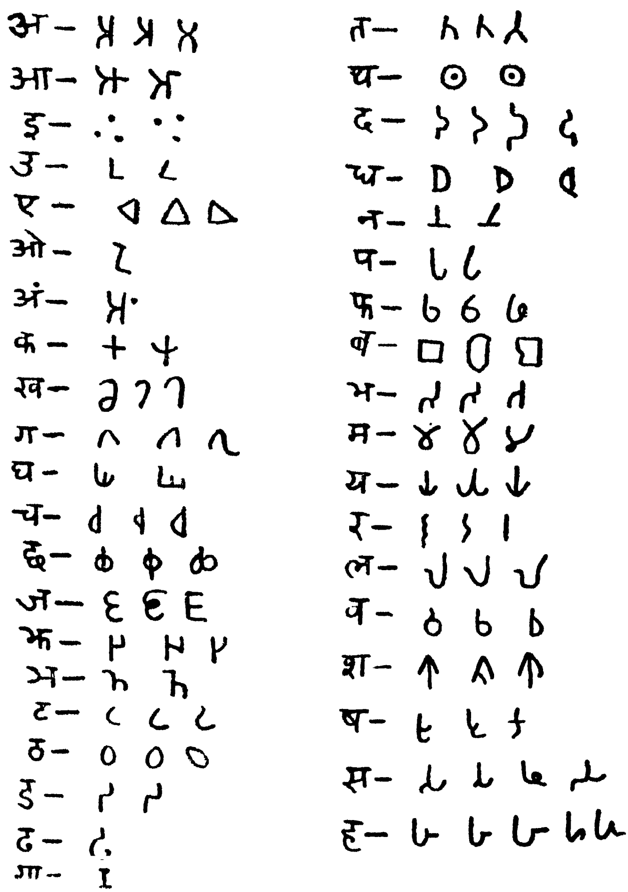
बहुत ही ठीक है और जब तक और सामग्री प्रकाश में न आवे इसके आगे कुछ कहना उचित नहीं है। यों इधर सिंधु घाटी की लिपि प्रकाश में आई है और उसके कुछ चिन्ह ब्राह्मी से मिलते भी हैं (पृ० ३४४ पर उदाहरण दिए गए हैं।) अतएव इस आधार पर इतना और जोड़ा जा सकता है कि यह भी असंभव नहीं है कि ब्राह्मी का विकास सिंधु घाटी की लिपि से हुआ हो। पर, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहना तभी उचित होगा जब सिंधु घाटी के चिन्हों की ध्वनि का भी पता चल जाय। डॉ० राजबली पांडेय का निश्चित मत है कि सिंधु घाटी की लिपि से ही ब्राह्मी लिपि का विकास हुआ है पर तथ्य यह है कि बिना ध्वनि† का विचार किए केवल स्वरूप में थोड़ा-बहुत साम्य देखकर दोनों लिपियों को संबद्ध मान लेना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

---

* डॉ० डिरिंजर इस मत से सहमत नहीं हैं कि भारतीयों ने ब्राह्मी को जन्म दिया कि पर इसके लिए उन्होंने जो तर्क दिए हैं उनमें बहुत सार नहीं दिखलाई पड़ता।

† संभव है जिन दो चिन्हों को स्वरूप-साम्य की दृष्टि से हम एक समझते हों वे मूलतः दो अलग-अलग ध्वनियों के प्रतीक हों।

ब्राह्मी लिपि



[पहचान के लिए प्रारंभ में नागरी लिपि के अक्षर दिए गए हैं ।]

ब्राह्मी लिपि का विकास

ब्राह्मी लिपि के प्राचीनतम नमूने ५वीं सदी ई० पू० के मिले हैं। आगे चलकर इसके उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत के रूपों में अंतर होने लगा। उत्तरी भारत के रूप पुराने रूप के समीप थे पर दक्षिणी रूप धीरे-धीरे विकसित होकर भिन्न हो गए।

यह लिपि भारत के बाहर भी गई वहाँ इसके रूपों में धीरे-धीरे कुछ भिन्नताओं का विकास हुआ। मध्य एशिया में ब्राह्मी लिपि में ही पुरानी खोतानी तथा तोखारी आदि भाषाओं के लेख मिलते हैं।

५वीं सदी ई० पू० से लेकर ३५० ई० तक की भारत में प्राप्त ब्राह्मी लिपि थोड़े-बहुत भेद तथा विभिन्नताओं के होते हुए भी ब्राह्मी के नाम से ही पुकारी जाती है। ३५० ई० के बाद इसकी स्पष्ट रूप से दो शैलियाँ हो जाती हैं—

(१) उत्तरी शैली—इसका प्रमुखतः उत्तरी भारत में प्रचार था।

(२) दक्षिणी शैली—इसका प्रमुखतः दक्षिणी भारत में प्रचार था।

इन्हीं दोनों शैलियों से और आगे चलकर भारत की विभिन्न लिपियों का विकास हुआ, जिनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

उत्तरी भारत की लिपियाँ

गुप्त लिपि—गुप्त राजाओं के समय (चौथी तथा पाँचवीं सदी) में इसका प्रचार होने से इसे 'गुप्त लिपि' नाम आधुनिक विद्वानों ने दिया है।

कुटिल लिपि—इस लिपि का विकास गुप्त लिपि से हुआ। स्वरों की मात्राओं की आकृति कुटिल या टेढ़ी होने के कारण इसे कुटिल लिपि कहा गया है। नागरी तथा शारदा लिपियाँ इसी से निकली हैं।

प्राचीन नागरी लिपि—इसका प्रचार उत्तर भारत में ९वीं सदी के अंतिम चरण से मिलता है। यह मूलतः उत्तरी लिपि है पर दक्षिण भारत में भी कुछ स्थानों पर ८वीं सदी से यह मिलती है। दक्षिण में इसका नाम नागरी न होकर नंदिनागरी है। आधुनिक काल की नागरी या देवनागरी, गुजराती, महाजनी, राजस्थानी तथा महाराष्ट्री आदि लिपियाँ इस प्राचीन नागरी के ही पश्चिमी रूप से विकसित हुई हैं और इसके पूर्वी रूप से कैथी, मैथिली तथा बँगला आदि लिपियों का विकास हुआ है। इसका प्रचार १६वीं सदी तक मिलता है।

नागरी लिपि को नागर या देवनागरी* लिपि भी कहते हैं। इसके नाम के संबंध निम्नांकित मत हैं—

(१) गुजरात के नागर ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसका नाम नागरी है।

---

* देव भाषा संस्कृत के लिए यह लिपि प्रयुक्त हुई है, अतः नागरी को देव नागरी कहा गया है।

(२) प्रमुखतः नगरों में प्रचलित होने के कारण इसे नागरी कहा गया है।

(३) कुछ लोगों के अनुसार ललित विस्तर में उल्लिखित नाग लिपि ही नागरी है, पर यथार्थतः इन दोनों कोई भी संबंध नही है।

(४) तांत्रिक चिन्ह देवनगर से साम्य के कारण इसे देवनागरी और फिर नागरी कहा गया है।

(५) आर० शाम शास्त्री के अनुसार 'देवनागर'* से उत्पन्न होने के कारण ही यह देवनागरी और फिर नागरी कही गई।

ये पाँचों मत कोरे अनुमान पर आधारित हैं, अतएव किसी को भी बहुत प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। यों दूसरा मत विद्वानों को अधिक मान्य है।

शारदा लिपि—काश्मीर की अधिष्ठात्री देवी शारदा कही जाती हैं और इसी आधार पर काश्मीर को शारदा मंडल तथा वहाँ की लिपि को शारदा लिपि कहते हैं। कुटिल लिपि से ही १०वीं सदी में इसका विकास हुआ और नागरी के क्षेत्र के उत्तर पश्चिम में (काश्मीर, सिंध तथा पंजाब आदि) इसका प्रचार रहा। आधुनिक काल की शारदा, टक्री, लंडा, गुरमुखी, डोग्री, चमेआली तथा कोछी आदि लिपियाँ इसी से निकली हैं।

अब आधुनिक लिपियों पर विचार किया जा सकता है।

टाकरी—ग्रियर्सन इसे शारदा और लंडा की बहिन मानते हैं पर बूलर इसे शारदा की पुत्री मानते हैं। ओझा जी ने इसे शारदा का घसीट रूप कहा है। इसका नाम टक्की भी है। टक्क लोगों की लिपि होने से इसका नाम टक्की है। महाजनी की तरह इसमें भी स्वरों की कमी है। इधर इसके बहुत से रूप विकसित हो गए हैं। 'टाकरी' शब्द टाँक (एक जाति) या ठक्कुरी (ठाकुरों की लिपि) से व्युत्पन्न माना जाता है।

सिरमौरी—यह टाकरी या टक्की लिपि की ही एक उपशाखा है। सिरमौरी बोली इसमें लिखी जाती है। इस पर देवनागरी का प्रभाव पड़ा है।

डोग्री—यह पंजाब की डोग्री भाषा की लिपि है। इसकी भी उत्पत्ति शारदा से हुई है।

चमेआली—चंबा प्रदेश की चमेआली भाषा की यह लिपि है। देवनागरी की भाँति यह पूर्ण लिपि है। यह भी शारदा से निकली है।

* पीछे पृ० ३४७-८ पर में इसके संबंध में कहा जा चुका है

मंडेआली—मंडा तथा सुकेत राज्यों की मंडेआली भाषा की यह लिपि है और शारदा से निकली है।

जौनसारी—सिरमौरी से मिलती-जुलती लिपि 'जौनसारी' पहाड़ी प्रदेश जौनसार की जौनसारी बोली की लिपि है। यह भी शारदा से ही विकसित हुई है।

कोछी—शारदा से उत्पन्न इस लिपि का प्रयोग शिमला से पश्चिम पहाड़ों में बोली जाने वाली बोली कोछी के लिए होता है। यह लिपि भी अवैज्ञानिक है।

कुल्लुई—यह भी शारदा से उत्पन्न है। कुल्लू घाटी की बोली कुल्लुई की यह लिपि है।

कश्टवारी—कश्मीर के दक्षिणपूर्व में कश्टवार की घाटी की बोली कश्टवारी इसी लिपि में लिखी जाती है। यह भी शारदा से उत्पन्न है। ग्रियर्सन ने इसे टक्की और शारदा के बीच की कड़ी माना है।

लंडा—पंजाब तथा सिंध के महाजनों की यह लिपि शारदा से निकली है। सिंधी तथा लहँदा भाषा इसमें लिखी जाती है। यह भी महाजनी लिपि की भाँति ही अपूर्ण है। इसके कई स्थानीय भेद विकसित हो गए हैं। 'लंडा' शब्द का संबंध 'लहँदा' से है।

मुल्तानी—लहँदा की प्रमुख बोली 'मुल्तानी' की यह लिपि 'लंडा' लिपि से ही विकसित है।

वानिको—वानिको या बनिया, लंडा का सिंध में प्रचलित नाम है। अब केवल वहाँ के हिंदू ही इसका प्रयोग करते हैं। मुसलमानों ने उर्दू लिपि को अपना लिया है।

गुरुमुखी—लंडा लिपि को सुधार कर सिक्खों के दूसरे गुरु अंगद ने यह लिपि १६वीं सदी में बनाई। सिक्खों में इस लिपि का विशेष प्रचार है।

नागरी—प्राचीन नागरी या नागर लिपि से ही इसका विकास हुआ है। यह वैज्ञानिक तथा पूर्ण लिपि है। यों भाषाविज्ञान की ध्वनि-विषयक सूक्ष्मताओं की दृष्टि से इसे बहुत वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। इसीलिए डा० सुनीतिकुमार चटर्जी जैसे विद्वान् इसे छोड़कर रोमन लिपि को अपना लेने के पक्ष में हैं। पूरे हिंदी प्रदेश की यह लिपि है। मराठी भाषा में भी कुछ परिवर्धन-परिवर्तन के साथ यह प्रयुक्त होती है। संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश के लिए भी यही लिपि प्रयुक्त होती है।

नागरी लिपि पूर्ण वैज्ञानिक नहीं है। उसकी प्रधान कमियाँ निम्न हैं:—

(१) इसमें कुछ अक्षर या लिपिचिन्ह आज के उच्चारण की दृष्टि से व्यर्थ हैं। 'ऋ' का उच्चारण 'रि' है, ण का ड़ँ है और 'ष' का 'श'। अतएव ऋ, ण और ष् की आवश्यकता नहीं है।

(२) ख में र व के भ्रम की संभावना है, अत: इसके लिए दूसरे चिन्ह की आवश्यकता है।

(३) 'व' का उच्चारण दो प्रकार का है—१. दो ओठों से (ज्वर) २. दाँत और ओठ (वीर)—पर चिह्न एक ही है। अतएव 'व' के एक और चिह्न की आवश्यकता है।

(४) संयुक्त व्यंजनों के रूपों में बड़ी गड़बड़ी है। जैसे 'प्रेम' में लगता है कि र् आधा है और 'प' पूरा है पर यथार्थतः बात इसकी उलटी है। क्र, ग्र, घ्र, ट्र, ड्र, ब्र तथा म्र आदि में भी यही बात है। इस पद्धति में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है।

(५) इ की मात्रा ' ि' बड़ी अवैज्ञानिक है। इसे जिस स्थान पर लगाया जाना चाहिए, लगाना संभव नहीं है। उदाहरणार्थ 'चन्द्रिका' शब्द लें। इसे तोड़कर इस प्रकार लिख सकते हैं—

च + ि + न् + द् + र् + क + आ

यहाँ स्पष्ट है कि मात्रा न् के पहले लगी है पर यथार्थतः इसे र् के बाद लगना चाहिए। रोमन में इसे शुद्ध लिखा जाता है—

CHANDRIKA

इस अशुद्धि के निवारण के लिए कोई रास्ता निकलना चाहिए।

(६) रकार के र, /, ^, ˚ ४ रूप हैं। इनमें तीन को निकाल कर एक रूप के प्रचलन की आवश्यकता है।

(७) क्ष, त्र, ज्ञ आदि स्वतंत्र लिपि चिन्हों की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये स्वतंत्र ध्वनियाँ न होकर संयुक्त व्यंजन मात्र हैं।

(८) न्ह, म्ह, तथा ल्ह (ये संयुक्त व्यंजन न होकर स्वतंत्र ध्वनि-तत्व हैं) आदि कुछ नवीन ध्वनि-तत्त्व हिंदी में आ गए हैं। अतएव इनके लिए स्वतंत्र चिन्ह आवश्यक हैं।

(९) उ, ऊ, ए, ऐ की मात्राएँ नीचे या ऊपर लगती हैं, पर यथार्थतः इन्हें व्यंजन के आगे लगना चाहिए। इसके लिए भी कोई रास्ता निकलना चाहिए।

(१०) कुछ अक्षरों के दो रूप प्रचलित हैं—

ल ल

अ अ

ण ण

इनमें एक को स्वीकार करने तथा दूसरे को निकाल देने की आवश्यकता है।

(११) कुछ स्वरों के कई रूप हो गए हैं, पर उनके लिए या उनकी मात्राओं के लिए चिह्न नहीं हैं। यहाँ स्वरों के विभिन्न रूप दिए जा रहे हैं—

अ—१. सामान्य; २. ह्रस्व जैसे 'समझना' में 'म' में; ३. अंत्य अ, जिसका उच्चारण प्रायः नहीं के बराबर होता। जैसे 'राम' में 'म' में।

आ—१. सामान्य; २. गोलाकार या संवृत, जैसे 'डॉक्टर' में ॉ।

ए—१. सामान्य; २. ह्रस्व, जैसे 'जेहि' में

ऐ—१. सामान्य; २. ह्रस्व, जैसे 'बैला' में

ओ—१. सामान्य; २. ह्रस्व, जैसे 'कोइला' में

औ—१. सामान्य; २. ह्रस्व; जैसे 'मौजी' में

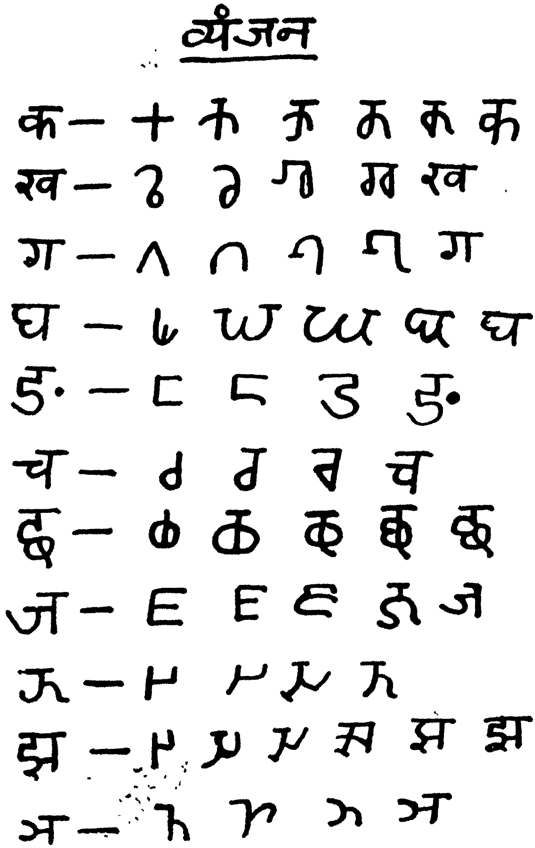
इनके लिए चिह्नों की आवश्यकता है। इस दृष्टि से डॉ० धीरेन्द्र वर्मा की 'विचारधारा' (नई ध्वनियाँ तथा उनके लिए चिह्न) द्रष्टव्य है।

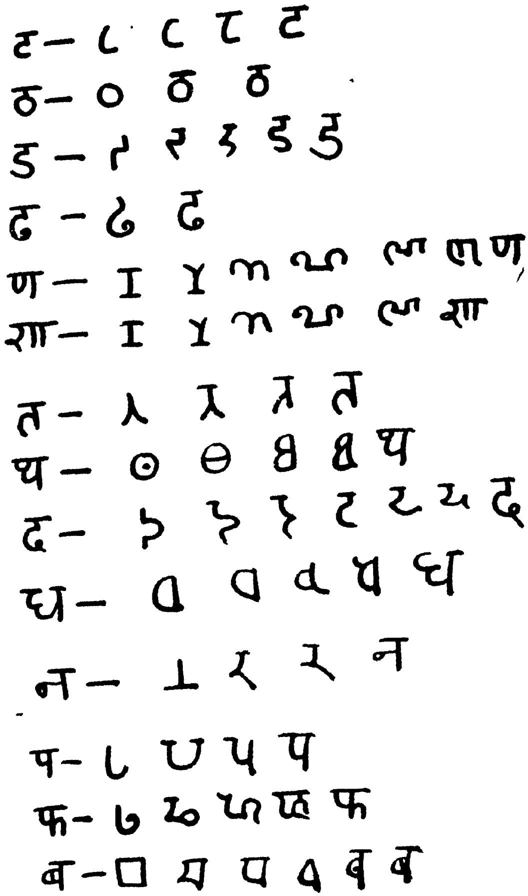
इन कमियों को दूर करने के लिए सुधार के प्रस्ताव बहुत दिनों से आ रहे हैं। विद्वानों* द्वारा वैयक्तिक रूप से तथा नागरी प्रचारिणी सभा काशी एवं हिंदी साहित्य सम्मेलन आदि संस्थाओं द्वारा किए गए प्रयासों के फलस्वरूप कुछ उपयोगी एवं व्यवहार्य सुधार सामने आए, पर इनमें किसी को भी लोगों ने नहीं अपनाया। इधर उत्तर प्रदेशीय सरकार ने कुछ सुधार किए हैं और शिशु कक्षाओं की पुस्तकें अब इसी लिपि में आ रही हैं पर इन सुधारों का स्वागत नहीं हो रहा है और न ये इस योग्य हैं ही। आवश्यकता इस बात की है कि सौंदर्य, वैज्ञानिकता तथा सरलता इन तीनों को दृष्टि में रखकर इस प्रश्न पर फिर से विचार किया जाय और नागरी लिपि हर दृष्टि से पूर्ण बनाने वाले सुधारों को स्वीकार किया जाय।

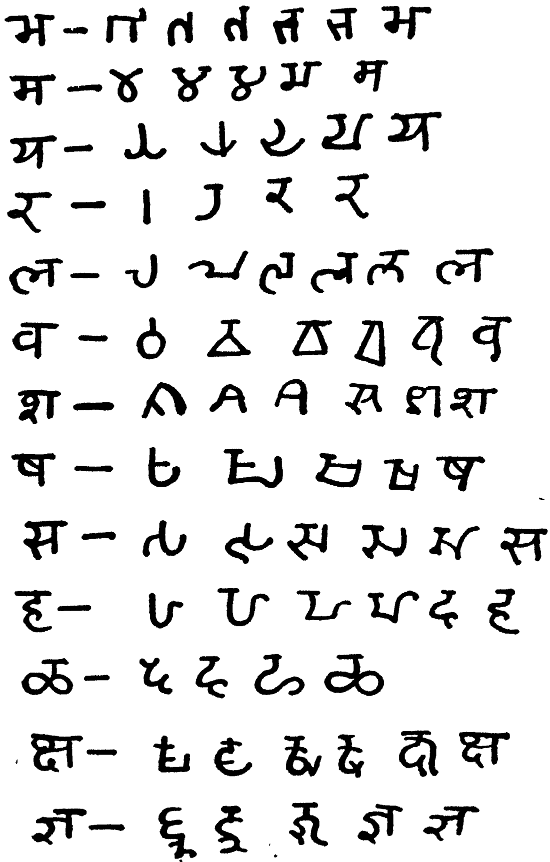
---

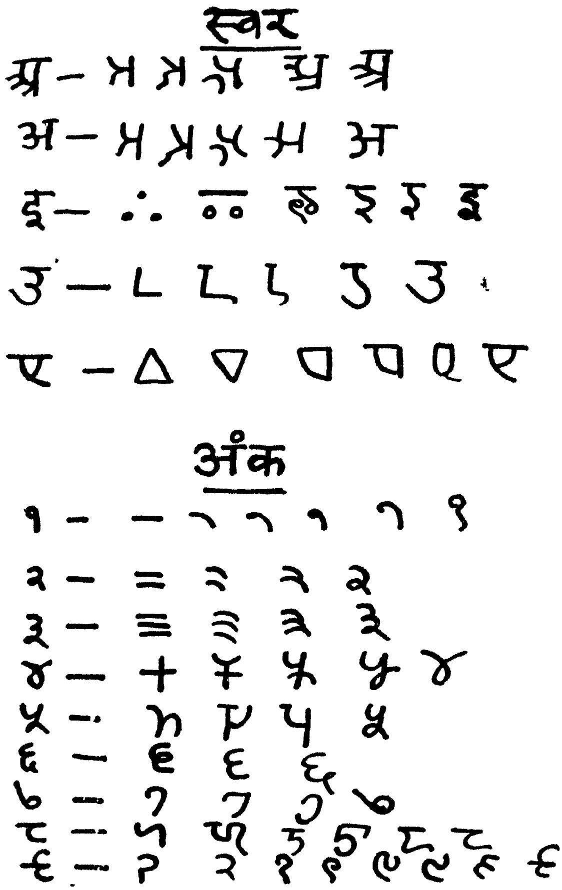
* डा० गोरख प्रसाद का नाम इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेख्य है।

आधुनिक नागरी लिपि तथा उसके अंकों का ब्राह्मी से (उसकी उत्तरी शैली, गुप्त लिपि तथा कुटिल लिपि में होते) कैसे विकास हुआ है निम्नांकित चित्रों से स्पष्ट है।




ट –
ठ –
ड –
ढ –
ण –
रा –
त –
थ –
द –
ध –
न –
प –
फ –
ब –


भ
म
य
र
ल
व
श
ष
स
ह
ळ
क्ष
ज्ञ



गुजराती—यह लिपि भी पुरानी नागरी लिपि से ही निकली है और हिंदी के लिए प्रयुक्त नागरी की बहिन है। गुजरात में देवनागरी तथा सराफी (बनियई या बोडिया भी इसके नाम हैं) भी प्रयोग में आती है। सराफी लिपि महाजनी की भाँति बनियों द्वारा प्रयुक्त होती है और बड़ी ही अपूर्ण है।

महाजनी—हिंदी क्षेत्र (राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मध्य प्रदेश आदि)

में बही खाता में इस लिपि का प्रयोग होता है। इसके कुछ ही अक्षर नागरी से भिन्न है। इसमें मात्रा नहीं दी जाती, अतः पढ़ने में बड़ी दुरूह है।

मोड़ी—यह महाराष्ट्र की पुरानी लिपि है। लोगों का कहना है कि बाला जी आवाजी ने १७वीं सदी में इसे बनाया पर यथार्थतः यह और पहले की लिपि है। यह भी पुरानी नागरी से ही निकली है। जल्दी लिखने के लिए इसके अक्षरों के रूप तोड़े-मरोड़े गये हैं, इसी से इसका नाम मोड़ी है।

कैथी—पुरानी नागरी लिपि के पूर्वी रूप से उत्पन्न यह लिपि कायस्थों में विशेष रूप से प्रचलित होने के कारण 'कैथी' कहलाई। इसका प्रमुख क्षेत्र बिहार है। इसके कई स्थानीय रूप हैं—

क. भोजपुरी कैथी—यह भोजपुरी प्रदेश में प्रयुक्त होती है और नागरी के बहुत निकट है।

ख. तिरहुती कैथी—इसका क्षेत्र तिरहुत है।

ग. मगही कैथी—मगही बोली का क्षेत्र इसका क्षेत्र है।

मैथिली—इसका क्षेत्र मिथिला है। यह बंगला से बहुत मिलती-जुलती है। पुरानी नागरी के पूर्वी रूप से इसका भी विकास हुआ है।

बँगला—पुरानी नागरी की पूर्वी शैली से ११वीं सदी में इसका जन्म हुआ। कुछ लोग इसका जन्म ७वीं सदी में भी मानते हैं। इसका क्षेत्र बंगाल है।

असमिया—यह बँगला लिपि से ही विकसित हुई है। केवल 'र' तथा 'व' के रूप इसमें भिन्न होते हैं। यह आसाम में प्रचलित है।

उड़िया—उड़ीसा की यह लिपि भी बँगला की भाँति पुरानी नागरी की पूर्वी शैली से विकसित हुई है, पर, इस पर दक्षिण की तेलगू तथा तमिल लिपियों का प्रभाव पड़ा है और इसी कारण बड़ी कठिन हो गई है। कुछ लोग इसे पुरानी बँगला लिपि से निकली मानते हैं। इसके दो रूप 'करनी' तथा 'ब्राह्मणी' नाम से प्रसिद्ध हैं। ब्राह्मणी ताड़पत्रों पर लिखने में प्रयुक्त होती रही है और करनी कागज पर। गंजाम जिले में उड़िया का एक और रूप मिलता है जिसके अक्षर अपेक्षाकृत और भी वर्तुलाकार हैं।

मनीपुरी—इसका क्षेत्र मनीपुर है। यह भी बंगला का ही एक विकसित रूप है।

नेवारी—यह बँगला से उत्पन्न है और नेपाल की नेवारी भाषा की लिपि है। इसे नेपाली भी कहते हैं।

मध्य तथा दक्षिणी भारत की लिपियाँ

पीछे कहा जा चुका है कि ३५० ई० के बाद ब्राह्मी लिपि की स्पष्टतः उत्तरी और दक्षिणी दो शैलियाँ हो गईं। इस दक्षिणी शैली से ही दक्षिणी भारत की लिपियों का विशेष संबंध है।

पश्चिमी—ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से विकसित यह लिपि उत्तरी शैली के क्षेत्र की सीमा पर प्रचलित होने के कारण कुछ उत्तरी शैली से भी प्रभावित है। इसके क्षेत्र भारत के मध्य तथा दक्षिण के पश्चिमी प्रदेश (गुजरात, काठियावाड़, नासिक, खानदेश तथा सतारा ज़िले, हैदराबाद, मैसूर के कुछ भाग तथा कोंकण) हैं। ५वीं सदी से ९वीं सदी तक इसका काल है।

मध्यप्रदेशी—ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से विकसित यह लिपि भी पश्चिमी की भाँति ही उत्तरी शैली से प्रभावित है। इसके क्षेत्र मध्य प्रदेश, बुंदेलखंड, हैदराबाद राज्य का उत्तरी भाग तथा मैसूर के कुछ अंश हैं। ५वीं सदी से ९वीं सदी तक इसका समय है। इसके अक्षरों के सिर संदूक की तरह चौखुंटे (कभी भरे और कभी खाली) होते हैं और अक्षरों की आकृति समकोणवाली होती है।

तेलगू-कन्नड़—ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से विकसित यह लिपि वर्तमान तेलगू और कन्नड़ लिपियों की जननी होने से इस नाम से पुकारी गई है। ५वीं सदी से १४वीं सदी तक यह दक्षिणी महाराष्ट्र, शोलापुर, बीजापुर, बेलगाँव, धारवाड़ तथा कारवाड़ ज़िले, हैदराबाद के दक्षिणी तथा मद्रास के उत्तरी पूर्वी भाग एवं मैसूर के कुछ हिस्सों में प्रचलित रही। १४वीं सदी के बाद इससे तेलगू तथा कन्नड़ लिपियाँ विकसित हुईं।

ग्रंथ—वर्तमान ग्रंथ लिपि की जननी होने से इसका नाम ग्रंथ लिपि है। यह भी ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से निकली है। इसके क्षेत्र में तमिल लिपि का प्रचार रहा है, पर वह अपूर्ण है, अतएव संस्कृत ग्रंथों के लिखने के लिए यह लिपि प्रयुक्त होती रही है, इसी कारण इसका नाम 'ग्रंथ' है। ७वीं सदी से १५वीं सदी तक यह मद्रास प्रांत के कुछ भागों में प्रचलित रही है। उसके बाद वर्तमान ग्रंथ लिपि विकसित हुई और फिर उससे मलयालय तथा तुलू लिपियाँ।

कलिंग—ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से इसका विकास हुआ है। कलिंग के आस-पास इसका ७वीं सदी से ११वीं तक प्रचार रहा। समय-समय पर इस लिपि पर मध्य

प्रदेशी, पश्चिमी, तेलगू-कनड़ी, ग्रंथ और नागरी का प्रभाव पड़ता रहा है, इसी कारण भिन्न-भिन्न कालों में इसके भिन्न-भिन्न रूप रहे हैं।

तमिल—वर्तमान तमिल लिपि की यह जननी है और दक्षिणी ब्राह्मी से निकली है। ग्रंथलिपि के क्षेत्र में तथा कुछ उसके बाहर भी इसका प्रचार रहा है। इसके अक्षर ग्रंथ लिपि से समानता रखते हैं। पर साथ ही 'क' तथा 'र' ब्राह्मी की उत्तरी शैली से लिए गए जान पड़ते हैं।

वट्टेलुत्तु—यह तमिल लिपि का ही विकसित घसीट रूप है। इसके अक्षर बहुधा गोलाई लिए हुए होते हैं। ७वीं से १४वीं सदी तक यह मद्रास के पश्चिमी तट तथा बिल्कुल दक्षिण में प्रचलित रही है।

भारत के बाहर ब्राह्मीलिपि का विकास

ब्राह्मी लिपि भारत के बाहर भी पहुँची और वहाँ भी उसका विकास हुआ तथा अन्य लिपियाँ उससे विकसित हुईं। पीछे कहा जा चुका है कि भारत के धर्म-प्रचारकों के साथ यह मध्य-एशिया पहुँची और वहाँ तोखारी, पुरानी खातेनी तथा ईरानी भाषाओं के लेखन में इसका प्रयोग हुआ। गुप्त लिपि की पश्चिमी शाखा की पूर्वी उपशाखा से ६वीं शताब्दी में सिद्ध-मात्रिका लिपि विकसित हुई (इसे बूलर ने न्यूनकोणीय लिपि कहा हैं। बोध गया का प्रसिद्ध लेख इसी लिपि में है) और उससे तथा कश्मीरी लिपि से तिब्बती लिपि की उत्पत्ति हुई और इसका थोड़ा बहुत-प्रचार आज भी चीन तथा जापान के बौद्धों में है।

ब्राह्मी लिपि की दक्षिणी शैली ने भी भारत के बाहर कम यात्रा नहीं की है। सिंहली, हिंदेशियाई, हिंदचीनी, मान, तलंग, आधुनिक बर्मी, कोरियाई, कंबोडियाई, स्यामी, बटक तथा जावा, बाली, सेलिबीज़ और फिलिपाइन्स की लिपियाँ इसी की पुत्रियाँ या पौत्रियाँ हैं।

यूनानी लिपि

विश्व की अन्य लिपियों की भाँति यूनानी लिपि की उत्पत्ति के संबंध में भी तरह-तरह की किंवदंतियाँ प्रचलित हैं पर यथार्थतः उनमें कोई तत्त्व नहीं है।

पुरानी सामी लिपि की उत्तरी शाखा से निकली आर्मेइक की पुत्री एशियनिक लिपि से यूनानी लिपि निकली है। कुछ विद्वानों के अनुसार इस पर फोनीशियन लिपि का भी कुछ प्रभाव पड़ा है। कुछ लोगों के अनुसार यह पूर्ण-रूपेण फोनीशी

लिपि से ही निकली है। पर, जैसा कि डॉ० डिरिंजर ने स्पष्ट किया है (१) यूनानी लिपि के अक्षरों के स्वरूप (२) उनका क्रम, तथा (३) उनके नाम बहुत अंशों में सामी से मेल खाते हैं, अतएव एशियनिक से होने हुए सामी से इसका निकलना ही अधिक तर्क-संगत प्रतीत होता है।

११वीं सदी ई० पू० के लगभग यूनानी लिपि का जन्म हो चुका था। आगे चलकर इससे एट्रस्कन और उससे लैटिन लिपि का जन्म हुआ, जिससे आधुनिक यूरोप की लिपियाँ निकली हैं। इस प्रकार यूनानी लिपि बहुत महत्वपूर्ण लिपि है।

सामी लिपि मूलतः व्यंजन-प्रधान लिपि थी। उर्दू-फारसी लिपि के जानकारों के लिए यह स्पष्ट है। यूनानियों ने उससे अपनी आवश्यकतानुसार व्यंजनों को लिया और कुछ नए व्यंजनों तथा स्वरों के लिए चिह्नों का निर्माण कर अपनी लिपि को अधिक पूर्ण और वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया। इसमें कुल २४ लिपि-चिह्न हैं। यह बाएँ से दाएँ को लिखी जाती है।

लैटिन लिपि

लैटिन लिपि अपने वंश की अन्य लिपियों को ले-देकर विश्व की सबसे महत्वपूर्ण लिपि है और विश्व की संस्कृति और सभ्यता की यह सबसे प्रमुख संरक्षिणी है। अरबी लिपि की भाँति लैटिन लिपि की भी उत्पत्ति पुरानी सामी लिपि की उत्तरी शाखा से हुई है। पीछे अरबी लिपि के संबंध में कहते समय कहा जा चुका है कि उत्तरी सामी लिपि से आर्मेइक और फोनीशी या फोनेशियन लिपियाँ विकसित हुईं। आर्मेइक से कई लिपियाँ निकलीं, जिनमें हिब्रू, पहलवी तथा एशियनिक प्रधान हैं। एशियनिक लिपि से यूनानी लिपि निकली है और यूनानी से एट्रस्कन। एट्रस्कन लिपि से अंब्रिअन, रूनी, ओस्कन तथा लैटिन आदि लिपियाँ निकली हैं।

एट्रस्कन लिपि से ७वीं सदी ई० पू० में लैटिन लिपि विकसित हुई। एट्रस्कन में कुल २६ अक्षर थे, जिनमें से लैटिन में अपनी ध्वनियों का आवश्यकतानुसार केवल २१ अक्षर

A, B, C, D, E, F, ⌶, H, I, K, L, M, N, O. P, Q, R (R की मूल आकृति यही थी), S, T, V, X

लिए गए। मोटे रूप से मूलतत्त्व की दृष्टि से इन २१ अक्षरों में सामी, यूनानी और एट्रस्कन तीनों के ही तत्व हैं। आगे चलकर सिसरो के समय में जब बहुत से

यूनानी शब्द लैटिन भाषा के शब्द-समूह में आ गए तो स्वभावतः उन नई ध्वनियों के अंकन की आवश्यकता हुई जो लैटिन में पहले से नहीं थीं। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए दो चिन्ह

Y और Z

ग्रीक लिपि से लिए गए और इस प्रकार लैटिन अक्षरों की संख्या २३ हो गई। और आगे चलकर मध्ययुग में ध्वनि की आवश्यकता के कारण तथा लिपि को पूर्ण बनाने के लिए ३ अक्षर

U, W और J

और बढ़ाए गए और इस प्रकार कुल २६ अक्षर हो गए। यह बाएँ से दाएँ को लिखी जाती है।

लैटिन लिपि* को यूरोप तथा यूरोप के बाहर के कई राष्ट्रों ने अपनी भाषाओं (अंग्रेजी, फ्रांसीसी, स्पेनी, इटाली, पुर्तगाली, रूमानियन, जर्मन, ज़ेक, पोलिश, तुर्की† तथा कुछ अफ्रीकी भाषाओं) के लिए अपना लिये हैं। इनमें कुछ ने चिन्हों तथा ध्वनियों में कुछ परिवर्तन भी कर लिए हैं। अंग्रेजी में अक्षर यही हैं। आधुनिक यूनानी लिपि प्राचीन यूनानी से विकसित हुई है पर उसके विकास में लैटिन लिपि का भी प्रभाव पड़ा है। इधर चीनी भाषा-भाषी भी अपनी भाषा के लिए भी कुछ परिवर्तन परिवर्द्धन के साथ रोमन लिपि को अपनाने के पक्ष में हो रहे हैं। डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी इस पक्ष में हैं कि सभी भारतीय भाषाओं को कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ इस लिपि अपना लेनी चाहिए। वैज्ञानिकता की दृष्टि से यह उचित भी है पर राष्ट्रीयता के मोह में हमारा उधर जाना संभव नहीं लग रहा है।

'रोमन' लिपि जो वर्णात्मक होने के कारण तथा अन्य दृष्टियों से भी और लिपियों की तुलना में अच्छी होने के कारण संसार की सर्वोत्तम लिपि समझी जाती है सभी दृष्टियों से पूर्ण नहीं है। किसी भी भाषा की सभी ध्वनितत्वों के लिए उसमें

* इसी को रोमन लिपि कहते हैं।

† तुर्की के लिए रोमन लिपि १९२८ में अपनाई गई। यहाँ इसमें २६ के स्थान पर २९ अक्षर हो गए हैं।

स्वतंत्र चिन्ह नहीं हैं। अंग्रेजी को ही लें। 'श', 'च', 'थ' तथा 'द' आदि के लिए रोमन लिपि को एक से अधिक अक्षरों को मिलाकर काम चलाना पड़ता है (sh, tio, ch, th), इतना ही नहीं i, u, o, e, a आदि स्वरों तथा th, ch आदि संयुक्त व्यंजनों का उच्चारण निश्चित नहीं है। उदाहरणार्थ i कहीं 'अ' का काम करती है तो कहीं 'इ' का और th कहीं 'थ' का काम करते हैं तो कहीं 'द' का। ऐसी स्थिति में इस लिपि में भी सुधार अपेक्षित हैं। डायक्रिटिकल मार्क आदि लगाकर इसे वैज्ञानिक रूप दिया जाता है, पर इन बैसाखियों की सहायता से इसे खड़ा करने की अपेक्षा कहीं अच्छा हो यदि आवश्यक चिन्हों की वृद्धि कर दी जाय और सब चिह्नों की ध्वनियाँ निश्चित कर दी जायँ।

लिपि की उपयोगिता और उसकी शक्ति

लिपि का कार्य है भावों का अंकन। अपने इस कार्य में जो लिपि जितनी ही सफल होगी, उसे उतनी शक्ति सम्पन्न तथा उपयोगी कहा जायगा। रज्जुलिपि तथा भाव-मूलक लिपि की अपनी सीमाएँ हैं, अतः ध्वनि-मूलक लिपि की तुलना में उन्हें उपयोगी नहीं कहा जा सकता। ध्वनि-मूलक लिपि में भी, जैसा कि पीछे भी कहा जा चुका है वर्णात्मक लिपि (Alphabetical script) अक्षरात्मक लिपि (Syllabic script) की तुलना में अधिक वैज्ञानिक तथा उपयोगी है, क्योंकि उसके द्वारा ध्वनियों का अंकन अधिक स्पष्ट तथा वैज्ञानिक ढंग से किया जा सकता है। इस श्रेणी की लिपि केवल रोमन, तथा उससे निकली कुछ अन्य हैं। यों जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है इन लिपियों में भी अभी सुधार के लिए स्थान है। आशा है भावी भाषा-तत्वविज्ञ इसे अधिक पूर्ण बनाएँगे, साथ ही विश्व की अन्य अपूर्ण तथा लूली लिपियों को भी पूर्ण तथा वैज्ञानिक बनाने का प्रयास करेंगे।

अंत में संक्षेप में उन तत्वों का उल्लेख कर देना अयथा न होगा, जिनका किसी वैज्ञानिक तथा पूर्ण लिपि में होना आवश्यक है।

प्रधान तत्व ३ हैं—

(१) लिपि वर्णात्मक हो।

(२) उसमें उच्चारण के अनुरूप ही लिपि-चिन्ह रक्खे जायँ। आशय यह है कि जिस ध्वनि का किसी शब्द में जहाँ उच्चारण हो, वहीं वह रक्खी भी

जाय। नगरी की भाँति नहीं, जिसमें इ की मात्रा अपने उचित स्थान से पहले रक्खी जाती है।

(३) भाषा में जितने ध्वनितत्व हों, उतने ही चिन्ह भी रहें। न तो यह हो कि एक ध्वनि-तत्व के लिए कई चिन्ह हों (जैसे उर्दू में 'स' के लिए से, सीन, स्वाद या ज़ के लिए ज़े, ज़ो ज़्वाद आदि या वर्तमानकालीन नागरी श के लिए श और ष तथा र के लिए र, ऋ आदि) और न यह हो कि कई ध्वनियों के लिए एक चिन्ह हो (जैसे नागरी में दंत्योष्ठ्य 'व' तथा द्वयोष्ठ्य 'व' दोनों के लिए 'व' चिन्ह है)।

———

अध्याय १०

व्युत्पत्तिशास्त्र

(Etymology)

जैसा कि पीछे भाषा-विज्ञान के 'अध्ययन के विभाग' शीर्षक में देखा गया है, व्युत्पत्ति शास्त्र भाषा-विज्ञान की कोई अलग शाखा या उसके अध्ययन का कोई स्वतंत्र विभाग नहीं है। यह ध्वनि-विज्ञान, रूप-विज्ञान तथा अर्थ-विज्ञान का सम्मिलित प्रयोग है, जिसके आधार पर किसी शब्द का मूल खोजा जाता है। इसमें यह पता लगाया जाता है कि कोई शब्द-विशेष मूलतः किस भाषा का है। साथ ही इसमें इस बात के पता लगाने का भी प्रयास हो सकता है, कि मूल शब्द का अर्थ तथा रूप क्या था और किन परिस्थितियों में एवं किन कारणों से उसमें ध्वनि या अर्थ सबंधी परिबर्तन हुए। व्युत्पत्ति शास्त्र की आधुनिक ढंग के कोषों में बड़ी आवश्यकता पड़ती है। कोषों में अर्थ देने के साथ-साथ अब यह भी देने का प्रयास किया जा रहा है कि शब्द मूलतः कहाँ का है। कुछ लोग इसके साथ अन्य भाषाओं से तुलनात्मक सामग्री भी देते हैं। इस दिशा में पथ-प्रदर्शक कार्य टर्नर का 'नेपाली कोष' है।

व्युत्पत्ति शास्त्र के आधार पर किसी भाषा विशेष के किसी एक समय में प्रयुक्त शब्द-समूह का विश्लेषण कर इस बात का भी पता लगाते हैं, कि उसमें कितने प्रतिशत शब्द अपने हैं तथा कितने प्रतिशत विदेशी या अन्य भाषाओं के।

व्युत्पत्ति शास्त्र के लिए अंग्रेज़ी शब्द 'एटिमालोजी' है। यह असल में यूनानी भाषा का शब्द है और इसका अर्थ यथार्थ-लेखा-जोखा (etumos-यथार्थ, logos लेखा-जोखा) है। यूनानी में 'एटिमालाजी' दर्शन की एक शाखा थी न कि भाषा-विज्ञान की और इसके अंतर्गत यूनानी दार्शनिक किसी शब्द द्वारा व्यक्त भाव या विचार की यथार्थ जानकारी के लिए शब्दों के मूल तथा उसके मूल अर्थ का अध्ययन करते थे।

हिंदी में इसके लिए 'व्युत्पत्ति शास्त्र' शब्द है। व्युत्पत्ति का अर्थ 'विशेष उत्पत्ति' है। इसमें शब्दों की मूल उत्पत्ति का अध्ययन किया जाता है, अतएव यह नाम भी

ठीक है। प्राचीन काल में भारत में इस शास्त्र को निरुक्त कहते थे और यह छः वेदांगों में एक था। लोगों का विश्वास है कि उस समय निघंटु के शब्दों की व्याख्या और व्युत्पत्ति को स्पष्ट करने के लिए बहुत से निरुक्त ग्रंथों की रचना हुई थी, जिनमें सबसे प्रसिद्ध निरुक्त यास्क का था और आज केवल वही उपलब्ध है।

यास्क विश्व के प्राचीनतम व्युत्पत्तिकार हैं। इन्होंने अपने निरुक्त में डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार कुल १२६८ व्युत्पत्तियाँ दी हैं, जिनमें २२४ बहुत ही वैज्ञानिक तथा युक्ति-संगत है।

व्युत्पत्तिशास्त्र के प्राचीन रूप को ठीक से हृदयंगम करने के लिए यह बतला देना आवश्यक है कि यास्क ने एक शब्द की एक ही व्युत्पत्ति न देकर एक से अधिक व्युत्पत्तियाँ* दी हैं। इसका आशय यह है कि उन लोगों के लिए यह एक निश्चित और नियमित विज्ञान या शास्त्र नहीं था। मनमाने ढंग से जितनी भी बुद्धि दौड़ाई जा सके दौड़ाई जाती थी। यही कारण है कि इन व्युत्पत्तियों में आधी से अधिक तो अत्यंत पुराने ढंग की तथा मनमानी हैं† तथा कुछ संयोग से ठीक और वैज्ञानिक हो गई हैं।‡

प्लेटो के समय में तथा उनके कुछ पूर्व भी यूनान में दर्शन की शाखा के रूप में इस शास्त्र का अध्ययन प्रचलित था। वहाँ, उस समय विद्वानों का विश्वास था कि किसी शब्द की ध्वनि और उसके द्वारा व्यक्त किए गए अर्थ में कुछ संबंध होता है। इस संबंध को सिद्ध करने के लिए वहाँ भी मनमानी व्युत्पत्तियाँ दी गई। प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'क्रेटीलस' में ध्वनि और अर्थ के संबंध का उस समय की ये बातें देखने के कारण ही मज़ाक उड़ाया है।

मध्ययुग तक आते-आते जब लोगों का देश-देशांतर तथा उनकी भाषाओं से परिचय बढ़ा तो संसार की सारी भाषाओं को किसी एक भाषा से निकली सिद्ध करने के लिए अर्थ तथा ध्वनि की दृष्टि से मिलते-जुलते शब्दों के बहुत से संग्रह बने। उस समय तक इस संबंध में कुछ निश्चित् सिद्धान्त तो थे नहीं। लोग अटकल से दो

* यास्क के निरुक्त में इंद्र की १४ व्युत्पत्तियाँ, जातवेदस् की ६, अग्नि की ५ तथा अरण्य की दो दी गई हैं।

† जैसे अंगार, आरि, अर्द्ध तथा अरण्य आदि की।

‡ जैसे सहस्र, विंशति, श्रद्धा तथा कंटक आदि की।

शब्दों के बाह्य रूप को देखकर दोनों को एक शब्द से निकला मान बैठते थे। उदाहरणार्थ अंग्रेज़ी के शब्द 'नीअर' (near) का अर्थ 'समीप' है, और भोजपुरी में भी 'नीअर' का अर्थ यही है। बस प्राचीन लोगों का इतना पाना था कि दोनों शब्द एक मूल के मान लिए जाते थे। ऐसे ही जाने कितनी बड़ी-बड़ी पुस्तकें बनीं, जिनमें इस प्रकार के उदाहरणों के आधार पर हिब्रू से अंग्रेज़ी का या हिब्रू से ग्रीक का संबंध स्थापित किया गया। यों तो उन लोगों के ये कार्य आज व्यर्थ सिद्ध हो चुके हैं पर इस दृष्टि से उनका ऐतिहासिक महत्व है कि उन्हीं अटकलों और असंगत बातों में भाषा-विज्ञान के शिशु ने जन्म लिया और पलता रहा।

व्युत्पत्ति शास्त्र और रूप-विज्ञान

व्युत्पत्ति में किसी शब्द के मूल रूप का पता लगाया जाता है, इसी कारण पहले कुछ लोग रूप-विज्ञान और व्युत्पत्ति को एक मानते रहे। भाषा-विज्ञान के विकास के उपरान्त भी कुछ लोगों की ऐसी ही धारणा रही है। पर अब इस संबंध में विवाद का स्थान नहीं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है व्युत्पत्तिशास्त्र रूप-विज्ञान नहीं है अपितु ध्वनि, रूप तथा अर्थ विज्ञान का सम्मिलित प्रयोग है।

व्युत्पत्ति और भ्रामक व्युत्पत्ति (Popular Etymology)*

ध्वनि-साम्य देखकर किसी और शब्द को और समझ लेना भ्रामक व्युत्पत्ति है। इसके कारण बहुत से शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन हो जाते हैं। 'ध्वनि-विज्ञान' शीर्षक के अंतर्गत इस पुस्तक में अन्यत्र इस पर विचार किया जा चुका है।

भ्रामक व्युत्पत्ति के कुछ मनोरंजक उदाहरण लिए जा सकते हैं। पहरा देने वाला संतरी अधिकतर किसी के आने पर कहता सुना जाता है—

'हुकुम सदर'

इसका अर्थ लोग समझते हैं कि 'यह सदर हुक्म है कि यहाँ आना मना है।' पर, मूलतः यह शब्दावली 'हुकुम सदर' न होकर—

हू कम्स देयर (who comes there)

है, जिसका आशय है—

---

* Popular का शुद्ध अनुवाद लौकिक होने के कारण कुछ लोगों ने इसे लौकिक व्युत्पत्ति कहा है, पर लौकिक-पारलौकिक अन्य अर्थ में रूढ़ि है, अतएव यहाँ 'भ्रामक व्युत्पत्ति' प्रयोग किया गया है, जो अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

कौन आता है ?

पर भ्रामक व्युत्पत्ति के कारण लोगों ने इसे 'हुक्म सदर' कर डाला है। ग्रामीण जनता में इसी प्रकार लाइब्रेरी (=पुस्तकालय) 'रायबरेली' कही जाती है और गाँव के मिडिल स्कूलों में चेम्सफोर्ड महोदय 'चिलम फोड़' कहे जाते हैं। 'चार्जशीट' को चार-शीट (जो चार पन्ने काग़ज़ पर हो) और पाउरोटी को पाव रोटी (पाव भर की रोटी या बड़ी रोटी) भी इसी कारण हो जाना पड़ा है, और इसी कारण मुक़दमेबाज़ लोग 'अस्सरे नौ' को 'साढ़े नौ' और 'आनरेरी' को 'अन्हेरी' (जहाँ अँधेरा या अन्याय हो) कहते हैं। अंग्रेजी का कंट्री डान्स (Country dance) इसी कारण फ्रांसीसी में कंट्री डान्स (Contredanse) हो गया है।

भ्रामक व्युत्पत्ति से मिलती-जुलती चीज़ कुछ दिन पूर्व तक आर्य समाजियों में प्रचलित रही है। वे लोग सारे संसार को आर्य संस्कृति से अभिभूत तथा सभी भाषाओं की आदि जननी संस्कृत को मानते रहे हैं और इसी भावना से कितने ही देश के नामों तथा अन्य शब्दों को संस्कृत से लिया गया सिद्ध करते रहे हैं। उनके लिए अरबी का ज्ञात सं० जाति, स्कैंडिनेविया सं० स्कंधनिवासी, जापान सं० जयप्राण, अफ़गानिस्तान सं० आवागमनस्थान, चीन सं० च्यवनदेश, क्राइस्ट सं० कृष्ण तथा मिस्टर सं० मित्र है।

अन्य बातें

यों तो व्युत्पत्तितः एक मूल के शब्द बाह्य रूप तथा अर्थ की दृष्टि से प्रायः कुछ मिलते-जुलते रहते हैं, पर ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है, जिनमें यह समानता नहीं रहती, उदाहरण के लिए—

भारोपीय* 'Penqe'—अंग्रेजी 'Five' (रूप बिल्कुल भिन्न है)
फ्रेंच 'Larme'— 'Tear' (" " " ")
अंग्रेजी 'फ़ी' (Fee)—संस्कृत 'पशु' (अर्थ और रूप दोनों भिन्न हैं)
संस्कृत 'उपाध्याय'--मैथिली 'झा' (" " " ")

यहाँ एक पंक्ति में दिए गए शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से एक हैं पर ऊपर से और कुछ में तो अर्थ की दृष्टि से भी कोई समानता नहीं है।

शब्दों की व्युत्पत्ति देने में बहुत सी बातों का ध्यान रखना आवश्यक है, जिनमें प्रधान ये हैं :—

(१) जिस शब्द की व्युत्पत्ति देनी हो उसके जीवन का पता लगाकर और उस पर काल-क्रमानुसार विचार करके उसके प्रत्नतम रूप, अर्थ एवं प्रयोग को निश्चित

कर लेना चाहिए। जिस शब्द के संबंध में ये बातें निश्चित हो जायँ उसकी व्युत्पत्ति देने में भटकने का भय प्रायः नहीं रह जाता।

(२) दो भाषाओं में एक ध्वनि तथा एक अर्थ के शब्द पाकर बिना और छानबीन किए दोनों को संबद्ध नहीं मानना चाहिए। उदाहरण के लिए भोजपुरी का 'नीयर', 'नियर' या 'नियरा' (= नज़दीक) और अंग्रेज़ी का 'नीअर' (Near) = नजदीक, शब्दों को लें। दोनों में ध्वनि तथा अर्थ-साम्य है, पर यथार्थतः भोजपुरी का 'नियर' या 'नियरा' संस्कृत शब्द 'निकट' से निकला है और अंग्रेजी का 'नीअर' पुरानी नार्स के 'नेर' से, और इस प्रकार दोनों का कोई संबंध नहीं है। जहाँ इस प्रकार का साम्य मिले उस भाषा या बोली की जननी भाषा में उस शब्द के समानार्थी शब्दों को लेकर तथा उस शब्द की प्राप्त जीवनी को लेकर विचार करना चाहिए।

(३) दो शब्दों को संबद्ध सिद्ध करने में या किसी पुराने शब्द से किसी बाद के शब्द को व्युत्पन्न सिद्ध करने में ध्वनि या रूप के अतिरिक्त अर्थ पर भी विचार करना चाहिए, और यदि कोई अर्थ-परिवर्तन दिखाई पड़े तो भूगोल, इतिहास तथा सामाजिक नियमों एवं रूढ़ियों के प्रकाश में उस परिवर्तन का कारण समझ लेना चाहिए।

(४) किसी भी ध्वनि का न तो यों ही लोप होता है और न तो कोई अतिरिक्त ध्वनि यों ही किसी शब्द में जुड़ जाती है। अकारण अनुनासिकता भी इसका अपवाद नहीं। इस प्रकार के परिवर्तनों में मुख-सुख, सादृश्य, किसी और शब्द का साथ में जुड़ना तथा स्वराघात (बलात्मक तथा संगीतात्मक) आदि काम करते हैं। इन दृष्टियों से भी दो शब्दों (यदि उनके रूप अभिन्न न हों) को संबद्ध सिद्ध करने में विचार आवश्यक है। इस प्रकार की समस्याओं पर विचार करने में ध्वनि-नियमों का पूरा ध्यान रखना चाहिए।

(५) भाषा के विकास के साथ शब्द, उच्चारण की दृष्टि से सरल तथा लंबाई में प्रायः छोटे* होते जाते हैं। एक शब्द के दो रूपों में प्राचीन तथा अर्वाचीन रूप पहचानने के लिए इस सिद्धांत को सामान्यतः अपनाया जा सकता है। यों इसके अपवाद भी मिल सकते हैं।

---

* जिस प्रकार नाटे व्यक्ति बहुत दिन तक परिवर्तित नहीं होते और दूसरी ओर लंबे व्यक्ति शीघ्र परिवर्तित हो (वृद्ध हो) जाते हैं, उसी प्रकार छोटे शब्दों में भी परिवर्तन कम होता है और लंबे जल्द परिवर्तित हो जाते हैं।

(६) यदि किसी अन्य भाषा से किसी शब्द के उधार लिए जाने की संभावना हो तो ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से उस पर विचार अपेक्षित है। दो भाषा-भाषियों के प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से संपर्क होने पर ही एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में पहुँचते हैं।

(७) किसी भी भाषा के शब्द प्रमुखतः ६ प्रकार के होते हैं—

(१) उसी भाषा के किसी पुराने शब्द से विकसित शब्द।

(२) उस भाषा की जननी या उसके पूर्व की जननी भाषाओं (जैसे हिंदी की जननी अपभ्रंश तथा उसके पूर्व की जननी भाषाएँ प्राकृत, पाली, संस्कृत, वैदिक संस्कृत तथा भारोपीय आदि) से आए तत्सम, अर्द्धतत्सम या तद्भव शब्द।

(३) अन्य भाषाओं से आए हुए देशी या विदेशी शब्द (जैसे हिंदी में तुर्की, अरबी, अंग्रेज़ी या द्रविड़ आदि भाषाओं के)। इनके भी तत्सम, अर्द्धतत्सम तथा तद्भव रूप हो सकते हैं।

(४) देशज शब्द।

(५) ध्वनि या अन्य आधारों पर बनाए हुए नए शब्द।

(६) इन पाँचों में दो या अधिक के योग या मिश्रण से बने शब्द।

किसी शब्द की व्युत्पत्ति निश्चित करने में इन सबका ध्यान आवश्यक है। संभव है देखने में कोई शब्द विदेशी ज्ञात हो पर यथार्थतः जननी भाषा से विकसित हुआ हो और उसी जननी भाषा से अतीत में कभी विदेशी भाषा में चला गया हो। या दूसरी ओर कोई शब्द जननी भाषा से विकसित हुआ ज्ञात हो पर यथार्थतः वह जननी भाषा से विदेशी भाषा में गया हो और फिर विदेशी भाषा से ही वह आधुनिक काल में लिया गया हो। इस दूसरी अवस्था में वह शब्द विदेशी कहा जायगा यद्यपि उसका मूल देशी है। उदाहरण के लिए अंग्रेज़ी शब्द 'शैंपू' लें। पढ़ी-लिखी औरतों में यह एक प्रचलित शब्द है। प्रसाधन-सामग्री में इसका प्रमुख स्थान है। इसे प्रायः लोग अंग्रेज़ी का समझते हैं, पर यथार्थतः हिंदी शब्द 'चाँपना' से ही यह अंग्रेजी में लिया गया है। इस प्रकार मूलतः 'शैंपू' हिंदी शब्द है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से मूलतः हिंदी 'चाँपना' से विकसित होते हुए भी 'शैंपू' अंग्रेजी से हिन्दी में लिया गया माना जावेगा।

(७) दो भाषाओं के दो शब्द यदि अर्थ एवं ध्वनि की दृष्टि से समान या समीप ज्ञात हों तथा अन्य सारी बातों का विचार करने पर भी उनके संबंध में कोई निर्णय न हो सके तो यह देखना चाहिए कि वे दोनों भाषाएँ कहीं एक परिवार की तो नहीं हैं और यदि हैं तो उनमें पाए जाने वाले मिलते-जुलते शब्द उन दोनों की आदि जननी मूल भाषा के तो नहीं हैं। संस्कृत पितृ, अंग्रेज़ी फादर, या फारसी हफ्त, संस्कृत सप्त ऐसे ही शब्द हैं। इस प्रकार के शब्दों में यदि मूलभाषा के किसी एक शब्द से विकसित होने की संभावना का ध्यान न रक्खा जाय तो प्रायः इस निर्णय पर पहुँचने का भय रहता है कि वह शब्द उन दोनों भाषाओं में किसी एक से दूसरे में लिया गया है।

आधुनिक युग के प्रसिद्ध व्युत्पत्तिशास्त्रियों में नेपाली डिक्शनरी के सुयोग्य संपादक टर्नर के अतिरिक्त अंग्रेज़ी भाषा के प्रसिद्ध व्युत्पत्तिकार स्कीट, यूल और बर्नेल आदि के नाम लिए जा सकते हैं। भारतवर्ष में इस क्षेत्र में कार्य करने वालों में मुनि रत्नचंद्र जी महाराज (अर्ध-मागधी), हरगोविन्ददास त्रिकमचंद शेठ (प्राकृत), ज्ञानेन्द्र मोहन दास (बंगला), गोपालचंद (उड़िया), कृष्णाजी पांडुरंग कुलकर्णी (मराठी), हरिवल्लभ भायाणी (गुजराती) तथा वासुदेवशरण अग्रवाल (हिन्दी) आदि प्रधान हैं।

व्युत्पत्ति-शास्त्र के आधार पर किसी भाषा के समस्त शब्दों की संपूर्ण जीवनी देकर उस भाषा का बहुत सुन्दर कोष बनाया जा सकता है, जिससे भाषा के अतिरिक्त समाजविज्ञान तथा नृविज्ञान संबंधी कितनी ही समस्याओं पर प्रकाश पड़ सकता है। कार्य के कठिन होने के कारण अभी तक इस दिशा में उल्लेख्य प्रयास नहीं हुए हैं, पर आशा है कि निकट भविष्य में विद्वान् इधर अवश्य ध्यान देंगे।

अध्याय ११

भाषा-विज्ञान का इतिहास

भाषा का अध्ययन और विश्लेषण सभी सभ्य देशों में प्राचीन काल से ही होता है। इस क्षेत्र में प्रमुख रूप से कार्य करने वाले देशों—क. भारतवर्ष, ख. अरब, ग. चीन, घ. जापान, ङ. यूरोप और अमेरिका—में इस विषय के अध्ययन का संक्षिप्त और परिचयात्मक विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

[क] भारतवर्ष

अनेक शास्त्रों और विज्ञानों की भाँति भाषा-संबंधी अध्ययन भी अत्यन्त प्राचीन काल से ही अपने देश में होता आया है। हाँ उस अध्ययन के संबंध में एक बात अवश्य है कि आज की भाँति वह वैज्ञानिक नहीं था और न तो आज के अर्थ में भाषा-विज्ञान का ही था; उसका अधिकतर दर्शन हमें व्याकरण के रूप में ही होता है। केवल निरुक्त, पद-पाठ आदि कुछ ही ग्रंथों में अर्थ और ध्वनि की दृष्टि से शब्दों के अर्थ आदि पर विचार किया गया है। सुविधा के लिए भारत में भाषा-विज्ञान के अध्ययन के इतिहास को दो भागों में बाँटा जा सकता है :—

(च) प्राचीन

(त्र) आधुनिक

प्राचीन के अंतर्गत प्रागैतिहासिक काल से सोलहवीं शती के लगभग तक के अध्ययन पर विचार किया जायेगा। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है यह अध्ययन प्रमुखतः प्राचीन शैली का और व्याकरण के समीप या कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः पूर्णतः व्याकरण ही है।

आधुनिक अध्ययन का आरंभ १९वीं सदी के मध्य से होता है। यह अध्ययन बहुत ही वैज्ञानिक और विशुद्ध रूप में भाषा-विज्ञान का है। अब हम क्रमशः एक-एक को ले सकते हैं।

(च) प्राचीन

अन्य देशों के प्राचीन लोगों की भाँति भारत के भी प्राचीन लोगों में धार्मिक भावना का प्राधान्य था। उस धार्मिक भावना से ही भाषा के अध्ययन को प्रथम

प्रोत्साहन मिला, जिसका फल प्रातिशाख्यों के रूप में हमें मिलता है। पर इसके भी पूर्व ये लोग कुछ इस ओर अभिमुख हुए थे, इसका प्रामाणिक पता हमें वेदों से मिलता है। प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद के अंतिम मंडलों में है। कृष्ण-यजुर्वेद-संहिता में देवों ने देवराज इन्द्र से कहा है कि हम लोगों के कथन को टुकड़े में कर दीजिये। इससे स्पष्ट है कि वे इतना जानते थे कि वाक्य के खंड हो सकते हैं। इन संकेतों से उनके भाषा संबंधी ज्ञान का पता चलता है, पर व्यवहार रूप में सर्व प्रथम कार्य ब्राह्मणों में ही मिलता है।

[१] ब्राह्मण ग्रंथ

संहिताओं के बाद की रचनाओं का नाम ब्राह्मण ग्रंथ है। इनमें कहीं-कहीं शब्दों के अर्थ समझाने का प्रयास किया गया है, यद्यपि यह प्रयास बहुत कम है और खंड आदि करने की क्रिया बहुधा अनुमान पर आधारित और अशुद्ध है; जैसे 'अपाप' (अप+अप) का खंड 'अ+पाप' किया गया है। पर, इसका महत्व इसलिये है कि भाषा-विज्ञान के विश्व-इतिहास में व्याकरण (खंड-खंड करना) और धात्वर्थ तक पहुँचने का यह प्रथम प्रयास है। ब्राह्मण ग्रंथकारों का प्रधान लक्ष्य ध्वनि या अर्थ की ओर नहीं था, कहीं-कहीं आनुषंगिक रूप से ही इस ओर उनका ध्यान गया है।

[२] पदपाठ

ब्राह्मण ग्रंथों के बाद भाषा का अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक अध्ययन आरम्भ हुआ। पदपाठ में वैदिक संहिताओं को पद रूप में किया गया। इसमें संधि और समासों के आधार पर वाक्य के शब्दों को अलग किया गया, साथ ही कुछ स्वराघात पर भी विचार हुआ। यह कार्य शाकल्य ऋषि का कहा जाता है।

[३] प्रातिशाख्य

कुछ दिन बाद धीरे-धीरे जनभाषा वैदिक भाषा से दूर हट गई। फल यह हुआ कि वैदिक भाषा से लोग अपरिचित होने लगे। पर, वेद का प्रथानुसार पाठ आवश्यक था, और पाठ भी साधारण न होकर प्राचीन स्वराघातों पर आधारित होना चाहिये था। उसे परंपरागत रूप में गाकर करना अनिवार्य था। अन्यथा करने पर या ध्वनि संबंधी अशुद्धि होने पर दोष का भागी बनना पड़ता। ऐसी परिस्थिति में इस अशुद्धि से लोगों को बचाने के लिये ध्वनि की दृष्टि से वेदों का विशिष्ट अध्ययन आवश्यक हो गया। इस प्रकार धार्मिक प्रेरणा से प्रातिशाख्यों के रूप में विश्व का प्राचीनतम वैज्ञानिक ध्वनि-अध्ययन भारतवर्ष में सम्पन्न हुआ।

उस प्राचीन परंपरा को अक्षुण्ण रखने के प्रयास में वेद की प्रति शाखा का अध्ययन उच्चारण संबंधी विशिष्ट पक्षों की दृष्टि से किया गया। प्रति शाखा के कारण ही इन पुस्तिकाओं का नाम प्रातिशाख्य पड़ा। इनकी संख्या एक से अधिक है। आज जो प्रातिशाख्य मिलते हैं, वे प्राचीनतम प्रातिशाख्य तो नहीं हैं, पर उन्हीं प्राचीन प्रातिशाख्यों पर आधारित अवश्य हैं। आज के उपलब्ध प्रातिशाख्य पाणिनि के बाद के माने जाते हैं।

प्रातिशाख्यों में किए गए कार्य

क. प्रातिशाख्यों का मूल उद्देश्य अपनी-अपनी संहिताओं का परंपरागत उच्चारण सुरक्षित रखना था, अतः स्वराघात, मात्राकाल, तथा उच्चारण संबंधी अन्य नियमों के अध्ययन का कार्य इनमें हुआ।

ख. संस्कृत ध्वनियों का वर्गीकरण किया गया। यह वर्गीकरण इतना प्रौढ़ था कि आज तक लगभग वही प्रचलित है।

ग. पदों के (१) नाम, (२) आख्यात, (३) उपसर्ग और (४) निपात नाम के चार विभाग किए गए।

घ. इन सबके अतिरिक्त विद्वानों का अनुमान है कि पदों के आरंभिक विश्लेषण तथा संज्ञा के सामान्य लक्षणों पर भी प्रातिशाख्यों में प्रकाश डाला गया होगा। साथ ही यह भी संभावना है कि धातु तक पहुँचने का भी प्रयास उनमें किया गया था।

मूल प्रातिशाख्यों के न मिलने के कारण उपर्युक्त बातें विद्वानों के अनुमान पर ही प्रायः आधारित हैं।

[४] निघंटु

वैदिक भाषा से अधिक अपरिचित हो जाने पर लोगों को अर्थ की दृष्टि से भी वेदों के अध्ययन की आवश्यकता हुई। इसी दृष्टिकोण से वैदिक शब्दों के लोगों ने संग्रह ग्रंथ बनाये। इन संग्रहों का ही नाम 'निघंटु' है। इन्हें वैदिक कोष कहा जा सकता है, यद्यपि इनमें अर्थ नहीं दिया गया है। आज तो केवल एक ही निघंटु उपलब्ध है, पर ऐसी आशा की जाती है कि उस समय बहुत से निघंटु बने। मैकडानेल के अनुसार यास्क के समय में ऐसे पाँच निघंटु थे।

उपलब्ध निघंटु और उसका स्वरूप

जो निघंटु आज उपलब्ध है और जिस पर यास्क का कार्य आधारित है, पाँच अध्यायों में विभक्त हैं। प्रथम तीन अध्यायों में, जिनमें क्रम से १७, २२ तथा ३० खंड हैं, शब्दों को पर्यायक्रम से सजाया गया है, इस कारण अर्थ न देने पर भी अर्थ स्पष्ट हो जाता है। चौथा अध्याय ३ खंडों का है। इसमें वेद के कुछ अत्यन्त क्लिष्ट शब्द रखे गये हैं। पाँचवाँ अध्याय वैदिक देवताओं के नामों का है। इसमें ६ खंड हैं।

[५] यास्क (८ वीं सदी ई० पू०)

यास्क के समय के विषय में विद्वानो में मतभेद है। 'अपार्ण' आदि कुछ शब्दों के आधार पर कुछ विद्वान इन्हें पाणिनि का परवर्ती मानते थे पर अब यह अशुद्ध सिद्ध हो चुका है। यास्क का समय पाणिनि से कम से कम १०० वर्ष पूर्व तो होना ही चाहिये।

यास्क का निरुक्त

निरुक्त निघंटु की व्याख्या है। अर्थ-विचार का यह विश्व में प्राचीनतम विवेचन है। इसमें निघंटु के प्रत्येक शब्द को अलग-अलग लेकर उसकी व्युत्पत्ति तथा अर्थ पर विचार किया गया है। निरुक्त के लेखक के व्यक्तित्व की महानता सबसे बड़ी इस बात में है कि, अस्पष्ट शब्दों के साथ दुराग्रह न करके उसने यह स्पष्टतः स्वीकार कर लिया है कि वे शब्द उसके लिए अस्पष्ट हैं।

कुछ विद्वानों के अनुसार निघंटुओं की भाँति ही निरुक्त-ग्रंथ भी एक से अधिक थे, जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध यास्क का था, जो आज उपलब्ध है।

निरुक्त की प्रधान बातें

क. इसमें निघंटु के शब्दों को लेकर उनका अर्थ समझाने का प्रयास है। साथ ही, प्रयोग एवं अर्थ की स्पष्टता के लिए वैदिक संहिताओं से शब्दों के प्रयोग भी दे दिए गए हैं।

ख. निरुक्त में अनेक पूर्ववर्ती तथा समवर्ती व्याकरण-संप्रदायों एवं वैयाकरणों के नाम* एवं उद्धरण दिए गए हैं, जिनमें उस समय तक भाषा सम्बन्धी अध्ययन के प्रचार एवं अभिरुचि पर प्रकाश पड़ता है।

---

* आग्रायण, औदुम्बरायण, और्णनाभ, कात्थक्य, गालव, चर्मशिरा, मनु, शाकटायन, तथा शाकल्य आदि।

ग. शब्दों के इतिहास की गतिविधि पर प्रकाश डालते हुए समाज और इतिहास की ओर भी लेखक को दृष्टि डालनी पड़ी है, जिससे उस समय तथा कुछ पूर्व के सम्बन्ध में बहुत सी बातें जानी जा सकती हैं।

घ. शब्दों पर विचार के साथ ही भाषा की उत्पत्ति, गठन और विकास पर भी कुछ विचार किया गया है। भाषा के संबंध में इतने व्यापक रूप से विचार करने का प्रथम श्रेय भी इसी के लेखक को है।

ङ. निरुक्त का ग्रंथकार वाणी के अतिरिक्त अन्य अवयव-संकेतों को भी भाषा ही मानता है, यद्यपि, अव्यावहारिक एवं अस्पष्ट होने के कारण उनका अध्ययन आवश्यक एवं महत्वपूर्ण नहीं मानता।

च. कुछ शब्दों के नामकरण को लेकर बहुत वैज्ञानिक और सुन्दर शंकाएँ की गई हैं, जिनसे भाषा-विज्ञान के अनेक छोटे-मोटे प्रश्नों पर प्रकाश पड़ सकता है। तृण को लेकर कहा गया है कि √तृ = चुभना, अतः चुभने वाला होने के कारण तृण को 'तृण' की संज्ञा दी गई है, पर, यदि यही बात है तो सुई और भाले को भी तृण क्यों नहीं कहा गया है? या सीधा खड़ा होने के कारण 'स्थूण' नाम है तो उसे और कोई (एक स्थान पर रहने वाला, या थामने वाला आदि) नाम क्यों नहीं दिया गया। ऐसे विवेचनों से शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है।

छ. शब्द के श्रेष्ठ होने के दो कारण बतलाए गए हैं—१. शब्द का अर्थ किसी की इच्छा पर पूर्णतः आधारित न होकर सिद्ध और स्थिर रहता है, जिससे श्रोता और वक्ता दोनों में एक भावना उत्पन्न करता है। २. कम परिश्रम में इसके द्वारा सूक्ष्म अर्थ का बोध होता है।

ज. पाणिनि जिस धातु-सिद्धान्त को प्रतिपादित करने में सफल हुए थे उसका मूल यहीं है। निरुक्तकार का भी कम या बेश, सभी शब्दों को कुछ मूलों या धातुओं पर आधारित सिद्ध करने का प्रयास है।

झ. विभाषाओं की उत्पत्ति की ओर भी कुछ संकेत किया गया है।

ञ. प्रातिशाख्यों में नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात का संकेत मात्र हैं, पर यहाँ इसका कुछ विस्तृत विवेचन है। (पदजातानि नामाख्यातोपसर्ग निपाताश्च)

ट. संज्ञा और क्रिया तथा कृदन्त और तद्धित के प्रत्यय भेदों का भी अस्पष्ट उल्लेख मिलता है।

ठ. निरुक्तकार का प्रयास ब्राह्मण ग्रंथों के अर्थों से अधिक शुद्ध और वैज्ञानिक है, तथा विरोधी मतों के खंडन आदि के कारण तर्कपूर्ण भी है।

यास्क का 'निरुक्त' कसौटी पर

यास्क के निरुक्त की वैज्ञानिकता-अवैज्ञानिकता को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है। एक ओर तो स्कोल्ड (द निरुक्त, लंदन १६२६ पृ० १८१) तथा डा० स्वरूप (द निघंटु ऐंड द निरुक्त, आक्सफोर्ड १६२०, भूमिका पृ० ६४) इसे बहुत ही सुन्दर वैज्ञानिक तथा आश्चर्य में डाल देने वाला कार्य मानते रहे हैं तो दूसरी ओर वी० के० राजवादे (यास्क'स निरुक्त, पूना १६४० पृ० cii, civ आदि) जैसे विद्वान् इसे बहुत ही अवैज्ञानिक मानते रहे हैं। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने (द एटिमालोजीज़ आव् यास्क, होशियारपुर, १६५३) यास्क के निरुक्त की पूरी परीक्षा की है और निष्कर्ष स्वरूप इसे वैज्ञानिकता-अवैज्ञानिकता के बीच का कहा है। इसमें कुल १२६८ व्युत्पत्तियाँ देने का प्रयास है, जिनमें ८४६ पुराने ढंग की, २२४ वैज्ञानिक और २२५ अस्पष्ट हैं। भाषा के अध्ययन के उस आदिम युग में आज जैसी वैज्ञानिकता की आशा तो नहीं की जा सकती, पर यह कहना असत्य न होगा कि पुराने ढंग का होते हुए भी यह पूर्णतया अवैज्ञानिक नहीं है।

[६] आपिशलि तथा काशकृत्स्न

यास्क और पाणिनि के बीच में भाषा के अध्ययन का पर्याप्त विकास हुआ। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि पाणिनि ने प्रत्यय, अव्ययीभाव, बहुव्रीहि, कृत, तद्धित, प्रथमा, द्वितीया, षष्ठी आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग बिना अर्थ बतलाये ही किया है। इससे आशय यह निकलता है कि उस समय तक भाषा के अध्ययन का इतना विकास हो चुका था कि लोग इन शब्दों को समझाने की आवश्यकता नहीं समझते थे।

इस सम्बन्ध में एक दूसरा प्रमाण यह भी है कि यास्क के बाद सीधे पाणिनि इतने उच्चकोटि के व्याकरण की रचना नहीं कर पाते, यदि उनके पीछे एक परंपरा की साधना न रहती।

पाणिनी के पूर्व* के व्याकरण-सम्प्रदायों के जनक आपिशलि तथा काशकृत्स्न माने जाते हैं। कुछ विद्वान् इन लोगों को ऐंद्र सम्प्रदाय का मानते हैं।

* श्यूआन् चुआङ् के अनुसार पाणिनि के पूर्व कई ऋषियों ने व्याकरण बनाए। प्रो० मैक्समूलर ने 'प्रातिशाख्यों' तथा 'निरुक्त' आदि के आधार पर आग्निवेश्य, आग्रायण, काण्व, सेनक तथा ब्राभ्रव्य आदि लगभग ६५ आचार्यों के नाम गिनाए हैं।

जयादित्य और वामन की काशिका में आपिशलि का एक नियम मिलता है। पाणिनि ने भी दस वैयाकरणों में आपिशलि का नाम लिया है। कैय्यट ने आपिशलि और काशकृत्स्न दोनों ही के उद्धरण दिये हैं। काशिका में काशकृत्स्न के व्याकरण के सम्बन्ध में मिलता है कि वह सूत्रों में था और उसमें तीन अध्याय थे (त्रिकं काशकृत्स्नम्)। इसी प्रकार की दो-एक अन्य बातों के अतिरिक्त इन दोनों के विषय में कुछ अधिक नहीं मिलता।

[७] ऐन्द्र सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक कोई इन्द्र ऋषि माने जाते हैं। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार ये ही प्रथम वैयाकरण थे। यह संप्रदाय पाणिनि के पूर्व का है और कुछ लोगों के अनुसार सबसे प्राचीन सम्प्रदाय है। पाणिनि में इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है प्राचीन होते हुए भी पाणिनि के समय तक इसमें कोई प्रसिद्ध विद्वान् नहीं हुआ था। पाणिनि के बाद के वैयाकरण कात्यायन इसी सम्प्रदाय के हैं। मूल प्रातिशाख्यों (जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है) पर आधारित वर्तमान प्रातिशाख्य भी इसी सम्प्रदाय द्वारा निर्मित हुए थे।

कुछ लोग कातंत्र सम्प्रदाय भी इसी का नाम बतलाते हैं।

ऐंद्र सम्प्रदाय के सिद्धांत पाणिनि से कम विकसित हैं, पर इसकी कुछ बातें (विशेषतः परिभाषाएँ) उनसे अधिक सुबोध हैं।

ऐन्द्र सम्प्रदाय का प्रभाव और प्रचार दक्षिण में अधिक था। डा० बर्नेल के अनुसार दक्षिण के प्राचीनतम व्याकरणों में से एक 'तोल्कप्पियम' पूर्णतः इसी आधार पर बना है।

सामग्री के अभाव के कारण इस सम्प्रदाय के पाणिनि के पूर्व के जीवन पर अभी तक अधिक प्रकाश नहीं पड़ सका है।

[८] पाणिनि

पाणिनि को यदि विश्व का सबसे बड़ा वैयाकरण माना जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। दुःख यह है कि इतने बड़े व्यक्ति के समय एव जीवन के सम्बन्ध में हमें अभी तक अधिक नहीं ज्ञात हो सका है।

पाणिनि के अन्य नाम 'आहिक', 'शालंकि', 'दाक्षीपुत्र' तथा 'शालातुरीय' आदि मिलते हैं। इनका जन्म गंधार देश के शलातुर नामक स्थान पर हुआ था। पतंजलि ने एक कारिका में पाणिनि को दाक्षीपुत्र (दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः) कहा है। इससे

कुछ लोग इनकी माता का नाम 'दाक्षी' होने का अनुमान लगाते हैं, पर कुछ अन्य लोगों ने इस आधार पर पाणिनि को पश्चिमोत्तर प्रदेश में रहने वाला दक्ष (जाति) माना है। कथा सरित्सागर और बृहत्कथा मंजरी के अनुसार ये 'वर्ष' नामक आचार्य के शिष्य थे। इन्हें पढ़ना-लिखना बिल्कुल न आता था। एक दिन अपनी अकुशाग्रता से दुखी हो ये तपस्या करने चले गए और वहीं से शिव के आशीर्वाद से उद्भट व्याकरणकार बनकर आए।

पाणिनि के समय के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। पीटर्सन आदि कुछ विद्वान कवि पाणिनि को इनसे मिलाकर सुभाषितावली तथा कुछ अन्य ग्रंथों के आधार पर इनका समय ईसा के आरंभिक वर्षों के समीप मानते हैं। मैक्समूलर तथा वेबर आदि विद्वान इन्हें ३५० ई० पू० के बाद का मानते हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि पाणिनि में 'यवन' शब्द मिलता है और यह शब्द सिकंदर के आक्रमण के समय भारतीयों को ज्ञात हुआ होगा। भंडारकर और गोल्डस्टकर ने ५०० ई० पू० के भी पूर्व इनका समय निश्चित किया है। सत्यव्रत आदि कुछ विद्वान् दूसरे छोर पर हैं। उनके अनुसार पाणिनि का काल २४०० ई० पू० है। डा० बेलवेकर ने सभी महत्वपूर्ण मतों की परीक्षा करते हुए पाणिनि का समय ७०० ई० पू० के समीप माना है। इधर डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने विस्तार के साथ इस प्रश्न पर विचार करते हुए पाणिनि को ५वीं सदी ई० पू० के मध्यभाग का माना है। यह मत सबसे अधिक तर्क-सम्मत है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी

अष्टाध्यायी में आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं, और प्रत्येक पाद में अनेक सूत्र हैं। सब मिलाकर सूत्रों की संख्या लगभग चार सहस्र है।

पूरी पुस्तक १४ सूत्रों (अइउण् ऋलृक् एओङ् ऐऔच् हयवरट् लण् ञमङणनम् झभञ् घढधष् जबगडदश् खफछठथचटतव् कपय् शषसर् हल्) पर, जिन्हें माहेश्वर सूत्र भी कहते हैं, आधारित है। संक्षेप में कहने के लिए, प्रत्याहार, गण आदि का सहारा लिया गया है।

अष्टाध्यायी की विशेषताएँ

१. इन १४ सूत्रों के आधार पर संस्कृत भाषा जैसी जटिल और विस्तृत भाषा को थोड़े से पृष्ठों में इस खूबी से पाणिनि ने बाँधा है कि आज तक लगभग ढाई हज़ार वर्ष बाद भी टस से मस न हो सकी। इस बीच में अनेक नवीन वैयाकरण आए पर

उसके सामने किसी की दाल न गल सकी। बंधन अटूट तो हैं ही, साथ ही, एक बड़ी बात यह भी है कि यह कार्य इतने संक्षेप में प्रत्याहार, आदि के सहारे किया गया है, कि देखने वाला आश्चर्यचकित रह जाता है।

२. सभी शब्दों को कुछ एकाक्षर धातुओं पर आधारित किया है। ये धातुएँ किसी क्रिया का भाव प्रकट करती हैं। इन्हीं से उपसर्ग तथा प्रत्यय आदि की सहायता से अनेकानेक शब्द बना लिए जाते हैं।

३. भाषा का आरम्भ वाक्यों से हुआ है, इसका भी प्रथम उल्लेख यहीं है। भाषा में इसके अनुसार वाक्य ही प्रधान है।

४. यास्क के नाम, आख्यात आदि चार भेदों को न स्वीकार करके पाणिनि ने शब्द को सुबन्त, तिङन्त तथा अव्यय, इन तीन श्रेणियों में विभक्त किया। आज तक विश्व में शब्दों के जितने भी विभाजन किए गए हैं उनमें यह सबसे अधिक वैज्ञानिक है। पश्चिम के ८ भेद (eight parts of speech) भी इसके समक्ष नहीं टिकते।

५. ध्वनियों का स्थान और प्रयत्न के अनुसार वैज्ञानिक वर्गीकरण जो इसमें है, ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

६. लौकिक और वैदिक संस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन भी इसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

संक्षेप में अष्टाध्यायी में अर्थ, ध्वनि और तुलनात्मक व्याकरण की सामग्री समय को देखते हुए आश्चर्य उत्पन्न कर देने वाली है।

पाणिनि के अन्य ग्रंथ

अष्टाध्यायी के अतिरिक्त इसी के सहायक ग्रंथ के रूप में पाणिनि ने कुछ अन्य पुस्तकों की भी रचना की। इन ग्रंथों में प्रथम स्थान धातुपाठ का है। इसमें धातुओं की सूची है। कहना न होगा कि इसमें संस्कृत के सभी शब्दों को इन्हीं कुछ धातुओं पर आधारित माना गया है। धातुओं को दस गणों में भी विभाजित किया गया है। पाणिनि का दूसरा ग्रंथ गणों से सम्बन्धित गणपाठ है। एक गण में आये धातुओं का रूप एक प्रकार से चलता है। कुछ विद्वानों के अनुसार गणपाठ का कुछ ही भाग पाणिनि द्वारा रचित है। तीसरा ग्रंथ उणादिसूत्र है। इसे कुछ विद्वान् शाकटायन की रचना मानते हैं, पर इसके पारिभाषिक शब्दों (उदात्त, उपधा, लोप) को देखने से यह भी पाणिनि का ही ज्ञात होता है। साथ ही इसके विरुद्ध प्रमाण भी काफी मिलते हैं। आशय यह है कि तीसरे ग्रंथ के सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता।

पाणिनि का प्रभाव

प्रभाव के सम्बन्ध में इतना ही कह देना यथेष्ट होगा कि इनके बाद अधिकतर विद्वान चाहे वे जिस सम्प्रदाय के भी हुए केवल अष्टाध्यायी की ही आलोचना, प्रत्यालोचना, टीका-टिप्पणी आदि में लगे रहे। यदि कुछ लोगों ने स्वतन्त्र ग्रंथ लिखने का प्रयास भी किया तो कार्य इस योग्य न हो सका कि अष्टाध्यायी के समक्ष उसका नाम काल-कवलित होने से बच सके।

आज जब हम राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए पारिभाषिक शब्द बनाने बैठते हैं तो २५०० वर्ष बाद भी हमारी दृष्टि परिपक्व शब्द पाने के लिये उसी ऋषि पर जाती है। प्रभाव की पराकाष्ठा इससे अधिक हो ही क्या सकती है!

[६] कात्यायन

कथा-सरित्सागर कात्यायन को पाणिनि का समकालीन एवं पाणिनि से आयु में बड़ा बतलाता है, जो असम्भव है। इनके कार्य को देखते हुए इनका समय पाणिनि से दो तीन सदी बाद होना चाहिये। अर्थात् यदि पाणिनि ५ वीं सदी ई० पू० के लगभग के हैं तो कात्यायन २ सदी ई० पू० के। इनको ऐन्द्र सम्प्रदाय का कहा जाता है। पतंजलि इनको दक्षिणी बतलाते हैं। हम लोग ऊपर देख चुके हैं कि ऐन्द्र सम्प्रदाय का विशेष प्रचार दक्षिण में ही था।

कात्यायन का वार्तिक

तीन सौ वर्ष के अंतर के कारण भाषा में यथेष्ट विकास हो गया था, अतः पाणिनि के कुछ सूत्र समय के प्रतिकूल हो गए थे। इन सूत्रों को ठीक करने के लिये कात्यायन ने अपना वार्तिक लिखा। वार्तिक के सूत्र भी अष्टाध्यायी की भाँति ही हैं।

वार्तिक में पाणिनि के अष्टाध्यायी के १५०० सूत्र लिए गए हैं, और उनका दोष दिखलाते हुए लेखक ने सूत्र में परिवर्तन करके उन्हें फिर से लिखा है। उदाहरणार्थ कात्यायन ने पाणिनि के 'अदर्शनं लोपः' सूत्र को लेकर 'वर्णस्याऽदर्शनं लोपः' कर दिया है। पतंजलि के अनुसार कात्यायन ने अनेक स्थलों पर पाणिनि को समझने में अशुद्धि की है।

वार्तिक का कुछ अंश गद्य और कुछ पद्य में है। कात्यायन ने पाणिनि के पारिभाषिक शब्दों में भी कुछ परिवर्तन किया है।

सब मिलाकर इसमें चार हजार वार्तिक हैं।

वार्तिक का महत्व

यों तो अन्य सम्प्रदाय का होने के कारण कात्यायन अपनी आलोचना में कहीं कहीं सीमा पार कर गये हैं, पर जैसा कि ऊपर कहा गया है भाषा के परिवर्तन के कारण ही उस पर विचार करना उन्होंने आरम्भ किया, अतः अष्टाध्यायी के अध्ययन के लिए और उसके कुछ पत्तों को समझने के लिये यह बहुत ही आवश्यक एवं महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

[१०] पतंजलि

इनका समय पहले विद्वान ई० के आरम्भ में मानते रहे हैं, पर डॉ० भंडारकर के अकथ परिश्रम के फलस्वरूप अब १५० ई० पू० माना जाने लगा है। पतंजलि अपनी अप्रतिम शैली के लिए संस्कृत साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

पतंजलि का महाभाष्य

महाभाष्य अष्टाध्यायी की भाँति ही ८ अध्यायों में बँटा है। प्रत्येक अध्याय में ४ पाद हैं, और प्रत्येक पाद कुछ आह्निकों में विभाजित है।

महाभाष्य प्रमुखतः दो ध्येयों को समक्ष रख कर लिया गया है—

१. कात्यायन ने पाणिनि की जो आलोचना की थी, उसका उत्तर देने के लिये।

२. पाणिनि के उन सूत्रों में सुधार करने के लिए जो कुछ समय बीत जाने के कारण अनुपयुक्त हो गये थे।

कात्यायन के आक्षेपों का उत्तर देने में पतंजलि पूर्णतः सफल हुए हैं। साथ ही अपने दूसरे ध्येय में भी इनकी सफलता कम नहीं है।

इन्होंने अपने नियमों को 'इष्टि' की संज्ञा दी है।

महाभाष्य का महत्व

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त महाभाष्य का महत्व भाषा संबंधी कुछ विवेचनाओं के लिए भी अधिक है। इसमें भाषा का दार्शनिक विवेचन बहुत ही सुन्दर है। ध्वनि और अर्थ के सम्बन्ध, वाक्य के विभिन्न भाग, तथा ध्वनि की परिभाषा आदि पर भी वैज्ञानिक प्रकाश डाला गया है।

मुनित्रय

पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि को संस्कृत 'व्याकरण के मुनित्रय' की संज्ञा दी

गई है। सचमुच संस्कृत व्याकरण को उच्चतम बिंदु पर पहुँचाने में ये ही लोग सफल हुए हैं।

[११] पाणिनि शाखा और उसके अन्य वैयाकरण

पाणिनि-शाखा, सच पूछा जाय तो पाणिनि के कुछ पहले से आरम्भ हुई होगी। पाणिनि के अप्रतिम कार्य को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि किसी परम्परा की साधना उसमें अवश्य सन्निहित है। वह एक व्यक्ति का कार्य नहीं है। हाँ, इसका नामकरण संस्कार पाणिनि के ही नाम पर हुआ है।

व्याकरण के मुनित्रय (पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि) इस शाखा के प्रधान आचार्य हैं। इन तीनों में ही मौलिकता का अंश पर्याप्त है, पर इनके पश्चात् पाणिनि शाखा में कोई भी ऐसा विद्वान न हो सका जो ऐसी प्रतिभा का हो। सभी लोगों ने या तो इसी पर टीकाएँ लिखीं या समय को देखते हुए पढ़ने और समझने की सुविधा के लिये नवीन क्रम दिया। यहाँ संक्षेप में उन पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

[अ] टीकाकार

संस्कृत में धीरे-धीरे कुछ परिवर्तन हो रहा था। उन परिवर्तनों को देखते हुए टीकाकारों ने टीकाएँ लिखीं। इस प्रकार, ये टीकाएँ उस समय की आवश्यकता की पूर्ति के लिए लिखी गईं।

(क) जयादित्य तथा वामन (७ वीं सदी पूर्वार्द्ध)

इन लोगों की लिखी टीका 'काशिका' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसमें भी अष्टाध्यायी की भाँति ८ अध्याय हैं, जिनमें प्रथम ५ जयादित्य विरचित और शेष ३ वामन द्वारा लिखे गये हैं।

काशिका में पाणिनि के सूत्रों को पर्याप्त उदाहरणों के साथ बड़ी सुबोधता से समझाया गया है। प्राचीन वैयाकरणों के कुछ उदाहरण भी इसमें मिलते हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत अमूल्य हैं।

(ख) जिनेन्द्र बुद्धि (८वीं सदी पूर्वार्द्ध)

जिनेन्द्र ने उपर्युक्त काशिका पर एक टीका लिखी, जिसका नाम काशिका-न्यास या काशिका विवरण-पंजिका है। जिनेन्द्र बौद्ध थे। इन्होंने भी सामयिक परिवर्तनों

पर ही विशेष ध्यान रखा है। इस न्यास की अभी तक एक भी पूर्ण प्रति उपलब्ध नहीं है।

(ग) हरदत्त (१२ वीं सदी)

इनका ग्रंथ 'पदमंजरी' भी काशिका की ही एक सुन्दर टीका है। हरदत्त दक्षिणी थे और सम्भवतः तेलगू साहित्य से भी इनका परिचय था, क्योंकि एक उदाहरण 'कूचिमंची' इन्होंने उस भाषा का दिया है।

(घ) भर्तृहरि (७वीं सदी)

शृंगार, नीति और वैराग्य शतकों के रचयिता ही ये वैयाकरण भर्तृहरि थे, यह नहीं कहा जा सकता। भर्तृहरि ने एक महाभाष्य की टीका लिखी थी, जिसमें तीन ही पाद हो पाये थे। सम्भवतः इसके बाद उनका देहान्त हो गया। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'वाक्यपदीय' है। इसमें व्याकरण के दर्शन पक्ष का बहुत सुन्दर विवेचन है। पुस्तक तीन खंडों में बँटी है, जिनके नाम क्रमशः आगम या ब्रह्मखंड, वाक्यखंड और प्रकीर्ण या पद-खंड हैं। द्वितीय खंड के अंत में इसमें कुछ व्याकरणकारों के संबंध में ऐतिहासिक सामग्री भी दी गई है।

(ङ) कय्यट (११वीं सदी)

कय्यट कश्मीरी थे। इनका ग्रंथ महाभाष्य-प्रदीप है। जैसा कि लेखक ने स्वयं भूमिका में कहा है, इनका पथ-प्रदर्शक भर्तृहरि का वाक्यपदीय है। महाभाष्य के विवेचन में कय्यट बहुत ही सफल हुए हैं। इनमें भी तात्विक पक्ष की प्रधानता है।

कय्यट के प्रदीप के टीकाकारों में नागोजि भट्ट, नारायण और ईश्वरानन्द प्रधान हैं। विशेषतः नागोजि भट्ट का प्रदीपोद्योत बहुत ही सुन्दर और गम्भीर है। इनके अन्य व्याकरण विषयक अन्य १०-११ ग्रंथों में परिभाषेन्दुशेखर तथा वैयाकरण सिद्धान्त-मंजूषा विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें दूसरा, भर्तृहरि और कय्यट की भाँति ही तात्विक-विवेचन का बहुत ही सुन्दर ग्रंथ है।

नागोजि का व्यक्तित्व बहुत ही अलौकिक था। विवाहित होने पर भी आप आजीवन ब्रह्मचारी रहे और अपनी पुस्तकों को ही अपनी सन्तान समझते रहे।

कय्यट के तीनों ही टीकाकारों का समय लगभग १६ वीं सदी है।

[आ] कौमुदीकार

मुसलमानों के राज्य-स्थापन के बाद देश की दशा में पर्याप्त परिवर्तन आ गया।

वातावरण विदेशी सा बन गया, अतः अष्टाध्यायी को सुबोध बनाने के लिए नए क्रम से रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई। कौमुदियों के लिखे जाने का एक और कारण यह भी था कि टीका जितनी संभव थी हो चुकी थी। अब उस क्षेत्र में और कार्य करने की गुंजाइश नहीं के बराबर थी। तीसरा कारण यह भी कहा जा सकता है कि व्याकरण पर इतने अधिक ग्रंथ लिखे जा चुके थे कि उनको सुबोध बनाने के लिये नवीन क्रम की ही आवश्यकता शेष थी। प्रधान कौमुदीकार नीचे दिए जा रहे हैं—

(क) विमल सरस्वती (१४वीं सदी)

इनके ग्रन्थ का नाम रूपमाला है। इन्होंने अष्टाध्यायी के सूत्रों को विषय का क्रम दिया। पहले प्रत्याहार, संज्ञा और परिभाषा के सूत्रों को और उसके बाद स्वर, प्रकृतिभाव, व्यंजन और विसर्ग इन चार भागों में सन्धि के सूत्रों को तथा छः भागों में सुबन्त, तथा स्त्री प्रत्यय और कारको को स्थान दिया। अन्त में कृत्, तद्धित और समास के प्रकरणों को रखा।

रूपमाला में आख्यान का प्रकरण बहुत ही विस्तार से है। प्रत्येक लकार पर अलग शीर्षक में विचार किया गया है। अंत में लकारार्थमाला के रूप में एक परिशिष्ट भी है। रूपमाला की शैली बहुत ही सुन्दर है। विशेषतः विषयों का क्रम बहुत ही समीचीन है।

(ख) रामचन्द्र (१५वीं सदी)

ये दक्षिणी ब्राह्मण थे। इनकी पुस्तक प्रक्रिया-कौमुदी है। १६वीं सदी में प्रक्रिया कौमुदी पर कई टीकाएँ लिखी गईं, जिनमें से सबसे अधिक प्रसिद्ध विट्ठलाचार्य की है। टीका का नाम 'प्रसाद' है। दूसरी शेष कृष्ण की 'प्रक्रियाप्रकाश' है। इसके अतिरिक्त 'सार', 'अमृतिसृति' तथा 'व्याकृति' आदि भी हैं, पर इनका कोई विशेष महत्व नहीं है।

(ग) भट्टोजि दीक्षित (१७वीं प्रथम चरण)

इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'सिद्धान्त कौमुदी' है। इसकी महत्ता इतने से ही सिद्ध हो सकती है कि इसके आगे लोग अष्टाध्यायी को भी भूल गए। आज भी अधिकतर विद्यार्थी इसी को पढ़ते हैं।

भट्टोजि ने रामचन्द्र की प्रक्रिया कौमुदी तथा हेमचन्द्र के शब्दानुशासन से अपनी कौमुदी बनाने में विशेष सहायता ली है। आपने स्वयं अपने ग्रंथ पर 'प्रौढ़ मनोरमा' नाम की टीका लिखी। फिर उसका एक छोटा रूप 'बाल मनोरमा' भी बनाया।

आपने पाणिनि के धातु पाठ, तथा अष्टाध्यायी पर भी टीकाएँ लिखी। दूसरी टीका अपूर्ण है।

भट्टोजि की 'प्रौढ़-मनोरमा' पर जगन्नाथ और नागेश आदि ने टीकाएँ लिखीं। इसके बाद बिहारी की सतसई की भाँति इसकी अनेक टीकाएँ लिखी गईं।

(घ) वरदराज (१८वा सदी)

विद्यार्थी वर्ग में आपका नाम विशेष आदर से लिया जाता है। वरदराज ने सिद्धान्त कौमुदी के मध्य, लघु और सार तीन संक्षिप्त सस्करण प्रस्तुत किए। इनके इन तीनों सस्करणों पर भी टीका ग्रन्थ लिखे गए हैं। इन टीकाकारों में रामशर्मा और जयकृष्ण प्रसिद्ध हैं।

[१२] व्याकरण की पाणिनीतर शाखाएँ

ब्राह्मण-कर्त्ताओं को भाषा-विचारक के रूप में न माना जाय तो शाकटायन, प्रातिशाख्य-कर्ता (१००० ई० पू०), यास्क (८वीं सदी ई० पू०), आपिशलि तथा काशकृत्स्न (७ वीं सदी) आदि पूर्व पाणिनि शाखा के वैयाकरण थे। इनके बाद पाणिनि शाखा आई, जिसमें पाणिनि से लेकर वरदराज का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इन दो के अतिरिक्त भी कुछ शाखाएँ हैं, जिनमें से कुछ प्रसिद्ध शाखाओं पर हम यहाँ संक्षेप में विचार कर रहे हैं।

(क) चान्द्र शाखा

इस शाखा का प्रथम उल्लेख भर्तृहरि के वाक्य-पदीय में और अंतिम मेघदूत की मल्लिनाथ कृत टीका में मिलता है। इस शाखा के अधिक ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। डॉ० बूलर और डॉ० लीबिक के श्रम से इसके संबन्ध में कुछ बातें ज्ञात हो सकी हैं। इस शाखा के प्रसिद्ध वैयाकरण चन्द्रगोमिन हैं, जिनका समय ५वीं सदी के लगभग है। इन्होंने अपना व्याकरण पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि के व्याकरण से अधिक सुथरा और संक्षेप में लिखा। वैदिक व्याकरण और स्वराघात के विषय में कुछ पाणिनि के नियमों को परिवर्तित भी कर दिया। पाणिनि के माहेश्वर सूत्रों की संख्या को घटा-कर १३ कर दी। 'हयवरट्' और 'लण्', इन सूत्रों के स्थान पर एक ही सूत्र हयवर-लण् बनाया। कुछ प्रत्याहारों को निकालकर नए प्रत्याहार बनाए। सूत्रों को भी घटा कर लगभग ३१०० कर दिया। चन्द्रगोमिन की मौलिक और प्रधान देन ३५ सूत्रों की है। इनके व्याकरण में केवल छः अध्याय हैं। व्याकरण को असंज्ञक कहा गया है। इसके अतिरिक्त चन्द्रगोमिन ने उणादि सूत्र, धातुपाठ, गणपाठ आदि भी लिखे हैं।

इस शाखा का प्रचार लंका और तिब्बत में विशेष हुआ क्योंकि चन्द्रगोमिन बौद्ध थे।

इस शाखा में और भी ग्रन्थ लिखे गये होंगे पर आज हमें उनका पता नहीं है। १३वीं सदी में लिखित एक ग्रंथ 'बालव बोध' अवश्य लंका के एक बौद्ध पंडित काश्यप का मिलता है जो चन्द्रगोमिन के ही ग्रन्थ का एक छोटा संस्करण मात्र है।

(ख) जैनेन्द्र शाखा

जिस प्रकार चान्द्र शाखा पूर्णतः बौद्धों की थी, जैनेन्द्र शाखा जैनों की थी। इसके प्रथम वैयाकरण अंतिम तीर्थंकर महावीर माने जाते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से इस शाखा का भी आरंभ चान्द्र शाखा के आरंभ के समय ही हुआ। जैनेन्द्र व्याकरण के दो संस्करण हमें मिलते हैं। छोटे में ३००० सूत्र और बड़े में ३७०० हैं। इनमें मौलिकता का पूर्ण अभाव है। पाणिनि और कात्यायन से अधिकतर बातें ज्यों की त्यों ले ली गई हैं। इसके रचयिता देवनन्दी या पूज्यपाद हैं। धार्मिक कट्टरता इनमें इतनी है अन्य धर्मावलंबी वैयाकरणों का आभार तक नहीं स्वीकार किया है।

अभयनन्दी (८ वीं सदी) और सोमदेव की इस पर दो टीकाएँ केवल मिलती हैं। 'पंचवस्तु' नाम से एक आरंभ करने वालों के लिये इसका नवीन संस्करण भी मिलता है।

इस शाखा के विषय में और कुछ अधिक ज्ञात नहीं है।

(ग) शाकटायन शाखा

यह शाखा भी जैनों की ही है। इसके प्रधान वैयाकरण शाकटायन (८वीं सदी), दयापाल (१० वीं सदी), प्रभाचन्द्र तथा अभयचन्द्र (१४वीं सदी) हैं। इनका प्रथम और प्रधान ग्रंथ 'शाकटायन शब्दानुशासन' है। पाणिनि, चन्द्रगोमिन् और पूज्यपाद से इस व्याकरण में अधिक लिया गया है। इसमें चार-चार पादों के चार अध्याय हैं और लगभग ३२०० सूत्र हैं। क्रम कौमुदियों की भाँति है।

शाकटायन के ही लिखे पाणिनि के आधार पर उन्हीं नामों के धातुपाठ, गणपाठ आदि कुछ अन्य ग्रन्थ भी इस शाखा में हैं।

इस शाखा में भी टीकाकारों और कौमुदीकारों के दो युग आये हैं। टीकाओं में 'न्यास' और 'चिन्तामणि' प्रसिद्ध हैं। कौमुदियों में 'प्रक्रिया-संग्रह' मुख्य है।

हेमचन्द्र की शाखा के कारण यह शाखा लुप्त हो गई।

(घ) हेमचंद्र शाखा

प्रचार की दृष्टि से पाणिनि शाखा के बाद हेमचंद्र शाखा का नाम आता है। इसके सूत्रपातकर्ता हेमचन्द्र (१०८८ ई०—११७२ ई०) एक जैन साधु थे। गुजरात के इतिहास में भी इनका हाथ है। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'शब्दानुशासन' है, जिसका पूरा नाम 'सिद्धहेमचन्द्राभिधस्वोपज्ञशब्दानुशासन' है। इसमें ८ अध्याय और ३२ पाद हैं। सूत्रों की संख्या ४५०० है। इनमें लगभग ११०० सूत्र अंतिम अध्याय में हैं, जिनमें उस समय की जन भाषा प्राकृतों (महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाची, अपभ्रंश) का वर्णन है। इनका संस्कृत व्याकरण का अंश तो अच्छा नहीं है पर इन जन भाषाओं का वर्णन बड़ा ही सुन्दर है। इन्होंने संक्षेप में अधिक से अधिक कहने का प्रयास किया है। शाकटायन के 'शब्दानुशासन' का इन पर प्रभाव स्पष्ट है।

हेमचंद्र ने अपने शब्दानुशासन पर 'शब्दानुशासन-बृहद्वृत्ति' नामक टीका भी लिखी। यह टीका बहुत ही विवेचनापूर्ण है। इनके द्वारा लिखे कुछ अन्य ग्रंथ भी कहे जाते हैं, जिनमें पाणिनि की भाँति, धातुपाठ, उणादि सूत्र तथा गणपाठ आदि भी हैं।

हेमचंद्र पर लिखी गई टीकाओं में 'बृहद्वृत्ति-ढुंढिका' प्रसिद्ध है, पर इसकी पूरी पोथी नहीं मिलती। इसके लेखक के विषय में भी अनिश्चय है। दूसरी प्रसिद्ध टीका देवेन्द्र सूरि की 'हेमलघुन्यास' है।

टीकाओं के अतिरिक्त 'हेमलघु-प्रक्रिया' आदि कई कौमुदियाँ भी अन्य शाखाओं के अनुकरण पर बनाई गईं।

१५ वीं सदी तक ही इस शाखा में काम होता रहा।

(ङ) कातंत्र शाखा*

कातंत्र का शाब्दिक अर्थ 'संक्षिप्त संस्करण' है। यह व्याकरण, पढ़ना आरंभ करने वालों के लिये पाणिनि के आधार पर बनाया गया था। मूलतः यह कोई स्वतंत्र शाखा नहीं थी। इसकी रचना सर्वसाधारण के लाभ के लिए की गई थी। विशेषतः जब कि लोगों को प्राकृत के माध्यम से संस्कृत सीखनी थी। इसमें १४०० सूत्र हैं।

इसके आरंभ के विषय में एक बड़ी मनोरंजक कथा है। एक बार एक दक्षिणी राजा शातवाहन ने जलक्रीड़ा करते समय अपनी रानी के 'मोदकं देहि राजन्' कहने

---

* कुछ लोग इसी को ऐन्द्र भी मानते हैं। इसका प्रसिद्ध ग्रंथ 'कातंत्र' है

पर उसे कुछ मोदक (मिठाई) दिए, फिर जब उसे अपनी गलती ज्ञात हुई तो अपने पंडित शर्ववर्मन को संस्कृत जानने के लिये एक विशिष्ट व्याकरण रचने की आज्ञा दी। उसने भगवान कार्तिकेय या कुमार की सहायता से इस संक्षिप्त संस्करण को तैयार किया। इसी लिये इसे कौमार व्याकरण भी कहते हैं। इसी से संबद्ध एक अन्य आधार पर इस शाखा का नाम कालाप शाखा भी है।

इसका आरम्भ दूसरी सदी से है। ७ वीं सदी के लगभग इसका काश्मीर में प्रचार हुआ। इसके प्रथम टीकाकार दुर्गासिंह (६ वीं सदी) हैं। आज के उपलब्ध पाठों में प्रक्षिप्तांश का बाहुल्य है।

इसके प्रसिद्ध वैयाकरण जगद्धर, छिछुभट्ट तथा महादेव आर्य हैं। १५ वीं सदी से इसका प्रचार बंगाल में हो गया, और बहुत सी टीकाएँ लिखी गईं।

आज भी काश्मीर में प्रचलित व्याकरण 'कातंत्र' के आधार पर ही बने हैं।

(च) सारस्वत शाखा

इसका आरंभ १३ वीं सदी से है। इसकी मूल पुस्तक में सारी बातें बहुत सरल ढंग से संक्षेप में समझाई गई हैं। पाणिनि के ४००० सूत्रों के स्थान पर इसमें केवल ७०० सूत्र हैं। इसका अवतरण भी जनता की माँग के कारण ही हुआ। इस शाखा को प्रोत्साहन देने वाले गयासुद्दीन खिलजी और सलेमशाह नामक मुसलमान शासक थे।

संक्षेप और सरलता इसकी प्रधान विशेषता थी। प्रत्याहार तथा माहेश्वर सूत्र भी कुछ परिवर्तित ढङ्ग से इसमें रखे गए हैं। वैदिक व्याकरण को यहाँ अनावश्यक समझ कर स्थान नहीं दिया गया है।

कहा जाता है कि सरस्वती से अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने इसे प्राप्त किया था। पर, सत्य यह है कि अनुभूतिस्वरूप एक टीकाकार थे। शाखा के जनक कोई अन्य महाशय थे, जिनके संबंध में आज कुछ भी ज्ञात नहीं है। अमृतभारति, क्षेमेन्द्र, हर्षकीर्ति, मंडन आदि भी अन्य टीकाकार इस शाखा में हुए हैं।

यह शाखा १८वीं सदी तक चलती रही है। फिर इधर पाणिनि शाखा के अधिक प्रचार के कारण इसका लोप हो गया। विल्किन नामक अंग्रेज विद्वान् ने भी इस शाखा के आधार पर एक व्याकरण लिखा। कुछ लोग आज भी इसे प्रोत्साहन देते हैं। सचमुच सरलता की दृष्टि से इसे पाणिनि शाखा से कहीं अधिक उपयोगी कहा जा सकता है।

(छ) बोपदेव शाखा

इस शाखा का आरंभ बरार निवासी बोपदेव से माना गया है। बोपदेव (१३ वीं सदी) बहुत बड़े विद्वान् थे, और इन्होंने कई विषयों पर पुस्तकें लिखीं। भाषा संबन्धी इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'मुग्धबोध' है। जैन, बौद्ध आदि धर्मों का प्रभाव इन पर नहीं था। इनका भी प्रधान ध्येय सरलता और संक्षेप ही है। इनकी शैली कातंत्र से मिलती-जुलती है। इनके माहेश्वर-सूत्र और प्रत्याहार पाणिनि से कुछ भिन्न हैं। वैदिक विशेषताओं की ओर से ये भी उदासीन हैं। इनके पारिभाषिक शब्द भी पाणिनि से भिन्न हैं। (जैसे धातु के लिए धू तथा वृद्धि के लिये वृ आदि)।

मुग्धबोध का अधिक प्रचार नहीं हो सका। १७ वीं सदी तक यह बंगाल के नदिया जिले तक सीमित हो गया। इस पर भी टीकाएँ और कौमुदियाँ बनीं, जिनमें रामतर्कवागीश की अधिक प्रसिद्ध है।

(ज) शेष शाखाएँ

शेष में प्रधान जौमर (१२००-१४००), सौपद्म (१३००-१५५०) और हरिनामामृत (१६ वीं सदी) आदि शाखाएँ हैं, जिनके प्रसिद्ध लेखक क्रम से जुमरनन्दी, पद्मनाभदत्त और हरिनामामृत हैं। महत्वपूर्ण न होने के कारण इनका नाम ले लेना ही पर्याप्त है।

[१३] पाली

पाली व्याकरणों की रचना भारतवर्ष, ब्रह्म प्रदेश और लंका तीनों ही स्थानों में हुई। इन व्याकरणों की तीन शाखाएँ बनाई जा सकती हैं—कच्चायन, मोग्गल्लान तथा अग्गवंस। ये तीनों ही शाखाएँ संस्कृत से प्रभावित हैं और विषय की दृष्टि से अपूर्ण हैं। यहाँ इन पर पृथक्-पृथक् विचार कर लेना अनावश्यक न होगा।

[क] कच्चायन

कच्चायन (कात्यायन) संस्कृत वैयाकरण कात्यायन से भिन्न हैं। इनका समय ८वीं या ९वीं सदी के लगभग है। इनकी प्रधान कृति 'कच्चायन व्याकरण' है, जिसकी सबसे बड़ी कमी यह है कि यह कृति पाली और संस्कृत के ऐतिहासिक सम्बन्ध पर प्रकाश नहीं डालती। इस ग्रंथ के अतिरिक्त दो और व्याकरण ग्रंथ भी इनके लिखे कहे जाते हैं।

इनकी शाखा में 'कच्चायन व्याकरण' की कई टीकाएँ लिखी गईं। इनमें सबसे

प्रसिद्ध विमलबुद्धि की टीका 'न्यास' है। इस 'न्यास' पर भी कुछ टीकाएँ भारत तथा ब्रह्मदेश में लिखी गई हैं।

छपद की 'सुत्तनिद्देस' तथा संघरक्खित की 'सम्बन्धचिन्ता' आदि पुस्तकें भी इसी शाखा की हैं।

[ख] मोग्गलान (१२वीं सदी)

इन्हें मोग्गल्लायन भी कहा गया है। इनकी प्रधान पुस्तक 'मोग्गलायन व्याकरण' है। इस पर इन्होंने स्वयं 'मोग्गल्लायन-पंचिका' नामक टीका भी लिखी है। इनका व्याकरण भी कुछ दृष्टियों से अपूर्ण है, पर कच्चायन की अपेक्षा बहुत अच्छा है। वर्गीकरण तथा इनके पारिभाषिक शब्द कच्चायन से भिन्न हैं। इन्होंने छोटे-मोटे प्राचीन पाली व्याकरण और पाणिनि तथा चंद्रगोमिन आदि से अधिक सहायता ली है।

इस शाखा में भी अनेक टीकाएँ लिखी गईं, जिनमें से पियदस्सिन की 'पदसाधन' तथा राहुल की 'मोग्गल्लायन-पंचिकापदीय' उल्लेखनीय हैं।

[ग] अग्गवंस (१२वीं सदी)

अग्गवंस ब्रह्मदेश के निवासी थे। इनकी पुस्तक 'सिद्धनीति' है। अग्गवंस की शाखा का प्रचार लंका और ब्रह्मदेश में हुआ। यह शाखा प्रमुखतः कच्चायन पर आधारित है, अतः इसे कुछ लोग स्वतंत्र शाखा न मान कर कच्चायन के अंतर्गत ही मानते हैं।

[१४] प्राकृत

प्राकृत के व्याकरण विशेषतः संस्कृत नाटकों के प्राकृत-अंशों को समझने के लिए लिखे गए थे। जीवित प्राकृत से उनका कोई संबन्ध नहीं था। इन व्याकरणों का ढाँचा भी पूर्णतः संस्कृत व्याकरणों पर आधारित था।

प्राकृत वैयाकरणों की प्रतीच्य और प्राच्य दो शाखाएँ मानी गई हैं।

(क) प्रतीच्य शाखा

इस शाखा के सूत्रों के रचयिता कोई वाल्मीकि कहे जाते हैं, इसी कारण इस शाखा को वाल्मीकि शाखा की भी संज्ञा दी गई है। इन सूत्रों की सबसे प्रसिद्ध टीका त्रिविक्रम (१३वीं सदी) की है जो 'प्राकृत व्याकरण' के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरी टीका लक्ष्मीधर (१६वीं सदी) लिखित 'शब्द-भाषाचंद्रिका' है।

हेमचंद्र (१२ वीं सदी)

इस शाखा का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ हेमचंद लिखित 'सिद्ध हेमचन्द्र' (शब्दा-नुशासन) है। इस ग्रंथ का पूरा नाम 'सिद्धहेमचंद्राभिधस्वोपज्ञशब्दानुशासन' है। इस पुस्तक के ७ अध्याय तो संस्कृत व्याकरण के हैं, जिनके संबन्ध में ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इसका ८ वाँ अध्याय पूरे ग्रंथ का लगभग चौथाई है, जिसमें प्राकृतों पर विचार किया गया है, जिनमें महाराष्ट्री, शोरसेनी, मागधी, पैशाची तथा चूलिका पैशाची आदि प्रधान हैं। हेमचंद्र के सूत्र इनके अपने हैं, पर शैली वही पुरानी है।

(ख) प्राच्य शाखा

इस शाखा के सर्वप्रसिद्ध वैयाकरण वररुचि हैं, अतः उनके नाम से भी यह शाखा प्रसिद्ध है।

वररुचि (५वीं सदी)

प्राकृत भाषा का सबसे पुराना व्याकरण वररुचि का 'प्राकृत-प्रकाश' है। इसके प्रथम नौ अध्यायों में संस्कृत के आधार पर महाराष्ट्री प्राकृति का बहुत विस्तृत वर्णन है। १० वें, ११ वें और १२ वें अध्याय में क्रम से पैशाची, मागधी और शौरसेनी का वर्णन है। शौरसेनी का वर्णन बहुत संक्षेप में है, क्योंकि शेष बातों में वह महा-राष्ट्री से भिन्न नहीं है।

'प्राकृत-प्रकाश' पर प्राचीनतम टीका कात्यायन (७वीं सदी) लिखित 'प्राकृत-मंजरी' है।

इस शाखा की अन्य प्रसिद्ध कृतियाँ लंकेश्वर की 'प्राकृत-कामधेनु', वसंतराज की 'प्राकृत-संजीवनी' तथा उड़ीसा-निवासी मारकंडेय (१७वीं सदी) की 'प्राकृत-सर्वस्व' हैं। इनमें 'प्राकृत-सर्वस्व' का स्थान शेष से अधिक महत्वपूर्ण है।

अपभ्रंश के संबन्ध में स्वतंत्र रूप से लिखी गई प्राचीन पुस्तकें प्रायः नहीं के बराबर हैं। हाँ, हेमचन्द्र आदि के प्राकृत व्याकरणों के अंत में इस संबंध में कुछ सामग्री अवश्य दी हुई है।

[१५] व्याकरणेतर ग्रंथों में भाषा विषयक अध्ययन

उपर्युक्त वैयाकरणों के अतिरिक्त कुछ अन्य शास्त्र वालों ने भी भाषा पर प्रकाश डालने के सुन्दर प्रयास किए हैं, जिनमें प्रधान नैयायिक तथा साहित्यिक हैं।

(क) नैयायिक

बंगाल के नदिया के तार्किकों या नैयायिकों ने भाषा के मनोविज्ञान-पक्ष की ओर ध्यान दिया। इससे 'अर्थ-विज्ञान' पर कुछ प्रकाश पड़ा। इस दृष्टि से जगदीश तर्कालंकार का 'शब्द-शक्ति-प्रकाशिका' ग्रंथ अधिक महत्वपूर्ण है।

(ख) साहित्यिक

कुछ साहित्यिकों ने रीति या काव्यशास्त्र का विवेचन करते हुए भाषा के अर्थ पक्ष का सुन्दर विवेचन किया। ऐसों में ध्वन्यालोक, साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश, चन्द्रालोक आदि के रचयिता प्रधान हैं। ये लोग अलंकार एवं शब्द-शक्तियों के वर्णन में इस ओर झुके हैं।

भारत में की गई भाषा सम्बन्धी प्राचीन खोज को यहाँ समाप्त करते हुए कहा जा जा सकता है कि, रूप, वाक्य, ध्वनि और अर्थ प्रत्येक दृष्टि से आधुनिक दृष्टिकोणों के अभाव में भी यहाँ पर्याप्त कार्य हुआ था, और इस क्षेत्र में भारत अन्य देशों से बहुत आगे था।

ब. आधुनिक

भारत में भाषा-विज्ञान का आधुनिक रूप में अध्ययन यूरोप के संसर्ग से आरंभ हुआ है। सत्य तो यह है कि पहले-पहल उन्हीं लोगों ने यहाँ इसका प्रारम्भ भी किया, और इसी कारण यह श्रेय उनको ही प्राप्त है। यहाँ इस क्षेत्र में काम करने वाले प्रमुख लोगों के कार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

१. बिशप काल्डवेल (१८१४—१८६१ ई०)

काल्डवेल ने द्रविड़ भाषाओं के अध्ययन में अपना पूरा जीवन खपा दिया। ये सभी द्रविड़ भाषाओं के पंडित थे। १८५६ में इनका 'द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' (Comparative Grammar of the Dravidian languages) प्रकाशित हुआ, जो आज १०० वर्ष बाद भी अपने क्षेत्र का अद्वितीय ग्रंथ है।

२. जान बीम्स

बीम्स १८५७ में सिविल सर्विस में आए। यहाँ आते ही इन्होंने भारतीय भाषाओं का अध्ययन शुरू किया और लगभग १० वर्ष बाद इनका 'आउट लाइन्स आव इंडियन फिलालजी' नाम का ग्रंथ प्रकाशित हुआ। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'भारतीय आर्य भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' है। इसके ३ भाग क्रम से १८७२, १८७५ और १८७६ में प्रकाशित हुए। प्रथम भाग में एक लंबी सी भूमिका है जो बहुत ही

महत्वपूर्ण है। इस भाग में ध्वनियों का विवेचन है। उदाहरण की प्रचुरता के कारण यह भाग अन्यों की अपेक्षा अधिक आकर्षक है। दूसरे भाग का संबन्ध संज्ञा तथा सर्वनाम से तथा तीसरे का क्रिया से है। इस विशालकाय व्याकरण में योग्य लेखक ने आर्य परिवार की भारत की सभी प्रमुख भाषाओं (सिंधी, पंजाबी, हिन्दी, गुजराती, मराठी, बँगला तथा उड़िया आदि) के व्याकरणों का तुलनात्मक ढंग से ऐतिहासिक अनुशीलन किया है।

३. डी० ट्रम्प

ट्रम्प संस्कृत, प्राकृत, सिंधी तथा पश्तो आदि भाषाओं के विद्वान् थे। सन् १८७२ में इनका सिंधी व्याकरण (Grammar of the Sindhi language Compared with the Sanskrit, Prakrit and the Cognate Indian Vernaculars) प्रकाशित हुआ, जिसमें संस्कृत, प्राकृत तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं से भी तुलनात्मक सामग्री दी गई है। एक वर्ष बाद १८७३ में इनका पश्तो व्याकरण प्रकाश में आया।

४. एस्० एच्० केलाग

ये पादरी थे। इनका हिन्दी भाषा का व्याकरण १८७६ में प्रकाशित हुआ। यह व्याकरण प्रमुखतः तो खड़ी बोली हिन्दी का है, पर तुलनात्मक ढंग से ब्रज, अवधी, राजस्थानी, तथा बिहारी आदि की भी सामग्री दी गई है। अध्यायों के अंत में व्याकरण के मुख्य रूपों का इतिहास भी दे दिया गया है।

५. डा० सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर

भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में इस युग में काम करने वाले ये प्रथम भारतीय हैं। भंडारकर प्रमुखतः प्रत्न भारतीय इतिहास तथा पुरातत्व के विद्वान थे, पर आर्य भाषाओं का भी पर्याप्त अध्ययन किया था। १८७७ में बंबई विश्वविद्यालय में इस विषय पर इन्होंने सात व्याख्यान दिए जो ३७ वर्ष बाद १९१४ में पुस्तक* रूप में छपे। भंडारकार ने प्राचीन भारतीय भाषा-विज्ञान के साथ-साथ नवीन यूरोपीय भाषा-विज्ञान का भी अध्ययन किया था, इसी कारण यह पुस्तक बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है। आरम्भ में भाषा के विकास के संबन्ध में सामान्य नियम दिए गए हैं, तथा संस्कृत के विकास की विभिन्न अवस्थाओं पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे अध्याय में

---

* Wilson, Philological Lectures.

पाली तथा उस समय की अन्य बोलियों का विवेचन है। तीसरे और चौथे अध्याय क्रम से 'प्राकृत-अपभ्रंश' तथा 'उत्तरभारतीय आधुनिक भाषाओं की ध्वनि' से सम्बन्ध रखते हैं। पाँचवें और छठें में आधुनिक भाषाओं में पाए जाने वाले प्राचीन तथा नवीन रूपों का विवेचन है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह अध्याय विशेष महत्व रखता है। सातवाँ अध्याय प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक आर्य भाषाओं के सम्बन्ध पर प्रकाश डालता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि निर्माणकाल को देखते हुए यह ग्रंथ बहुत ही महत्व का है।

४. डा० ए० रूडल्फ हार्नली (१८४१ –१९१८ ई०)

हार्नली साहब पहले काशी में जयनारायण स्कूल के प्रधानाध्यापक थे। बाद में रायल एशियाटिक सोसायटी पत्रिका के संपादक हो गए। १८८० में इनका गाडियन भाषाओं, विशेषतः पूर्वी हिंदी का तुलनात्मक व्याकरण (Grammar of Eastern Hindi, Compared with the Other Gaudian languages) प्रकाशित हुआ। इसमें प्रमुख ध्यान भोजपुरी है, पर साथ-साथ प्रमुख आधुनिक आर्यभाषाओं से तुलनात्मक ढंग पर भी सामग्री दी गई है। विवेचन की कमी होने पर भी सामग्री की नवीनता एवं प्रचुरता के कारण यह ग्रंथ आज तक महत्त्वपूर्ण बना है।

५ जार्ज आब्राहम ग्रियर्सन

ये बिहार में काम करते थे। भाषा के सम्बन्ध में इनके अतुल ज्ञान का पता इसी से लग सकता है कि कई सौ भाषाओं का इन्हें पूर्ण ज्ञान था। पहले इन्होंने बिहारी भाषाओं का अध्ययन किया और इनके 'बिहारी भाषाओं के सात व्याकरण' १८८३ से ८७ तक प्रकाशित हुए। १८९४ में इनका प्रसिद्ध कार्य 'भारतीय भाषाओं का सर्वे' आरम्भ हुआ। ३३ वर्ष घोर परिश्रम के बाद १९२७ में ये इसे समाप्त कर सके। आज तक विश्व के किसी भी देश में भाषाओं की ऐसी पैमाइश नहीं हुई है। यह ग्रंथ-रत्न ११ बड़ी-बड़ी जिल्दों में है, जिनमें सभी भारतीय भाषाओं तथा बोलियों का सोदाहरण व्याकरण दिया गया है। आरम्भ में बहुत विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण भूमिका है, जिसमें भारतीय आर्य भाषाओं का प्रामाणिक इतिहास है। १९०६ में पिशाच भाषा तथा १९११ में कश्मीरी पर (२ भागों में) भी इनके प्रामाणिक ग्रंथ प्रकाशित हुये थे। १९२४ में ४ भागों में इनका कश्मीरी कोष प्रकाशित हुआ।

६. रेल्फ लिले टर्नर

लगभग ३० ३५ वर्षों के कठिन परिश्रम के फलस्वरूप इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ नेपाली

कोष १९३१ में प्रकाशित हुआ। इसमें सभी नेपाली शब्दों की व्युत्पत्ति देने का प्रयास किया गया है। साथ में भारत की प्रधान आर्य भाषाओं के शब्द भी तुलना के ढंग पर दे दिये गए हैं। कहीं-कहीं यूरोपीय भाषाओं के भी तुलनात्मक शब्द हैं। लगभग २०० शब्द मूल भारोपीय भाषा के दिये गए हैं। पुस्तक २१२ भाषाओं के आधार पर लिखी गई है। यह सभी ने स्वीकार किया है कि यह भारतीय आर्य भाषाओं का प्रथम वैज्ञानिक नैरुक्तिक कोष है।

इस ग्रन्थ के अतिरिक्त टर्नर ने मराठी स्वराघात, गुजराती ध्वनि, तथा सिंधी पर भी कुछ कार्य किया है।

७. ज़ूल ब्लाक

इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'मराठी की बनावट' (१९१९) है। किसी भारतीय भाषा का वैज्ञानिक इतिहास तथा उसकी बनावट का पूर्ण विवेचन प्रथम बार इस पुस्तक में हुआ है। ध्वनि और रूप का विवेचन इसमें विशेष है। इसके अतिरिक्त इनका 'भारतीय आर्य भाषाएँ' ग्रन्थ भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इन्होंने द्रविड़ों और आर्यों के पूर्व के भारतीयों की भाषा आदि के संबंध में भी कुछ निबंध लिखे हैं।

८. शेष विद्वान् और उनके प्रधान विषय

इन प्रमुख नौ के अतिरिक्त और भी बहुत से विद्वानों ने भारत में भाषाओं पर कार्य किए हैं। यहाँ भाषाओं के अनुसार प्रमुख लोगों के उल्लेख किये जा रहे हैं।

क. मूल भारोपीय भाषा

इस सम्बन्ध में केवल आर्बेन्द्र शर्मा, टर्नर तथा सुनीति कुमार चटर्जी का नाम उल्लेख्य है।

ख. संस्कृत

डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप, वी० के० राजवादे तथा डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने यास्क के निरुक्त पर काम किया है। विश्ववंद्य शास्त्री तथा आर० एन० डाडेकर आदि के कार्य वेदों से संबद्ध हैं। संस्कृत और दर्द भाषा के सम्बन्ध पर कार्य करने का श्रेय सिद्धेश्वर वर्मा को है। ई० डी० कुलकर्नी ने महाभारत की कुछ क्रियाओं पर प्रकाश डाला है। डा० सुकुमार सेन भी इस विषय के अच्छे विद्वान् हैं। इधर १९४९ में एक नये अध्येता डा० कपिलदेव द्विवेदी ने 'संस्कृत में अर्थ-विचार' तथा 'संस्कृत व्याकरण' के दर्शन पर 'अर्थ-विज्ञान और व्याकरण दर्शन' नामक एक उपयोगी और महत्वपूर्ण

ग्रन्थ लिखा है। डॉ० सूर्यकांत शास्त्री का 'ए ग्रैमेटिकल डिक्शनरी आव् संस्कृत' भी सुंदर कार्य है। बटेकृष्ण घोष ने भी संस्कृत भाषा पर कार्य किया है।

ग. पाली प्राकृत तथा अपभ्रंश

अलफर्ड सी० वूलनर (प्राकृत), मनमोहन घोष (महाराष्ट्री प्राकृत, जिसे भारत की राष्ट्र भाषा मानते हैं), बापट, विधुशेखर भट्टाचार्य, गुणे, वैद्य, उपाध्ये, केशव का० शास्त्री, दूरीसेले, गाइगर, हरिवल्लभ भायाणी, सुकुमार सेन, डॉ० एस्०-एम्० कत्रे, भिक्षु जगदीश (पाली), हीरालाल जैन (अपभ्रंश) शहीदुल्ला (पाली तथा सिद्धों का अपभ्रंश) प्रबोध चद्र बाग्ची (अपभ्रंश) महेंदाले, तगारे तथा बनारसीदास जैन आदि ने विशेष कार्य किए हैं।

घ. अवेस्ता आदि

तारापूरवाला, पूनावाला, कागा, कपाड़िया तथा सुकुमारसेन आदि के इस विषय पर उल्लेखनीय कार्य हैं।

ङ. बँगला

वर्तमान समय के भारत के ही नहीं, एशिया के सबसे बड़ा भाषाविज्ञान-वेत्ता डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी हैं, जिनकी प्रसिद्ध पुस्तक बंगला भाषा की उत्पत्ति और विकास (ऑरिजिन ऐंड डेवलपमेंट ऑव् बँगाली लैंग्वेज) है। इस पुस्तक को वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं का विश्व कोष कहा गया है, क्योंकि इसकी भूमिका में लगभग सभी वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं पर प्रामाणिक सामग्री मिल जाती है। डॉ० चटर्जी ने 'भाषातत्वेर भूमिका' रूप में भाषा-विज्ञान के सामान्य सिद्धांतों पर तथा बंगला के व्याकरण पर भी महत्वपूर्ण कार्य किया है। इन्होंने बंगला ध्वनि पर भी स्वतंत्र पुस्तक के रूप में कार्य किया है।

मजूमदार की 'हिस्ट्री आव् बँगाली लैंग्वेज' भी बंगला भाषा पर अच्छी पुस्तक है। सुकुमार सेन ने भाषार इतिवृत्त, 'इस्लामी बँगला साहित्य' के अंतिम अध्याय एवं चर्यागीति पदावली की भूमिका रूप में अच्छे कार्य किए हैं। बंगला वाक्य-विज्ञान पर भी इनका कार्य है। अर्थ-विज्ञान पर हेमंत कुमार सरकार तथा विजन बिहारी भट्टाचार्य ने कार्य किया है। भट्टाचार्य जी की पुस्तक का नाम 'वागर्थ' है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी इस विषय पर 'अर्थ-तत्त्व' नाम की एक पुस्तक लिखी थी।

ज्ञानेन्द्र मोहनदास का 'बाँगला भाषार अभिधान' शीर्षक बंगला का व्युत्पत्ति कोष है।

बंगला भाषा की बोलियों पर भी सुंदर कार्य हुए हैं। इस संबंध में गोपाल हल्दर (दक्षिणी पूर्वी बंगाल के नोआखाली की बोली) कृष्णपद गोस्वामी (चिटागांग की बोली) तथा प्रफुल्ल भट्टाचार्य (बर्दवानी) के नाम विशेष उल्लेख्य हैं।

कृष्णपद गोस्वामी ने इधर बंगाल के स्थान वाचक भौगोलिक नामों पर शोधकार्य किया है। इसी प्रकार सी० दत्त ने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में (१२००-१५०० ई० तक) फारसी तथा अरबी के शब्दों पर काम किया है।

च. उड़िया

उड़िया भाषा के इतिहास पर 'ओड़िया भाषार इतिहास' शीर्षक पं० विनायक मिश्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। गोपाल चंद्र का महत्वपूर्ण ग्रंथ ओड़िया कोष है, जिसमें कई भाषाओं के तुलनात्मक शब्द दिए गए हैं। पं० गोपीनाथ चंद शर्मा ने 'ओड़िया भाषा तत्त्व' तथा गिरिजाशंकर राय ने 'सरल भाषा तत्व' शीर्षक ग्रंथ लिखे हैं। इन लोगो के अतिरिक्त ग्रंडी तथा गोलक बिहारी ढल ने भी उड़िया भाषा पर कार्य किया है। जी० एस्० राय का कार्य उड़िया व्याकरण पर है।

नेपाली

टर्नर का नेपाली कोष अपने ढंग का प्रसिद्ध ग्रंथ है। टर्नबुल ने नेपाली व्याकरण पर कार्य किया है।

छ. आसामी

आसामी भाषा के प्रसिद्ध विद्वान बानीकान्त काकाती हैं। १९४१ में इन्होंने 'आसामी का स्वरूप और विकास' ग्रंथ लिखा। आसामी कोष बरुआ तथा ब्रान्सन के

सिंधी

इस संबंध में टर्नर तथा ट्रंप के नाम ऊपर लिए जा चुके हैं। ट्रंप का व्याकरण पुराना होने पर भी बहुत महत्वपूर्ण है। शाहानी का अंग्रेज़ी से सिंधी तथा सिंधी से अंग्रेज़ी कोष सिंधी का प्रामाणिक कोष है।

पंजाबी, कश्मीरी तथा दर्द आदि

बनारसी दास ने पंजाबी ध्वनियों पर काम किया है। टी० ग्रैहेम बेली तथा डॉ० खजुरिया का भी पंजाबी भाषा पर काम करने वालों में महत्वपूर्ण स्थान है। इधर प्यारा सिंह पदम का 'पंजाबी बोली दा इतिहास' तथा प्रो० प्रेम प्रकाश सिंह का

'पंजाबी बोली दा निकास ते विकास' सुंदर ग्रंथ निकले हैं। संत साहित्य के प्रसिद्ध मर्मज्ञ मोहन सिंह भी इधर पंजाबी पर कुछ काम कर रहे हैं।

लहँदी की ध्वनियों पर डॉ० हरदेव बाहरी ने महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। मुल्तानी की ध्वनियों पर डॉ० परमानंद बहल ने काम किया है।

डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा का कुछ कार्य दर्द पर भी है। कश्मीरी के संबंध में ग्रियर्सन के काम का संकेत पीछे किया जा चुका है।

मराठी

मराठी की बनावट के संबंध में ज़ूल ब्लाक ने फ्रेंच में बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया है, जिसका मराठी अनुवाद हो चुका है। इसमें मराठी ध्वनि तथा रूप-विवेचन विशेष रूप से विस्तृत तथा वैज्ञानिक है। डा० सुमित्र मंगेश कत्रे ने कोंकणी की बनावट पर कार्य किया है। मराठी का तौलनिक व्युत्पत्ति कोष श्री के० पी० कुलकर्णी ने लिखा है। आधुनिक मराठी के रूप आदि पर काम करने वाले विद्वान् सबनीस हैं। इनका 'आधुनिक मराठी चे उच्चतर व्याकरण' बहुत ही महत्वपूर्ण है। कुलकर्णी ने 'मराठी भाषा उद्गम व विकास' शीर्षक से मराठी के उद्गम और विकास पर कार्य किया है। 'पंसे' का ज्ञानेश्वरी की भाषा पर बहुत महत्वपूर्ण कार्य है।

गुजराती

अभारतीय लोगों में टर्नर, टेसीटरी तथा ग्रियर्सन ने गुजराती भाषा पर काम किए थे। केशवराम काशीराम शास्त्री ने ग्रियर्सन के कार्य का 'गुजराती भाषा' नाम से अनुवाद किया है। टर्नर का गुजराती फोनालोजी अपने विषय का प्रामाणिक कार्य है। भारतीय विद्वानों में गुजराती पर काम करने वालों में नरसिंहराव भोलानाथ डिवाटिया प्रथम व्यक्ति हैं। इनकी पुस्तक का नाम 'हिस्ट्री आव् द गुजराती लैंग्वेज' है। प्रामाणिकता की दृष्टि से तीसडाल का 'गुजराती लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर' ग्रंथ उल्लेख्य है। और लोगों में केशवराम काशीराम शास्त्री, डॉ० भोगीलाल, डॉ० सांडेसरा, डॉ० हरिवल्लभ भायाणी, बेचरदास जीवराज दोशी, डॉ० पी० बी० पंडित तथा कांतिलाल ब० व्यास आदि प्रधान हैं।

केशवराम शास्त्री ने 'आपणा कविओ' खंड १ में प्राचीन गुजराती भाषा पर प्रकाश डाला है। डॉ० सांडेसरा का 'शब्द अने अर्थ' शीर्षक अर्थ-विज्ञान विषयक ग्रंथ प्रसिद्ध है। डॉ० भायाणी ने गुजराती के संबंध में बहुत से लेख लिखे हैं, जिनका संग्रह 'वाग्व्यापार' नाम से प्रकाशित हुआ है। पी० बी० पंडित ने ध्वनि-विज्ञान तथा

ध्वनि-श्रेणी-विज्ञान के क्षेत्र में कार्य किया है। दोशी जी तथा व्यास जी के प्रसिद्ध ग्रंथ 'गुजराती भाषानी उत्क्रांति' तथा 'गुजराती भाषा-शास्त्रना विकासनी रूपरेखा' हैं।

द्रविड़

द्रविड़ भाषाओं के संबंध में काल्डवेल का 'काम्परेटिव ग्रामर आव् द्राविडियन लैंग्वेजेज़' पुराना और प्रामाणिक ग्रंथ है। अन्य लोगों में नरसिंह चार (कन्नड़), राम कृष्ण (तमिल), अमृतराव (तमिल) नीलकंठ शास्त्री (तमिल), रामास्वामी अय्यर (मलयालम), ए० सी० शेखरम् (मलयालम), डेनिस डे एस० ब्रे (ब्राहुई) तथा पादरी हेरास (सिंधुघाटी के अभिलेख और द्रविड़ भाषा) आदि प्रमुख हैं। इनमें शेखरम् का 'इवाल्यूशन आव् मलयालम' आधुनिकतम दृष्टि से लिखा गया बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

सिंहली

सिंहली पर काम करने वालों में गाइगर का नाम उल्लेख्य है।

हिंदी

हिंदी और उसकी विभिन्न बोलियों या रूपों के संबंध में. कार्य करने वाले प्रधान विद्वान् निम्नांकित हैं—

हिंदी—बीम्स, केलाग, ग्रियर्सन, श्याम सुंदर दास, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, पद्मसिंह शर्मा, सुनीतिकुमार चटर्जी, धीरेन्द्रवर्मा, कामता प्रसाद गुरु, उदयनारायण तिवारी, जहाँगीरदार, चंद्रबली पांडेय, रामचंद्र वर्मा, हरदेव बाहरी तथा किशोरीदास वाजपेयी आदि।

उर्दू—पद्मसिंह शर्मा, मसऊद खाँ तथा चंद्रबली पांडेय आदि।

हिंदुस्तानी—प्लाट्स, गिलक्राइस्ट, सी० जे० लाल, मोइनुद्दीन क़ादरी तथा पद्मसिंह शर्मा आदि।

पूर्वी हिंदी—हार्नली।

बिहारी—ग्रियर्सन, सान्याल।

ब्रज—धीरेन्द्र वर्मा, हरिहर निवास द्विवेदी।

अवधी—बाबूराम सक्सेना, रामाज्ञा द्विवेदी।

भोजपुरी—उदयनारायण तिवारी, वाचस्पति उपाध्याय (बनारसी पर)।

राजस्थानी—टेस्सीटरी, सुनीतिकुमार चटर्जी तथा पुरुषोत्तम मेनारिया।

छत्तीसगढ़ी—हीरालाल काव्योपाध्याय।

कुमायूनी—हरिशंकर जोशी।

बाँगरू—ग्रैहेम बेली।

दक्खिनी—बाबूराम सक्सेना।

मैथिली—सुभद्र झा, जयकांत मिश्र, ग्रियर्सन।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इनके अधिक महत्वपूर्ण तथा प्रधान ग्रंथ निम्नांकित हैं—

१. कंपरेटिव ग्रामर आव् दि माडर्न एरियन लैंग्वेजेज़ आव् इंडिया—बीम्स ;
२. ग्रैमर आव् द हिंदी लैंग्वेज—केलाग।
३. भारतीय आर्यभाषा और हिंदी—सुनीतिकुमार चटर्जी।
४. हिंदी भाषा का इतिहास—धीरेन्द्र वर्मा।
५. हिंदी भाषा का उद्भव और विकास—उदयनारायण तिवारी।
६. तवारीखे ज़बाने उर्दू—मसऊद खाँ ;
७. हिंदुस्तानी फोनेटिक्स—मोहनुद्दीन कादरी।
८. ग्रामर आव् दि ईस्टर्न हिंदी—हार्नली।
९. सेविन ग्रामर्स आव् बिहारी लैंग्वेजेज़—ग्रियर्सन।
१०. ब्रजभाषा—धीरेन्द्र वर्मा।
११. इवाल्यूशन आव् अवधी—बाबूराम सक्सेना।
१२. भोजपुरी भाषा और साहित्य—उदयनारायण तिवारी।
१३. राजस्थानी—टेसीटरी।
१४. राजस्थानी भाषा—सुनीतिकुमार चटर्जी।
१५. दक्खिनी हिंदी—बाबूराम सक्सेना।
१६. लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इंडिया—ग्रियर्सन।

इधर हिन्दी के वाक्य-विज्ञान, ब्रज तथा अवधी के कुछ स्थानीय रूपों, खड़ी बोली (बोली) तथा हिन्दी भाषा (परिनिष्ठित हिन्दी) के उद्गम और विकास आदि पर महत्वपूर्ण काम विश्वविद्यालय के प्रबन्ध (थीसिस) रूप में हो रहे हैं। विभिन्न कवियों की भाषा की ओर भी लोगों का ध्यान गया है और चंदबरदायी, जायसी, सूर तथा कबीर आदि पर कार्य चल रहे हैं।

भारत में भाषा-विज्ञान के अध्ययन की जो सामग्री दी गई है, उससे यह स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में इस क्षेत्र में किया गया काम यास्क के निरुक्त जैसे कुछ कार्यों को

छोड़कर प्रायः पुराने ढंग का और भाषा-विज्ञान से अधिक व्याकरण के क्षेत्र का है। आधुनिक युग में पहले यूरोपीय विद्वानों ने भारतीय भाषाओं, विशेषतः जीवित भाषाओं पर काम प्रारंभ किया। उनके पूर्व तत्कालीन भारतीय विद्वान् संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का अध्ययन तो करते थे, पर हिंदी गुजराती आदि वर्तमान भाषाओं को वे अध्ययन के योग्य ही न समझते थे। यूरोपीय विद्वानों के अनुकरण पर ही इन लोगों ने जीवित भाषाओं का भी अध्ययन शुरू किया। इस दृष्टि से प्रथम प्रयास भंडारकर का 'विलसन फिलॉलिजकल लेक्चर्स' है, जिसमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के साथ आधुनिक भाषाओं पर भी कई दृष्टियों से प्रकाश डाला गया है। इसके बाद से यूरोपीय विद्वानों के साथ भारतीय विद्वान भी भारतीय भाषाओं पर काम करते आ रहे हैं। अभी तक लोग अपनी-अपनी भाषाओं को लेकर ही कार्य कर रहे हैं। भाषा विज्ञान के सामान्य सिद्धांतों पर इसी कारण कोई मौलिक ग्रंथ नहीं आ रहा है। अलग-अलग भाषाओं तथा उनकी बोलियों पर काम हो जाने के उपरांत ही इस दिशा में अग्रसर होना संभव है, पर निश्चय ही वह दिन भी दूर नहीं है, जब भारतीय विद्वान इस पहल' सीढ़ी का कार्य समाप्त कर सामान्य सिद्धांतों के क्षेत्र में विश्व को कुछ देने में सफल हो सकेंगे।

आधुनिक अध्ययन की प्रधान प्रवृत्तियाँ तथा आवश्यकताएँ

जीवित भाषाओं के जो अध्ययन आजकल अपने देश में चल रहे हैं, उनमें अधिकतर ध्वनि तथा रूप तक ही सीमित हैं। ध्वनि के अध्ययन में भी यूरोपीय देशों की भाँति ध्वनि-अध्ययन के लिए बने कायमोग्राफ, एक्सरे, लैरिंगोस्कोप, एंडोस्कोप, कृत्रिमतालु, आटोफोनोस्कोप, ब्रीदिंग फ्लास्क, स्पिरोमीटर, स्टेथोग्राफ, न्यूमोग्राफ तथा स्ट्रोबोलैरिंगोस्कोप आदि का उपयोग अभी तक नहीं किया गया है, अतएव अपने ध्वनि-अध्ययन को इन साधनों पर आधारित कर पूर्ण वैज्ञानिक रूप देने की आवश्यकता है। इसके लिए प्रयोगशीलाएँ अपेक्षित हैं।

वाक्य तथा अर्थविज्ञान का अध्ययन हमारे यहाँ अभी शैशवावस्था में है। इन दोनों ही को मनोविज्ञान तथा तर्कशास्त्र के प्रकाश में आगे बढ़ाने की आवश्यकता है।

पश्चिमी देशों में भाषा-विज्ञान के लिए मानव-विज्ञान का भी अध्ययन किया जाने लगा है। यहाँ भी उसे अपनाना चाहिए।

हमारी जीवित भाषाओं ने अपना जीवन रस जिन भाषाओं से खींचा है, उनका

भी अध्ययन आवश्यक है। प्रसन्नता है कि इस ओर लोग यथेष्ट ध्यान दे रहे हैं और संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, अवेस्ता, अरबी तथा फारसी आदि का कुछ अध्ययन अब चल रहा है, पर इस क्षेत्र में और गहराई में उतरना अपेक्षित है।

इनके अतिरिक्त उन यूरोपीय भाषाओं का भी अध्ययन आवश्यक है, जिनसे हमने शब्द आदि उधार लिये हैं। इस सम्बन्ध में पुर्तगाली, डच, फ्रांसिसी तथा अंग्रेज़ी आदि के नाम लिये जा सकते हैं। कहना न होगा कि हमारे विद्वानों ने अंग्रेज़ी तथा कुछ-कुछ फ्रांसिसी पर ध्यान दिया है पर अभी पुर्तगाली आदि का कोना पूर्णतः अछूता ही है। आशा है शीघ्र ही हम उधर भी ध्यान देंगे।

इन सबके साथ-साथ समाज-विज्ञान तथा धर्मविज्ञान का भी पर्याप्त अध्ययन होना आवश्यक है। इनके बिना भारत जैसे धर्म-प्रधान देश की भाषाओं का अध्ययन पूरी गहराई से नहीं किया जा सकता।

इन सारे साधनों की सहायता से विभिन्न भाषाओं और उनकी बोलियों का अध्ययन पूरा कर लेने के उपरांत भाषा-विज्ञान के सिद्धांतों पर काम करना पड़ेगा और इन दोनों कार्यों को समाप्त कर हमें भाषा-विज्ञान की सहायता से अपने इतिहास के विस्मृत पृष्ठों का पुनरुद्धार करना है।

ग्रियर्सन ने भारतीय भाषाओं और उनकी बोलियों का सर्वे बड़ी योग्यता से किया था, पर पटवारियों आदि की सहायता से सामग्री एकत्र किए जाने के कारण उसे पूर्ण प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। अब भाषा विज्ञान के विद्वानों की सहायता से उस काम को फिर से कराने की आवश्यकता है। अभी ऐसी बहुत सी जंगली बोलियाँ हैं, जिनका पूरा अध्ययन नहीं हुआ है। इस क्षेत्र में भी आगे बढ़ना आवश्यक है।

जीवित भाषाओं के विकास की गतिविधि का अध्ययन तथा उसके आधार पर व्याकरण को परिवर्तित करते रहने के लिए हर क्षेत्र में कुछ भाषा-अध्ययन के केन्द्र भी अपेक्षित हैं। आशा है हमारे इस क्षेत्र के विद्वान् इन सभी की पूर्ति शीघ्र ही करेंगे।

[ख] चीन

भाषाओं के प्रकरण में चीनी भाषा पर विचार करते समय उसकी प्राचीनता की ओर हम लोग संकेत कर चुके हैं। कुछ लोग तो पाँच-छः हज़ार वर्ष ई० पू० से ही इसे सुसंस्कृत भाषा मानने के पक्ष में हैं, पर यदि पुष्ट प्रमाणों के अभाव में हम इतनी दूर न भी जायँ, तो कम से कम १५०० वर्ष ई० पूर्व से चीनी को समुन्नत भाषा मानने

में तो संभवतः किसी को भी आपत्ति न होगी। फू-हि, हुआङ-ती, तथा शेन-नुङ आदि सम्राट जिनके समय से वहाँ लिपि का आरंभ माना जाता है, ढाई हज़ार वर्ष ई० पू० के बहुत पहले हो चुके थे। चीन का स्वर्ण-युग भी लगभग २००० ई० पू० के पहले ही समाप्त हो चुका था। ऐसी दशा में यह अनुमान सरलता से किया जा सकता है कि १५०० ई० पू० से साहित्य-सृजन वहाँ पर्याप्त मात्रा में आरम्भ हो गया होगा। महात्मा कनफ़्यूशिअस ने ५०० ई० पू० के लगभग १८०० ई० पू० तक के गीतों का एक संग्रह किया था। चीन में इतिहास और कहानियाँ लिखने की परंपरा भी बहुत प्राचीन है। जब लोगों की प्रवृत्ति इस प्रकार साहित्य सृजन की ओर थी तो अवश्य ही भाषा की ओर भी उनका ध्यान गया होगा। अन्य भाषाओं के व्याकरणों की भाँति किसी व्याकरण* का तो आज भी वहाँ अभाव है, पर शब्द-कोष अवश्य बहुत से बनाए गए हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में भी अवश्य ही कुछ कोष बनाए गए होंगे। कुछ भी हो, आज परिस्थिति यह है कि भाषा संबंधी पुराना ग्रंथ एक भी नहीं मिलता। हूणों, मंगोलों और मांचुओं के आक्रमण के अतिरिक्त इसका सबसे बड़ा कारण यह है, कि, २१३ वर्ष ई० पू० चीन के राजा छिन-स्म-ख्वांग ने कुछ राजनीतिक कारणों से सभी उपलब्ध पुस्तकों को जलवा डाला था।

उपर्युक्त राजा की मृत्यु के बाद प्राचीन साहित्य के पुनरुद्धार की ओर जब चीनी विद्वानों का ध्यान गया तो वैज्ञानिक रूप से भाषा के अध्ययन की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार भाषा के अध्ययन की प्राप्त तिथि लगभग २०० ई० पू० है। इसी के लगभग भारतीय बौद्ध अपने धर्म के प्रचार के लिए वहाँ पहुँचे। उस समय तक भाषा का अध्ययन भारत में बहुत आगे बढ़ चुका था, अतः इन साधुओं की सहायता से भी चीनियों ने ध्वनि के सम्बन्ध में अपना अध्ययन आगे बढ़ाया। उसी समय से चीनी कोषों में चिह्नों को ध्वन्यनुसार क्रम भी दिया जाने लगा।

चीन में भाषा के अध्ययन के संबंध में सबसे महत्वपूर्ण और प्रधान कार्य कोषों का है। कोषों में चिह्न या शब्द प्रायः दो प्रकार से सजाए जाते हैं। प्रथम प्रकार

---

* जे० एडकिन्स तथा एम० कूरैंट आदि कुछ अंग्रेज और फ्रेंच विद्वानों ने कुछ व्याकरण लिखे हैं, पर वे भी ठीक अर्थ में व्याकरण नहीं कहे जा सकते। सत्य तो यह है कि चीनी के लिए व्याकरण की कोई आवश्यकता ही नहीं है। कोष ही वहाँ व्याकरण का कार्य करता है।

अन्य भाषाओं के कोषों की भाँति ध्वनियों पर आधारित रहता है। पर ऐसे कोष बहुत उपयोगी नहीं समझे जाते। इसका कारण यह है कि चीनी चिह्नों का उच्चारण निश्चित नहीं है। एक ही चिह्न कहीं तो कुछ उच्चरित होता है और कहीं कुछ। इसका आशय यह है कि जब तक कोई व्यक्ति कोषकार के उच्चारण से परिचित न रहे वह कोष शब्द का अर्थ नहीं देख सकता।

चिह्नों के सजाने का दूसरा क्रम रेखाओं की संख्या पर आधारित रहता है। जिस चिह्न में एक रेखा हो उसे पहले रखेंगे और जिसमें दो रेखाएँ हों उसे उसके पश्चात् स्थान देंगे। इसी प्रकार आगे भी तीन, चार, पाँच इत्यादि।

चीन का प्राचीनतम कोष 'एर्ह य' है, जिसका काल १२वीं सदी ई० पू० के बाद माना जाता है।

चीन का प्रथम ज्ञात प्रामाणिक कोषकार हू-शेन है, जिसके कोष का नाम नाम 'शुओ-वेन-की-त्सी' है। इसका प्रकाशन १०० ई० के लगभग हुआ था। इस कोष में उस समय के प्रचलित शब्दों की परीक्षा बहुत ही सुन्दर की गई है। इसमें कुल ३६४ चिह्न हैं। आज भी यह कोष बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है और इसकी टीकाएँ भी लिखी गई हैं। हू शेन की कृति का आधार तीसरी सदी ई० पू० के एक राजा 'त्स-इन' के मंत्री 'ली-सी' की एक पुस्तक मानी जाती है।

इसके बाद का दूसरा कोष 'त्ज़-युआन' ७वीं सदी के आरंभ का है। सामग्री की दृष्टि से यह भी बहुत महत्वपूर्ण है। १२वीं सदी के लगभग सिमाक्वाँङ ने भी इस संबंध में महत्वपूर्ण कार्य किया था।

चीन के प्रसिद्ध बादशाह खाँ-शी (१६६२—१७२३) ने बहुत से विद्वानों की सहायता से एक बहुत ही अच्छे कोष का संपादन कराया जो आज उसी के नाम से प्रसिद्ध है। इसका नाम 'खाँ-शी त्ज़ तेंय' है। इसमें ४४,००० शब्दों का अर्थ है। यह १७१६ में प्रकाश में आया।

आधुनिक युग में चीनी भाषा तथा लिपि के बारे में चीनियों तथा विदेशियों दोनों ही ने काम किये हैं। विदेशियों में एल० सी० हापकिन्स ने 'चीनी लेखन का विकास' तथा 'चीनी लिपि-चिह्नों के छः वर्ग' पर शोधपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। गाइल्स और काउरूर ने अंग्रेज़ी में कोष लिखे हैं। कार्लग्रेन ने चीनी ध्वनि और प्रतीको पर कार्य किया है। चीनी लोगों में लो चेन यू, वाङ कुओ वि, वांली, छन् वां ताओ, त्ज़ुत शी तथा ल्वी सु शां के नाम विशेष उल्लेख्य हैं। ल्वी सु शां की प्रसिद्ध पुस्तक

'यू-फ़ा शू-त्ज़' है, जिसमें चीनी को शुद्ध रूप से बोलने तथा लिखने की वैज्ञानिक विधि दी गई है।

[ग] जापान

जापान में पहले लोग चीनी भाषा में ही लिखते थे, इसी कारण जापान द्वारा भाषा के क्षेत्र में किया गया प्राचीन कार्य जापानी भाषा में न होकर चीनी में ही है। ८वीं सदी में जापानियों ने चीनी भाषा में चीनी भाषा के बारे में लिखा था। ९वीं सदी में जापान में संस्कृत का प्रवेश भली-भाँति हो गया था और उसका अध्ययन होने लगा था। कूकै (९वीं सदी) एक बौद्ध पुजारी थे। ये चीन से एक पुस्तक 'सिद्ध मातृका' ले आए और जापानी वर्णमाला बनाया जो संस्कृत के नामों के आधार पर ही 'अ इ उ ए ओ' (अलफ़ाबेट (अलफ़ा, बेटा) की भाँति) कहलाती है। १८वीं सदी तक संस्कृत के अध्ययन के लिए जापानी में संस्कृत का व्याकरण लिखा जा चुका था।

१९वीं सदी तक जापान के पुरुष चीनी में लिखते थे पर वहाँ की स्त्रियों ने जापानी में लिखना शुरू किया, इस प्रकार प्रारंभिक जापानी साहित्य के विकास में महिलाओं का ही हाथ है।

जापान की एक यह भी बहुत बड़ी विशेषता रही है कि वहाँ बोलने की भाषा बिल्कुल अलग तथा लिखने की अलग रही है। लिखने की भाषा का नाम बुङो और बोलने की भाषा का नाम कोङो रहा है*। १८९० ई० के आस-पास इन दोनों भाषाओं को एक करने का कार्य शुरू हुआ और इस दृष्टि से यमाद मिमियो तथा हुताबते शमे के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। इन लोगों ने मिलकर 'उकीगुमो' नामक उपन्यास लिखा, जिसमें प्रथम बार बोलने की भाषा का लिखने के लिए प्रयोग है।

इधर जापान में भाषा के अध्ययन के लिए एक संस्था भी खुल गई और वह महत्वपूर्ण कार्य कर रही है।

जापानी का प्रामाणिक व्याकरण यमादा तकाव ने लिखा है। जी० बी० सैनसम ने जापानी का ऐतिहासिक व्याकरण लिखा है और तोकिइदा मोतोकि ने नए तरीके

*या जापान में इन दो के अतिरिक्त कुछ शब्दों तथा प्रयोगों की दृष्टि से बादशाह के लिए अलग भाषा है तथा अच्छे घर की औरतों के लिए अलग। व्याकरण-रूपों में भी इस प्रकार के अंतर हैं। उर्दू की भाँति यह बड़ी शिष्ट भाषा है। शब्दों के आदरसूचक रूप अलग हैं। जैसे अपने बाप के लिए 'चिचि' शब्द है, तो आपके बाप के लिए 'उतोसमा'।

से जापानी का व्याकरण बनाया है। जापानी का प्रामाणिक कोष 'गेन्काइ' है, जिसके संपादक ओत्स्की हुमिहिको हैं। कनाज़ावा सोज़ाब्रो का 'कोजरिन' नामक कोष भी अच्छा है। बोलचाल की जापानी पर चैंबरलेन की पुस्तक सब से अच्छी है। सामान्य भाषा-विज्ञान तथा अंग्रेज़ी पर काम करने वाले विद्वान् इचिकावासांकी हैं। हत्तोरिशिरी ध्वनि-विज्ञान तथा मंगोलियन भाषा-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। कोज़हरोशिगे तुलनात्मक व्याकरण के अध्येता हैं और हेराल्ड पार्लेट कोषकार तथा जापानी भाषा और साहित्य के अच्छे मर्मज्ञ हैं।

[घ] अरब

अरब में भी भाषा का अध्ययन प्रायः संस्कृत की भाँति ही आरंभ हुआ। धार्मिक ग्रन्थों (विशेषतः क़ुरान) के समझने के लिए भाषा के विवेचन की ओर लोगों का ध्यान गया और धीरे-धीरे वह साधारण ध्यान ही प्राचीन भाषा-वैज्ञानिक या व्याकरणीय विवेचन हो गया।

भारत में यह प्रायः प्रवृत्ति है, कि किसी भी चीज का आरम्भ ऋग्वेद से माना जाता है। ठीक उसी प्रकार बहुत सी इल्मों का आरंभ अरबी में मुसलमानी मज़हब के चौथे ख़लीफा हज़रत अली से माना जाता है।* भाषा के अध्ययन में भी वे ही प्रथम व्यक्ति कहे जाते हैं। यह भी कहा जाता है कि यूनानी भाषाविज्ञ एवं दार्शनिक अरस्तू की तरह अली ने भी भाषा के ३ भाग किए थे। इसके अतिरिक्त उनके विवेचन के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है।

१०वीं सदी के अरबी के विद्वान, अरबी ज्ञान को दो भागों में बाँटते थे। प्रथम तो अरब ज्ञान (Arab Sciences) कहलाता था जिसमें भाषा का अध्ययन, नीतिशास्त्र, साहित्य तथा इतिहास आदि विषय थे। दूसरी ओर दर्शन, चिकित्साशास्त्र आदि विषय अरबेतर ज्ञान (Non-Arab Sciences) कहलाते थे। इस प्रकार अरबों के अनुसार भाषा का अध्ययन पूर्णतः इनकी अपनी चीज़ है, यद्यपि यह ठीक नहीं है। डॉ० बोअर ने स्पष्टतः लिखा है कि तथाकथित अरब ज्ञान पूर्णतः अरबों के

* हज़रत मुहम्मद ने कहा है—

'अना मदीनतुलइल्मे व अलीय्युन बाबोहा'

अर्थात् मैं (मुहम्मद) इल्म का शहर हूँ और अली उसके दरवाज़े हैं।

नहीं हैं। उन पर भी अन्य लोगों के प्रभाव पड़े हैं।* इन प्रभाव डालनेवालों में सीरियन्स और परशियन्स का प्रधान हाथ है।

कुछ भी हो निश्चित रूप से यह कहना सम्भव नहीं है कि अमुक समय में भाषा के अध्ययन का विकास यहाँ प्रारम्भ हुआ। जिस प्रकार संस्कृत में व्याकरण के आचार्य पाणिनि प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार अरबी में सेबवै (Sibawaih) का नाम लिया जाता है। यह भाषाशास्त्र का ईमाम या पेशवा था। पाणिनि के अष्टाध्यायी की भाँति ही इसका ग्रंथ भी अपने में बहुत पूर्ण मिलता है, जिससे अनुमान होता है कि पाणिनि की भाँति ही यह भी किसी प्राचीन प्रचलित सम्प्रदाय का सम्भवतः अंतिम व्यक्ति था। बाद में पाणिनि की भाँति ही इसके ग्रंथ के भी बहुत से भाष्य हुए तथा टीकाएँ आदि लिखी गईं। आगे चलकर व्याकरण के प्रधान दो सम्प्रदाय बने। एक तो बसरा में तथा दूसरा कुफ़ा में था। बसरा वाले या 'बसरी' बग़दादियों की भाँति भाषा में 'सादृश्य' का बहुत प्रभाव मानते थे, पर कुफ़ा वाले या 'कुफ़ी' नहीं मानते थे। 'बसरी' भाषाशास्त्र पर तर्कशास्त्र का बड़ा प्रभाव था। भारत में नदिया के वैयाकरण भी प्रायः ऐसे ही थे। विशेषतः अरस्तू के तर्कशास्त्र ने बसरी सम्प्रदाय को बहुत प्रभावित किया। बाद में, 'भाषा स्वाभाविक है या कृत्रिम' जैसे प्रश्नों पर भी विचार किया गया।

कुछ दिन बाद तक यह अध्ययन चलता रहा और फिर लुप्त सा हो गया। आधुनिक युग में भारत की ही तरह यूरोपीय विद्वानों ने अरबी भाषा-विज्ञान पर भी विशेष काम किया है। अब धीरे-धीरे कुछ अरब और मिश्र के विद्वान् भी इस ओर झुक रहे हैं।

[ङ] यूरोप

यूरोप में अन्य सभी विषयों की भाँति भाषा के भी अध्ययन का आरंभ यूनान में हुआ। भारत की ही भाँति यूरोप का भी प्राचीन या प्रारंभिक अध्ययन विशुद्ध रूप में वैज्ञानिक नहीं था—अतः स्पष्टता के लिए इसके भी (च) प्राचीन और (ब) आधुनिक, दो भेद किए जा सकते हैं।

---

1. And yet the socalled Arab Sciences are not altogether pure native products.—Dr. T. J. De Boer (The History of Philosophy in Islam, London, 1903, page 31.)

क. प्राचीन

यों तो महर्षि सुकरात के पूर्व भी समुन्नत यूनानियों* का कुछ न कुछ ध्यान अवश्य ही भाषा की ओर भी गया रहा होगा, पर इस बात के निश्चित प्रमाण सुकरात से ही मिलते हैं, अतः उन्हीं से भाषा के अध्ययन का आरंभ माना जाता है।

१. सुकरात (४६६ ई० पू० से ३९९ ई० पू०)

भाषा के अध्ययन के सिलसिले में सुकरात के समक्ष यह प्रश्न आया था कि क्या शब्द और उसके अर्थ में कोई स्वाभाविक सम्बन्ध है। दूसरे शब्दो में कहा जा सकता है कि क्या पुस्तक का 'पुस्तक' नाम ही स्वाभाविक है। यदि कोई दूसरा नाम रखा जाता तो क्या वह अस्वाभाविक हो जाता? इसका सुकरात नकारात्मक उत्तर देते हैं, जो ठीक ही है। वस्तु और उसके नाम या शब्द और अर्थ में कोई स्वाभाविक सम्बन्ध न होकर माना हुआ सम्बन्ध है, इसी कारण प्रत्येक भाषा में पृथक्-पृथक् नाम हैं। यदि स्वाभाविक संबंध होता तो सम्भवतः एक वस्तु का प्रायः एक ही नाम सभी भाषाओं में होता। इतना ही क्यों, तब तो संसार में एक ही भाषा (स्वाभाविक) भी सम्भवतः होती। पर, इसके अतिरिक्त सुकरात का यह भी विश्वास था कि ऐसी भाषा का निर्माण असम्भव नहीं है, जिसमें शब्द और अर्थ या वस्तु और नाम का स्वाभाविक सम्बन्ध हो। सुकरात का यह द्वितीय कथन स्पष्ट ही सत्य से दूर है।

२. प्लेटो (४२९ ई० पू० से ३४७)

प्लेटो अपने गुरु सुकरात की भाँति ही एक दार्शनिक थे। इनका भी भाषा के विचार से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। आनुषंगिक रूप से इन्होंने 'क्रेटिलस' तथा 'सोफिस्ट' आदि में अपने विचार इस सम्बन्ध में प्रकट किए हैं। इनके द्वारा दी गई बातों को संक्षेप में गिना जा सकता है।

(क) यूरोप में ध्वनियों के वर्गीकरण का प्रथम श्रेय प्लेटो को ही है। इन्होंने ग्रीक ध्वनियों को घोष और अघोष दो वर्गों में बाँटा। फिर अघोष के भी दो भेद किए।

(ख) 'सोफिस्ट' में विचार और भाषा पर विचार करते समय इन्होंने स्पष्ट किया है, कि विचार और भाषा में थोड़ा ही अंतर है। विचार आत्मा की मूक या

---

* इस सम्बन्ध में अंटिरिथनिट, 'हीराक्लीटस तथा पिथागोरस आदि के नाम मिलते हैं।

अध्वन्यात्मक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर ओठों पर प्रकट होती है तो उसे भाषा की संज्ञा से विभूषित करते हैं।

अपनी एक दूसरी पुस्तक में प्लेटो भाषा और विचार के सत्यतः एक होने की बात को दूसरे शब्दों में दोहराते हैं। आशय यह है कि उनका विचार है कि मूलतः भाषा और विचार एक हैं, पर बाह्य अंतर इतना अवश्य है कि एक ध्वन्यात्मक है और दूसरा अध्वन्यात्मक।

(ग) उद्देश्य-विधेय तथा वाच्यों आदि की ओर भी कुछ संकेत इन्होंने किये हैं। इस प्रकार वाक्य के विश्लेषण तथा शब्द-भेदों के संबंध में भी उन्हें कुछ ज्ञान होने के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं।

(घ) इनकी पुस्तकों में कुछ व्युत्पत्ति की ओर संकेत मिलता है, पर उसे वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

३. अरस्तू (३८४ ई० पू० से ३२२ ई० पू०)

अरस्तू भी उपर्युक्त विद्वानों की भाँति तत्ववेत्ता थे, पर आनुषंगिक रूप से आपने भी भाषा पर कुछ विचार किया, और प्लेटो के कार्य को कुछ और आगे बढ़ाया।

अरस्तू का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पोयटिक्स' है। इसके द्वितीय भाग के २४वें तथा २५वें अंश में शैली के विश्लेषण में लेखक का ध्यान भाषा की ओर भी गया है। यह ध्यान विशुद्ध रूप में भाषा-विज्ञान से संबन्धित न होने पर भी महत्वपूर्ण है, अतः कुछ विस्तार से देखने योग्य है।

(क) अरस्तू वर्ण को अविभाज्य ध्वनि मानते हैं। इसके उन्होंने स्वर, अंतस्थ और स्पर्श तीन भेद किये हैं। इनके आगे दीर्घ, ह्रस्व, अल्पप्राण तथा महाप्राण आदि अन्य भेद किये गये हैं। इस सम्बन्ध में अरस्तू द्वारा दी गई स्वर की परिभाषा (स्वर वह है जिसकी ध्वनि बिना जिह्वा या ओठ के उच्चरित हो) बहुत वैज्ञानिक है।

(ख) मात्रा तथा संबन्ध-सूचक शब्दों पर भी संक्षेप में विचार किया गया है।

(ग) वाक्यों का पदों (उद्देश्य, विधेय) में विभाजन करते हुए संज्ञा और क्रिया पर कुछ विस्तार से प्रकाश डाला गया है। क्रिया पर विचार करते समय लेखक का ध्यान काल की ओर भी गया है।

(घ) कारक तथा उनको प्रकट करने वाले शब्दों की ओर भी यूरोप में प्रथम संकेत यहीं मिलता है।

(ङ) शब्द, मोटे रूप से 'साधारण' और 'दुहरे', दो प्रकार के माने गए हैं। साधारण से अरस्तू का अर्थ 'अर्थरहित' से है और दुहरे शब्द वे हैं जिनमें 'सार्थक' और 'निरर्थक' दोनों तत्व हों। इसी प्रसंग में तिहरे और चौहरे शब्द भी माने गए हैं। शब्द के शुद्ध, विदेशी, परिवर्तित, मनगढंत आदि और भी भेद किए गए हैं, जो शब्द-समूह (Vocabulary) की दृष्टि से महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं।

प्लेटो के श्रेणी-विभाग (Parts of Speech) को पूरा कर ८ बनाने का श्रेय भी अरस्तू को ही है।

(च) अरस्तू ने स्त्रीलिंग, पुलिंग और नपुंसकलिंग तथा उनके लक्षणों पर भी विचार किया है।

४. अरस्तू और थ्रैक्स के बीच का कार्य

अरस्तू के पद-विभाजन को बाद के ग्रीक वैयाकरणों ने आगे बढ़ाया। उसी आधार को कुछ उन्नत करके व्यंजनों के तनु (Tenues), मध्य (Media) और महाप्राण (Aspiratae) तीन भेद किए। इस सम्बन्ध में स्टोइक वर्ग के तत्वज्ञों के कार्य अधिक महत्वपूर्ण हैं, जिनके बहुत से पारिभाषिक शब्द लैटिन भाषा का बाना पहन कर आज भी व्याकरण के क्षेत्र शुद्ध या अशुद्ध रूप में प्रचलित हैं।

स्टोइक वर्ग के विद्वानों के बाद ग्रीक विद्वानों का अलक्षेन्द्र सम्प्रदाय (Alexandrian school) आता है। इन विद्वानों ने ग्रीक भाषा के प्राचीन कवियों की कविताओं को लोगों को समझाने के लिए कुछ अध्ययन प्रारंभ किया। इस अध्ययन के फलस्वरूप शब्दों के नियमित या सादृश्य से प्रभावित तथा अनियमित रूपों की ओर ध्यान गया। साथ ही अर्थ को समझने में कुछ 'अर्थ-विज्ञान' पर भी प्रकाश पड़ा।

५. डियोनीसिअस थ्रैक्स (२ री सदी ई० पू०)

ग्रीक भाषा के प्रथम वैयाकरण थ्रैक्स महोदय हैं। इनका प्रधान कार्य पुरुष, काल, लिंग तथा वचन आदि पर प्रकाश डालना है। इसके अतिरिक्त कर्ता और क्रिया के संबन्ध पर भी इन्होंने सम्यक् विचार किया है।

थ्रैक्स के बाद इनकी एक शिष्य-परम्परा चलती रही, जिसमें अपोलोनियस डिसकोलस अधिक प्रसिद्ध हैं। डिसकोलस ने प्रमुख रूप में वाक्य-विज्ञान पर कार्य किया है।

बाद में भी थ्रैक्स और डिसकोलस को आधार मानकर बहुत से ग्रन्थ लिखे गए।

६. यूरोप में भाषा के प्राचीन अध्ययन का अंतिम युग

ग्रीस और रोम से संपर्क बढ़ने पर आदान-प्रदान में रोमवालों ने ग्रीस की भाषा-अध्ययन-प्रणाली को भी अपनाया, जिसके फलस्वरूप लैटिन के भी व्याकरण लिखे जाने लगे। प्रथम प्रामाणिक लैटिन व्याकरण लिखने का श्रेय १५ वीं शती के एक विद्वान् लौरेंशस वाल को है। इसके अतिरिक्त वारो तथा प्रिस्किअन आदि ने भी सुन्दर व्याकरण लिखे हैं।

इसी समय ईसाई धर्म का प्रभाव बढ़ने लगा जिसका फल यह हुआ कि ओल्ड टेस्टामेण्ट (Old Testament) का अध्ययन ग्रीस और रोम में होने लगा। इन परिस्थितियों में विद्वानों को ग्रीक, लैटिन और हिब्रू (Old Testament की भाषा) भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का अवसर मिला। धार्मिक भाषा होने के कारण लोग हिब्रू को स्वर्ग में बोली जाने वाली तथा सभी भाषाओं की जननी मानते थे। इसी आधार पर मिलते-जुलते शब्दों के कोष बनने लगे और यूरोपीय भाषाओं के अनेक शब्दों को हिब्रू के शब्दों से व्युत्पत्ति की दृष्टि से संबन्धित माना गया। ऐसे अनुमानों का एक मात्र आधार ध्वनि-साम्य तथा कभी अर्थ-ध्वनि-साम्य था। इसी सिलसिले में विद्वानों ने सीरियन और अरबी आदि का भी कुछ अध्ययन किया।

नवीन युग के कुछ पहले जागरण आन्दोलन (Renaissance) के कारण सभी लोगों का ध्यान अपनी प्राचीन भाषाओं की ओर गया। फल यह हुआ कि कोष आदि में व्युत्पत्ति के लिए लोग प्राचीन शब्दों को भी देने लगे।

इन प्राचीन धार्मिक एवं नवीन सामाजिक आन्दोलनों से भाषा के अध्ययन में निम्नांकित महत्वपूर्ण बातें घटित हुई—

(क) तुलनात्मक अध्ययन की ओर लोगों का ध्यान गया।

(ख) विद्वानों को कुछ-कुछ इस बात का संकेत मिला कि शब्द धातुओं पर आधारित हैं।

(ग) लैटिन तथा ग्रीक के मूलतः किसी एक भाषा से निकले होने का आभास मिला। (इस प्रकार भाषा-परिवारों के ज्ञान का मूल भी यहीं है।)

प्रसिद्ध दार्शनिक लिबनिज़ भी भाषा के अध्ययन का प्रेमी था। उसी से प्रभावित होकर पीटर महान् ने शब्दों का संग्रह करवाया। रानी कैथरिन द्वितीय ने भी इस

कार्य में प्रोत्साहन दिया। इन्हीं लोगों के फलस्वरूप पल्लस्, हर्वस तथा एडलंग आदि विद्वानों ने शब्द-संग्रह के सुन्दर कार्य किए। विशेषतः पल्लस् (१७४१-१८११) महोदय का संग्रह एशिया और यूरोप की बहुत सी भाषाओं के आधार पर था, जिसके प्रथम संस्करण में ही २८५ शब्द तुलनात्मक ढंग पर दिए गए थे।

१८वीं सदी के काम करनेवालों में हर्डर और जेनिश के नाम अधिक महत्व-पूर्ण हैं।

रूसो ने भाषा की उत्पत्ति के विषय में निर्णय-सिद्धान्त को ठीक माना था। इस सिद्धान्त की अव्यावहारिकता भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते समय हम देख चुके हैं। इसी प्रकार कंडिलैक् ने भावाभिव्यंजक स्वाभाविक ध्वनियों को उत्पत्ति का आधार माना था। उत्पत्ति के प्रश्न के संबन्ध में जे० जी० हर्डर का नाम भी बहुत प्रसिद्ध है। हर्डर ने १७७२ में बर्लिन एकेडेमी के लिए 'भाषा की उत्पत्ति' निबन्ध लिखा, जिसमें उसने दैवी उत्पत्ति का सफलता के साथ खंडन किया। साथ ही उसने यह भी नहीं माना कि मनुष्य ने भाषा बनायी। उसका कहना यह था कि आवश्यकता के कारण ही भाषा का स्वाभाविक विकास हुआ।

१७९४ में बर्लिन एकेडेमी ने पूर्ण और आदर्श भाषा पर लेख के संबंध में एक प्रतियोगिता की। डी० जेनिश नामक एक जर्मन विद्वान इस प्रतियोगिता में प्रथम रहा।

इस निबंध में जेनिश ने ग्रीक, लैटिन तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं को तुलनात्मक रूप से देखने का प्रयास किया था। इस तुलना की कसौटी के लिये तथा आदर्श भाषा के लिए उसने चार बातें बतलाई—

(क) भाषा का सम्पन्न होना—इसमें भाषा का शब्द-समूह, तथा नए शब्द बनाने की क्षमता आदि बातें आती हैं।

(ख) भाषा की शक्ति—'कम से कम शब्द और सरल से सरल युक्ति से भाषा अधिकाधिक अभिव्यक्ति कर सकती है या नहीं ?' तथा 'व्याकरण के रूप कठिन हैं या सरल ?' आदि बातों का इसमें समावेश है।

(ग) स्पष्टता—शब्दों के अर्थ निश्चित हैं या नहीं ? इसी प्रकार नियम स्पष्ट तथा निश्चित हैं या अस्पष्ट एवं लचीले। निश्चित अर्थ और नियमों वाली भाषा अधिक स्पष्ट कही जायगी।

(घ) माधुर्य—बोलने तथा सुनने में कोई भाषा कितनी मधुर है ? इसका संबन्ध ध्वनि से है।

उपर्युक्त बातों के आधार पर जेनिश द्वारा की गई तुलना बहुत ही विद्वत्तापूर्ण और निष्पक्ष है।

यहाँ भाषा संबन्धी प्राचीन यूरोपीय अध्ययन का अंत होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्राचीन भारतीय अध्ययन की तुलना में यह अध्ययन बहुत ही पिछड़ा हुआ है।

(ब) आधुनिक

जिस प्रकार भारत में भाषा-संबन्धी आधुनिक अध्ययन यूरोपीय विद्वानों के संसर्ग से आरम्भ हुआ उसी प्रकार यूरोप में वैज्ञानिक अध्ययन का आरंभ भारतीय विद्वानों के संसर्ग से हुआ। यूरोपीय विद्वान् भारत से संस्कृत सीख कर ही वैज्ञानिक और तुलनात्मक अध्ययन में सफल हो सके। पर, इसका आशय यह नहीं कि नवीन अध्ययन एकमात्र संस्कृत के ज्ञान के कारण हुआ। अब तक लोग साधारण ढंग से भाषा का विश्लेषण करते थे। चौड़ाई में स्थान होने के कारण गहराई में जाना लोगों के लिए स्वाभाविक नहीं था। पर जब चौड़ाई का स्थान समाप्त हो गया और भाषाओं से अपेक्षाकृत लोग अधिक परिचित हो गए, तो गहराई में जाना भी स्वाभाविक हो गया। इस प्रकार १९वीं सदी के आरंभ से ही विद्वान् भाषा के संबन्ध में अधिक शास्त्रीय और वैज्ञानिक ढंग से विचार करने लगे। इस आधुनिक युग के भी दो चरण हैं। प्रथम चरण को 'प्रयत्न-युग' और द्वितीय को 'नवयुग' कहा जा सकता है।

[क] प्रयत्न-युग

हम ऊपर संस्कृत के यूरोप में प्रवेश के कारण भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में सहायता मिलने का उल्लेख कर चुके हैं। इस संबन्ध में प्रथम प्रयास तो फ्रांसीसी पादरी कोर्डो (Coeurdoux) का १७६७ में ही हुआ था, जब उसने ग्रीक, लैटिन, तथा फ्रेंच आदि भाषाओं के कुछ शब्दों से संस्कृत-शब्दों की तुलना करने का प्रयास किया था। उक्त लेख को उसने भारत से फ्रेंच इन्स्टीच्यूट में भेजा था। दुर्भाग्य से उस समय वह लेख लोगों के समक्ष न आ सका और इसी कारण कोर्डो इस विषय में अग्रणी न माने जा सके।

१. सर विलियम जोंस (१७४६-१७९४)

जोन्स साहब कलकत्ता हाईकोर्ट में चीफ़ जस्टिस थे। यहाँ आपने संस्कृत का अध्ययन किया तो आपको यूरोपीय भाषाओं से अनेक दृष्टियों से अभूतपूर्व साम्य दिखाई पड़ा। १७८६ में रायल एशियाटिक सोसायटी की नींव डालते हुए आपने

संस्कृत के महत्व की घोषणा की और संस्कृत को कई बातों में ग्रीक और लैटिन से भी श्रेष्ठ* बतलाया। इनकी इस घोषणा के बाद अन्य यूरोपीय विद्वानों का ध्यान संस्कृत की ओर आकर्षित हुआ।

जोन्स महोदय ने अपने इसी व्याख्यान में शब्द, धातु तथा व्याकरण की दृष्टि से ग्रीक, संस्कृत, लैटिन, गाथिक, केल्टिक तथा पुरानी फ़ारसी को एक मूल से निकली होने का अनुमान लगाया था।

२. हेनरी थामस कोलब्रुक (१७६५-१८३७)

कोलब्रुक भी संस्कृत के विद्वान् थे। इन्होंने संस्कृत के सम्बन्ध में बहुत से निबन्ध लिखकर जोन्स के कार्य को आगे बढ़ाया। ये संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, अरबी तथा फ़ारसी के भी विद्वान थे।

३. फ्रीड्रिख़ वान श्लेगल् (१७७२-१८२९)

श्लेगल् भी सस्कृत के विद्वान् थे। इन्होंने केवल भाषा की दृष्टि से संस्कृत को न पढ़कर दर्शन और काव्य का भी अवगाहन किया था। आपने पेरिस जाकर १८०३ में एक सिपाही अलेक्जेंडर हैमिल्टन से जो युद्ध का कैदी था, संस्कृत पढ़ी थी और बाद तक ज्ञान-वृद्धि करते रहे। भारतीय भाषा और ज्ञान के सम्बन्ध में इनका प्रसिद्ध ग्रंथ (On the Language and the Wisdom of the Indians) १८०८ में प्रकाशित हुआ। इन्हीं के कारण जर्मनी में संस्कृत का प्रचार बढ़ा।

तुलनात्मक व्याकरण के विषय में भी आवाज़ उठाने वाले प्रथम विद्वान श्लेगल ही हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने बहुत से ऐसे शब्दों को इकट्ठा किया जो बिना किसी विशेष अर्थ या ध्वनि सम्बन्धी अंतर के ग्रीक, लैटिन, जर्मन तथा संस्कृत में एक थे। इनके पूर्व कुछ लोगों का विश्वास था कि भारतीयों के उधार लेने के कारण ही शब्द-साम्य मिलता है, पर श्लेगल् ने पुष्ट आधारों पर इसका खंडन किया।

तुलना करने में आपने कुछ ध्वनि-परिवर्तन तथा ध्वनि-नियमों (लैटिन f के लिए स्पैनिश h ; जर्मन f के लिए लैटिन p आदि) की ओर भी संकेत किया था। कहना न होगा कि जर्मन-ध्वनि-नियम की जानकारी का मूल बीज यहीं है।

---

* The Sanskrit language, whatever be its antiquity, is of a wonderful structure; more perfect than the Greek, more copious than the Latin and more exquisitely refined than either......

संसार की भाषाओं का वर्गीकरण करने वाले प्रथम विद्वान भी श्लेगल् ही हैं। इन्होंने भाषाओं को २ वर्गों में रक्खा—

(१) संस्कृत तथा सगोत्रीय (congeners) भाषाएँ—श्लेगल् द्वारा दी गई इस वर्ग की परिभाषा बहुत कुछ आज के श्लिष्ट वर्ग से मिलती-जुलती है।

(२) अन्य भाषाएँ—इस वर्ग को श्लेगल् लगभग अश्लिष्ट-वर्गीय मानते हैं, जिसमें प्रत्यय, उपसर्ग आदि जोड़े जाते हैं। इस दूसरी शाखा के अंत में वे चीनी भाषा को स्थान देते हैं, पर साथ ही उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि अन्य भाषाओं से चीनी कुछ भिन्न है। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से २ वर्ग बनाते हुए भी श्लेगल् ने संसार की भाषाओं को तीन वर्गों में बाँटा है।

भाषा की उत्पति के विषय में उनका विश्वास था कि इसके लिए एक ही आधार नहीं माना जा सकता। माँचू आदि कुछ ऐसी भाषाएँ हैं, जिनमें अनुकरणात्मक एवं अनुरणात्मक शब्द अधिक हैं, अतः उस भाषा की उत्पत्ति में अवश्य ही प्रकृति तथा जीव-जंतुओं का अधिक हाथ है, पर संस्कृत, ग्रीक आदि भाषाओं के लिए भी यही बात नहीं कही जा सकती।

अपने परिणाम निकालने के जोश में श्लेगल् ने बहुत सी ऊल-जलूल बातें भी कहीं हैं। उनका कहना है कि फ़ारसी और जर्मन भाषा में बहुत ही निकट का सम्बन्ध है। इसी प्रकार उनका यह भी विश्वास था कि भारत के दर्शन एवं काव्य का भाषा-विज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तों से घनिष्ट सम्बन्ध है। उन्हें यह भी आशा थी कि जिस प्रकार ग्रीक के अध्ययन से यूरोपीय विचारों में क्रान्ति मच गई, उसी प्रकार संस्कृत के अध्ययन से भी हो सकती है।

४. अडोल्फ़ डब्लू० श्लेगल् (१७६७-१८४५)

ये श्लेगल् के बड़े भाई थे और उन्हीं की भाँति संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। फ्रीड्रिख् श्लेगल् द्वारा किए गए भाषाओं के अप्रत्यक्ष तीन वर्गों को इन्होंने स्पष्ट किया। इनका विश्वास था कि संस्कृत आदि श्लिष्ट भाषाएँ सर्वोच्च हैं। इन्होंने संस्कृत तथा उसकी सगोत्रीय भाषाओं (श्लिष्ट वर्ग) को दो उपवर्गों (संयोगात्मक और वियोगात्मक) में बाँटने का कार्य किया, और दोनों का अंतर बड़े वैज्ञानिक ढंग से समझाया।

५. विल्हेल्म फ्रॉन् हम्बोल्ड्ट (१७६७-१७३५)

हम्बोल्ड्ट प्रधान रूप से राजनीति से संबन्धित थे, पर भाषा-विज्ञान के भी गंभीर

अध्येता थे। इस संबंध में बाप जैसे प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी से इनसे पत्र-व्यवहार भी हुआ था। इतना ही नहीं, इनके विचारों से प्रभावित होकर ग्रिम जैसे विश्व-विश्रुत भाषा-शास्त्र-वेत्ता को अपने कुछ सिद्धान्तों को बदलना पड़ा था। भाषा-विज्ञान के संबन्ध में अनेक सिद्धान्त इनके पूर्णतः अपने हैं। इनकी शैली इतनी ठोस और क्लिष्ट थी कि इनके विचारों को सार रूप से कहना जेसपर्सन जैसे विद्वान् भी एक कठिन कार्य मानते हैं।

हम्बोल्डट् के शिष्य हेमैन स्टेन्थल ने इनके विचारों को कई प्रकार से कई बार समझाया है और आश्चर्य यह है कि प्रत्येक बार का समझाना अन्य से भिन्न है।

हम्बोल्डट् भाषा को एक अबाध कार्य मानते हैं। इसीलिए वे भाषा को स्थिर परिभाषा में बाँधने के पक्ष में भी नहीं हैं। उनकी दृष्टि में भाषा का ऐतिहासिक अध्ययन आवश्यक है। वे भाषा को नियमों द्वारा शब्दों में विश्लेषित करने को अस्वाभाविक मानते हैं। भाषाओं को वे कम या अधिक पूर्ण मानते हैं, और जंगली भाषाओं को भी कम महत्व की नहीं मानते। उनके अनुसार प्रत्येक भाषा का अपना व्यक्तित्व है, जो भाषा की गति-विधि को समझने के लिए महत्वपूर्ण है।

हम्बोल्डट् बोलियों को भी अपने में पूर्ण मानते हैं, क्योंकि वे किसी न किसी रूप में अपने बोलने वालों का पूरा व्यक्तित्व व्यक्त करती हैं।

भाषा-वर्गों के संबन्ध में चीनी को, जिसमें व्याकरण के रूप नहीं हैं, वे अलग मानते हैं। शेष को ३ वर्गों में—श्लिष्ट, अश्लिष्ट और प्रश्लिष्ट—रखते हैं। साथ ही उनका यह भी विश्वास है, कि कोई एक भाषा निश्चित रूप से एक वर्ग में नहीं रखी जा सकती। सभी भाषाओं में कुछ न कुछ सभी वर्गों के लक्षण मिल सकते हैं। भाषाओं के आकृतिमूलक वर्गीकरण के विषय में इनका मत था कि विभिन्नता के आधिक्य के कारण सफल वर्गीकरण संभव नहीं है।

हम्बोल्डट् ने बोलने वाले के मानसिक स्तर में परिवर्तन का भाषा पर पर्याप्त प्रभाव माना है। शब्दों को धातु पर आधारित मानने के पक्ष में भी वे थे। प्रत्ययों के सम्बन्ध में उनका विश्वास था कि कभी न कभी ये स्वतंत्र शब्द अवश्य थे।

इनके अनुसार किसी का आरम्भ और अंत हम नहीं जान सकते, इसलिए भाषा की उत्पत्ति के विषय में हमें व्यर्थ में सर खपाना ठीक नहीं। उसके प्राप्त इतिहास का अध्ययन ही पर्याप्त है। हम्बोल्डट् ने भाषा के प्रति दिन के व्यावहारिक

रूप पर अधिक न कह कर सूक्ष्म बातों तथा भाषा के दर्शन पक्ष पर ही अधिक विचार किया है।

भाषा-विज्ञान को इनकी सबसे बड़ी देन इनका भाषा के अध्ययन के संबन्ध में ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टिकोण है। यह तुलनात्मक दृष्टिकोण इतना व्यापक था कि इनको तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का पिता कहा गया है। जावा की भाषा का इन्होंने विशेष अध्ययन किया था और उस संबन्ध में पुस्तक भी लिखी।

६. रैज़्मस रैस्क (१७८७-१८३२)

रैस्क डैनिश विद्वान थे। ये शैशवावस्था से ही व्याकरण से विशेष प्रेम रखते थे। बड़े होने पर इन्होंने प्राचीन नार्स (आइसलैंड की भाषा) का अध्ययन किया। इनकी प्रथम पुस्तक 'आइसलैंड का व्याकरण' १८११ में प्रकाशित हुई, जो उस समय के लिए एक अभूतपूर्व पुस्तक थी। १८१४ में इन्होंने प्राचीन नार्स पर एक बहुत सुन्दर निबंध लिखा। उसे देखते हुए बहुत से विद्वान रैस्क को आधुनिक भाषा-विज्ञान के पिता मानने के पक्ष में हैं।

रैस्क के अनुसार किसी देश का इतिहास पुस्तकों की अपेक्षा वहाँ की भाषा की गठन एवं शब्द-समूह से अच्छी तरह जाना जा सकता है। विशेषतः उस काल के लिये जिसकी कोई भी लिखित सामग्री उपलब्ध न हो भाषा से उत्तम और कोई युक्ति नहीं है।

रैस्क ने अपने सारे सिद्धान्तों के आधार पर प्राचीन आइसलैण्डिक भाषा के आरम्भ पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। यह करते समय उन्होंने सगोत्रीय भाषाओं पर भी विचार किया है। इस सम्बन्ध में इस परिवार की कुछ भाषाओं के सम्बन्धों का उसमें सुन्दर वर्णन है। इसी सिलसिले में रैस्क ने फ़िनो-उग्रिअन परिवार की भाषाओं का वर्गीकरण भी किया है, जो बहुत ही प्रामाणिक है।

रैस्क भारतवर्ष भी आए थे। ज़ेन्द को आर्य परिवार में उचित स्थान दिलाने का श्रेय इन्हीं को है। इनके पूर्व के विद्वानों का मत इस सम्बन्ध में नितांत भ्रामक था। इसके अतिरिक्त रैस्क ने ही सर्वप्रथम द्रविड़ भाषाओं को—जिन्हें वह मालाबारिक कहते हैं—संस्कृत से पूर्णतया भिन्न बतलाया। कीलाक्षरीय लेखों की दो अस्पष्ट अक्षरों को पढ़ने में भी पहले-पहल रैस्क ही सफल हुए।

१८१६ में ये देशाटन करने निकले और लगभग ७ वर्षों तक स्वेडेन, फिनलैंड, रूस, तुर्की, ईरान तथा भारत आदि में घूमते और भाषाओं का अध्ययन करते रहे।

इन्होंने बहुत सी भाषाओं के व्याकरण लिखे, जिनमें प्रमुखतः रूप-विचार सम्बन्धी अंश बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

७. याकोब् ग्रिम् (१७८५-१८६३)

फेयरी टेल्स के लेखक यही ग्रिम् महोदय हैं। इनका जन्म जर्मनी में एक वकील के घर हुआ था। इन्होंने स्वयं भी वकालत पढ़ी थी। बाद में प्राचीन जर्मन के अध्ययन की ओर झुके। अपने भाई विल्हेम के साथ इन्होंने लोक-संस्कृति संबंधी बहुत सी सामग्री इकट्ठा की और कुछ प्रकाशित भी की। प्राचीन पंडितों की भाँति पहले ये भी भाषा के संबंध में अनुमानित व्युत्पत्ति-शास्त्र पर काम करने लगे पर रैस्क के कार्य और श्लेगल की आलोचना से इन्हें होश आया और तब इन्होंने प्राचीन जर्मन और सगोत्रीय भाषाओं का गंभीर अध्ययन प्रारंभ किया। रैस्क के 'आइस लैन्डिक व्याकरण' का परिचय देते हुए इन्होंने बोलियों और असभ्य भाषाओं के संबंध में अपने विचार प्रकट किए थे। अब तक लोगों का अध्ययन केवल प्राचीन भाषाओं तक सीमित था पर, ग्रिम ने ही सर्व प्रथम वर्तमान भाषाओं और बोलियों के अध्ययन पर जोर दिया।

ग्रिम की सबसे अधिक महत्वपूर्ण पुस्तक उनका देव भाषा व्याकरण (Deutsche Grammatik) है। यह जर्मन भाषा का व्याकरण १८१९ में प्रकाशित हुआ। जैसा कि भूमिका में उन्होंने लिखा है यह अपने ढंग का प्रथम व्याकरण था। इसमें पूरा दृष्टिकोण ऐतिहासिक है। १८२२ में इसका दूसरा संस्करण निकला, जिस पर रैस्क के व्याकरण का बहुत प्रभाव था। इन्होंने स्वयं रैस्क की बहुत तारीफ की है।

इस दूसरे संस्करण में ध्वनि-प्रकरण में नवीनता थी। इसी प्रकरण में उसने lautverschiebung (वर्ण-परिवर्तन) का विवेचन किया है, जिसे मैक्समूलर के बाद से ग्रिम-नियम कहा जाने लगा, यद्यपि इसका बीज रैस्क में है, अतः उचित नाम तो 'रैस्क-नियम' ही होता। प्रस्तुत नियम पर हम लोग पीछे ध्वनि-नियम प्रकरण में विचार कर चुके हैं।

ग्रिम के गढ़े हुए बहुत से पारिभाषिक शब्द (Umlaut, ablaut आदि) आज भी भाषा-विज्ञान में प्रचलित हैं।

इन्होंने अपनी ऐतिहासिक प्रणाली द्वारा ध्वनि के अतिरिक्त वाक्य पर भी कार्य किया है। इनके व्याकरण के चौथे भाग में यह प्रकरण देखने ही योग्य है।

जीवन के अन्तिम चरण में ग्रिम बर्लिन में अध्यापक थे और अन्त तक भाषा-विज्ञान संबंधी कार्य करते रहे।

८. फ्रान्स बॉप

उस युग के भाषा-विज्ञान के प्रधान स्तंभों में रैस्क और ग्रिम के अतिरिक्त बॉप का भी नाम आता है। ये अपनी अवस्था के बीस वर्ष समाप्त करने के बाद ही पेरिस जा पहुँचे और वहाँ संस्कृत का अध्ययन करने लगे। बॉप तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के पिता कहे जाते हैं। इस संबंध में इनकी प्रथम पुस्तक धातु-प्रक्रिया पर १८१६ में प्रकाशित हुई, जिसमें ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता, जर्मन तथा संस्कृत के रूप तुलनात्मक ढंग से दिए गए थे। इसके बाद काफी दिनों तक ये संस्कृत-अध्येता के रूप में संस्कृत पुस्तकों का संपादन और उनका अध्ययन करते रहे। संस्कृत की कुछ पुस्तकों से इनके अनुवाद भी प्रकाशित हुए। १८२२ में बॉप प्रसिद्ध बर्लिन एकेडेमी में अध्यापक नियुक्त हुए। इसके बाद १९वीं सदी के दूसरे चरण में (१८३३ और १८४९ के बीच में) इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'तुलनात्मक व्याकरण' प्रकाशित हुई। तुलनात्मक व्याकरण की प्रथम पुस्तक यही है। विद्वान् लेखक ने इसमें संस्कृत, जेन्द, आर्मीनीयन, ग्रीक, लैटिन, लिथुआनियन, प्राचीन स्लावियन, गाथी तथा जर्मन का तुलनात्मक व्याकरण दिया है।

बॉप प्रधानतः इस बात का अध्ययन करना चाहते थे, कि व्याकरण के रूपों की उत्पत्ति कैसे हुई। इसके लिये उन्होंने संस्कृत को अपनाया। और भाषाओं को छोड़ कर संस्कृत को ही क्यों अपनाया, इसका भी उत्तर उन्होंने स्वयं दिया है। ये यह निश्चित रूप से मानते थे कि संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन आदि का विकास किसी एक भाषा से हुआ है, पर साथ ही यह भी मानते थे, कि उस मूल भाषा की विशेषताएँ संस्कृत में औरों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित हैं। इसी कारण संस्कृत पर ही अपनी खोज आधारित की और प्रथम पुस्तक (धातु-प्रक्रिया) में संस्कृत को ही आधार माना तथा इसी तुलनात्मक ढंग से मूल रूपों को जानने की कोशिश की।

इसके अतिरिक्त बॉप ने संस्कृत और ग्रीक भाषाओं के स्वराघात पर भी लिखा है।

प्रत्ययों के विषय में हार्नीटुके तथा हम्बोल्ड्ट आदि की भाँति बॉप का भी विश्वास था कि ये कभी न कभी स्वतंत्र शब्द अवश्य थे।

स्वरों के सम्बन्ध में बॉप का विचित्र मत था। पहले इनका विश्वास था कि लिपि की अपूर्णता के कारण ही यूरोपीय भाषाओं के ए और ओ के स्थान पर संस्कृत में अ मिलता है। बाद में ग्रिम के प्रभाव से अ, इ और उ को ही उन्होंने मूल स्वर माना, फिर भी ये तथा इनके अनुगामी संस्कृत के अ को मूल भाषा का प्रतिनिधि मानते रहे। १८८० के लगभग 'तालव्य नियम' की खोज के बाद इस भ्रम का निवारण हुआ।

बॉप सामी धातुओं को भारोपीय भाषाओं से भिन्न मानते हैं। सामी धातुएँ ३ वर्णों (letters) की होती हैं।* इस प्रकार अधिकतर उसमें दो अक्षर (Syllables) होते हैं। दूसरी ओर भारोपीय धातुओं में वर्णों की संख्या निश्चित नहीं है, पर वे सर्वदा एक अक्षर की होती हैं।

ग्रिम ने अपिश्रुति (ablaut) के अन्तर्गत आने वाले ध्वनि-परिवर्तनों का कारण मनोवैज्ञानिक माना था। इसका बॉप ने विरोध किया और शब्द के अंतिम अंश में इसका कारण निहित बतलाया।

बॉप ने श्लेगल के भाषाओं के वर्गीकरण के सम्बंध में किए गए दो वर्गों को अशुद्ध बतलाया और वृद्ध श्लेगल के तीन वर्गों में कुछ सुधार करने अपना तीन वर्ग इस प्रकार रक्खा—१. चीनी आदि बिना व्याकरण की भाषाएँ, २. भारोपीय आदि एकाक्षरीय धातु की भाषाएँ, तथा ३. तीनवर्णीय या दो अक्षर की धातु की सामी भाषाएँ।

बॉप ने सामान्य रूप से भाषा संबंधी बहुत सी समस्याओं को स्पर्श किया पर गहराई में न जा सके। जैसा कि जेस्परसन ने संकेत किया है—गंभीर पाठक के लिए बॉप में आलोचना के योग्य बहुत सी बातें मिल जाती हैं।

बाप का सबसे बड़ा सिद्धान्त वाक्य† यह था कि भाषा-विज्ञान के नियम अपनी एक निश्चित् परिधि के भीतर ही सत्य होते हैं।

६. पश्च पर एक दृष्टि

यूरोप में संस्कृत के प्रवेश से १६वीं सदी के मध्य तक भाषा-विज्ञान का जो अध्ययन हुआ था, समय की दृष्टि से महत्वपूर्ण होने पर भी अध्ययन की गहराई और दृष्टिकोण की व्यापकता की दृष्टि से बहुत अधिक नहीं कहा जा सकता। हाँ एक बात अवश्य है कि आगे के अध्ययन के लिये पर्याप्त सामग्री इकट्ठी हो गई थी। इसीलिए इस युग को कुछ लोगों ने 'उपकरण-संग्रह युग' का नाम दिया है।

इन पाँच दशाब्दियों के अध्ययन की मुख्य प्रवृतियों को हम उँगलियों पर गिन सकते हैं—

१. संस्कृत का विशेष महत्व माना जाता था और इसी कारण सभी भाषा-विज्ञानी संस्कृत के प्रकांड पंडित होते थे।

---

* कुछ धातुएँ ४ या ५ वर्णों की भी होती हैं, यद्यपि इनकी संख्या अधिक नहीं है।

† Laws of philology are true only within certain limits.

२. प्राचीन या क्लासिकल भाषाओं का ही अध्ययन प्रधान रूप से किया जाता जाता था। वर्तमान भाषाओं का यदि थोड़ा-बहुत अध्ययन हुआ भी तो उनमें भी पुरानी भाषाओं के ही लक्षणों को खोजने की धुन थी।

३. कुछ-कुछ तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन भी होने लगा था, पर प्रायः सामान्य लक्षणों पर ही अधिक बल दिया जाता था।

४. परिवारों की कल्पना अपने धुँधले रूप में आने लगी थी।

५. आकृतिमूलक वर्गीकरण की ओर भी लोगों का पर्याप्त ध्यान जाने लगा था।

६. प्रत्ययों को लोग मूलतः सार्थक शब्द मानने लगे थे।

७. भाषा-विज्ञान को लोग अन्य विज्ञानों की भाँति निश्चित विज्ञान बनाने की आशा रखते थे।

१०. आगस्ट एफ़० पॉट (१८०२-१८८७)

वैज्ञानिक व्युत्पत्ति शास्त्र के ये पिता कहे जाते हैं। इन्होंने इस सम्बन्ध में एक बड़ी पुस्तक लिखी। अब तक तुलनात्मक ध्वनियों का कोष्ठक (table) नहीं बनाया गया था। इसका श्रेय भी पॉट को मिला। इसके अतिरिक्त पॉट ने बॉप के व्याकरण का संस्कार किया।

पॉट के समकालीन कुछ और भी विद्वान् हुए जिन्होंने उपर्युक्त तीन महारथियों के मार्ग पर कुछ कार्य किए।

११. के० एम्० रैप

रैप ग्रिम के समकालीन थे। इन्होंने ध्वनि-शास्त्र का अच्छा अध्ययन किया था। इस सम्बन्ध में इन्होंने एक भारी पुस्तक भी लिखी, जिसके चार भाग क्रम से १८३६, '३९,' ४० और' ४१ में प्रकाशित हुए। रैप ने कई देशों में जाकर जीवित भाषाओं का अध्ययन किया। डेनमार्क जाकर रैस्क की शिष्यता स्वीकार की। इनका विश्वास था कि किसी भाषा के प्राचीन इतिहास का अध्ययन अपने में पूर्ण नहीं है। उसे पूर्णता देने के लिए जीवित भाषा का भी अध्ययन अनिवार्यतः आवश्यक है। यह बात ग्रिम के सिद्धान्तों के विपरीत थी। रैप ने एक ओर अन्य बातों के लिए ग्रिम की तारीफ़ की पर इसके लिए उसका घोर विरोध किया। दुःख है कि इस विरोध के कारण ही रैप के ग्रंथ का यथोचित स्वागत न हो सका। इस स्वागत न होने का एक और कारण यह भी था कि कुछ सत्यता और मौलिकता होने पर भी पुस्तक में इतनी

अधिक अशुद्धियाँ थीं कि, विद्वानों के समक्ष उसका हेय समझा जाना स्वाभाविक था।

कुछ भी हो, ध्वनि के संबन्ध में रैप का अध्ययन स्तुत्य है। ध्वनि और लिपि में विशुद्ध सम्बन्ध-स्थापन करके उसने जो ध्वन्यानुकूल अनुलिपि (phonetic transcription)—मृत और जीवित दोनो ही भाषाओं की—की है, वह भी कम श्लाघ्य नहीं। जेस्पर्सन के इस कहने में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है, कि यदि ग्रिम आदि विद्वानों ने रैप के मौलिक मूल सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया होता तो भाषा-विज्ञान के अध्ययन की प्रगति और भी तीव्र हुई होती।

१२. जे० एच० ब्रेड्स्डार्फ

ब्रेड्स्डार्फ डैनिश विद्वान थे। ग्रिम, बॉप आदि ने भाषा के विकास के कारण पर ध्यान नहीं दिया था। इस ओर संकेत करने का प्रथम श्रेय ब्रेड्स्डार्फ को है। इस सम्बन्ध में इनका ग्रन्थ १८२१ में प्रकाशित हुआ। यों तो ये प्रधानतः ध्वनिशास्त्र के विशेषज्ञ थे, पर उक्त ग्रंथ में इन्होंने भाषा के सामान्य परिवर्तन के कारणों पर भी विचार किया और उन्हें उदाहरणों द्वारा स्पष्ट भी किया। संक्षेप में हम कारणों को गिन सकते हैं—१. शब्दों को अशुद्ध सुनना या उनके अर्थ को न समझना, २. अशुद्ध स्मरण, ३. ध्वनि-अवयव की अपूर्णता, ४. आलस्य (विदेशी प्रभाव के कारण होने वाले परिवर्तनों के अतिरिक्त होने वाले ध्वनि-परिवर्तनों में लगभग ९० प्रतिशत का कारण ब्रेड्स्डार्फ इस 'आलस्य' को ही मानते हैं।), ५. सादृश्य की ओर जाने की प्रवृत्ति, ६. स्पष्ट होने का प्रयास, तथा ७. नये विचारों को अभिव्यक्ति देने की आवश्यकता। इसके अतिरिक्त ब्रेड्स्डार्फ़ यह भी मानते हैं कि कुछ परिवर्तन ऐसे भी होते हैं, जो उपर्युक्त कारणों से घटित हुए नहीं कहे जा सकते और उनमें से अधिक के मूल में विदेशी प्रभाव कार्य करता है।

यह कहना न्याय-संगत ही होगा कि बहुत सी बातों में (सादृश्य आदि) ब्रेड्स्डार्फ अपने युग से बहुत आगे थे।

१३. रूडल्फ राथ (१८२१-१८९५) तथा

ओटो बाटलिंक (१८१५-१९०४)

ये दोनों ही संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान् तथा भाषा-शास्त्र-वेत्ता थे। इन दोनों ने मिलकर St. Petersburg Dictionary of Sanskrit नामक संस्कृत का एक

बहुत बड़ा कोष तैयार किया। इस कोष की विशेषता यह है प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति धातु तक दी गई है।

१४. आगुस्ट श्लाइख़र (१८२१-६८)

यूरोप में संस्कृत-प्रवेश के समय से भाषा-विज्ञान का आधुनिक युग मान कर यदि हम इस युग के दो भाग कर दें, तो प्रथम चरण के ऊर्ध्व विंदु पर श्लाइख़र आसीन मिलते हैं। इनके बाद आधुनिक युग का दूसरा चरण आरम्भ होता है, जिसके ध्येय और मार्ग दोनों ही कुछ भिन्न हैं।

श्लाइख़र शुरू से आख़ीर तक भाषा-विज्ञानी—स्वयं अपने शब्दों में 'Glottiker' थे। उन्हें कई भाषाओं का पूर्ण ज्ञान था तथा उनकी विवेचन-शैली बहुत ही प्रौढ़ और दो-टूक थी। इन्हीं सब कारणों से बहुत दिनों तक उनकी पुस्तकें इस क्षेत्र में प्रामाणिक समझी जाती रहीं और वे अग्रणी बने रहे।

श्लाइख़र स्लावोनिक और लिथुआनिअन के विशेषज्ञ थे, और विशेषतः लिथुआनिअन को तो वहाँ जाकर उन्होंने सीखी तथा बहुत सी कथाओं और गीतों को वहाँ के किसानों के मुँह से सुन कर नोट भी किए। वे कुछ दिन तक प्रेग विश्वविद्यालय में अध्यापक थे, जहाँ उन्हें ज़ेक सीखने का भी अवसर मिला। रूसी का भी उन्हें ज्ञान था। इस प्रकार कई भाषाओं के वे पूर्ण ज्ञाता थे। शैशवावस्था में उनके पिता उन्हें ग्राम्य वातावरण से दूर रखकर शुद्ध भाषा की शिक्षा देना चाहते थे। इनकी प्रतिक्रिया इतनी हुई कि जन भाषा की ओर ही वे विशेष झुके, और लोक गीतों पर पुस्तकें तक लिखीं। इस प्रकार मृत और जीवित दोनों ही भाषाओं की ओर श्लाइख़र की रुचि थी।

श्लाइख़र भाषा-विज्ञान के अतिरिक्त दर्शन तथा भौतिक विज्ञान के भी प्रेमी थे। इनके बहुत से सिद्धान्तों को उन्होंने भाषा-विज्ञान में भी लागू किया। विशेषतः हिगेल के वे बहुत ऋणी हैं। उनकी प्रथम दो पुस्तकों के आमुख पूर्णतः हिगेल से प्रभावित हैं। डारविन की भाँति वे भाषा को भौतिक वस्तु (Material Thing) मानते थे। इसके लिए विरोध भी हुआ था, जिसके फलस्वरूप उत्तर में उन्हें एक पुस्तक लिखनी पड़ी।

भौतिक विज्ञान से भाषा को वे इतनी मिली मानते थे कि मनुष्यों का वर्गीकरण खोपड़ी या बालों के आधार पर न कर, भाषा के आधार पर करना अधिक ठीक मानते थे। उनका कहना था कि भाषा अधिक स्थिर चीज़ है।

भाषाओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में भी श्लिगेल के त्रयवाद (trilogies) के आधार पर वे तीन वर्ग बनाते हैं—

क. अयोगात्मक भाषाएँ—जिनमें ध्वनि से अर्थ का बोध होता है।

ख. अश्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ—जिनमें ध्वनि से अर्थ और सम्बन्ध दोनों का बोध होता है।

ग. श्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ—जिनमें अर्थ और सम्बन्ध प्रकट करने वाले अंग आपस में मिले रहते हैं।

इन तीनों वर्गों को उन्होने बीजगणित की भाँति धातु = R, उपसर्ग = P, प्रत्यय = S तथा आंतरिक परिवर्तन = X मानकर समझाया भी है। इस वर्गीकरण को ह्विटनी तथा मैक्समूलर ने पूर्णतः मान लिया था, यद्यपि भाषा-विज्ञान की विशुद्ध दृष्टि से इसमें कई आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं।

श्लाइखर की सबसे मौलिक देन मूल भारोपीय भाषा का पुनर्निमाण है। इसके पुनर्निमाण का विचार उनके मस्तिष्क में बहुत पहले से नाच रहा था, पर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'कम्पेंडियम' के पूर्व इस विचार पर वे विस्तारपूर्वक विचार न कर सके। इस पुस्तक में उन्होंने उस मूल भाषा के स्वर, व्यंजन, धातु तथा रूप-रचना आदि पर स्वतंत्र अध्यायों में विचार किया। मूल भाषा के सम्भावित रूपों को देते हुए उनसे निकलने वाले संस्कृत, ग्रीक, लैटिन तथा गाथिक आदि रूपों को भी दिया। इन संभावित रूपों में उन्होंने एक कहानी (Avis Akvasas ka) भी लिख डाली। इस कहानी की भूमिका में उन्होंने अपनी कठिनाइयों का निर्देश करते हुए ध्वनि तथा व्याकरण के रूपों के सम्बंध में मूल भाषा के बहुत समीप होने का विश्वास दिलाया है। इस प्रकार अनुमानसिद्ध भाषा का निर्माण भाषा-विज्ञान के लिए बहुत उपयोगी नहीं कहा जा सकता, इसी कारण बाद के भाषा-विज्ञानियों ने इस प्रकार का फिर कोई प्रयास नहीं किया।

बॉप के कार्य को आगे बढ़ाने का तथा पीछे की सारी खोजों को ठीक से सजाने का श्रेय भी श्लाइखर को ही है। १९वीं सदी के अंतिम तथा २०वीं के प्रथम चरण के प्रसिद्ध भाषाशास्त्रवेत्ता कार्ल ब्रुगमन इन्हीं के शिष्य हैं।

१५. गेओर्ग कुर्टिउस (१८२०—१८८५)

कुर्टिउस श्लाइखर के समकालीन थे और प्रेग विश्वविद्यालय में उनके साथ काम कर चुके थे। भाषा-विज्ञान सम्बंधी विद्वत्ता में उस युग में श्लाइखर के बाद इन्हीं का

नाम आता है। इसी कारण नवीन भाषा-विज्ञानियों की आलोचना की कटु बौछार श्लाइखर की मृत्यु के बाद कुर्टिउस को ही सहनी पड़ी।

इनका विशेष अध्ययन ग्रीक का था। ग्रीक क्रिया तथा ग्रीक शब्दों की व्युत्पत्ति सम्बंधी इनके ग्रंथ बड़े महत्वपूर्ण हैं। ध्वनि-नियमों में इनका भी विश्वास था, पर नव-युग के विद्वानों की भाँति ये इस बात को नहीं मानते थे, कि ध्वनि-नियम के अपवाद नहीं होते। नव-युग के विद्वान् प्राचीन भाषाओं की पद-रचना में भी सादृश्य का बहुत अधिक प्रभाव मानने लगे थे, पर कुर्टिउस ने इसे कभी स्वीकार नहीं किया। नव-युग की इन मान्यताओं के विरुद्ध कुर्टिउस ने अपने अंतिम काल में एक पुस्तक भी लिखी। इस प्रकार अंत तक ये नवीनतावादियों के विरुद्ध लड़ते रहे।

१६. निकोलई मैडविग

ये प्रमुखतः ग्रीक और लैटिन के विद्वान् थे। भाषा-विज्ञान के सामान्य नियमों के विवेचन की ओर भी इनकी अभिरुचि थी। भाषा के संबंध में रहस्यवादी भावनाओं या दैवी बातों के ये विरोधी थे। तर्कवाद इनका मूल मंत्र था, पर इस तर्कवाद की धारा में ये इतने आगे बढ़ गए कि हम्बोल्ट् आदि ने जिस ध्वनि-प्रतीक (sound-symbolism) पर इतना बल दिया था, उसकी स्थिति ही अस्वीकार कर दी। व्युत्पत्ति एवं ध्वनि सम्बन्धी अध्ययन को बहुत अधिक महत्व नहीं देते थे। विद्वान् होने पर भी केवल डैनिश भाषा में लिखने के कारण ये अधिक प्रसिद्धि न प्राप्त कर सके। १८७५ में प्रकाशित अपनी जर्मन पुस्तक की भूमिका में इन्होंने लिखा भी है कि ह्विटनी आदि जिन सिद्धांतों के कारण इतने प्रसिद्ध हुए उनको ये वर्षों पहले निकाल चुके थे, पर किसी प्रसिद्ध भाषा में न लिखने के कारण संसार इनको न जान सका।

१७. इस युग के कुछ प्रसिद्ध विशेषज्ञ

इस युग के पूर्व तक लोग अधिकतर सभी प्रसिद्ध भाषाओं पर कार्य किया करते थे, पर इस युग में विशिष्ट भाषाओं के कुछ विशेषज्ञ भी हुए। इन विशेषज्ञों ने तुलनात्मक ढंग पर भाषाओं के इतिहास का विवेचन किया। ग्रीक के विशेषज्ञ कुर्टिउस का उल्लेख हम लोग ऊपर कर चुके हैं। संस्कृत के बहुत से विशेषज्ञों में वेस्टरगार्ड और बेनफ़ी का नाम अग्रगण्य है। इसी प्रकार स्लावोनिक के श्लाइखर और मिक्लोसिख, तथा केल्टिक के जेउस आदि प्रसिद्ध हैं। रोमानिक के विशेषज्ञों में फ़्रेड्रिख डीज़ सर्वोपरि हैं।

१८. फ्रेड्रिख़ मैक्समूलर (१८२३—१६००)

भाषा-विज्ञान का इतना अध्ययन हुआ पर अभी तक उसका प्रचार केवल उसके विद्वान वर्ग में था। अन्य लोग उससे पूर्णतः अपरिचित थे। इस परिचय कराने के कार्य को मैक्समूलर ने किया। १८६१ में उन्होंने कुछ व्याख्यान दिये जो पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। इनकी शैली इतनी रोचक थी कि इस सूखे विषय को भी इन्होंने मनोरंजक बना दिया और इसका फल यह हुआ कि भाषा-विज्ञान की ओर बहुत से लोग झुके। इनके ग्रंथ का नूतन संस्करण २६ वर्ष बाद प्रकाशित हुआ। नूतन संस्करण की भूमिका में इस बीच हुई खोजों का परिचय देते हुए मैक्समूलर ने नव-युगीन भाषा-विज्ञानियों के लगभग सभी सिद्धान्तों को मान लिया।

मैक्समूलर प्रधानतः साहित्यिक और दार्शनिक व्यक्ति थे। इसी कारण उनके व्याख्यान या पुस्तकें जितनी मनोरंजक और आकर्षक हैं, उतनी गहरी नहीं है। ध्यान से देखने पर उनमें ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं, जहाँ वे किसी प्रश्न को लेकर चलते हैं, और बीच ही में मनोरंजक व्युत्पत्ति आदि के फेर में पड़ कर अपना मूल विषय ही भूल जाते हैं।

श्लाइख़र की बहुत सी बातों को उन्होंने बिना विश्लेषण किए मान लिया है। उदाहरणार्थ भाषा-विज्ञान को एक भौतिक विज्ञान मानते थे, पर उसे फिलोलोजी (Philology) से भिन्न मानते थे, जो उनकी दृष्टि में एक ऐतिहासिक विज्ञान है। पर यह केवल उनका मानना मात्र था। जहाँ उन्होंने भाषा-विज्ञान को भूत-विज्ञान सिद्ध करने का प्रयास किया है वे असफल ही रहे हैं।

प्रचार-कार्य के साथ ही मैक्समूलर ने जो सबसे बड़ा कार्य किया वह उनका संग्रह-कार्य है। परिचय देने के लिये उन्होंने भाषा के उद्गम, भाषा की प्रकृति, भाषा का विकास, विकास का कारण, तथा भाषाओं का वर्गीकरण आदि विषयों पर हुए कार्यों के परिणामों को एकत्र कर दिया।

मैक्समूलर भारत के बहुत बड़े हिमायती थे। भारतीय भाषा, साहित्य एवं दर्शन को संसार में उचित स्थान दिलाने वालों में उनका नाम सबसे ऊपर है। 'पूरब की पवित्र पुस्तकें' माला में उन्होंने पचासों पुस्तकों के अनुवाद किए हैं। औपनिषदिक दर्शन, एवं जातियों के धर्मानुष्ठान-पद्धति पर भी उन्होंने पर्याप्त लिखा है। तुलनात्मक पौराणिक कथा तथा धर्म के विज्ञान पर कार्य करने वाले ये प्रथम व्यक्ति हैं। सायण भाष्य के साथ इनका जो ऋग्वेद का संस्करण है, अब तक प्रामाणिक माना जाता है।

भाषा-विज्ञान से संबंधित इनके तीन अन्य कार्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। इनके पूर्व विद्वानों का ध्यान अर्थ-विचार पर प्रायः नहीं के बराबर था। इन्होंने पहले पहल इसकी ओर ध्यान दिया। आर्यों की मूल भाषा पर तो विचार हुआ था पर उनके मूल स्थान पर विशेष नहीं। मैक्समूलर ने इस पर भी पर्याप्त कार्य किया और मूल स्थान मध्यएशिया निश्चित् किया। इनका तीसरा कार्य नागरी लिपि के प्रचार का है। इनके पूर्व यूरोप आदि में कौन कहे भारत के भी सभी प्रांतों में नागरी लिपि का प्रचार नहीं था। इनके प्रयास के फलस्वरूप यूरोप तथा भारत दोनों ही में इसकी वैज्ञानिकता सराही गई और संस्कृत आदि के लिये इसका प्रयोग होने लगा।

१६. विलियम ड्वाइट ह्विटनी (१८२७—१८६४)

भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने वाले प्रथम अमेरिकन विद्वान ह्विटनी हैं। ये न्यू-हेवन के येल कॉलेज में संस्कृत तथा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अध्यापक थे। इन्होंने अपनी पुस्तक 'भाषा और भाषा का अध्ययन' १८६७ में लिखी। दूसरा ग्रंथ 'भाषा का जीवन और विकास' १८७५ में लिखा गया। इनका संस्कृत भाषा का प्रसिद्ध व्याकरण १८७६ में निकला जो अपने ढंग का अकेला है। विद्वत्ता की दृष्टि से ये मैक्समूलर से अधिक योग्य कहे जाते हैं, पर अंग्रेज़ी शासन से प्रोत्साहन न मिलने के कारण भारत में इनका यथोचित आदर एवं प्रचार न हो सका, जिसका इन्हें बहुत दुःख था। इनकी शैली मैक्समूलर की अपेक्षा कम आकर्षक थी पर दूसरी ओर उनकी अपेक्षा अधिक गंभीर और ठोस थी। मैक्समूलर से इनकी बड़ी प्रतिद्वन्दिता चली। इन्होंने उनके बहुत से काल्पनिक सिद्धान्तों की आलोचना की और उन्हें ठीक भी किया। मैक्समूलर ने अपनी पुस्तकों में उदाहरणों का कहीं-कहीं दुरुपयोग किया है। इन सबकी आलोचना भी ह्विटनी ने अपने अनेक लेखों में की। मैक्समूलर ने इन आलोचनाओं का उत्तर अपनी पुस्तक Chips from a German Workshop में दिया। ह्विटनी ने अंत में एक 'मैक्समूलर और भाषाविज्ञान' नाम की छोटी-सी पुस्तिका भी लिखी थी। भाषा की परिभाषा के संबंध में भी दोनों में पर्याप्त अंतर था। मैक्समूलर के लिए वह भौतिक वस्तुओं सी थी पर ह्विटनी इसे मानवीय उद्योग के फलस्वरूप विकसित मानता था। उसके लिए भाषा देश के मस्तिष्क की छाया थी।

इतना होने पर भी दोनों ही कुछ बातों में एक से थे। दोनों ने पिछले अर्द्ध-शताब्दी के किए गए कार्य को इकट्ठा किया तथा दोनों ही प्रधान रूप से गंभीर भाषा-विज्ञानी नहीं थे। उनके लगभग सभी सिद्धान्त आज अमान्य हो गये हैं। जिन बातों

को उन्होंने शाश्वत समझ कर उच्चरित किया था, वे भी आज के लिए केवल ऐतिहासिक महत्व की रह गई हैं।

[ख] नव-युग

यों तो किसी भी युग का आरंभ किसी निश्चित् सन् या दिन से नहीं होता, पर जैसा कि कहा जाता है, नव युग का आरम्भ हम १६वीं सदी के तृतीय चरण से मान सकते हैं। इस समय भाषा-विज्ञानियों की एक नई शाखा चली, जिसे प्राचीन विद्वानों ने नौसिखियों की शाखा (Junggrammatiker) या नव्य शाखा कहा। सबसे पहले दोनों शाखाओं (प्राचीन तथा नवीन) का विरोध ध्वनि को लेकर चला। नव्य शाखा वालों का, विशेषतः लेस्कीन का कहना था कि, ध्वनि-नियमों के अपवाद नहीं होते, पर प्राचीन शाखा वाले इसे मानने को तैयार न थे। इस न मानने के लिए पर्याप्त कारण भी था। वे देख चुके थे कि प्रसिद्ध ग्रिम नियम अपवादों से भरा है। इस प्रथम विरोध के बाद फिर दोनों शाखाओं में काफ़ी चखाचखी रही और पुराने नयों की बड़ी हँसी उड़ाते रहे, जैसा कि प्रायः होता आया है। पर अंत में जैसा कि हम लोग देखेंगे, नई शाखा की सभी बातें लगभग सत्य निकलीं, जिसके फलस्वरूप प्राचीनों को झुकना पड़ा। आज नई शाखा के सिद्धान्तों का ही बोलबाला है। इसका केन्द्र बहुत दिन तक लिपिज़िग में रहा है।

१. हेमैन स्टाइन्थाल (१८२५-१८६६)

भाषा-विज्ञानियों की नव्यशाखा का इनको अग्रणी कहा गया है। ये व्याकरण और भाषा-विज्ञान के साथ साथ तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान के भी प्रकांड पंडित थे। इनके पूर्व भाषा के अध्ययन में मनोविज्ञान का सहारा नहीं लिया जाता था। इन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन मनोविज्ञान के बिना असम्भव है। स्टाइन्थाल का प्रथम ग्रंथ १८५५ में प्रकाशित हुआ, जिसमें इन्होंने मनोविज्ञान तर्कशास्त्र और व्याकरण के पारस्परिक संबन्ध का विवेचन किया। श्लाइखर आदि ने, जो उस समय प्रसिद्धि के ऊर्ध्वविंदु पर थे, इस पुस्तक की ख़ूब खिल्ली उड़ाई। भाषा के मनोविज्ञान पर स्टाइन्थाल के और भी ग्रंथ प्रकाशित हुए। इन्होंने अपने इस नूतन पथ के लिए हम्बोल्डट के ग्रंथों से प्रेरणा ली थी।

भारोपीय परिवार की भाषाओं का अध्ययन पर्याप्त हो चुका था, इसलिए स्टाइन-थाल ने विशेषतः चीनी तथा अफ्रीका की मन्डे-निग्रो भाषाओं का अध्ययन किया। कुछ लोग इनको इसलिए भी हीन समझते थे। इनकी शैली अच्छी नहीं थी। समझी

बात को भी स्पष्ट रूप से नहीं रख पाते थे। इन्हीं सब कारणों से ये प्रसिद्धि न पा सके। कुछ भी हो, जीवित भाषाओं के अध्येता, अस्पर्शित भाषाओं पर कार्यकर्ता, एवं भाषा-विज्ञान के अध्ययन में मनोविज्ञान की महत्ता के अंगुलि-निर्देशक के रूप में स्टाइन्थाल का नाम अवश्य ही महत्वपूर्ण है।

२. कार्ल ब्रुगमन्

नव्यशाखा के विद्वानों में ये सब अधिक प्रसिद्ध हैं। आगे इस शाखा या युग की मूल प्रवृत्तियों के रूप में जो कुछ भी नई बातें कही जायँगी, लगभग सभी में इनका हाथ है।

ब्रुगमन् का सबसे बड़ा कार्य भारोपीय भाषा के व्याकरण के सम्बन्ध में है। यह बड़े-बड़े चार भागों में समाप्त हुआ है। इनके समय तक वाक्य के संबन्ध में भी कुछ अधिक कार्य नहीं हुआ था। इन्होंने इस दिशा में भी उक्त व्याकरण के पंचम खंड में कार्य किया। हर्मन ओस्टाफ के साथ इनका मिश्रित कार्य रूप-रचना पर है। यह ग्रंथ 'नई शाखा की गीता' के नाम से प्रसिद्ध है।

ब्रुगमन का अनुनासिक-सिद्धांत (Sonant nasal theory) भी प्रसिद्ध है। इसकी खोज से भी ग्रिम नियम की अनेक शंकाओं एवं अपवादों का समाधान हो गया।

३. ग्रैसमैन, वर्नर तथा अस्कोली

इन तीनों ही विद्वानों के नाम ध्वनि के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण हैं।

ग्रैसमैन ने अपने 'ग्रैसमैन-नियम' (जिसका पीछे पृ. २४५ पर वर्णन किया जा चुका है) की खोज की, जिससे ग्रिम-नियम (दे० पृ० २४२) के कुछ अपवाद समाप्त हो गए। शेष अपवादों को दूर करने के लिए **कार्ल वर्नर** ने १८७७ में वर्नर नियम (दे० पृ० २४६) खोज निकाला।

अस्कोली ने १८७० में खोज निकाला कि मूल भारोपीय भाषा में की 'क' ध्वनि आगे चलकर कुछ भाषाओं में तो 'क' ही रही और कुछ में 'स' या 'श' हो गई। इसी आधार पर भारोपीय परिवार के केंटुम और सतम वर्ग ब्रैडके द्वारा बनाए गए।

४. आधुनिक अध्ययन की प्रवृत्तियाँ, क्षेत्र और प्रमुख कार्यकर्ता

इसके पूर्व भाषा-विषयक ऐसी बहुत सी समस्याएँ थीं, जिनके संबंध में भाषा-विज्ञान-वेत्ता अपना सर खपाया करते थे, पर अब उन्हें प्रायः छोड़ दिया गया। इनमें मुख्य ये हैं—

(क) **भाषा की उत्पत्ति**—विद्वानों ने देखा कि इस क्षेत्र में वैज्ञानिक ढंग से कार्य करने की गुंजाइश नहीं के बराबर है और यह भी देखा गया कि बिना उचित आधार के अनुमान की पतंग उड़ाना लाभप्रद नहीं हो सकता, अतः इस पर विचार करना प्रायः छोड़ दिया गया। इसका विरोध यहाँ तक हुआ कि पेरिस के भाषा-विज्ञान-परिषद् ने अपने यहाँ इस संबंध में किसी प्रकार का लेख आदि पढ़ना या विचार विनिमय करना विधानतः वर्जित कर दिया।

(ख) **प्रत्ययों के मूल**—प्रत्ययों को अर्थवान् शब्दों का अवशेष समझा जाता रहा है और इसी दृष्टि से विद्वान् उसके मूल शब्द की खोज करते रहे हैं। नवयुग के विद्वान् इधर से भी विमुख हो गए हैं।

(ग) **भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण**—इसे भी व्यर्थ तथा अवैज्ञानिक समझ कर छोड़ दिया गया है, क्योंकि शुद्ध रूप से कोई भी भाषा किसी एक वर्ग में नहीं आती। प्रायः सभी में एक से अधिक 'आकृतियाँ' मिलती हैं।

अध्येता राष्ट्र

आधुनिक युग के पूर्व तक भाषा-विज्ञान का अध्ययन विशेषतः जर्मनी में केन्द्रित था, पर इधर फ्रांस में भी उसी ज़ोर-शोर से इसका अध्ययन होने लगा है और साथ ही ब्रिटेन तथा अमेरिका भी अब किसी से पीछे नहीं कहे जा सकते। साथ ही धीरे-धीरे संसार के अन्य राष्ट्रों में भी इसका अध्ययन फल-फूल रहा है, यद्यपि अभी अन्य राष्ट्र चार-छः दर्शकों तक इन चारों के समकक्ष नहीं हो सकते।

क्षेत्र और कार्यकर्ता

इधर भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में अनेकानेक रूपों में नए अध्ययन हुए हैं और हो रहे हैं। यहाँ उनका अत्यंत संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। कार्यकर्ताओं के प्रायः नाम गिना देने से यह सूची जैसा हो गया है, पर इससे अधिक सामग्री देने के लिए यहाँ गुंजाइश नहीं थी। 'भाषा-विज्ञान के अध्ययन' के इतिहास पर स्वतंत्र रूप से यदि लिखा जाय, तब कहीं आधुनिक कार्यों के विवेचन के साथ न्याय संभव है।

१. **वाक्य-विज्ञान**—भाषा में वाक्य प्रधान होने के कारण इसके अध्ययन को बहुत महत्व का माना जाता है, पर साथ ही इसका अध्ययन दुरूह भी क्योंकि इसका संबंध मनोविज्ञान से है। ब्रुगमन् के अतिरिक्त इस क्षेत्र में लाँगे, बी० डेलब्रुक, हर्मन पाल, ज़ीमर, जेस्पर्सन तथा जोसेफ आदि के कार्य महत्वपूर्ण हैं।

२. **रूपविज्ञान**—इस क्षेत्र में वाक्य-विज्ञान पर कार्य करने वालों के अतिरिक्त ब्लूमफील्ड, बर्नर्ड, हाकेट, स्लोकम, मैथ्यू राबर्ट, बैज़ेल तथा नाइडा आदि ने कार्य किए हैं।

३. **ध्वनि-विज्ञान**—ध्वनि के क्षेत्र में आधुनिक तथा अत्याधुनिक युग में बहुत काम हुआ है।

ध्वनियाँ मुँह में कहाँ से और किस प्रकार उत्पन्न होती हैं, इसके अध्ययन के लिए अनेकानेक यंत्रों तथा साधनों के प्रयोग होने लगे हैं, जिनमें प्रमुख एक्सरे, लैरिंगोस्कोप, कायमोग्राफ, एंडोस्कोप, कृत्रिम तालु, आटोफोनोस्कोप, ब्रीदिंग फ्लास्क, स्पिरोमीटर, स्टेथेग्राफ, स्ट्रोबेलैरिंगोस्कोप और न्यूमोग्राफ* आदि हैं। इस क्षेत्र में काम करने वालों में रोज़ापेल्ली (कायमोग्राफ़), कोट्स (कृत्रिमतालु) ज़र्मक, ब्राउने (लैरिंगोस्कोप), फ्लेटाउ (एंडोस्कोप) तथा गट्ज़मैन (ब्रीदिंग फ्लास्क) विशेष उल्लेख्य हैं।

अमेरिका में ध्वनि-विज्ञान की एक नई शाखा विकसित हो गई है, जिसे फोनेमिक्स या ध्वनि-श्रेणी-विज्ञान कहते हैं। इस क्षेत्र में काम करने वालों में पाइक, गम्पर्ज़ तथा ग्लीसन आदि प्रमुख हैं।

एक्सपेरिमेंटल फोनेटिक्स एकास्टिक फोनेटिक्स, स्वराघात तथा ध्वनि के अन्य क्षेत्रों में काम करने वालों में स्वीट, ज़ूल ब्लाक, स्क्रिप्चर, डैनियल जोन्स, ग्राहमबेली, पेरिया, मार्टिन, बोल्डिंग, लारमर, एडलंग, अस्ताफ, बार्थोलोमे, बेखटेल, मेले, ट्रेटवर्ग, एंडर्सन, आर्मफील्ड, ट्रैगर, रूज़लेट, स्टेटसन, फ्लेचर, रस्सेल, गेमेली, पास्टोरी, जूस, पाइक, हेफनर, इगन, बार्कर, एडवर्ड, विक्टर, ग्रीन, काप तथा रिपमैन आदि के नाम लिए जा सकते हैं।†

४. **अर्थ-विज्ञान**—अर्थ-विज्ञान के प्रारंभिक बड़े विद्वान ब्रील हैं। इधर इस क्षेत्र में तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र आदि के प्रकाश में कार्य आगे बढ़ा है। अमेरिका में अर्थविज्ञान का एक नया आंदोलन चला है, जिसकी एक पत्रिका भी निकलती है। भाषा-विज्ञान की इस शाखा के विद्वानों में टकर, ओर्टेल, आग्डेन,

* इन यंत्रों के विषय में जानने के लिए परिशिष्ट देखिए। †दे० पृ० २४८-५१ भारत में इस क्षेत्र में मोहुउद्दीन क़ादरी, बाबूराम सक्सेना, सुनीतिकुमार चटर्जी, जी० हल्दार तथा एन० जी० कालेलकर के नाम अग्रगण्य हैं।

रिचर्ड्स, ह्याकावा, मिल्लर, कार्नप, पोस्टेग, अर्नेस्ट कैसर, वालपोल, मारिस तथा वलमन् के नाम उल्लेख्य हैं।*

५. **भाषाविज्ञान के सामान्य सिद्धान्त**—मिलेट, गाइल्स, सईस, एडवर्ड्स, ओयर्टेल, सैपिर, ब्लूमफील्ड, वेन्द्रिया, टकर, वील्ड, हॉरस, स्पेयर, जेस्पर्सन, स्त्र्‌न्वाँ, कैरल, हाल, तथा स्वीट आदि।

६. **मनोविज्ञान पर आधारित अध्ययन**—मनोविज्ञान का आधुनिक भाषा-विज्ञान के अध्ययन में विशेष स्थान है, इसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। इस दृष्टि से अध्ययन करने वालों में प्रमुख मार्ट, पिल्सबरी, मीडर तथा जिन्नेके आदि है।

७. **मानवविज्ञान पर आधारित अध्ययन**—आधुनिक युग में मानव-विज्ञान का सहारा लेते हुए भी भाषाओं का अध्ययन किया जा रहा है और यह बहुत उपयोगी भी सिद्ध हो रहा है। इस क्षेत्र में प्रमुख नाम जासेफ ग्रीनबर्ग, रे, स्वादेश, हाकेट, क्रोयबर, सैपिर, लेवी स्त्रास तथा हार्फ आदि के लिए जा सकते हैं।

८. **अलग-अलग भाषाओं का अध्ययन**—आधुनिक युग के पूर्व, लोगों का प्रधान ध्यान संस्कृत, ग्रीक आदि प्राचीन भाषाओं के अध्ययन पर था, पर आधुनिक युग में जीवित भाषाओं के अध्ययन पर भी बल दिया गया है। इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं और प्रायः सभी प्रधान जीवित भाषाओं के अध्ययन हो चुके हैं तथा हो रहे हैं। भारतीय भाषाओं के अध्ययन एवं अध्ययन-कर्ताओं पर पीछे (पृष्ठ ४००—४) प्रकाश डाला जा चुका है।

यूरोप और अमेरिका की भाषाओं पर वहाँ के निवासियों ने महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। इस दृष्टि से उल्लेख्य नाम जेस्पर्सन, पामर, अत्किंसन, राइट, कार्लिसन, एन्त्विस्तिल, क्वकरित्स, केनेथ, समरफेल्ट, मिग्लीओरिनी, एलकाक तथा ब्रानफान्ते आदि के हैं। यहाँ के लोगों ने अपने देशों के अतिरिक्त अफ्रीकी (ब्लीक, रीनिश, क्राफ, टोरेंड, फूट, रूग, शैंपोलोई, लैप्सिअस, हिंडे, वेस्टरमैन, स्टिगैंड तथा राबिनज़न आदि), चीनी (स्टेंसिला, भूलें, फारेस्ट, गाइल्स, विलियम्स, लेग, शावान, कार्लग्रेन, मूले तथा मारगूलांज़ आदि), जापानी (सैन्सम तथा हेंडरसन आदि) अरबी (रिचर्डसन, लीयरी, थैचर, सालोमन, बार्थ, हाप्ट, मोलर तथा ब्रोकेलमान आदि), तथा अन्य विदेशी भाषाओं के प्राचीन तथा आधुनिक रूपों पर भी महत्वपूर्ण कार्य किए हैं।

---

* इस क्षेत्र में भारतीय विद्वानों के नाम के लिए दे० पृ० २५२

(६) **लिपियों का अध्ययन**—आधुनिक काल में लिपियों के अध्ययन पर भी पर्याप्त बल दिया गया है। इस दृष्टि से (क) लिपियों के सामान्य विकास, (ख) लिपि-विकास की विभिन्न सीढ़ियाँ, (ग) लिपियों के वर्गीकरण, (घ) वर्णमाला की उत्पत्ति और उनके नाम के आधार, (ङ) विभिन्न देशों, संस्कृतियों और भाषाओं की लिपियों की उत्पत्ति, उनके प्राचीन रूप में प्राप्त लेखों को पढ़ने, उनके विकास, उनकी कमियाँ तथा सुधार एवं परिवर्तन आदि पर महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं। यहाँ इन क्षेत्रों में काम करने वालों के नाम अलग-अलग शीर्षकों में दिए जा रहे हैं।

(अ) **लिपियों पर सामान्य रूप से**—गार्डिनर, काउले, लैंग्डेन तथा ब्रोज़ आदि अंग्रेज़ी विद्वान्; जेन्सेन, ग्रिम तथा लिटमैन आदि जर्मन विद्वान्; थोमें, मान्तेत तथा वरलायद आदि फ्रांसीसी विद्वान्; अल्ब्राइट, टोरे, ग्रांट तथा हैरिस आदि अमरीकी विद्वान् और डिरिजर (इटैलियन विद्वान्) आदि ने इस क्षेत्र में कार्य किए हैं।

(आ) **भारतीय लिपियाँ**—बूलर, फ्लीट, लूडर्स, सेवेल, मार्शल, वैडेल, हंटर, रास तथा जोन्स आदि।*

(इ) **चीनी लिपि**—एडकिन्स, चालफैंट, लाफर, ओवेन तथा हापकिन्स आदि।

(ई) **सामी लिपि**—टिकसेन, वाल, जेसेनियस, काप, लूडल्फ, राइट, लिटमैन तथा एब्राट आदि।

(उ) **क्यूनीफार्म लिपि**—किंग, बार्टन, ड्राइवर, गाटफेंड तथा रालिंसन आदि।

(ऊ) **हीरोग्लाइफिक लिपि**—सीथ, मूलर, गार्डिनर, आकरब्लाड, सासी तथा शैम्पोलियन आदि।

(ऋ) **क्रीटन लिपियाँ**—ब्रोज़, इवन्स, वीकबर्गर, मेयर तथा पेंडिलबरी आदि।

(ए) **हित्ती लिपि**—थामसन, ह्रोज़्नी, होगर्थ, रिबेज़ो तथा गेल्ब आदि।

(ऐ) **अमरीकी लिपियाँ**—फोर्स्टमन, गुडमैन, मार्ले, बेयर तथा लांग आदि।

* इस क्षेत्र में काम करने वाले भारतीय विद्वानों में गौरीशंकर हीराचंद ओझा, प्राणनाथ, शामा शास्त्री, एच्० कृष्ण शास्त्री तथा राजबली पांडेय आदि प्रमुख हैं।

(ओ) लैटिन तथा उससे निकली अन्य लिपियाँ—मूर, त्रिन्ने, हेनिंग, अलेन, इल तथा स्टीफेन्स आदि।

(औ) यूनानी लिपि—राबर्ट्स, थामसन तथा हिक्स आदि।

(१०) अन्य बातें—भाषा-विज्ञान के अध्ययन के क्षेत्र में कुछ और भी बातें हैं, जिनको संक्षेप में गिनाया जा रहा है।

(क) भाषा को चिरविकसित होने वाली मान कर उसके नवीनतम रूप (जिसे पहले अशुद्ध तथा विकृत मानकर घृणा की दृष्टि से देखा जाता था) का अध्ययन किया जा रहा है तथा उस दृष्टि से व्याकरण आदि में परिवर्तन किया जा रहा है।

(ख) भाषा के परिवर्तित होने या विकसित होने में बोलियों या भाषाओं की आपसी लेन-देन, सादृश्य, तथा बोलने वालों की मानसिक स्थिति का हाथ सब से अधिक माना जा रहा है। भौगोलिक या शारीरिक कारण गौण हो गए हैं।

(ग) भाषा को जीवित मान कर, बोलने वालों के जीवन के संदर्भ में उस का अध्ययन करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है।

———

परिशिष्ट

[क]

सादृश्य (analogy)

मनुष्य स्वभावतः सरलता का प्रेमी होता है। उसका यह स्वभाव भाषा में भी कार्य करता है। वह किसी पुराने शब्द को किसी पुराने शब्द की वज़न पर उसकी आकृति के साँचे में ढाल लेता है और इस प्रकार दोनों शब्द रूप की दृष्टि से एक से हो जाते हैं या दोनों में सादृश्य (या रूप-सादृश्य) हो जाता है। जैसे संस्कृत में 'द्वादश' की वज़न पर संस्कृत वालों ने 'एकदश' को 'एकादश' बना लिया।

सैंतिस और सैंतालिस की अनुनासिकता पैंतिस और पैंतालिस के सादृश्य पर ही आधारित है। व्याकरण की दृष्टि से भाषा के आरंभकाल में बहुत से रूप रहे होंगे। धीरे-धीरे सादृश्य के आधार पर ही रूपों की विभिन्नता दूर हुई होगी। अंग्रेज़ी की बली (Strong) क्रियाएँ इसी आधार पर धीरे-धीरे बलहीन (Weak) होती जा रही हैं। एक समय ऐसा भी असंभव नहीं है, जब एक भी बली क्रिया अंग्रेजी में शेष न रहे।

मिथ्या सादृश्य (False analogy)

सर्व प्रथम रोमांस भाषाओं के अध्ययन में लोगों का ध्यान इस ओर गया। उस समय लोग इसे सादृश्य न कह कर मिथ्या सादृश्य कहते थे। बाद में इस आधार पर कि, सभी सादृश्य मिथ्या हैं, 'मिथ्या' शब्द को निरर्थक समझा गया और मिथ्या सादृश्य के स्थान पर सादृश्य का प्रयोग होने लगा।

क्या सादृश्य एक कारण है ?

अधिकतर लोग ऐसा समझते हैं कि सादृश्य स्वयं एक कारण है और इसी कारण से परिवर्तन होते हैं। यथार्थतः यह बात नहीं है। सादृश्य पर आधारित परिवर्तनों का कारण सादृश्य नहीं है। उसका कारण तो सुविधा, सरलता या सुख है। सादृश्य तो एक साधन मात्र है, जिससे सुविधा प्राप्त होती है। उदाहरण के लिये 'मझ' शब्द 'तुझ' के सादृश्य पर 'मुझ' हो गया। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि 'मुझ', 'तुझ' के सादृश्य के कारण 'तुझ' हो गया, अपितु यह कहना उचित है कि याद रखने की सुविधा के कारण 'तुझ' के आधार पर 'मुझ' बना लिया गया। 'तुझ'

का सादृश्य तो आधार या साधन मात्र है। अतः यह कहना अशुद्ध है कि सादृश्य किसी परिवर्तन का कारण है।

सादृश्य की गति

इसकी गति गणित की भाँति है।

१ : २ : : ६ : १२

संस्कृत में केवल युग्म शब्दों के लिए द्विवचन का प्रयोग होता था : पादौ, कर्णौ, पितरौ। बाद में विलोम युग्म के लिए भी प्रयोग होने लगा : लाभालाभौ जयाजयौ। कुछ दिन बाद सादृश्य के आधार पर द्वन्द्व समास वाले शब्दों में भी यही बात आने लगी : सिंह-मृगालौ, राम-लक्ष्मणौ आदि।

अंग्रेजी में Shall से Should और Will से Would बना तो यहाँ Shall और will में l होने से, l होना अस्वाभाविक नहीं था, पर इसी के सादृश्य पर Can में l न रहते हुए भी Could में l ला दिया गया।

छोटे लड़के या नवीन भाषा सीखनेवाले सादृश्य के आधार पर अधिकतर रूप बना लेते हैं। अंग्रेजी में s लगाकर बहुधा बहुवचन बनाया जाता है। नया विद्यार्थी कभी-कभी उसी सादृश्य पर Box से Boxes देख कर Ox से Oxes कर देता है, यद्यपि Oxen होना चाहिए। नया हिंदी सीखने वाला इसी प्रकार मर से मरा, घर से धरा देख कर कर से 'करा' या बैठिए, लिखिए देखकर 'करिए' कह बैठता है, यद्यपि परिनिष्ठित रूप 'किया' और 'कीजिये' हैं।

सादृश्य के कुछ प्रधान कारण

यों तो सुविधा के लिए सादृश्य का सहारा लेना पड़ता है पर उस सुविधा के भी कुछ विशेष पक्षों की ओर पृथक्-पृथक् संकेत किया जा सकता है—

(१) अभिव्यंजना की किसी कठिनाई को दूर करने के लिए

एक प्रकार के भाव के लिए दो शब्द भिन्न-भिन्न रूपों के रहते हैं तो कुछ कठिनाई होती है। यदि दोनों को एक वज़न का बनाना संभव होता है तो जन-मस्तिष्क बना लेता है। 'पूर्वीय' और पौरस्त के रहते हुए भी पाश्चात्य के सादृश्य पर 'पौर्वात्य' शब्द इसी कारण हिंदी में आ गया है।

(२) अधिक स्पष्टता लाने के लिए

यदि रूप बहुत छोटे हों या किसी कारण से अर्थ स्पष्टतः न वहन कर सकते हों

तो अन्य शब्दों के आधार पर उनके रूप बना लिए जाते हैं। अंग्रेजी में ग्रीक ism के आधार पर Optimism, Socialism; जर्मन—ard के आधार पर bastard, coward; इटैलियन esque के आधार पर romanesque, picturesque तथा फ्रेंच—al के आधार पर national, local आदि शब्द बना लिए गए हैं।

(३) समानता या विपर्यय पर बल देने के लिए

अंग्रेजी के Before, after या लैटिन के antid, postid आदि इसके उदाहरण हैं।

संस्कृत में स्वसृ का पंचमी में स्वसुः, मातृ का मातुः, पितृ का पितुः तो ठीक है, पर इन्हीं समानता से सादृश्य पर पति का पत्युः रूप चल पड़ा है, यद्यपि पतेः होना चाहिए जैसा कि कुछ स्थानों पर मिलता भी है।

संस्कृत में 'अभ्यंतर' और 'बाह्य' शब्द थे। अभ्यंतर से हिंदी 'भीतर' का बनना तो ठीक था पर बाह्य से 'बाहर' क्यों बना। दोनों एक दूसरे के विपर्यय हैं, अतः रूप की समानता दे दी गई। इसी विपर्यय पर बल देने के लिए 'निर्गुण' के सादृश्य पर 'सगुण' को मध्ययुगीन साहित्य में 'सरगुण' का रूप दे दिया गया है।

(४) किसी प्राचीन अथवा नवीन नियम की संगति मिलाने के लिए

कभी-कभी कोई अशुद्ध शब्द चल पड़ता है, तो उसे प्राचीन नियम के अनुसार अन्य शब्दों के सादृश पर नया रूप दे दिया जाता है। कभी-कभी नवीन नियम के अनुसार भी शब्द बनाए जाते हैं। कुछ लोगों ने हिन्दी के 'इक' प्रत्यय को प्रामाणिक मानकर ऐतिहासिक के स्थान पर 'इतिहासिक' लिखना आरम्भ किया और अब उसके सादृश्य पर समाजिक, व्यवहारिक, भूगोलिक आदि भी प्रयुक्त होने लगे हैं।

(५) शीघ्रता, अशुद्धि, तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन आदि

इनका प्रभाव अस्थायी होता है। शीघ्रता से, असावधानी से या अज्ञानतः अशुद्ध प्रयोग से भी सादृश्य का आगमन हो जाता है। बच्चों और विभाषियों की भाषा में इसके प्रयोग अधिक मिलते हैं।

घोड़ों, लड़कों और घरों के साथ हिंदी में अनेक का भी 'अनेकों' हो गया है यद्यपि अनेक स्वयं ही (एक न होने के कारण) बहुवचन है।

पांडित्य-प्रदर्शन में भी अशुद्धि कभी-कभी सादृश्य का आधार लेती है। बाहुल्यता पांडित्यता, आधिक्यता आदि इसके उदाहरण लिए जा सकते हैं।

सादृश्य का आरंभ

कुर्टिअस आदि कुछ विद्वानों का मत था कि सादृश्य का आरम्भ हाल में हुआ है, पर इसके विपरीत ब्रील आदि इसे भाषा के आरम्भ के कुछ ही बाद का मानते हैं। यही ठीक भी है। भाषा ही क्या, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मानव के आरंभ से ही सादृश्य का आरंभ हुआ होगा। एक को घर बनाते देख वैसा ही दूसरे ने बनाया होगा। तीसरे ने जब उससे अधिक उपयोगी बनाया होगा तो अपनी सुविधा के लिए पहले और दूसरे ने भी अपने मकान को तीसरे के आधार पर नया रूप दिया होगा। भाषा के आरम्भ होने पर यही बात भाषा में भी लागू हुई होगी। व्याकरण के सारे नियम 'सादृश्य' के कार्य करने के उपरान्त ही समानता देखकर बनाए गए होंगे।

सादृश्य का प्रभाव

(१) सादृश्य नियम के विरुद्ध पाए जाने वाले अपवादों को दूर करके नियम-बद्धता लाता है। अंग्रेज़ी क्रियाएँ धीरे-धीरे इसी कारण एक-रूप होती जा रही हैं।

(२) एक भाषा का दूसरी पर भी प्रभाव पड़ता है। अंग्रेज़ी वाक्यों का प्रभाव इसी रूप में नेहरू, जैनेन्द्र आदि के वाक्यों पर पड़ा है।

(३) दो जातियों के मिश्रण के बाद जब भाषा का विकास होता है, तो वहाँ भी सादृश्य ही काम करके भाषा को दोनों के उपयुक्त बनाता है।

(४) इसके प्रभाव से भाषा आसान होती जाती है। एसपिरैंतो इसी पर आधारित होने के कारण थोड़े समय में ही सीखी जा सकती है।

सादृश्य का क्षेत्र

भाषा-विज्ञान के अध्ययन की प्रमुख चारों ही शाखाओं में इसका क्षेत्र है। वाक्य में इसका प्रभाव अन्यों से कम मिलता है। अर्थ में भी अधिक नहीं मिलता। पर रूप और ध्वनि में तो इसका प्रधान हाथ है। रूप, ध्वनि तथा अर्थ के प्रकरण में परिवर्तनों के साथ इसका भी कुछ वर्णन किया गया है।

अंत में यह कहना असंगत न होगा कि भाषा के विकास में सादृश्य का प्रधान हाथ है।

[ख]

ध्रुवाभिमुख नियम (Law of Polarity)

अफ्रीका के भाषा-कुलों में प्रधान कुल हेमटिक है। इस कुल की भाषाएँ

उत्तरी अफ्रीका के बहुत बड़े भाग में बोली जाती हैं। इन भाषाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें जब संज्ञा एकवचन का बहुवचन बनाया जाता है तो उसका लिंग भी परिवर्तित हो जाता है अर्थात् संज्ञा एकवचन पुलिंग का बहुवचन स्त्रीलिंग, तथा संज्ञा एकवचन स्त्रीलिंग का बहुवचन पुलिंग हो जाता है।

इस कुल की एक प्रधान भाषा सोमाली से इस सम्बन्ध में उदाहरण लिए जा सकते हैं।

'होयोदि' (=माँ) स्त्रीलिंग एकवचन का बहुवचन 'होयोइन-कि' (=माताएँ) शब्द वहाँ के व्याकरण से पुलिंग है। दूसरी ओर 'लिबाहिह' (=शेर) पुलिंग एकवचन का बहुवचन शब्द 'लिबाहिह्यो-दि' (=कई शेर) वहाँ के व्याकरण से स्त्रीलिंग है।

कारण और उसका स्पष्टीकरण

इस प्रकार के कुछ उदाहरण अफ्रीका के दूसरे भाषाकुल 'सेमिटिक' में भी मिलते हैं, पर वे अपवाद हैं और प्रायः हामी (हेमिटिक) के प्रभाव-स्वरूप हैं।

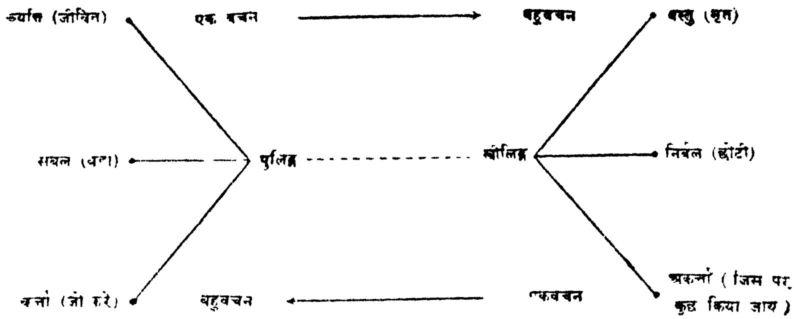
इन भाषाओं के विशेषज्ञ श्री मेनहाफ (Meinhof) ने इस विचित्रता का कारण यह बतलाया है कि असंस्कृत मस्तिष्क एक प्रकार के परिवर्तन के साथ दूसरे प्रकार का भी परिवर्तन मान लेता है। वह दोनों को अलग नहीं कर पाता अर्थात् एकवचन से दूसरे वचन में जाने में वह मूल लिंग से भी दूसरे में जाना मान लेता है। इन दोनों प्रकार के परिवर्तनों को वह संभवतः एक मानता है। इसका पूरा परिचय निम्न चित्र और विवरण में दिया जा रहा है।

इन भाषाओं में संज्ञाओं के २ वर्ग हैं। प्रथम वर्ग 'व्यक्ति' का है और दूसरा 'वस्तु' का। व्यक्ति वर्ग 'जीवित' और वस्तु वर्ग 'मृत' माना जाता है। साथ ही व्यक्ति वर्ग की संज्ञाएँ 'सबल' और 'बड़ी' मानी जाती हैं और दूसरी ओर वस्तु वर्ग की संज्ञाएँ 'निर्बल' और 'छोटी'। इसके साथ ही एक और विचार है। वे लोग व्यक्ति वर्ग की संज्ञाओं को कर्त्ता या करने वाला मानते हैं और वस्तु वर्ग को 'वह जिस पर कुछ किया जाय'।

प्रथम वर्ग की संज्ञाएँ पुलिंग हैं और जैसा कि ऊपर कहा गया है 'व्यक्तित्व', 'जीवन', 'सबलता', 'बड़ा होना' और 'कर्त्ता' आदि उनकी प्रधानताएँ हैं। इसके

उलटे दूसरे वर्ग की संज्ञाओं की 'वस्तुत्व', 'मरण', 'निर्बलता', 'छोटी होना', तथा 'अकर्त्ता' आदि विशेषताएँ हैं।

प्रोफेसर मैंनहाफ द्वारा बनाया गया चित्र



ऊपर की कही बातें इस चित्र से स्पष्ट की जा सकती हैं—

[चित्र में ऊपर और नीचे तीर द्वारा वचन-परिवर्तन दिखाया गया है पर साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि वचन के परिवर्तन होने पर संज्ञा एक वर्ग से दूसरे वर्ग में चली जाती है, अतः उसमें सभी उलटी बातें (यदि एक-वचन में संज्ञा पुलिंग, व्यक्ति, सबल, और कर्त्ता आदि थी तो बहुवचन में (ऊपरी तीर) स्त्रीलिंग, वस्तु, निर्बल, तथा अकर्त्ता आदि) आ जाती हैं।

[ग]

एसपिरैंतो (Esperanto)

एक विश्व-भाषा के निर्माण के लिए कितने ही लोगों ने प्रयास किए, पर इस सम्बन्ध में सबसे सफल और स्तुत्य प्रयास डाक्टर एल० एल० ज़मेनहाफ़ (Zomenhof) का है। आप बहुत ही बड़े भाषा-विज्ञान-विशारद थे। यूरोप की लगभग सभी भाषाओं को लिख, पढ़ और बोल सकते थे। आपने अपना पूरा जीवन इस कृत्रिम विश्व भाषा एसपिरैंतो के लिए लगाया।

आरम्भ और प्रचार

सर्व प्रथम सन् १८८७ ई० में डाक्टर महोदय ने अपनी इस अभूतपूर्व भाषा को विश्व के समक्ष रखा। पहले तो लोग इसकी ओर आकर्षित न हो सके पर शीघ्र ही

इसकी उपयोगिता और महत्ता समझ में आने लगी और यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान् इसकी प्रशंसा करने लगे। प्रचारार्थ एक इसी नाम की संस्था भी खुली। लीग ऑव नेशन्स ने सभी राष्ट्रों से इसके लिए कहा और यह भी प्रार्थना की कि स्कूलों में इसका पढ़ाया जाना आरम्भ हो। सन् १९२५ में अंतर्राष्ट्रीय टेलिग्राफिक संघ ने इसकी बड़ी प्रशंसा की और इसे बहुत ही स्पष्ट भाषा कहा। २ वर्ष बाद सन् १९२७ में संसार के ४४ प्रधान रेडियो स्टेशनों से इसके विषय में और इस भाषा में भाषण दिए गए।

एसपिरैंतों का साहित्य

इसमें कुछ मौलिक पुस्तकें भी लिखी गईं, पर अनूदित पुस्तकों की संख्या बहुत अधिक है। सब मिलाकर लगभग चार हजार पुस्तकें और बहुत सी पत्रिकाएँ हैं। अनूदित पुस्तकों में बाइबिल का अनुवाद बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इसका साहित्य दिन पर दिन बढ़ रहा है। अभी निकट भूत में एसपिरैंतों भाषा में १०० से भी अधिक पत्रिकाएँ निकलती रही हैं।

कमी

इस भाषा की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह जीवित भाषा नहीं है, और न तो इसका स्वाभाविक विकास ही हुआ है। यदि किसी राष्ट्र या क्षेत्र की यह मातृभाषा होती तो इसका प्रचार और अधिक तेजी से होता और इसके सर्वमान्य होने की भी संभावना होती।

उपर्युक्त कमी के कारण ही सरल, उपयोगी और स्तुत्य भाषा होने पर भी अभी तक विश्व क्या किसी एक देश की भी भाषा बनने में एसपिरैंतो सफल न हो सकी।

व्याकरण, लिपि और शब्द-समूह

स्वयं एसपिरैंतो शब्द लैटिन के एक शब्द से बना है और इसका अर्थ 'आशा-पूर्ण' है।

डॉ० जमेनहाफ ने इसको बनाने के पूर्व बहुत सी भाषाओं के व्याकरणों का विश्लेषण किया था। उस विश्लेषण के आधार पर इस भाषा के संबन्ध में उन्होंने सोलह नियम बनाये, जिन्हें कोई भी पढ़ा-लिखा आदमी आधे घंटे में पूर्णतः समझ सकता है। इसके व्याकरण में सादृश्य (analogy) का बहुत बड़ा हाथ है। वाक्य-

रचना की दृष्टि से यह अश्लिष्ट-योगात्मक भाषा है। तुर्की की भाँति इसमें भी सम्बन्ध-तत्व बिल्कुल स्पष्ट रहते हैं। उदाहरणार्थ :—

कैट (Kat) = बिल्ली
इन (in) = स्त्रीलिंग का चिह्न
इड (id) = बच्चों का चिह्न
एट (et) = छोटे का चिह्न
ओ (o) = संज्ञा का चिह्न

इनके योग से—

एक बिल्ली (स्त्री०) = कैट-इन-ओ (Kat-in-o)
एक बिल्ली का बच्चा = कैट-इड-ओ (Kat-id-o)
एक छोटी बिल्ली (स्त्री०) का बच्चा = कैट-इन-एट-इड-ओ (Kat-in-et-id-o)

इसी प्रकार सभी शब्दों को पद बनाने के लिये केवल प्रत्यय जोड़नी पड़ती है।

इस भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अपवाद नहीं मिलते। इसी कारण एक सप्ताह में ही पढ़कर यह बोली जा सकती है।

इसकी लिपि रोमन है, पर अंग्रेजी की भाँति इसमें पढ़ने की कठिनाई नहीं। निश्चित नियम के अनुसार जो कहा जाता है, वही लिखा जाता है और जो लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है।

शब्द-समूह के लिये विशेषतः आधार भारोपीय है। धातु पर शब्द आधारित हैं। इन धातुओं में आधी से भी अधिक लैटिन भाषा से ली गई हैं और शेष में आधी से कुछ अधिक ट्यूटानिक भाषाओं की हैं। बाकी लगभग १० प्रतिशत धातुएँ अन्य भाषाओं की हैं।

इडो (Ido) : एक शाखा

बीसवीं सदी के आरम्भ में कुछ लोग एसपिरैंतो में कुछ परिवर्तन के पक्षपाती हो गए। पर जब इसके प्रधान लोगों ने उन परिवर्तनों को स्वीकार नहीं किया तो नए लोग इन लोगों में प्रधान कॉटुरट (Couturat) महोदय थे। एक नवीन परिवर्तित और अधिक उपयोगी तथा सरल भाषा को जन्म देने की बात सोचने लगे। इसी ध्येय से इस भाषा को और अधिक लचीली, वैज्ञानिक, सरल और स्वाभाविक

बनाकर सन् १९०७ में 'इडो' नाम से नवीन भाषा की स्थापना की गई। 'इडो' शब्द स्वयं एसपिरैंतो भाषा का है, जिसका अर्थ 'बच्चा' या 'जन्मा हुआ' है।

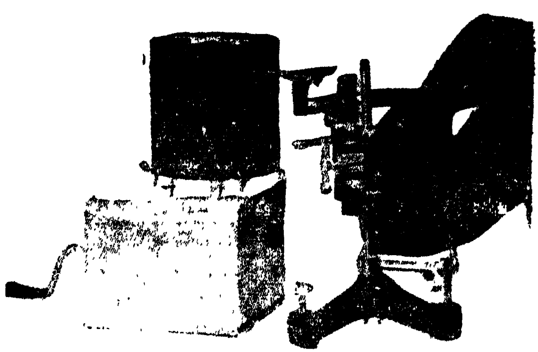
एसपिरैंतो में जो कुछ कठिनाइयाँ थीं, इडो में नहीं हैं, अत: यह विश्व-भाषा होने के लिए और भी अधिक उपयोगी है। पर इन दोनों ही में कोई भी विश्व-भाषा हो सकेगी यह विषय संदेहास्पद है। सत्य तो यह है, कि किसी भी कृत्रिम भाषा को यह स्थान प्राप्त हो सकेगा, यह सोचना ही अस्वाभाविक और सत्य से दूर है।

[घ]

कायमोग्राफ़् (Kymograph)

'कायमोग्राफ' एक यंत्र है, जिसका उपयोग ध्वनियों के अध्ययन के लिए किया जाता है।

कायमोग्राफ में एक चौकोर बाक्स की तरह एक मशीन होती है, जिसके ऊपर सिगरेट के गोल डिब्बे की तरह एक बड़ी ढोल लगी होती है। ढोल के ऊपर चारों ओर धूएँ से काला किया हुआ एक चिकना कागज लपेट देते हैं। पास ही एक खड़े डंडे में छोटी सी मशीन और उसी से संबद्ध एक रबर की नली रहती है। रबर की नली के एक ओर एक चौड़ी सी चीज़ लगी रहती है, ताकि मुँह में ठीक से लगाया



जा सके। दूसरी ओर एक पतली सी सुई रहती है। जैसा कि चित्र से स्पष्ट है, सुई ढोल पर लिपटे कागज़ पर लगी रहती है। मुँह में लगाए जाने वाले छोर को मुँह में लगाकर प्रयोगकर्ता बोलता है, इससे दूसरे छोर पर लगा सुई में कंपन होता है।

उधर ढोल विद्युत् की सहायता से घूमने लगती है और सुई काले कागज़ पर टेढ़ी-मेढ़ी लकीर बनाने लगती है।

अनुनासिकता आदि देखने के लिए एक नली नाक से भी संबद्ध कर लेते हैं, जो एक अलग निशान बनाती चलती है।

कायमोग्राफ़ का उपयोग

(क) घोष—अघोष

ध्वनियों के वर्गीकरण में हम देख चुके हैं कि कुछ ध्वनियाँ घोष और कुछ अघोष होती हैं। इसका निश्चय कायमोग्राफ़ की सहायता से सफलतापूर्वक हो सकता है। अघोष ध्वनियों का उच्चारण करने पर ढोल वाले कागज़ पर बनी लकीर सीधी होती है। उसमें लहरें नहीं रहती हैं पर घोष ध्वनियों की लकीर लहरदार होती है। इसका कारण यह है कि घोष ध्वनियों में सुई नीचे ऊपर काँपती रहती है, पर अघोष में नहीं।

(ख) अल्पप्राण और महाप्राण

इन दोनों की लाइनों की लहरों में भी स्पष्ट भेद रहता है। एक कुछ अधिक सीधा और दूसरा कम सीधा होता है।

(ग) स्पर्श तथा संघर्षी आदि

स्पर्श, स्पर्श-संघर्षी, पार्श्विक आदि की लहरों में भी सूक्ष्म अंतर रहता है, जिसे लाइनों का अध्ययन करने वाला सरलता से पहचान सकता है।

(घ) अनुनासिकता

इसके लिये एक अन्य नली नाक में लगा लेते हैं। उसका भी दूसरा सिरा प्रथम की भाँति सुईयुक्त होता है और ढोल पर लगा रहता है। अनुनासिक ध्वनि में नासिका से भी कुछ वायु निकलता है, अतः नासिका-नली की सुई अनुनासिक ध्वनि के समय लहरदार लकीर बनाती है, पर अननुनासिक ध्वनि में उसकी लकीर साधारण रहती है।

(ङ) मात्रा

एक घड़ी से संबद्ध करके एक तीसरी रबर की नली इसके लिए लगा लेते हैं। यह तीसरी लकीर समय प्रदर्शित करती चलती है। इसकी सुई एक सेकेंड में सौ

निशान बनाती है, जिसके देखने से पता चल जाता है कि किस ध्वनि के उच्चारण में कितना समय लगा तथा वह दीर्घ है या लघु।

(च) शेष

इन सबके अतिरिक्त लकीरों के सूक्ष्म अध्ययन से विभिन्न बलाघातों तथा उच्चारण स्थानों की दृष्टि से भी ध्वनियों का अध्ययन हो सकता है। ध्वनि-प्रकरण में संगीतात्मक, बलात्मक एवं रूपात्मक स्वराघातों में विभिन्न लहरों के अंतर का जो वर्णन है उसके अध्ययन का भी आधार कायमोग्राफ् ही है। भविष्य में संभव है इसका प्रयोग और भी उपयोगी सिद्ध हो।

इसका प्रयोग पहले डाक्टर लोग करते थे, पर १८७६ में रोज़ापेल्ली ने ध्वनि-अध्ययन में इसका प्रयोग किया और तब से इससे ध्वनि-विज्ञान में बहुत सहायता मिलती आ रही है।

[ङ]

एक्सरे (X' Ray)

स्पर्श ध्वनियों के संबंध में जीभ के स्थान का पता कृत्रिम तालु* से चलता है पर अन्य अस्पर्श व्यंजनों तथा स्वरों (अग्र, पश्च या संवृत, विवृत, अर्द्ध-विवृत आदि) के उच्चारण में जीभ की दशा तथा उसके कार्य का पता चलना इससे सभव नहीं। इसके लिये हमें एक्स' रे की सहायता लेनी पड़ती है।

बोलते समय इससे फोटो लेने पर प्रत्येक ध्वनि के उच्चारण में जीभ के स्थान का पता चल जाता है।

यह यंत्र भी कायमोग्राफ् की भाँति मूलतः डाक्टरों की चीज है, पर ध्वनियों के सम्बन्ध यह में भी भाषा के अध्ययन पर्याप्त सहायक सिद्ध हुआ है।

[च]

लैरिंगोस्कोप (Laryngoscope)

शीशे के आधार पर बना यह एक यन्त्र होता है जिसे मुँह में डाल कर जब हम किसी ध्वनि का उच्चारण करते हैं तो उच्चारण करते समय स्वरतंत्री की दशा बाहर दिखाई पड़ती है।

---

* देखिए आगे।

यंत्र का इतिहास

सर्व प्रथम सन् १८०७ ई० में बोज़िनी (Bozzini) ने यह दिखाया कि मुँह के भीतर के बहुत से यंत्रों को शीशे के द्वारा बाहर दिखलाया जा सकता है। बाइस वर्ष बाद सन् १८२९ में बोबिंगटन ने सर्वप्रथम इस प्रकार स्वर-यंत्र-मुख को देखने का प्रयास किया। १८५४ में प्रसिद्ध संगीतशास्त्रज्ञ गर्शिया ने इसी से अपने और कई अन्य संगीतज्ञों के स्वर-यंत्र को देखा। इसके अधिक प्रचार का श्रेय उसी को है।

इस पद्धति को कुछ और विकसित करके तर्क और ज़रमक आदि विद्वानों ने १८५७ में लैरिंगोस्कोप बनाया और १८८३ में सर्वप्रथम एल० ब्राउने तथा ई० बेहंके ने इसके सहारे जीवित मनुष्य के स्वर-यंत्र की फ़ोटो ली।

इसके प्रयोग में अड़चन

लैरिंगोस्कोप से स्वरयंत्र, स्वर-यंत्र-मुख तथा स्वरतंत्री को बोलते समय देखकर ध्वनियों का वैज्ञानिक अध्ययन तो किया जा सकता है, किन्तु इसमें सबसे बड़ी अड़-चन यह है कि कि इसे मुँह में डालने पर ही यह संभव है और ऐसा करने पर स्वाभाविक रूप से बोलना असंभव हो जाता है। गले तक किसी यंत्र को मुँह में डालने पर हम असाधारण परिस्थिति में आ जाते हैं, अतः इस यंत्र का प्रयोग अधिक उपयोगी नहीं सिद्ध हुआ।

[छ]

एंडोस्कोप (Endoscope)

यों तो हिगनर, पैंकोनसेली आदि कई विद्वानों ने लैरिंगोस्कोप को सुधारने का कार्य किया पर फ्लेटाउ का कार्य अधिक महत्वपूर्ण है। इन्होंने इसे सुधार कर एंडो-स्कोप बनाया, जिसके सहारे मुँह बन्द रहने पर भी स्वरयंत्र का अध्ययन हो सकता है।

इस प्रकार ध्वनियों के मूलस्थान के अध्ययन में इस नवीन यन्त्र एंडोस्कोप से अब पर्याप्त सहायता मिल रही है।

[ज]

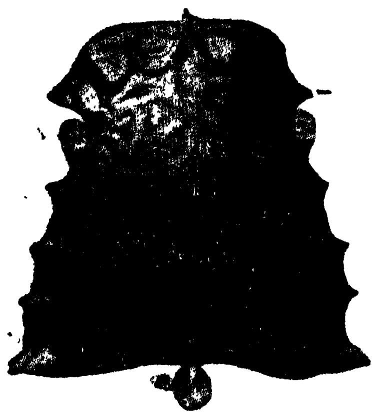
कृत्रिम तालु (False palate)

प्रयोग

कायमोग्राफ् की भाँति कृत्रिम तालु भी प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान (Experi-mental phonetics) के लिए बड़े काम की चीज़ है। प्रयोग करनेवाला इसे

अपने मुँह की नाप का बनवाता है, जिससे कि बिना किसी अड़चन के यह तालु में बैठाया जा सके।

जैसा कि चित्र में दिखाई दे रहा है दाँतों की जड़ों में ठीक बैठ जाने के लिए इसमें दोनों ओर कोण निकले हैं। प्रयोग करने के पूर्व इसकी सतह पर खड़िया रगड़ कर सफ़ेद कर लेते हैं और फिर मुँह में बैठा देते हैं। अब जिस अक्षर या जिस ध्वनि के विषय में जानना होता है, उसका उच्चारण करते हैं। ऐसा करने में जीभ स्वाभाविक



रूप से ध्वन्यानुसार तालु का स्पर्श करती है, पर वहाँ तालु के स्थान पर कृत्रिम तालु रहता है, अतः फल यह होता है कि जीभ जिस स्थान पर स्पर्श करती है, वहाँ की खड़ियाँ जीभ में लग जाती है और वह स्थान बिना खड़िया के हो जाने से स्पष्ट हो जाता है। फिर हम कृत्रिम तालु को बाहर निकाल कर स्पर्श-स्थान का अध्ययन करते हैं।

प्रयोग का उपयोग

कृत्रिम तालु की सहायता से यह देखा जाता है कि किस ध्वनि के उच्चारण में जीभ तालु का कहाँ स्पर्श करती है। उदाहरणार्थ यदि हम कृत्रिम तालु मुँह में बैठा कर 'क' का उच्चारण करें तो कंठ के पास वाला तालु-भाग बिना खड़िया के दिखलाई देगा। इस प्रकार स्पर्श वर्णों का वैज्ञानिक अध्ययन इसकी सहायता से अच्छा हो सकता है।

विभिन्न भाषाओं में एक ही वर्ण के उच्चारण में क्या अंतर रहता है इसका भी पूर्ण ज्ञान स्पर्शों के संबंध में इसी से सम्भव है। यों हम समझते हैं कि अंग्रेजी के अक्षर T और हिंदी के 'ट' का स्पर्श-स्थान एक है, पर कृत्रिम तालु से देखने पर पता चलेगा कि दोनों में महान अंतर है। हिन्दी का 'ट' मूर्द्धन्य है, पर अंग्रेज़ी की 'टी' (T) वर्त्स्य है।

कायमोग्राफ् और एक्स' रे की भाँति ही कृत्रिम तालु भी पहले डाक्टरों—विशेषतः दाँत की बीमारी में—के काम आता था। १८७१ में पहले पहल कोट्स ने प्रयोगात्मक भाषा-विज्ञान में इसका प्रवेश कराया और तब से इससे इस क्षेत्र में काफ़ी सहायता मिली है।

[झ]

ध्वनि-अध्ययन में सहायक कुछ नवीन यंत्र

स्वर-यंत्र के अध्ययन में सहायक फ्लेटाउ द्वारा निर्मित एन्डो-स्कोप (endoscope) का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इसी कार्य के लिए पैकोनसेली ने अपना आटो-फोनोस्कोप (autophonoscope) बनाया।

प्रश्वास-किया के अध्ययन के लिए गट्ज़मन (Gutzmann) का ब्रीदिंग फ्लास्क तथा स्पिरोमीटर, स्टेथोग्राफ, और न्यूमोग्राफ (Pneumograph) आदि हैं।

स्वरतंत्रियों को देखने के लिए लैरिंगोस्कोप के अतिरिक्त स्ट्रोबोलैरिंगोस्कोप नामक यंत्र भी बहुत ही उपयोगी है। विशेषतः स्वर तंत्रियों के कार्य का अध्ययन इसके द्वारा बड़ी सरलता से किया जाता है।

[ञ]

आइसोग्लास (Isogloss)

किसी भाषा या बोली में कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि कुछ विशिष्ट शब्दों का या किसी एक शब्द का प्रयोग कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में ही होता है। भाषा या बोली के नक्शे में उस विशिष्ट शब्द के प्रयोगस्थलों को मिलाती हुई जो रेखा खींची जाती है, उसे आइसोग्लास कहते हैं। भाषा के नक्शों में शब्द के प्रयोग को दिखाने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

कुछ लोग आइसोग्लास का प्रयोग बहुत ही विस्तृत अर्थ में करते हैं। ब्लूमफील्ड

के अनुसार आइसोग्लास उन रेखाओं को कहते हैं जो किसी भाषा या बोली के क्षेत्र में भाषा संबंधी किसी भी विशेषता को प्रदर्शित करने के लिए खींची जाँय।

[ट]

आइसोफ़ोन (Isophone)

जब किसी भाषा या बोली के क्षेत्र में ध्वनि-संबंधी कुछ विशेषताएँ कुछ विशिष्ट स्थलों पर ही होती हैं, तो नक्शे में उनको एक रेखा के प्रदर्शित करते हैं। इन रेखाओं को ध्वनिरेखा या आइसोफ़ोन कहते हैं।

आइसोग्लास की विस्तृत परिभाषा के अनुसार आइसोफोन भी एक प्रकार की आइसोग्लास हैं।

[ठ]

ध्वन्यात्मक शब्द (Onomatopoeic या onomatotoeic word)

किसी वस्तु या जानवर की ध्वनि के अनुकरण पर जो शब्द बना लिए जाते हैं, उन्हें ध्वन्यात्मक शब्द कहते हैं। प्रत्येक भाषा में ऐसे बहुत से शब्द होते हैं। इसी आधार पर 'भाषा का आरंभ' ध्वन्यात्मक शब्दों से मानने का एक सिद्धान्त है, जो व्यर्थ सिद्ध हो चुका है। इन शब्दों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ध्वनि से ही अर्थ स्पष्ट हो जाता है। हिंदी के कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं, धड़धड़, छलछल, कलकल, भड़भड़, इत्यादि।

भारतीय आर्य भाषा के इतिहास में इसका साधारण भाषा में प्रयोग मध्य भारतीय आर्यभाषा काल के तृतीय चरण के पूर्व प्रायः नहीं मिलता। संसार में कुछ ऐसी भी भाषाएँ (जैसे अमेरिका को मैकेंज़ी नदी के किनारे रहने वाली असभ्य जाति अथबस्कन की भाषा) हैं, जिसमें इस प्रकार के शब्द बिल्कुल नहीं हैं।

[ड]

प्रतिध्वन्यात्मक शब्द (Echo-word)

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में इनका प्रयोग मिलता है। अभी तक ये साधारणतया बोलचाल में ही प्रयुक्त होते हैं। साहित्य में इनको स्थान नहीं मिला है। पर ज्यों-ज्यों जन भाषा का साहित्य पर प्रभाव बढ़ता जा रहा है, साहित्य में भी इनके प्रयोग की अधिक संभावना है।

इनमें किसी शब्द की ध्वनि के अनुकरण पर दूसरा शब्द बना कर उसी के साथ प्रत्युक्त होता है। इसका साधारणतया अर्थ 'इत्यादि' होता है। जैसे 'राम ओम' आए हैं में 'ओम' का अर्थ इत्यादि है। इसी प्रकार पानी-ओनी, खाना-ओना, रुपया-उपया। मराठी (घोड़ा-बीड़ा), बँगला तथा गुजराती आदि में भी इसका प्रयोग मिलता है।

प्रतिध्वन्यात्मक शब्द केवल संज्ञा शब्दों के आधार पर ही नहीं बनते। 'जाना-ओना' आदि क्रियाओं के उदाहरण भी लिए जा सकते हैं।

[ढ]

मैलाप्रापिज्म (Malapropism)

सुन्दर तथा बड़े शब्दों के प्रयोग की लालच से शब्दों का अनुचित प्रयोग करना मैलाप्रापिज्म कहलाता है। इसका नाम शेरिडान की पुस्तक 'द राइवल्स' (The Rivals) के एक पात्र श्रीमती 'मैलाप्राप' पर आधारित है, जिन्होंने इस प्रकार के बहुत प्रयोग किए हैं।

आज हिन्दी में भी ऐसे प्रयोग बहुत हो रहे हैं। लोग उपसर्गों का मनमाना प्रयोग कर रहे हैं। ज्ञान के स्थान पर अभिज्ञान, क्रान्ति के स्थान पर उत्क्रान्ति, संधि के स्थान पर अभिसंधि इत्यादि अनेक उदाहरण लिए जा सकते हैं, जिनके अर्थ यथार्थतः कुछ दूसरे ही हैं।

[ण]

आधार-सिद्धान्त (Substratum theory)

जब कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह (जाति या देश) अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त किसी भाषा को सीखता है तो नवीन भाषा पर अपनी भाषा के उच्चारण तथा प्रयोग विषयक अनेक गुण आरोपित कर देता है। उसका सुर, बल आदि अपनी पुरानी भाषा का ही रहता है। इन सब कारणों के नवीन भाषा को कुछ परिवर्तित करके ग्रहण करता है। इसी को आधार-सिद्धान्त कहते हैं।

आधार-सिद्धान्त का प्रभाव

भाषा के परिवर्तन में इसका बहुत बड़ा हाथ है। जितनी ही कोई भाषा विभाषियों द्वारा प्रयुक्त होगी, उसमें विभाषी की मातृभाषा के आधार पर सीखने के कारण परिवर्तन आते जाएँगे।

बोलियों के बनने में भी इसका बड़ा हाथ है। एक भाषा जब विभिन्न वर्गों द्वारा ग्रहण की जाती है, तो आधार-सिद्धान्त प्रत्येक स्थान पर काम करता है और स्थानानुसार भाषा में परिवर्तन आ जाता है। लैटिन भाषा को गाल और स्पेनी लोगों ने अपनाया और एक ही लैटिन भाषा आधार-सिद्धान्त के कारण (यद्यपि कुछ अन्य कारण भी साथ-साथ काम कर रहे थे) स्पेनिश और फ्रेंच दो बोलियों में परिणत हो गई, जो आज स्वतन्त्र भाषाएँ बन गई हैं।

प्रथम जर्मन वर्ण-परिवर्तन आधार-सिद्धान्त के ही कारण घटित हुआ कहा जाता है।

अंग्रेज़ी की ट्‌ .त्‌ .थ्‌ आदि ध्वनियाँ हिन्दी से भिन्न हैं, पर यहाँ वे ट्‌ त्‌ थ्‌ हो गई हैं। हमने अंग्रेज़ी को अपने आधार पर सीखा है, इसी कारण हमारे उच्चारण को न तो जल्दी से अंग्रेज़ समझ सकता है और न तो उसके उच्चारण को हम।

जेस्परसन आदि कुछ विद्वान तो भाषा के विकास में आधार-सिद्धान्त को बहुत ही महत्वपूर्ण और बलशाली बतलाते हैं।

———

पारिभाषिक शब्द-सूची

क हिन्दी-अंग्रेजी

अंक	Numerals
अंत अक्षरलोप	Apocope
अंत अक्षरागम	Coming of Syllable in the end
अंत योगात्मक	Suffix agglutinative
अंतर्मुखी श्लिष्ट	Internal Inflectional
अंतव्यंजनागम	Coming of Consonant in the end
अंतव्यंजन लोप	Elision of ending consonant
अंतस्वरागम	Coming of vowel in the end
अंत स्वर लोप	Elision of ending vowel
अकारण अनुनासिकता	Spontaneous Nazalization
अक्षर	Syllable
अक्षरलिपि	Letter writing
अक्षरलोप	Syllabic Elision
अघोष	Voiceless Breathed Unvoiced
अघोषीकरण	Devocalization
अनुकरणमूलकतावाद	Bow-wow theory
अनुरणनमूलकतावाद	Ding-dong theory
अनुदात्त	Grave
अनुनासिक	Nasal
अनुनासिकता	Nasalization
अनुरूपता	Assimilation
अनेकार्थता	Polysemia
अपवाद	Exception
अपश्रुति	Vocalic ablaut
आदि अक्षरागम	Coming of Syllable in the beginning

अपिनिहिति	Epenthesis
अपिश्रुति	Ablaut, Vowel gradation
अभिकाकल	Epiglottis
अभिश्रुति	Umlaut, Vowel Mutation
अयोगात्मक	Isolating
अर्थ	Meaning
अर्थतत्व	Semanteme
अर्थ संकोच	Contraction of meaning
अर्थादेश	Transference of meaning
अर्थोत्कर्ष	Ascending of meaning
अर्थापकर्ष	Descending of meaning
अर्थ परिवर्तन	Semantic change
अर्थ विचार	Semantics, Semasiology Rhemetology
अर्थ विस्तार	Expansion of meaning
अर्द्ध संवृत	Half close
अर्द्ध विवृत	Half open
अर्द्ध स्वर	Semi vowel
अलिजिह्व	Uvula
अल्पप्राण	Uuaspirated
अल्पप्राणीकरण	Deaspiration
अव्यक्त योगात्मक	Holophrastic
अश्लिष्ट योगात्मक	Simple agglutinative
असार्वनामिक	Non-pronominalized
आंशिक प्रश्लिष्ट योगात्मक	Partly Incorporative
आकृतिमूलक	Morphological, Syntactical
आगम	Coming
आदर्श भाषा	Standard language
आदि अक्षरलोप	Apheresis
आदि व्यंजनागम	Coming of the consonant in the beginning

आदि व्यंजनलोप	Elision of beginning Consonant
आदि स्वरागम	Prothesis
आदि स्वरलोप	Aphesis
आधार सिद्धान्त	Substratum theory
आधुनिक आर्यभाषा	New Indo-Aryan
आवृतमुखी	Unrounded
इतिहास	History
उच्चारण स्थान	Place of Articulation
उदात्त	Acute
उदासीन स्वर	Neutral vowel
उद्देश्य	Subject
उपपद	Article
उपमान	Analogy
ऊष्म	Sibilant
ऊष्मीकरण	Assibilation
एकांगी विपर्यय	Single-sided Metathesis
एकाक्षर	Monosyllabic
एक मूलीयभिन्नार्थक शब्द	Doublets
एसपिरेंतो	Esperanto
ऐतिहासिक	Historical
ऐतिहासिक वाक्य विचार	Historical syntax
ओष्ठ	Lip
ओष्ठ्य	Labial
औपम्य	Analogy
कंठ	Gutter
कंठ्य	Velar, Gutteral,
कठोरतालु	Hard palate
कला	Art
काकल	Glottis
कीलाक्षर	Cuniform

कृत	Primary
कृत्रिमतालु	False palate
कोमलतालु	Soft palate
कौवा	Uvula
क्लिक	Click
क्रिया	Verd
ग्रंथिलिपि	Knot writing
ग्रिमनियम	Grim's Law
ग्रेसमैन नियम	Grassman Law
घोष	Voiced
घोषीकरण	Vocalization
चित्रलिपि	Hieroglythic, Picture writing
जिह्वा	Tongue
जिह्वा की नोक	Tip of the tongue
जिह्वाग्र	Front of the tongue
जिह्वामध्य	Middle of the tongue
जिह्वामूल	Root of the tongue
जिह्वामूलीय	Uvular
तद्धित	Secondary
तर्कशास्त्र	Logic
तालव्य	Palatal
तालव्य नियम	Palatal law
तालु	Palate
तुलनात्मक	Comparative
तुलनात्मक भाषाविज्ञान	Comparative Philology
तुलनात्मक वाक्य विचार	Comparative Syntax
तुलनात्मक व्याकरण	Comparative grammar
त्रयवाद	Trilogics
दंत	Teeth
दंत्य	Dental

दूरवर्ती अक्षर विपर्यय	Incontact syllabic Metathesis
दूरवर्ती पश्चगामी समीकरण	Incontact regressive Assimilation
दूरवर्ती पुरोगामी समीकरण	Incontact progressive Assimilation
दूरवती व्यंजन विपर्यय	Incontact Consonant Metathesis
दूरवर्ती स्वर विपर्यय	Incontact vowel Metathesis
दैवी सिद्धान्त	Divine theory
द्वितीय वर्ण परिवर्तन	Second Teutonic sound-shifting
द्वयोष्ठ्य	Bilabial
धातु	Root
धातु सिद्धांत	Root theory
ध्रुवाभिमुख नियम	Law of Polarity
ध्वनि	Sound
ध्वनिग्राम	Phoneme
ध्वनितत्व	Phoneme
ध्वनितत्वविज्ञान	Phonemics
ध्वनि नियम	Phonetic Law
ध्वन्यानुकूल अनुलिपि	Phonetic Transcription
ध्वनि परिवर्तन	Phonetic change
ध्वनि प्रतीक	Sound symbolism
ध्वनि प्रवृत्ति	Phonetic Tendency
ध्वनि रेखा	Isophone
ध्वनि लिपि	Phonogram
ध्वनि शास्त्र	Phonetics
ध्वनि विज्ञान	Phonology
ध्वनि विचार	Phonology
ध्वनि श्रेणी	Phoneme
ध्वनि श्रेणी विज्ञान	Phonemics
ध्वनि सम्मिश्रण	Phonetic contamication
नव्य शाखा	Junggrammatiker
नासिका विवर	Nasal cavity

निपात प्रधान	Inorganic
नियम	Law
निरवयव	Inorganic
निर्णय सिद्धांत	Agreement theory
परस्पर विनिमय	Metathesis
पश्चगामी विषमीकरण	Regressive Dissimilation
पश्चजिह्वा	Rack of the tongue
पारस्परिक व्यंजन समीकरण	Mutual assimilation
पारिवारिक	Geneological
पार्श्ववर्ती अक्षर विपर्यय	Contact syllabic Metathesis
पार्श्ववर्ती पश्चगामी समीकरण	Contact regressive assimilation
पार्श्ववर्ती पुरोगामी समीकरण	Contact Progressive assimilation
पार्श्ववर्ती व्यंजन विपर्यय	Contact consonant metathesis
पार्श्ववर्ती स्वर विपर्यय	Contact vowel Metathesis
पार्श्विक	Lateral
पुरातत्त्व	Archaeology
पुरुष	Person
पुरोगामी विषमीकरण	Progressive Dissimilation
पूर्ण प्रश्लिष्ट योगात्मक	Completely Incorporative
पूर्ण शब्द	Full word
पूर्व योगात्मक	Prefix agglutinative
पूर्व सर्ग	Preposition
पूर्वान्त योगात्मक	Prefix suffix agglutinative
प्रतिध्वन्यात्मक शब्द	Echo word
प्रथमवर्ण परिवर्तन	First Teutonic sound-shifting
प्रधान स्वर	Cardinal vowel
प्रयोगात्मक ध्वनि विज्ञान	Practical Phonetics
प्रश्लिष्ट योगात्मक	Incorporating
भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज	Linguistic palaeontalogy, Urgeschichte.

बल	Stress
बल का अपसरण	Shift of emphasis
बलहीन (व्यंजन)	Weak (consonant)
बहिर्मुखी श्लिष्ट	External Inflectional
बलात्मक स्वराघात	Stress accent
बली (व्यंजन)	Strong (Consonant)
बहुसंश्लेषात्मक	Polysynthetic
बोली	Dialect
भारोपीय कुल	Indo European Family
भाव	Idea
भावलिपि	Ideography
भाषा	Language
भाषा का आरंभ	Origin of Language
भाषाओं का वर्गीकरण	Classification of Language
भाषा ध्वनि	Speech sound
भाषा परिवार	Family of speech or Language
भाषा विज्ञान	Linguistic, Philology
भूगर्भ विद्या	Geology
भूगोल	Geography
भेदभाव का नियम	Law of differentiation
भोजन नालिका	Gullet
भौतिक	Physical
भौतिक शास्त्र	Physics
भ्रमपूर्ण व्युत्पत्ति	Popular Etymology
भ्रामक व्युत्पत्ति	Popular Etymology
मध्य अक्षरागम	Coming of Syllable in the middle
मध्य अक्षरलोप	Elision of middle Syllable
मध्यकालीन आर्यभाषा	Middle Indo-Aryan
मध्य योगात्मक	Infix agglutinative
मध्य विन्यस्त प्रत्यय	Infix

मध्य व्यंजनागम	Coming of the Consonant in the middle
मध्य व्यंजन लोप	Elision of middle Consonant
मध्य स्वरागम	Anaptyxis
मध्य स्वरलोप	Syncope
मनोभावाभिव्यक्तिवाद	Pooh pooh Theory
मनोविज्ञान	Psychology
महाप्राण	Aspirated
महाप्राणीकरण	Aspiration
मात्राकाल (स्वर)	Quantity (vowel)
मानव विज्ञान	Anthropology
मानसिक	Mental
मान स्वर	Cardinal vowel
मिथ्या सादृश्य	False anology
मुख विवर	Mouth Cavity
मूर्द्धन्य	Cerebral, Retroflex
मूर्धा	Cerebrum
मैलाप्रापिज्म	Malapropism
मौखिक	Oral
योगात्मक	Agglutinative
योग्यतमावशेष	Survival of the fittest
रचनात्मक भाषा	Building language
रज्जुलिपि	Thread writing
राष्ट्रभाषा	Lingua franca
रिक्त शब्द	Empty word
रूप परिवर्तन	Morphological change
रूप विचार	Morphology
रेखा लिपि	Line writing
लिखित	Written
लिपि	Script
लुंठित	Rolled

लोड़ित	Rolled
लोप	Elision
वर्गीकरण	Classification
वर्त्स्य	Alveolar
वर्त्स	Alveola
वर्नर नियम	Verner's Law
वाक्य	Sentence
वाक्य विचार	Syntax
विकासवाद	Evolution theory
विज्ञान	Science
विधेय	Predicate
विपर्यय	Metathesis
विभाषा	Foreign language
वियोगात्मक	Analytic
विशिष्ट भाषा	Special language
विशेषण	Adjective
विवृत	Open
विषमीकरण	Dissimilation
वृत मुखी	Rounded
व्यंजन	Consonant
व्याकरण	Grammar
व्युत्पत्ति शास्त्र	Etymology
शब्द	Word
शब्दांश विपर्यय	Spoonerism
शब्दार्थ विज्ञान	Semantics
शब्द समूह	Vocabulary
शरीर विज्ञान	Physiology
श्वास नलिका	Wind pipe
श्लिष्ट योगात्मक	Inflecting
श्रम परिहरणवाद	Yo-he-ho Theory

संगीतात्मक स्वराघात	Musical accent, Pitch Accent
संघर्षी	Fricative
संधि	Conjugation
संबंधतत्व	Morpheme
संयुक्त स्वर	Diphthong
संयोगात्मक	Synthetic
संवृत	Close
समध्वनीय भिन्नार्थक शब्द या समध्वनीय शब्द	Homonym, Homophone
समस्वरागम	Epenthesis
समाक्षर लोप	Haplology
समीकरण	Assimilation
सादृश्य	Analogy
सारूप्य	Assimilation
सार्वनामिक	Pronominalized
सावयव	Organic
सावर्ण्य	Assimilation
साहित्य	Literature
सूत्रलिपि	Thread writing
सुर	Tone
स्थान प्रधान	Positional
स्पर्श	Stop
स्वनंत	Sonant
स्वयंभू	Unconditional
स्वर	Vowel
स्वर अनुरूपता	Vowel Harmony
स्वरतंत्री	Vocal Cords
स्वरयंत्र	Larynx
स्वरयंत्र मुख	Glottis
स्वरयंत्र मुख आवरण	Epiglottis

स्वर संयोग	Vowel Combination
स्वराघात	Accent
स्वरित	Circumflex
स्वरीय अपिश्रुति	Vocalic Ablaut
स्वीकार वाद	Agreement Theory

ख. अंग्रेजी-हिंदी

Ablaut	अपिश्रुति
Accent	स्वराघात
Acute	उदात्त
Adjective	विशेष
Agglutinative	योगात्मक
Agreement theory	स्वीकारवाद, निर्णय सिद्धांत
Alveolar	वर्त्स्य
Alveola	वर्त्स
Analogy	औपम्य, सादृश्य, उपमान
Analytic	वियोगात्मक
Anaptyxis	मध्य स्वरागम
Anthropology	मानविज्ञान
Apheresis	आदि अक्षरलोप
Aphesis	आदि स्वरलोप
Apocope	अन्त अक्षरलोप
Archaeology	पुरातत्व
Aspiration	महाप्राणीकरण
Art	कला
Article	उपपद
Ascending of meaning	अर्थोत्कर्ष
Aspirated	महाप्राण
Assibilation	ऊष्मीकरण

Assimilation	समीकरण, सावर्ण्य, सारूप्य, अनुरूपता
Back of the tongue	पश्चजिह्वा
Bilabial	द्वयोष्ठ्य
Bow-wow theory	अनुकरणमूलकतावाद
Breathed	अघोष
Building language	रचनात्मक भाषा
Cerebral	मूर्द्धन्य
Cerebrum	मूर्द्धा
Circumflex	स्वरित
Classification	वर्गीकरण
Classification of language	भाषाओं का वर्गीकरण
Click	क्लिक
Close	संवृत
Coming	आगम
Coming of consonant in the beginning	आदि व्यंजनागम
Coming of consonant in the end	अन्त व्यंजनागम
Coming of consonant in the middle	मध्य व्यंजनागम
Coming of Syllable in the beginning	आदि अक्षरागम
Coming of Syllable in the end	अन्त अक्षरागम
Coming of Syllable in the middle	मध्य अक्षरागम
Coming of vowel in the end	अन्त स्वरागम
Comparative	तुलनात्मक
Comparative grammar	तुलनात्मक व्याकरण
Comparative philology	तुलनात्मक भाषाविज्ञान
Comparative syntax	तुलनात्मक वाक्य विचार
Completely Incorporative	पूर्ण प्रश्लिष्ट योगात्मक
Conjugation	संधि
Consonant	व्यंजन
Contact consonant Metathesis	पार्श्ववर्ती व्यंजन विपर्यय

Contact syllabic Metathesis	पार्श्ववर्ती अक्षर विपर्यय
Contact progressive Assimilation	पार्श्ववर्ती पुरोगामी समीकरण
Contact regressive assimilation	पार्श्ववर्ती पश्चगामी समीकरण
Contact vowel Metathesis	पार्श्ववर्ती स्वर विपर्यय
Cordinal vowels	प्रधान स्वर, मानस्वर
Contraction of meaning	अर्थ संकोच
Cuniform	कीलाक्षर
Deaspiration	अल्पप्राणीकरण
Dental	दंत्य
Descending of meaning	अर्थापकर्ष
Devocalization	अघोषीकरण
Dialect	बोली
Ding-dong theory	अनुरणनमूलकतावाद
Dissimilation	विषमीकरण
Diphthong	संयुक्त स्वर
Divine theory	दैवी सिद्धान्त
Doublets	एकमूलीय भिन्नार्थक शब्द
Echo words	प्रतिध्वन्यात्मक शब्द
Elision	लोप
Elision of beginning consonant	आदि व्यंजनलोप
Elision of ending consonant	अन्त व्यंजन लोप
Elision of ending vowels	अन्त स्वरलोप
Elision of middle consonant	मध्य व्यंजनलोप
Elison of middle syllable	मध्य अक्षरलोप
Empty word	रिक्त शब्द
Epenthesis	समस्वरागम, अपिनिहिति
Epiglottis	स्वरयंत्र मुख आवरण, अभिकाकल
Esperanto	ऐसपिरेंतो
Etymology	व्युत्पत्ति शास्त्र
Evolution theory	विकासवाद

Exception	अपवाद
Expansion of meaning	अर्थ विस्तार
External Inflectional	बहिर्मुखी श्लिष्ट
False analogy	मिथ्या सादृश्य
False palate	कृत्रिम तालु
Family of speech or language	भाषा कुल, भाषा परिवार
First Teutonic sound shifting	प्रथमवर्ण परिवर्तन
Foreign language	विभाषा
Fricative	संघर्षी
Front of the tongue	जिह्वाग्र
Full word	पूर्ण शब्द
Geneological	पारिवारिक
Geography	भूगोल
Geology	भूगर्भ विद्या
Glottis	स्वरयंत्रमुख, काकल
Grammar	व्याकरण
Grassman law	ग्रैसमैन नियम
Grave	अनुदात्त
Grim's law	ग्रिम नियम
Gullet	भोजन नालिका
Guttur	कंठ
Half close	अर्द्ध संवृत
Half open	अर्द्ध विवृत्त
Hard palate	
Haplology	समाक्षर लोप
Hieroglyphics	चित्रलिपि
Historical	ऐतिहासिक
Historical syntax	ऐतिहासिक वाक्य विचार
History	इतिहास
Holophrastic	अव्यक्त योगात्मक

Homonym	समध्वनीय भिन्नार्थक शब्द
Homophone	समध्वनीय भिन्नार्थक शब्द
Idea	भाव
Ideograppy	भावलिपि
Incontact consonant Metathesis	दूरवर्ती व्यंजन विपर्यय
Incontact progressive Assimilation	दूरवर्ती पुरोगामी समीकरण
Incontact regressive Ass'milation	दूरवर्ती पश्चगामी समीकरण
Incontact syllabic Metathesis	दूरवर्ती अक्षर विपर्यय
Incontact vowel Metathesis	दूरवर्ती स्वर विपर्यय
Incorporating	प्रश्लिष्ट योगात्मक, बहुसंश्लेषात्मक. अव्यक्त योगात्मक
Indo-European Family	भारोपीय-कुल
Infix	मध्य विन्यस्त प्रत्यय
Infix agglutinative	मध्य योगात्मक
Inflecting	श्लिष्ट योगात्मक
Inorganic	निरवयव, निपात प्रधान
Internal Inflectional	अंतर्मुखी श्लिष्ट
Isolating	अयोगात्मक
Isophone	ध्वनि रेखा
Junggrammatiker	नव्य शाखा
Knot writing	ग्रंथलिपि
Labial	ओष्ठ्य
Language	भाषा
Larynx	स्वरयंत्र
Lateral	पार्श्विक
Law	नियम
Law of differentiation	भेदभाव का नियम
Law of Polarity	ध्रुवाभिमुख का नियम
Letter writing	अक्षर लिपि
Line writing	रेखा लिपि

Linguistics	भाषाविज्ञान
Linguistic Palaeontology	भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज
Lingua franca	राष्ट्रभाषा
Lip	ओष्ठ
Literature	साहित्य
Logic	तर्क शास्त्र
Malapropism	मैलाप्राविज़्म
Metathesis	विपर्यय, परस्पर विनिमय
Meaning	अर्थ
Mental	मानसिक
Middle Indo-Aryan	मध्यकालीन आर्यभाषा
Middle of the tongue	जिह्वामध्य
Monosyllabic	एकाक्षर
Morpheme	संबंध तत्व
Morphological	आकृति मूलक
Morphological change	रूप परिवर्तन
Morphology	रूप विचार
Mouth Cavity	मुख विवर
Musical Accent	संगीतात्मक स्वराघात
Mutual assimilation	पारस्परिक व्यञ्जन समीकरण
Nasal	अनुनासिक
Nasal cavity	नासिका विवर
Nasalization	अनुनासिकता
Neutral vowel	उदासीन स्वर
New Indo-Aryan	आधुनिक आर्य भाषा
Non-Pronominalized	असार्वनामिक
Numerals	अंक
Open	विवृत
Oral	मौखिक

Origin of language	भाषा का आरंभ
Organic	सावयव
Palatal	तालव्य
Palatal law	तालव्य नियम
Palate	तालु
Partly Incorporative	आंशिक प्रश्लिष्ट योगात्मक
Person	पुरुष
Philology	भाषा विज्ञान
Phoneme	ध्वनित्व, ध्वनि श्रेणी, ध्वनि ग्राम
Phonemics	ध्वनितत्व विज्ञान, ध्वनिश्रेणी विज्ञान
Phonetic contamination	ध्वनि सम्मिश्रण
Phonetic change	ध्वनि परिवर्तन
Phonetic law	ध्वनि नियम
Phonetics	ध्वनि शास्त्र
Phonogram	ध्वनिलिपि
Phonology	ध्वनि विचार, ध्वनि विज्ञान
Phonetic tendency	ध्वनि प्रवृत्ति
Phonetic Transcription	ध्वन्यानुकूल अनुलिपि
Physical	भौतिक
Physics	भौतिक शास्त्र
Physiology	शरीर विज्ञान
Picture writing	चित्रलिपि
Pitch accent	संगीतामत्क स्वराघात
Place of Articulation	उच्चारण स्थान
Polysemia	अनेकार्थता
Polysynthetic	बहुसंश्लेषात्मक
Pooh Pooh Theory	मनोभावभिव्यक्तिवाद
Popular Etymology	भ्रमपूर्ण व्युत्पत्ति, भ्रामक व्युत्पत्ति
Positional	स्थान प्रधान

Practical Phonetics	प्रयोगात्मक ध्वनि विज्ञान
Predicate	विधेय
Prefix agglutinative	पूर्व योगात्मक
Prefix suffix agglutinative	पूर्वान्त योगात्मक
Preposition	पूर्व सर्ग
Primary	कृत
Progressive Dissimilation	पुरोगामी विषमीकरण
Pronominalized	सार्वनामिक
Prothesis	आदि स्वरागम
Psychology	मनोविज्ञान
Quantity (vowel)	मात्राकाल (स्वर)
Regressive Dissimilation	पश्चगामी विषमीकरण
Retroflex	मूर्द्धन्य
Rhematology	अर्थ विचार
Rolled	लुंठित या लोड़ित
Root	धातु
Root ot the tongue	जिह्वामूल
Root theory	धातु सिद्धान्त
Rounded	वृत्तमुखी
Science	विज्ञान
Script	लिपि
Secondary	तद्धित
Second Teutonic Sound-shifting	द्वितीय वर्ण परिवर्तन
Semanteme	अर्थ तत्व
Semantic change	अर्थ परिवर्तन
Semantics	अर्थ विचार, अर्थ विज्ञान, शब्दार्थ विज्ञान
Semi vowel	अर्द्धस्वर
Sentence	वाक्य
Sibilant	ऊष्म

Simple agglutinative	अश्लिष्ट योगात्मक
Single-sided Metathesis	एकांगी विपर्यय
Shift of emphasis	बल का अपसरण
Soft palate	कोमल तालु
Sonant	स्वनंत
Sound	ध्वनि
Sound symbolism	ध्वनि प्रतीक
Special language	विशिष्ट भाषा
Speech Sound	भाषा-ध्वनि
Spontaneous nasalization	अकारण अनुनासिकता
Spoonerism	शब्दांश विपर्यय
Standard language	आदर्श भाषा
Stop	स्पर्श
Stress	बल
Stress accent	बलात्मक स्वराघात
Strong (consonant)	बली (व्यञ्जन)
Subject	उद्देश्य
Substratum Theory	आधार सिद्धान्त
Suffix agglutinative	अन्त योगात्मक
Survival of the fittest	योग्यतमावशेष
Syllabic elision	अक्षर लोप
Syllable	अक्षर
Syncope	मध्य स्वरलोप
Syntactical	आकृतिमूलक
Syntax	वाक्य विचार
Synthetic	संयोगात्मक
Teeth	दंत
Tip of the tongue	जिह्वा की नोक
Thread writing	सूत्र या रज्जु लिपि
Tone	सुर

Tongue	जिह्वा
Transference of meaning	अर्थादेश
Trilogics	त्रयवाद
Umlaut	अभिश्रुति
Unaspirated	अल्पप्राण
Unconditional	स्वयंभू
Unrounded	आवृत्तमुखी
Unvoiced	अघोष
Urgeschichte	प्रागैतिहासिक खोज
Uvula	अलिजिह्व, कौवा
Uvular	जिह्वामूलीय
Velar	कंठ्य
Verb	क्रिया
Verner's Law	वर्नर नियम
Vocabulary	शब्द समूह
Vocal cords	स्वरतंत्री
Vocalic Ablaut	स्वरीय अपिश्रुति, अपिश्रुति
Vocalization	घोषीकरण
Voiced	घोष
Voiceless	अघोष
Vowel	स्वर
Vowel combination	स्वर संयोग
Vowel gradation	अपिश्रुति
Vowel hormony	स्वर अनुरूपता
Vowel mutation	अभिश्रुति
Weak (consonant)	बलहीन (व्यंजन)
Windpipe	श्वास नलिका
Word	शब्द
Written	लिखित
Yo-he-ho theory	श्रमपरिहरण सिद्धांत